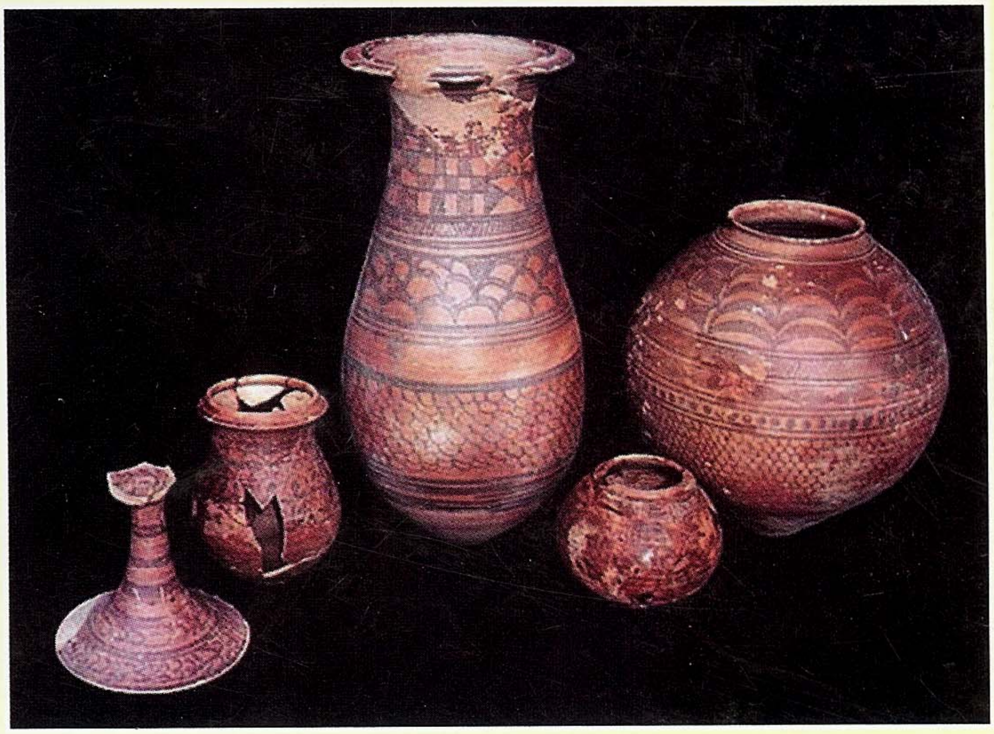
सिन्धु सभ्यता

डॉ. किरण कुमार थपल्याल एवं
डॉ. संकटा प्रसाद शुक्ल



वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ग्रन्थांक : 171

सिन्धु सभ्यता

लेखक

किरण कुमार थपल्याल

एम.ए., पी-एच.डी.

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग,

पूर्व अधिष्ठाता कला संकाय,

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

संकटा प्रसाद शुक्ल

एम.ए., पी-एच.डी.

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष प्राचीन भारतीय इतिहास

संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

मानव संसाधन विकास मंत्रालय

(माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ-226001

प्रकाशक :
डॉ. सुधाकर अदीब
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ।

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार की विश्वविद्यालयस्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण	:	1976
द्वितीय संस्करण	:	1985
तृतीय संस्करण	:	1992
चतुर्थ संस्करण	:	2002
पंचम संस्करण	:	2003
षष्ठ संस्करण	:	2003 (संशोधित एवं परिवर्द्धित)
सप्तम संस्करण	:	2014
अष्टम संस्करण	:	2015

प्रतियाँ : 500

ISBN : 978-93-82175-59-9

मूल्य : ₹ 200=00 (दो सौ रुपये मात्र)

मुद्रक
रोहिताश्व प्रिण्टर्स
268, ऐशबाग रोड, लखनऊ
फोन : 2692973

प्रकाशकीय

विश्व की प्राचीन संस्कृतियों का कोई भी परिचय भारतीय संस्कृति के बिना पूरा नहीं होता। आर्य सभ्यता की असाधारण उपलब्धि - वेद - को दुनिया की प्राचीनतम पुस्तक के रूप में मान्यता का प्रश्न हो या जीवन के अन्य क्षेत्रों में असाधारण उपलब्धियों का सवाल भारतीय संस्कृति अपनी उपमा आप है। आर्य सभ्यता के साथ ही सिन्धु सभ्यता का भी विकास हुआ और लम्बे कालक्रम में इनके विकास के दौरान यह भी सम्भव है कि दोनों के हित परस्पर प्रभावित होने के कारण एक-दूसरे के विरोधी भी बने हों। जो हो, दोनों सभ्यताएँ अत्यन्त विकसित रहीं और सच तो यह है कि तुलनात्मक नजरिये से देखने से कहीं अधिक बेहतर यह होगा कि दोनों की ही उपलब्धियों को रेखांकित किया जाय।

भारतीय संस्कृति के यशस्वी विस्तार में सभी का योगदान अप्रतिम रहा है, यह तथ्य भुलाया नहीं जाना चाहिए। इसी क्रम में सिन्धु सभ्यता भी आती है, जिसने जीवन और समाज के विभिन्न क्षेत्रों में असाधारण उपलब्धियाँ हासिल की थीं। इन्हीं पर केन्द्रित डॉ. किरण कुमार थपल्याल और डॉ. संकटा प्रसाद शुक्ल की पुस्तक 'सिन्धु सभ्यता'। उन्होंने इस पुस्तक को 18 अध्यायों में बाँटा है और इनमें एक ओर जहाँ इसके विस्तार और महत्वपूर्ण स्थलों के उद्‌भव का उल्लेख है, वहीं दूसरी ओर नगर विन्यास, जीवनोपयोगी बर्तनों, गहनों, मुद्राओं, मूर्तियों तथा उपकरणों आदि के साथ-साथ यह जानने का प्रयास भी किया गया है कि यह महान नगरीय सभ्यता कैसे नष्ट हुई थी। यह सभ्यता इतनी विशाल थी और इतने लम्बे कालक्रम में विकसित हुई थी कि आज भी सम्बन्धित अध्ययन को अन्तिम नहीं कहा जा सकता।

'सिन्धु सभ्यता' पुस्तक उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के गौरवमयी प्रकाशनों की कड़ी में रत्न की तरह है। इससे पता चलता है कि सिन्धु सभ्यता के निवासी न केवल सामाजिक-आर्थिक और धार्मिक रूप से अत्यन्त समुन्नत थे, अपितु कला, स्थापत्य और वेशभूषा आदि में भी पारंगत थे। उनका अन्य समकालीन संस्कृतियों से भी सम्बन्ध था और इस पारस्परिक आदान-प्रदान से भी उन्होंने बहुत कुछ सीखा होगा। इसका प्रकाशन लगभग चार दशक पूर्व हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग द्वारा मानव संसाधन विकास मंत्रालय के सहयोग से किया गया था। तब से अब तक इसके सात संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं जो स्वयं में पाठकों के बीच इस महत्वपूर्ण पुस्तक की उपादेयता को प्रमाणित करते हैं। इसी क्रम में अब आठवाँ संस्करण आपके समक्ष है। आशा है कि शोध छात्रों के साथ-साथ सभी जिज्ञासु पाठकों के बीच प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति को समर्पित इस पुस्तक सिन्धु सभ्यता की परम्परागत उपादेयता अक्षुण्ण रहेगी।

डॉ. सुधाकर अदीब
निदेशक

निवेदन

विकास की जिन ऊँचाइयों की ओर मनुष्य आज अग्रसर है, उसके पीछे उसकी ज्ञान के प्रति समर्पित जिजीविषा, अनवरत साधना और नित नये से नये क्षितिजों को छूने के प्रयासों का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है। इन्हीं के कारण सैकड़ों वर्षों के अन्तराल में अनेक सभ्यताएँ विकसित हुईं और उनके अनेकानेक रंग आज हमारी अमूल्य धरोहर हैं। इन प्राचीन सभ्यताओं से प्राप्त प्रमाणों से यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि उस समय भी मनुष्य विकास की उन्नत अवस्था में था। न केवल व्यक्तिगत स्तर पर खान-पान हो या पहनावा, भाषा हो या कलाएँ या अन्य क्षेत्र - उसकी उपलब्धियाँ महान थीं बल्कि नगर नियोजन और परिवहन आदि के प्रति भी वह पर्याप्त सतर्क था। उन्हीं उपलब्धियों के कारण यह सभ्यताएँ आज भी प्राचीन मानव की उन्नत अवस्था का न केवल संकेत देती हैं, अपितु वर्तमान में भी नई से नई उपलब्धियों के लिए भी प्रेरित करती हैं।

दुनिया की ऐसी गौरवपूर्ण प्राचीन सभ्यताओं में मिस्र, सुमेरियन, यूनानी और चीनी सभ्यताओं आदि के साथ भारतीय सभ्यता का उल्लेख भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारतीय सभ्यता के कई रंग देखने को मिलते हैं और जहाँ तक प्राचीन संस्कृति का सवाल है, आर्य सभ्यता के साथ-साथ सिन्धु सभ्यता का उल्लेख किये बिना उसका कोई परिचय पूरा नहीं होता। यह सिन्धु सभ्यता नगरीय सभ्यता थी और कहा जाता है कि इसका नियोजन इतने व्यापक स्तर पर किया गया था, जिसके सामने दुनिया की कोई प्राचीन सभ्यता नहीं ठहरती। किन लोगों ने इस सभ्यता का विकास किया था, इस पर मतभेद भले ही हो, इसके विभिन्न स्थलों से प्राप्त प्रमाणों से इतना तो स्पष्ट है कि न केवल यह आर्य सभ्यता से अलग विकसित हुई थी बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में इसकी अपनी महान उपलब्धियाँ रही हैं, जिन्हें आज भी भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों में हुए उत्खनन स्थलों और उनसे प्राप्त जीवनोपयोगी विभिन्न सामग्रियों के रूप में देखा जा सकता है।

इस महान सिन्धु सभ्यता की खोज बीसवीं सदी के दूसरे-तीसरे दशक में सर जान मार्शल ने की थी और उसके बाद सम्बन्धित खोजों का सिलसिला निरन्तर चलता रहा। इन सभी उपलब्धियों पर आधारित है सुप्रसिद्ध पुरातत्व शास्त्री डॉ. किरण कुमार थपल्याल और डॉ. संकटा प्रसाद शुक्ल की चर्चित पुस्तक 'सिन्धु सभ्यता'। विद्वान लेखकों ने लगभग चार दशक पूर्व इस पुस्तक का प्रणयन किया था और तब से इसके सात संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। अब यह आठवाँ संस्करण आपके समक्ष है। इस पुस्तक में जिस

विस्तार और विविधता के साथ सिन्धु सभ्यता (मोहनजोदड़ो और हड़प्पा आदि) के बारे में प्रकाश डाला गया है, सम्बन्धित प्रमाणों की सचित्र चर्चा की गयी है, वह देखते ही बनती है। विद्वान लेखक द्वय के प्रति आभार व्यक्त करते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। आशा है कि भारतीय इतिहास और संस्कृति के जागरूक पाठकों के बीच ही नहीं, शोध छात्रों और जिज्ञासु जनों के बीच भी यह पुस्तक पूर्व की भांति समादृत होगी।

उदय प्रताप सिंह
कार्यकारी अध्यक्ष

भूमिका

बीसवीं शती के तीसरे दशक के प्रारंभ में हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो में अत्यंत प्राचीन सभ्यता के अवशेषों का ज्ञान हुआ। इन दो स्थालों में किये गये उत्खनन से उपलब्ध सामग्री ने इस सभ्यता को प्राचीन मिस्र तथा सुमेर की सभ्यताओं के समकक्ष स्थान दिलाया। इसे विश्व की सबसे प्राचीन सुनियोजित नगरों वाली सभ्यता होने का श्रेय प्राप्त हुआ। बाद में मुख्यतः भारत और पाकिस्तान में किये गये सर्वेक्षणों के फलस्वरूप यह ज्ञात हुआ कि प्राचीनतम सभ्यताओं में इसका क्षेत्र सर्वाधिक विस्तृत था। इस सभ्यता के लिए कई नाम सुझाये गये हैं (जिनकी चर्चा हमने प्रथम अध्याय में की है) तथापि सिंधु सभ्यता सर्वाधिक प्रचलित है। हमने इस सभ्यता का अधिकांशतः इसी नाम से उल्लेख किया है, किंतु यत्र–तत्र हड़प्पा सभ्यता का भी प्रयोग किया है।

सिंधु सभ्यता पर अनेक ग्रंथ और असंख्य लेख लिखे गये हैं। सबसे पहला विशाल और सर्वाधिक चित्रों से सुसज्जित ग्रंथ जान मार्शल का 1931 में संपादित *मोहेंजोदड़ो एंड द इंडस सिविलिजेशन* है। इसमें मुख्यतः उनके नेतृत्व में हुई मोहेंजोदड़ो की खुदाइयों से प्राप्त सामग्री का उनके तथा अन्य गणमान्य विद्वानों द्वारा विस्तृत विवेचन है। यह ग्रन्थ सिंधु सभ्यता के अध्ययन के लिये अपरिहार्य है। मकाइ द्वारा *फर्दर एक्सकवेशंस ऐट मोहेंजोदड़ो* (दो जिल्द) और वत्स द्वारा *एक्सकवेशंस ऐट हड़प्पा* (दो जिल्द) भी मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा के उत्खनन से प्राप्त सामग्री का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हैं। उसके बाद सिंधु सभ्यता के कुछ अन्य स्थलों के उत्खननों की रिपोर्ट प्रकाशित हुईं और साथ ही कुछ विद्वानों ने सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्थलों से प्राप्त साक्ष्य के आधार पर सिंधु सभ्यता का कालक्रम और उसके विभिन्न आयामों का भारतीय तथा भारतेतर समकालीन अथवा लगभग समकालीन संस्कृतियों के परिप्रेक्ष्य में समाकलित अध्ययन प्रस्तुत किया। इनमें मकाइ का *अर्ली इंडस सिविलिजेशन,* पिगट का *प्रीहिस्टोरिक इंडिया,* गार्डन चाइल्ड का *न्यू लाइट आन द मोस्ट एंशेट ईस्ट,* मार्टिमर व्हीलर का *इंडस सिविलिजेशन,* ब्रिजेट तथा रेमण्ड आल्चिन का *बर्थ ऑफ इंडियन सिविलिजेशन,* ग्रेगरी पोस्सेह्ल द्वारा संपादित *एंशेट सिटीज ऑफ द इंडस* और हाल ही में प्रकाशित ब्रजवासी लाल की *द अर्लीअस्ट सिविलिजेशन ऑफ साउथ एशिया* (1997) और जोनाथन मार्क केन्योर की *एंशेट सिटीज ऑफ द इंडस सिविलिजेशन* (1998) इत्यादि उल्लेखनीय हैं। अन्तिम दो में नवीनतम खोजों से प्राप्त साक्ष्यों का विवेचन है।

सिंधु सभ्यता सर्वप्रथम 1976 में प्रकाशित हुयी थी। यह पुस्तक अत्यंत लोकप्रिय हुई और इसके पांच संस्करण (जिनमें कुछ पांच हजार प्रतियों वाले थे)

निकल चुके हैं। इसे अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्थान मिला। केन्द्रीय एवं राजकीय परीक्षाओं के लिये इसे उपयोगी पाया गया और सामान्य पाठकों ने भी इसे सराहा।

अब इस पुस्तक को विभिन्न ग्रन्थों एवं लेखों के रूप में प्रकाशित सामग्री, व्यक्तिगत रूप से प्राप्त सूचना एवं पुराविदों द्वारा उत्खात कुछ नवीन सामग्री के अवलोकन के आधार पर नये तथ्यों का समावेश एवं विवेचन कर नये रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। शोर्तुघई (अफगानिस्तान), नौशारो (बलूचिस्तान), बालाकोट (सिंध), अल्लाहदीनो (सिंध), कुणाल (हरियाणा), बालू (हरियाणा), धौलावीरा (गुजरात), पाद्री (गुजरात), कुन्तसी (गुजरात), देसालपुर (गुजरात), दाइमाबाद (महाराष्ट्र) आदि कई स्थलों से प्राप्त जानकारी को, जो पूर्व संस्करणों में नहीं थी, स्थान दिया है। इनमें विशेष रूप से धौलावीरा से प्राप्त स्मारक एवं अन्य पुरावशेष सिंधु सभ्यता के बारे में अत्यंत महत्त्वपूर्ण नयी जानकारी देते हैं। उसकी विशिष्ट नगर योजना, उसके प्रासाद, उपप्रासाद, स्टेडियम आदि स्मारक, वर्षा जल के उपयोग के लिए तालाबों की योजना, मौर्य स्तंभों की भांति कलापूर्ण स्तंभ, नामपट्ट के लिए प्रयुक्त विशाल आकार के सिंधु लिपि के क्रिस्टली वस्तु के एक पंक्ति में प्राप्त 10 अक्षर इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

इस पुस्तक में अधिक से अधिक चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पूर्व संस्करण में 39 फलकों में कई छायाचित्र आर्ट पेपर पर पुस्तक के अंत में दिये गये थे। अब अधिकांश छायाचित्रों के स्थान पर रेखा चित्र प्रस्तुत किये हैं और रेखाचित्रों तथा छायाचित्रों दोनों को ही पाठकों की सुविधा के लिये पुस्तक के अन्त में न देकर पाठ्य भाग के साथ ही प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त अब तक ज्ञात सिंधु सभ्यता के विभिन्न महत्त्वपूर्ण स्थलों को दर्शाने वाला मानचित्र एवं विभिन्न स्थलों के नगर योजना के रेखाचित्र प्रस्तुत किये गये हैं। सिंधु सभ्यता के अनेक उपकरण इस सभ्यता के एक से अधिक पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं हमने जिस संदर्भ में उनसे अधिक से अधिक प्रकाश पड़ता है वहां उनके बारे में विस्तार से उल्लेख किया है और अन्य संदर्भों में संक्षेप में। ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयों का, जिनका अध्यायों के अंतर्गत समुचित प्रतिपादन नहीं हो पाया, अथवा जो सिंधु सभ्यता से पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती संस्कृतियों से सम्बन्धित हैं परिशिष्ट के अंतर्गत विवेचन किया गया है।

सिंधु सभ्यता के भौतिक सामग्री के विवेचन में विशेषतः साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य के अभाव में विद्वानों में मतभेद है। मौलिक ग्रंथों के लेखकों ने अनेकशः विवादास्पद विषय पर केवल अपना ही मत प्रस्तुत किया है और यदि दूसरों का मत दिया भी है तो अत्यंत सूक्ष्म रूप से। हमारा प्रयास पाठकों को मत–मतान्तरों से अवगत कराना रहा है। कुछ संदर्भों में हमने किसी मत से अपनी सहमति अथवा असहमति भी प्रकट की है।

हम उन सभी विद्वानों के आभारी हैं जिनकी कृतियों और लेखों का हमने इस पुस्तक की रचना में उपयोग किया है। उनमें से कई का उल्लेख हमने 'संदर्भ ग्रन्थ और निबन्ध सूची' में किया है। हम यहां उल्लेख करना चाहेंगे कि प्रथम संस्करण के संदर्भ में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के अब अवकाश प्राप्त महानिदेशक श्री मुनीश चन्द्र जोशी तथा भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के वर्तमान सह महानिदेशक डा. रवीन्द्र सिंह बिष्ट ने विषय सामग्री के संबंध में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये थे। श्री मोहन कृष्ण डबराल ने भाषा सम्बन्धी सुझाव दिये थे और श्रीमती चन्द्रकला ने प्रेस कापी तैयार की थी। डा0 रवीन्द्र सिंह बिष्ट ने कृति को इस नये रूप में प्रस्तुत करने के लिए भी सुझाव दिये। श्री प्रियोनाथ श्रीवास्तव ने भाषा सम्बन्धी सुझाव दिये तथा डा. प्रशान्त श्रीवास्तव ने चित्रों के चयन और समायोजन में सहायता दी। हिन्दी संस्थान के विद्वान् निदेशक डा. सच्चिदानन्द पाठक ने इस ग्रन्थ के नये रूप में प्रकाशन में अत्यधिक रूचि ली और सुझाव दिये। हम इन सभी के आभारी हैं। चित्रों का कापीराइट पुरातत्त्व सर्वेक्षण का है और इनके लिये हम आभार प्रकट करते हैं।

भारतीय विद्या की विभिन्न विधाओं के विख्यात विद्वान् श्री कृष्णदेव, पूर्व उप महानिदेशक भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, ने सिंधु सभ्यता को सराहा था और नवीन साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में पुनर्लेखन की प्रेरणा दी थी। खेद है कि वे अब हमारे बीच नहीं रहे। हम यह कृति उनकी स्मृति में सादर समर्पित करते हैं।

किरण कुमार थपल्याल

संकटा प्रसाद शुक्ल

विषय सूची

अध्याय

परिशिष्ट

अध्याय 1
विस्तार एवं महत्त्वपूर्ण स्थल

सिंधु सभ्यता के अनेक नगरों की भवन योजना, निर्माण–विधि, नालियों के निर्माण, ईंटों, मृद्भाण्डों, आयुधों, आभूषणों, मुद्राओं, नाप–तौल आदि में पर्याप्त एकरूपता देखी जा सकती है। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के संदर्भ में तो यह एकरूपता अत्यंत स्पष्ट है। इन दोनों नगरों की इमारतों की निर्माण–प्रणाली, मृद्भाण्डों के आकार–प्रकार तथा अलंकरण में ऐसी भिन्नता नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि अमुक वस्तु मोहेंजोदड़ो की है तथा अमुक वस्तु हड़प्पा नगर की। यद्यपि यह सत्य है कि वास्तु संबंधी कुछ बातें किसी स्थल विशेष में विशिष्ट रूप से मिलती हैं (जैसे मोहेंजोदड़ो में विशाल स्नानागार और लोथल में गोदीबाड़ा, जो किसी स्थानीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए हो सकती हैं। यह रोचक है कि मोहेंजोदड़ो में नगर के अनेक बार उजड़ने तथा बसने पर भी नगर–विन्यास में, अन्तिम चरण को छोड़ कर, विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। किन्तु सामान्य मूलभूत एकता को स्वीकार करते हुए भी अब कुछ क्षेत्रीय विशिष्टताओं को भी स्वीकार करना ही होगा। उदाहरणार्थ गुजरात में इस सभ्यता के कुछ मूलभूत उपकरणों में समानता होते हुए भी अनेक ऐसे तत्त्व मिलते हैं जो नये हैं, और सिंधु सभ्यता के भौतिक सामग्री के कुछ तत्त्व जो मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में प्रमुखता से पाये गये हैं, या तो यहाँ हैं ही नहीं, या बहुत नगण्य रूप में हैं।

1921 तक मेसोपोटामिया और मिस्र के प्राचीन नगरों और बहुमूल्य सामग्री मिलने से विश्व में उन्हें ही नगर सभ्यताओं के जन्मदाता का श्रेय दिया गया। सिंधु सभ्यता के अवशेष विस्तृत भू–भाग में टीलों के रूप में पाये गये हैं। पुरैतिहासिक संस्कृति के महान केन्द्र हड़प्पा की खोज रायबहादुर दयाराम साहनी ने सन् 1921 ई0 में और मोहेंजोदड़ो की राखलदास बनर्जी ने 1922 ई0 में की। उत्खनन से उद्घाटित इन विस्तृत, सुनियोजित एवं भव्य नगरों से भारतीय संस्कृति के भी अतिप्राचीन (तृतीय सहस्राब्दी ईसा पूर्व) और गौरवशाली होने की जानकारी मिली। कालान्तर में नन्नीगोपाल मजुमदार द्वारा सिंध क्षेत्र में (1927–31 ई0 के बीच) और ऑरल स्टाइन के द्वारा बलूचिस्तान एवं गेड्रोशिया क्षेत्र में किये गये सर्वेक्षणों और सीमित उत्खननों से सिंधु सभ्यता के अनेक स्थलों का पता लगा। स्वतंत्रता–प्राप्ति के पूर्व मुख्यतः सिंधु और उसकी सहायक नदियों के समीपवर्ती क्षेत्र में पाये गये सिंधु सभ्यता के स्थलों की ही जानकारी थी; यद्यपि इसका प्रभाव बलूचिस्तान की कुछ संस्कृतियों पर विद्वानों ने आंका था, और सौराष्ट्र में रंगपुर के भी सिंधु सभ्यता का स्थल होने की संभावना बहुत

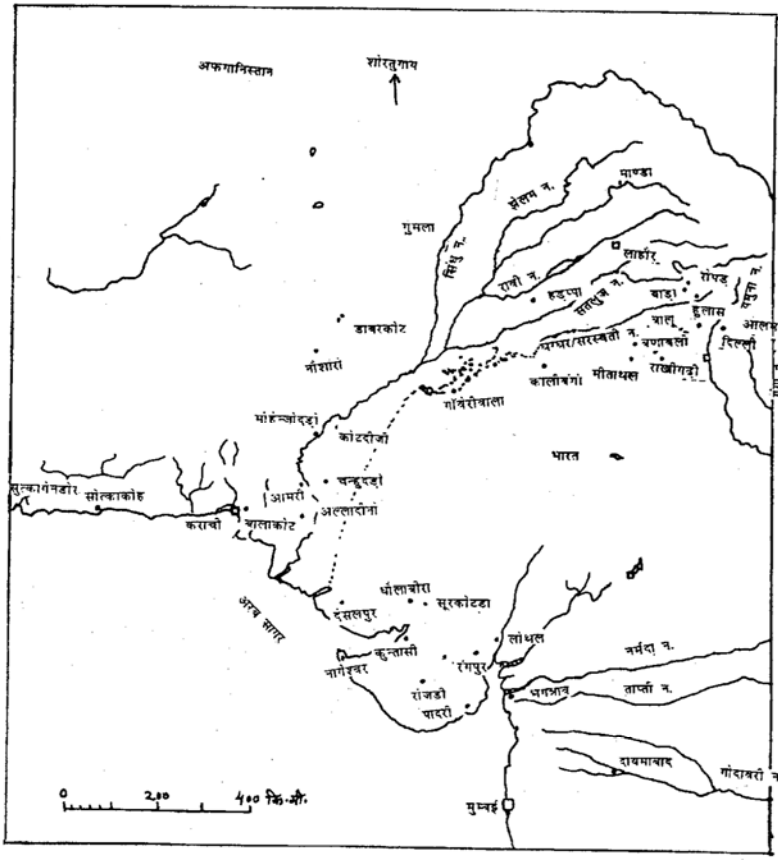
पहले व्यक्त की गयी थी (जो बाद के उत्खननों से सही सिद्ध हुई)। ऑरेल स्टाइन ने राजस्थान और बहावलपुर के क्षेत्र में सर्वेक्षण से सिंधु सभ्यता के कुछ स्थलों का पता लगाया था। अब 1947 ई0 में भारत के विभाजन के बाद भारतीय क्षेत्र में कई महत्त्वपूर्ण स्थान यथा लोथल, रोपड़, कालीबंगां, बणावली, धौलावीरा आदि का पता लगा है। उधर पाकिस्तान में सिंध में कोटदीजी तथा कई अन्य स्थल मिले और फिर मुगल द्वारा पाकिस्तान में किये गये सर्वेक्षणों से गामनवाला, गांवेरीवाला आदि अनेक सिंधु सभ्यता के स्थलों की जानकारी मिली। पुरातात्त्विक खोजों तथा उत्खननों से स्पष्ट हो गया है कि इस सभ्यता का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत था। इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि बहुत पहले मार्शल ने स्पष्ट रूप से यह धारणा व्यक्त की थी कि गंगा की घाटी में भी इसका विस्तार मिलना चाहिए, और उनकी यह धारणा अब कुछ सीमा तक सत्य सिद्ध हो चुकी है। स्वराजप्रकाश गुप्त ने हाल ही में अपनी कृति में बताया है कि भारत में प्रारंभिक सिंधु सभ्यता के 179 स्थल, विकसित सिंधु सभ्यता के 570 तथा परवर्ती सिंधु सभ्यता के 980 स्थल हैं, और पाकिस्तान में प्रारंभिक हक्रा संस्कृति के 121, प्रारंभिक सिंधु सभ्यता के 297, विकसित सिंधु संस्कृति के 317 तथा परवर्ती सिंधु सभ्यता के 71 स्थल मिले हैं।

कुछ समय पूर्व तक इस सभ्यता की उत्तरी सीमा रोपड़ (पंजाब) थी। अब सुलेमान पर्वत के पूर्वी पाद में गोमलघाटी में दानी ने कई स्थल खोजे हैं जिनमें गुमला विशेष महत्त्वपूर्ण है। तक्षशिला (रावलपिंडी जिला) के पास में सराय खोला नामक स्थल मिला है। नर्मदा घाटी में मेघम, तेलोद और भगत्राव और दक्षिण में ताप्ती नदी की निचली घाटी में मालवण (जिला सूरत) नामक स्थल है। ये स्थल समुद्र के निकट हैं और व्यापारिक महत्त्व के रहे होंगे। सबसे दक्षिण में महाराष्ट्र में दाइमाबाद है। उत्तर में जम्मू में स्थित माण्डा है। यमुना की सहायक हिण्डन नदी के किनारे आलमगीरपुर (जिला मेरठ, उत्तर प्रदेश) इसकी पूर्वी सीमा है। यह सभ्यता पश्चिम में मकरान के समुद्री तट पर कराची से लगभग पांच सौ किमी पश्चिम में स्थित सुत्कागेंडोर तक विस्तृत है। उत्तर में डाबरकोट (उत्तरी बलूचिस्तान) सिंधु सभ्यता का महत्त्वपूर्ण स्थल है।

यद्यपि कुछ विद्वानों ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि सिंधु सभ्यता का विस्तार कौशाम्बी और इससे भी पूर्व तक था, तथापि पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इसे स्वीकार करना कठिन है। कुछ पुरातत्त्वविदों की धारणा है कि गंगा की घाटी में विस्तृत पुरातात्त्विक सर्वेक्षण से न केवल इस क्षेत्र में सिंधु सभ्यता के प्रसार पर ही प्रकाश पड़ेगा अपितु उससे सिंधु सभ्यता और गंगा–घाटी की सभ्यता के मध्य की कड़ी को भी जोड़ा जा सकेगा।

पश्चिम में सुत्कागेंडोर से पूर्व में आलमगीर तक लगभग 1600 किमी है और उत्तर में जम्मू में माण्डा से लेकर दक्षिण में दाइमाबाद तक लगभग 1400 किमी है।

इस विस्तृत भू–भाग में कुछ स्थल विशाल नगर (यथा हड़प्पा, माहेंजोदड़ो), कुछ कस्बे (यथा रोपड़), तथा कुछ ग्राम (यथा आलमगीरपुर) थे। लोथल समुद्री व्यापार का केन्द्र रहा होगा, जब कि मकरान के समुद्रतटवर्ती सुत्कागेंडोर, सोत्काकोह और बालाकोट ने बन्दरगाहों के रूप में पश्चिमी एशिया के साथ होने वाले व्यापार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। हाल ही के तुर्कमेनिया क्षेत्र के उत्खनन से स्पष्ट हो गया है कि सिंधु सभ्यता का मध्य–एशिया के साथ भी सम्पर्क था। इस तरह सिंधु सभ्यता का विस्तार प्राचीन मेसोपेटामिया, मिस्र तथा फारस की प्राचीन सभ्यताओं के क्षेत्र से कहीं अधिक था। यदि इस सभ्यता के विस्तार–क्षेत्र को संस्कृति ही नहीं साम्राज्य का भी विस्तार मान लिया जाय (जैसा कुछ विद्वानों ने सुझाया है), तो रोमन साम्राज्य से पहले विश्व में शायद ही इतना विशाल राज्य कहीं रहा हो।



चित्र 1 : सिंधु सभ्यता के प्रमुख स्थल

चूंकि प्रारम्भ में इस संस्कृति के स्थल सिंधु तथा उसकी सहायक नदियों के किनारे मिले थे अतः जान मार्शल ने इसका नामकरण 'सिंधु सभ्यता' किया। उन्होंने यह सुझाव दिया था कि आगे अगर सिंधु घाटी से दूर के स्थलों में इस सभ्यता के अवशेष मिल जायेंगे तब इसके लिये 'भारतीय सभ्यता' नाम अधिक उपयुक्त होगा। एम. आर. मुगल ने इस सभ्यता के लिये 'बृहत्तर सिंधु सभ्यता' नाम सुझाया है। यद्यपि अब इस सभ्यता का विस्तार सिंधु और उसकी सहायक नदियों के क्षेत्र से बहुत दूर तक हो गया है तथापि इसके लिये इसी नाम का प्रयोग अधिकांशतः होता चला आ रहा है। पुरातत्त्व की परंपरा के अनुसार सभ्यता का नामकरण उसके प्रथम ज्ञात स्थल के नाम पर किया जाना चाहिए, इसलिए इसे 'हड़प्पा सभ्यता' नाम से भी अभिहित किया जाता है। चूंकि अधुना इस संस्कृति के सर्वाधिक स्थल प्राचीन सरस्वती की घाटी में है इसलिये कुछ का सुझाव है कि इसे 'सरस्वती' सभ्यता अथवा 'सिंधु–सरस्वती सभ्यता' नाम दिया जाना चाहिए।

फेयरसर्विस का कहना है कि सभ्यता का विस्तार मुख्य रूप से गेहूं उपजाने वाले क्षेत्र – सिंधु, पंजाब और गुजरात में हुआ। दिल्ली के पूर्ववर्ती क्षेत्र एवं ताप्ती नदी के दक्षिण में चावल की उपज मुख्य रूप से होती है। इससे ऐसा लगता है कि सिंधु सभ्यता के धारकों ने ऐसे स्थलों को ही चुना जो गेहूं उपजाने के लिए उपयुक्त हैं। साधारणतः इस सभ्यता के विशाल और महत्त्वपूर्ण स्थल मैदानी क्षेत्र में ही हैं, जो निश्चय ही महान् सभ्यता के विकास के लिए पर्वतीय क्षेत्र की अपेक्षा अधिक उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करते हैं। साथ ही इस सभ्यता के पास लगभग तेरह सौ किलोमीटर का समुद्रतट था जो समुद्री व्यापार के लिए उपयुक्त सुविधाएं प्रदान करता था। नीचे सिंधु सभ्यता के कुछ मुख्य स्थलों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

अफगानिस्तान

शोर्तुघई – पश्चिमी अफगानिस्तान में अमू दरिया से 5 किलो मीटर ओर उसकी सहायक नदी कोकचा से 25 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यह अपेक्षाकृत छोटा है और कुल 2.5 मीटर हेक्टेयर क्षेत्र में फैला है। आवासीय जमाव 2.5 मीटर से कुछ अधिक है। यहां पर दुप्री तथा फ्रेंकफर्ट ने उत्खनन कराया। उत्खनन से चार कालों का ज्ञान हुआ जिनमें सें प्रथम और द्वितीय काल सिंधु सभ्यता के है और बाकी उसके बाद के। प्रथम तथा द्वितीय काल मे घर 4:2:1 के अनुपात की कच्ची ईंटो के बने है। भाण्ड सैधंव सभ्यता प्रकार के हैं यथा साधार तश्तरी, छिद्र युक्त बर्तन, चंचुक इत्यादि। चित्रित अभिप्रायों में वृत्त काटते वृत्त, पीपल की पत्ती इत्यादि मिलते है। कुछ मृद्भाण्डों में सिंधु लिपि के चिन्ह वाली ग्रैफिटी मिलती है। अन्य सैंधव प्रकार की सामग्री में 'केक', रेखांकित कार्नीलियन मनके, वृत्ताकार सोने के मनके तथा मिट्टी की खिलौना गाड़ी उल्लेखनीय है। एक सिंधु प्रकार की मुद्रा पर गैड़ें की आकृति बनी है।

विद्वानों का मत है कि मध्य एशिया के बदख्शां से लाजवर्द प्राप्त करने में शोर्तुघई की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इसके छोटे आकार को देखते हुए अनुमान है कि यहां नगर न होकर एक चौकी थी। उपलब्ध कार्बन – 14 तिथियों के आधार पर कहा जा सकता है कि इसकी स्थापना तृतीय सहस्राब्दी के मध्य में हुई।

बलूचिस्तान

सुत्कागेंडोर – यह कराची से लगभग 480 किलोमीटर पश्चिम में और बलूच–मकरान समुद्र–तट सें 56.32 किलोमीटर उत्तर में दश्त नदी के पूर्वी किनारे पर स्थित है और सिंधु सम्यता की पश्चिमी सीमा का द्योतक है। स्टाइन ने 1927 में इस टीले, जिसकी जानकारी 1875 में हो गयी थी, परीक्षण गर्त खोदे। बहुत बाद में, बीसवीं शती के अंतिम दशक में जार्ज डेल्स ने इस स्थल का सर्वेक्षण किया और उन्हें यहां पर बन्दरगाह, और दुर्ग की रूपरेखा मिली। दुर्ग आयताकार क्षेत्र में 325 X 200 मी0 के क्षेत्र में फैला है। दुर्ग एक प्राकृतिक चट्टान के ऊपर और उसके इर्द–गिर्द था और उसके अन्दर हड़प्पा सभ्यता के कुछ स्थलों की भांति कच्ची ईंटों का चबूतरा बना था। किन्तु इसका आधार किंचित् तराशे पत्थरों की दीवार थी, जो एक स्थान पर लगभग 8 मीटर तक चौड़ी पायी गयी है। दुर्ग की दीवार में बुर्ज और दीवार मिले। डेल्स ने दुर्ग (गढ़ी) में सिंधु सभ्यता के तीन चरणों की पहिचान की। सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्ड, ताम्र उपकरण आदि मिले। आज कुछ प्राकृतिक कारणों से यह स्थल समुद्र तट से काफी दूर है। डेल्स के अनुसार मूलतः समुद्र सुत्कागेंडोर के बहुत समीप था और इस स्थल ने एक बन्दहगाह के रूप में सिधुं सभ्यता के फारस की खाड़ी, और बेबीलोनिया के मध्य होने वाले व्यापार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। मोहरों के अभाव में इसके व्यापारिक केन्द्र न होकर व्यापार के पड़ाव होने की संभावना अधिक लगती है।

सोत्काकोह – यह स्थान पस्नि से लगभग 13 किमी., शादीकौर नदी की घाटी में सुत्कागेंडोर से पूर्व में स्थित है। इसे डेल्स ने 1962 में खोजा था। यहां पर भी दो टीले मिले है। पूर्वी टीले के पूर्वी किनारे पर लगभग 488 मीटर लम्बी दीवार होने के साक्ष्य मिले है। अनुमानतः सोत्काकोह भी आकार प्रकार में सुत्कागेंडोर की तरह था। यहां पर प्राप्त भाण्ड सिंधु सभ्यता के प्रकार के है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सोत्काकोह बन्दरगाह न होकर समुद्र तट और समुद्र से दूरवर्ती भू–भाग के मध्य व्यापार का केंद्र रहा होगा।

डाबरकोट – उत्तरी बलूचिस्तान के पहाड़ी क्षेत्र में भी सिधु संस्कृति के स्थल मिले है। यहीं पर सिधु नदी से लगभग 200 किलोमीटर दूर लोरालाई के दक्षिण में झोब घाटी में डाबरकोट स्थित है। सिंधु संस्कृति का यह स्थल अपनी स्थिति एवं

स्वरूप के कारण पुरातत्त्व के दृष्टि से यथेष्ट महत्त्व का है। यहां का टीला 34.4 मीटर ऊँचा है, और लगभग 365 मीटर की परिधि में फैला है। सिंधु घाटी में कंधार जाने वाले मार्ग पर स्थित इस महत्त्वपूर्ण स्थल पर अभी तक विस्तृत उत्खनन नहीं हो सका है। किंतु ऐसी संभावना है कि इसके उत्खनन से सिंधु संस्कृति के मूल पर प्रकाश पड़ेगा क्योंकि सतह के सर्वेक्षण के दौरान यहां पर सिंधु संस्कृति के साथ ही उससे पूर्वकालीन और उत्तरकालीन संस्कृतियों के अवशेष भी मिले है। यह भी पता चला है कि सिंधु सभ्यता के अवशेष टीले कें अपेक्षाकृत ऊपर वाले भाग में है और इसलिए आशा की जाती है कि टीले के निचले भाग के उत्खनन से सिंधु सभ्यता के प्रारंभिक चरण और मूल के बारे में महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ेगा।

नौशारो – यह स्थल बलूचिस्तान के कच्ची मैदान में मेहरगढ़ से दक्षिण में 6 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यहां पर मेहरगढ़ के छठवें प्रकाल (प्रारंभिक तृतीय सहस्राब्दी ई. पू.) के समकालीन आवास बना। नौशारो में प्रथम प्रकाल को चार उपप्रकालों (अ, ब, स, द) में बांटा गया है। प्रारंभिक तीन उपप्रकालों की सामग्री मेहरगढ़ सातवें काल के अ, ब, स के समान है। नौशारों के पहले काल के तीसरे चरण में पांच बार आवास बनाया गया। एक लम्बा कांसे का भाला (21 सें मी. की नोक), कांसे की एक बैल की आकृति अंकित मुद्रा तथा कुछ बटन जैसी अधूरी निर्मित पत्थर की मुद्राएं भी मिली। नौशारों के प्रथम काल के चतुर्थ चरण की सामग्री सिंधु सभ्यता में संक्रमण की द्योतक है जो आमरी (2 बी) कोटदीजी के तत्कालीन अवशेषों जैसी है। कुछ भाण्ड प्रकार त्याग किये गये और कुछ नये भाण्ड बनने लगे। प्राप्त मृद्भाण्डों के प्रकार, चित्रण (एक दूसरे को काटते वृत्त, कूबड़ा बैल, पीपल पत्र आदि) सिंधु सभ्यता के पूर्व रूप समान है। नौशारों के अगले प्रकाल (2) से सिंधु सभ्यता की सामग्री तथा नगर नियोजन की विस्तुत जानकारी मिली। सिंधु सभ्यता के काल में पूर्ववर्ती काल की भांति कच्ची ईंटों के भवन मिले। सड़कों और गलियों का साक्ष्य मिला। भवन विभिन्न आकार के थे जिनके बीच मे आंगन था। नालियां पक्की ईटों की बनती थीं। कुछ में लकड़ी का भी प्रयोग किया गया था। स्नानागार मिले उनमें से कुछ में ईटों के रद्दे लगे थे। नालियों का पानी मटकों मे गिरता था। मकानों के साथ अग्निस्थल थे, जिनमें राख तथा जली मिट्टी पाई गई। मृण्मय केक भी मिले। कुछ वृत्ताकार अग्निस्थल छोटे 30 सेमी. व्यास और कुछ बड़े थे।

सिंध

कोटदीजी – कोटदीजी सिंध प्रांत के खैरपुर नगर से 24 किलोमीटरं दक्षिण और मोहेंजोदड़ो से 40 किलोमीटर पूर्व में है। 1935 में घुर्ये ने इस स्थल से कुछ मिट्टी के बर्तन प्राप्त किये थे जो प्रिंस ऑफ वेल्स म्युजियम, बम्बई, में संग्रहीत है।

पाकिस्तान पुरातत्त्व विभाग के तत्कालीन निदेशक फजल अहमद खॉ ने 1955

और 1957 में उस स्थल पर अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर उत्खनन कराया। उत्खनन से हड़प्पा सभ्यता के नीचे एक और सभ्यता के अवशेष मिले जिसे 'कोटदीजी संस्कृति नाम दिया गया। यहां पर प्राप्त कुल सोलह परतों में से नीचे की बारह परतें 'कोटदीजी संस्कृति की है। उसके ऊपर एक परत परिवर्तन काल की घोतक है और सबसे ऊपर की तीन परतें सिंधु सभ्यता के उपकरणों से युक्त हैं। कोटदीजी संस्कृति के भाण्ड हड़प्पा में रक्षादुर्ग के निर्माण से पहले वाले चरण में प्राप्त भाण्डों से मिलते जुलते है। इस संस्कृति में सिंधु सभ्यता की तरह चर्ट के फलक और पक्की मिट्टी के पिंड मिले है, किन्तु इस काल में ताम्र और कांस्य का प्रयोग अत्यल्प मात्रा में हुआ। यहां विकसित सिधु सभ्यता के पूर्व बस्ती को सुरक्षा दीवार से वेष्टित करने का साक्ष्य है। उपलब्ध पुरातत्त्विक साक्ष्यों से ऐसा लगता है कि कोटदीजी की प्राक् सिंधु बस्ती अग्नि–कांड से नष्ट हुई और सिंधु सभ्यता के लोग इस स्थल पर आकर बसे। बस्ती के क्षेत्र का विस्तार हुआ, ताम्र और कांस्य का पर्याप्त प्रयोग हुआ। सिंधु सभ्यता कालीन नगर का निर्माण सुनियोजित था। भवनों में नालियों का समुचित प्रबंध न था। विकसित सिंधु संस्कृति के सदर्भ में मिट्टी के चित्रित भाण्ड मिले हैं। तिकोन 'केक', मिट्टी की चूड़ियां, गदासिर, चर्ट फलक आदि मिले हैं।

अलीमुराद – अलीमुराद सिंधु में दादू से लगभग 32 किलोमीटर दक्षिण पश्चिम में स्थित है। यह तीन से पांच फुट मोटी लापरवाही से तराशे पाषाण खंडों से निर्मित प्राचीर से रक्षित छोटा सा लगभग वर्गाकार क्षेत्र है जो 76 मीटर लम्बा और इतना ही चौड़ा है। इस दीवार के अन्दर और बाहर इमारतों के अवशेष है। एक कुआं भी मिला है। मृण्मूर्ति, चर्ट–फलक तथा सेलखड़ी, कार्नीलियन आदि के मनके मिले हैं। यह एक ग्रामीण स्थल था।

मोहेंजोदड़ो – सिंध सभ्यता का यह सबसे बड़ा और प्रमुख नगर था। सिंधु नदी के पूर्वी तट से कुछ दूरी पर सिंधु के मुख्य प्रवाह तथा पश्चिमी धारा के मध्य ऐसे क्षेत्र में है जो यदाकदा बाढ़ से क्षतिग्रस्त होता रहा है और आज भी होता रहता है। यह सिंध का सबसे उपजाऊ क्षेत्र है। यह टीला दक्षिण में लगभग 6 मीटर ऊंचा है और उत्तर में लगभग 12 मीटर। मोहेंजोदड़ो का अर्थ सिंधी भाषा में 'मृतकों का टीला' है। यद्यपि यह एक प्राचीन स्थल के रूप में कुछ समय पहले से ही ज्ञात था, तथापि इसके पुरैतिहासिक स्वरूप का प्रथम परिचय दिलाने का श्रेय सन् 1922 में राखालदास बनर्जी को मिला। लगभग 250 (कुछ के अनुसार 500) हेक्टेयर क्षेत्र में फैला यह उत्खनित सिंधु नगरों में से सबसे विशाल, समृद्ध और सबसे महत्त्वपूर्ण भवनों वाला है। राखालदास बनर्जी इस ध्वस्त नगर के शीर्ष पर बने कुषाण कालीन स्तूप का उत्खनन करा रहे थे तो उन्हें स्तूप के नीचे कुछ विशिष्ट प्रकार की मुद्राएं और अन्य सामग्री प्राप्त हुई। चूंकि इस तरह की वस्तुएं हड़प्पा में पहले ही मिल चुकी थीं और एक वर्ष पूर्व 1921 में वहां पर प्रारंभ किये गये उत्खनन से वस्तुओं का

पुरैतिहासिक काल का होना सिद्ध हो चुका था, अतः बनर्जी ने तुरंत ही यह निष्कर्ष निकाल लिया कि मोहेंजोदड़ो में भी पुरैतिहासिक अवशेष भूमि के भीतर छुपे पड़े है। सिंधु सभ्यता के इस महत्त्वपूर्ण नगर के सांस्कृतिक कोष का उद्घाटन करने, के लिए मार्शल के नेतृत्व में 1922 से 1930 तक खुदाई की गई। जिन पुराविदों के निरीक्षण में उत्खनन कार्य सम्पन्न हुआ उनमें राखलदास बनर्जी, मकाइ, काशीनाथ दीक्षित, हारग्रीव्ज, दयाराम साहनी और माधोसरूप वत्स के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। यहां नगर निर्माण के कम से कम नौ चरण मिले। नगर निर्माण योजना, भवन, मृद्भाण्ड, मुहरें तथा अन्य कलाकृतियां सभी अत्यंत विकसित सभ्यता की सूचक थी। कुछ साल बाद मकाइ के नेतृत्व में इस स्थल पर फिर खुदाई हुई। फिर सर मार्टिमर व्हीलर ने, मुख्य रूप से इस बात का पता लगाने के लिए कि मोहेंजोदड़ो के जलमग्न स्तरों में किस तरह की सामग्री छिपी पड़ी है, 1950 में यहां पर सीमित उत्खनन कराया। इस दौरान मोहेंजोदड़ो में भी सुरक्षा दीवार से वेष्टित गढ़ी की जानकारी मिली। व्हीलर ने जल तल के नीचे भी लगभग तीन मीटर खुदाई कराई, किन्तु अप्रयुक्ता धरती तक वे भी नहीं पहुंच सके। 1964 में अमेरिका के पुराविद् डेल्स ने अप्रयुक्त्ता धरती तक पहुंचने के उद्देश्य से मोहेंजोदड़ो में उत्खनन शुरु कराया। खोदी हुई खाई में बार बार जल एकत्र हो जाने से उत्खनन कार्य में बाधा पहुची, तथपि डेल्स को वेधन (ड्रिलिंग) द्वारा नीचे के स्तरों के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएं संकलित करने में सफलता मिली, और अप्रयुक्ता धरती तक उत्खनन किया जा सका। इस क्षेत्र में आवास स्तरों की मोटाई लगभग 6.8 मीटर पायी गयी। इसमें से नीचे का भाग, जो लगभग पूरे का तिहाई है, जलमग्न है। जलमग्न स्तरों से जो मृद्भाण्ड व अन्य वस्तुएं मिली हैं वे पुराविदों के अनुसार बलूचिस्तान की विकसित सिंधु सभ्यता से पूर्व की संस्कृतियों के मृद्भाण्डो से बहुत मिलती जुलती है। वे उसी तरह की है जैसी कि हड़प्पा में सुरक्षात्मक प्राचीर के निर्माण से पूर्व के काल में पाई गयी है। हाल ही में किये उत्खनन से पता चला कि निचला शहर भी सुरक्षा दीवार से वेष्टित था।

चन्हुदड़ो – चन्हुदड़ो नामक स्थल मोहेंजोदड़ो से दक्षिण पूर्व दिशा में लगभग 128 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। सिंधु नदी यहां से अब 21 किमी की दूरी पर बहती है, कितु सिंधु सभ्यता के काल में वह इसके बिल्कुल समीप बहती थी। इस स्थान पर मूलतः एक ही बड़ा टीला था, किन्तु वर्षा, आतप और वात ने मिल कर इसे तीन खंड़ो मे बांट दिया है। नन्नी गोपाल मजुमदार ने इस स्थल को 1931 में ढूंढा था और तीन सप्ताह तक इसका उत्खनन कराया। फिर मकाइ ने 1935 में इसका उत्खनन किया। चन्हुदड़ो में भूमिगत जलस्तर तक ही उत्खनन किया जा सका। उसके नीचे जो अवशेष है उनके बारे में कुछ भी पता नहीं है। उत्खनन में सबसे नीचे सिंधु संस्कृति, उसके बाद यहां पर उस तरह के भाण्ड मिले जो सबसे पहले झूकड़ मे मिले थे। मुद्राएं वृत्ताकार और लिपि विहीन हैं। इन्हें पहले एक अलग संस्कृति

'झूकड़ संस्कृति' के नाम से जाना गया लेकिन यह अब सिन्धु सभ्यता का ही परिवर्तित रूप माने जाने लगा है। सिंधु संस्कृति के तीन निर्माण चरण स्तर मिले है। चन्हुदड़ो में बाढ़ रोकने के लिये चबूतरे का निर्माण किया गया।

प्रत्येक चरण में जो पुनर्निर्माण हुआ उसमें पूर्व चरण में अपनायी गयी भवन निर्माण शैली व रूपरेखा का अनुसरण नहीं किया गया। सिंधु सभ्यता के संदर्भ में प्राप्त भवन निर्माण योजना, बर्तन, मुद्रा, ताम्र उपकरण, मनके, बाट–बटखरे आदि हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो से प्राप्त इसी तरह की वस्तुओं से मिलते जुलते है।

बालाकोट – पाकिस्तान में कराची से 88 किलोमीटर की दूरी पर सोनमियानी खाड़ी के पूर्व मे बालाकोट स्थित है। यहां टीला 2.8 हेक्टेयर में फैला है और आसपास के क्षेत्र से 10 मीटर ऊँचा है। सिंधु सभ्यता काल में यह बन्दरगाह रहा था। इस स्थल के टीले का उत्खनन जी. एफ. डेल्स द्वारा 1979 में कराया गया। यहां पर दो संस्कृतियों के अवशेष मिले – बालाकोटी संस्कृति तथा सिंधु सभ्यता। बालाकोटी संस्कृति का प्रारम्भ चतुर्थ सहस्राब्दी ई. पू. में हुआ और यह तृतीय सहस्राब्दी ई. पू. तक चलती रही। आवासीय अवशेष 7 मीटर जमाव में पाये गये जिन्हें 11 प्रमुख चरणों मे बांटा गया है। यहां से नाल, कलात– अंजिरा तथा आमरी (1 सी–डी) जैसे मृद्भाण्ड मिले। कुछ मृद्भाण्डों पर कुम्हार के चिह्न है। कुछ अन्तराल के पश्चात् बालाकोट सिंधु सभ्यता का आवास स्थल बना। उत्खनन से चकमक पत्थर की छुरियां तथा शंख की वस्तुएं, काफी संख्या में मिलीं। कच्ची ईंटों (अनुपात 1 :2 :4) की इमारते बनीं, नालियों के लिये पक्की ईंटों का प्रयोग हुआ था। सिंधु सभ्यता काल में आवास को संभवतः रक्षा प्राचीर के साथ बनाया गया था।

अल्लाहदीनो – यह कराची (पाकिस्तान) से 40 किमी0 पूर्व में है। अमिलियानो से 15 किमी0 दूर मलिर तथा बजार नदियों के संगम पर स्थित टीला उत्तर दक्षिण दिशा में लगभग 100 मीटर और इतना ही पूर्व पश्चिम में है। यहां वाल्टर ए. फेयरसर्विस ने उत्खनन कराया। प्राप्त वस्तुओं में लगभग 300,000 मृद्भाण्ड़ खण्ड, 24000 से 26000 मिट्टी के तिकोन, 1500 चूड़ियां, 196 कांसे तथा तांबे के उपकरण हैं। उत्खनन से वास्तुकला, सिंचाई व्यवस्था, व्यापार आदि के संबंध में जानकारी मिली। अधिकांश मकान पत्थर की नींव के ऊपर कच्ची ईंटों के बने थे। कुएं, स्नान के लिये चबूतरे और नालियों के लिये पत्थर का ही प्रयोग किया। एक कई कमरे का भवन मिला जिसके दक्षिण मे एक सीध में तीन कुएं थे। सोने चॉदी और पत्थरों के आभूषण मिले। एक–शृंगी पशु युक्त मुद्राएँ, मिट्टी के तिकोन 'केक' तथा कुछ मृद्भाण्ड खण्डों पर सिंधु लिपि के उत्कीर्ण अक्षर मिले। गाय, बैल, बकरी, भेड़, भैंस, गधा, मछली की हड्डियां मिली। गेहूँ, जौ, फली के साक्ष्य मिले। यद्यपि यह स्थल आकार में छोटा है तथापि कीमती वस्तुएं इसके नगर स्वरूप का परिचायक हैं।

जम्मू

माण्डा – जम्मू से 28 किलोमीटर उत्तर पश्चिम में चिनाब नदी के तट पर है। यहां पर संस्कृति के तीन चरण मिले – 1 अ, 1 ब, तथा 1 स। अ में कुछ मृद्भाण्ड कालीबंगां में विकसित पूर्वसिंधु सभ्यता में पाये गये भाण्डों के समान है। इसी के साथ सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्ड में कुछ प्रकार के तिकोने 'केक', चर्ट के फलक तथा एक अधूरी मोहर प्राप्त हुई। दूसरे उप्रकाल (1 ब) में कालीबंगां के प्रथम चरण में प्राप्त भाण्डों का अभाव है। अन्तिम उपकाल (1 स) में सिंधु सभ्यता के भाण्ड के साथ ही कुछ भाण्ड मिले जो चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के साथ मिलते हैं।

पंजाब

हड़प्पा – हड़प्पा का टीला साहिवाल जिले (पाकिस्तान) में मोंटगोमरी नाम के कस्बे से 24 किमी. पश्चिम–दक्षिण में रावी नदी के बाएं किनारे पर स्थित है। आज नदी इस स्थल से लगभग साढ़े नौ किलोमीटर दूर बहती है, किन्तु सिंधु सभ्यता के काल में नदी तट अधिक निकट रहा होगा, अधिक वर्षा होने पर यह क्षेत्र बाढ़ग्रस्त हो जाता रहा होगा। 1856 ई. में लाहौर और मुल्तान के बीच रेलवे लाइन बिछाने के लिए रोड़ी की आवश्यकता हुई। जान ब्रंटन और विलियम ब्रंटन, जिन्होंने रेलवे लाइन बिछाने का ठेका लिया था, को रोड़ियों की आवश्यकता थी। भला रोड़ियों के लिए समीप स्थित हड़प्पा के भग्नावशेषों की ईटों से अच्छा और क्या साधन हो सकता था। आज लम्बी दूरी तक रेलगाड़ी उन प्राचीन ईटों की रोड़यों के ऊपर चलती है। वैसे इसके पहले भी आस–पास के निवासियों ने बड़ी मात्रा मे प्राचीन ईटों को खोद कर मकान बनाने में उनका प्रयोग कर लिया था। लगातार ईंटों के निकालने से इमारतों की रूपरेखा तो पहले ही बिगड़ चुकी थी, जो बची थी वह भी रेलवे लाइन की रोड़ी बिछाने के लिए ईंटें निकालने के कारण और भी नष्ट हो गई।

हड़प्पा के टीले का उल्लेख चार्ल्स मैस्सन ने 1826 में किया था। उसके बाद जनरल कनिंघम ने 1853 और 1856 में इस टीले का सर्वेक्षण किया। 1856 तथा 1872 में छोटे क्षेत्र में उत्खनन किया। उन्होंने इस टीले से कुछ प्राचीन वस्तुएं उपलब्ध की और 1875 में कुछ मुद्राएं और अन्य उपकरणों का विवरण *आर्क्योलाजिकल सर्वे रिपोर्ट* में छपवाया। 1912 में जे. एफ. फ्लीट ने भी ब्रिटिश संग्रहालय द्वारा इस स्थल से उपलब्ध की गई सिंधु सभ्यता की कुछ वस्तुओं पर रायल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में एक लेख लिखा। किंतु कनिंघम और फ्लीट इस स्थल के पुरातात्त्विक महत्त्व को भलीभांति नही आंक सके। 1921 में, जब सर जान मार्शल पुरातत्त्व विभाग के महानिदेशक थे, रायबहादुर दयाराम साहनी ने इसका पुनरन्वेषण किया और 1923–24 तथा 1924–25 में खुदाई करवाई। इसके बाद 1926–27 से 1933–34 में यहां पर माधोसरूप वत्स के निर्देशन में उत्खनन हुए जिनकी रिपोर्ट उन्होंने *एक्सवेशंस ऐट हड़प्पा* नामक दो जिल्दों में छपवायी। इन उत्खननों से यह स्पष्ट हो गया कि

हड़प्पा सिंधु सभ्यता का एक महान् केंद्र था। 1946 में व्हीलर मे निदेशन में यहां उत्खनन किया गया जिससे महत्त्वपूर्ण नये तथ्यों की जानकारी प्राप्त हुई जिनमें एक टीले की पहिचान गढ़ी के रूप में किया जाना विशेष उल्लेखनीय है। 1964–65 में जार्ज डेल्स ने उत्खनन कराया। जे. मार्क केन्योर तथा मीडो ने 1986–96 में हड़प्पा का फिर उत्खनन किया। उन्होंने कब्रिस्तान क्षेत्र, तथा दो टीलों (संख्या ए–बी तथा ई) पर उत्खनन कराया। टीलों के उत्खनन से प्राप्त अनुक्रम को 5 प्रकालों मे विभाजित किया। प्रथम तथा द्वितीय प्रकाल की सामग्री कोटदीजी संस्कृति जैसी मिली, जिसे मुगल ने 'प्रारंभिक हड़प्पा' नाम दिया है। द्वितीय प्रकाल में विशाल दीवालों का निर्माण प्रारभं हुआ। मृद्भाण्डों में विकसित सिंधु सभ्यता के तत्त्व भी मिलते हैं। इस प्रकार वास्तु और मृद्भाण्ड अगले चरण में विकसित सिंधु सभ्यता का प्रारंभिक रूप होने का ज्ञान कराते हैं। तृतीय प्रकाल में सिंधु सभ्यता के विशिष्ट अवशेष मिले। उत्खनन से निचले नगर के भी रक्षा प्राचीर से घिरे होने का प्रमाण मिला।

रोपड़ – रोपड़ पंजाब में शिवालिक पहाड़ी की उपत्यका में सतलज नदी के तट पर स्थित है। यज्ञदत्त शर्मा के निर्देशन में इस स्थल की खुदाई 1953 से 1956 तक हुई थी। इसके तीन टीले हैं जिनमें उत्तरी टीला लगभग 15 मीटर ऊंचा है। भौगोलिक दृष्टि से इसकी स्थिति सामरिक महत्त्व की लगती है। यहां पर हिमालय की तलहटी और मैदान का मिलन स्थल है। सतलज नदी यहीं पर पंजाब की उपजाऊ भूमि में प्रवेश करती है। रोपड़ में उत्खनन से छह संस्कृतियों के अवशेष मिले है। प्रथम काल में विकसित हड़प्पा सभ्यता के उपकरण मिले। इसके साथ कुछ पूर्व संस्कृति के भी उपकरण मिले। ऊपरी सतह पर सिंधु सभ्यता के सामान्य उपकरणों के साथ कुछ नये प्रकार के बर्तन भी मिले। उत्खनन सीमित क्षेत्र में किये जाने के कारण नगर निर्माण की रूपरेखा पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ सका। मुद्रा केवल एक ही मिली। मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में प्राप्त हड़प्पा संस्कृति के समान अनेक विशिष्ट बर्तन मिले हैं। किंतु अन्य स्थलों पर प्राप्त इस संस्कृति के बर्तनों के कुछ प्रकार यहां नही मिलते, और कुछ बर्तन ऐसे मिले है जिन पर नये प्रकार के डिजाइन है। घर साधारण कच्ची ईंट और नदी से प्राप्त उपल से बने थे। कांचली मिट्टी एवं अन्य पदार्थों के आभूषण, ताम्र कुल्हाड़ी तथा चार्ट फलक हड़पा प्रकार के मिले हैं। एक कब्रिस्तान भी मिला हैं। हड़प्पा संस्कृति के स्तरों के बाद कुछ अंतराल से एक नई संस्कृति के अवशेष मिले हैं, जिसके मृद्भाण्डों में चित्रित धूसर–भाण्ड मुख्य है।

बाड़ा – रोपड़ के पास ही स्थित बाड़ा की खुदाइयों से संस्कृति के तीन चरण मिले। यहां पर ही प्राप्त मृद्भाण्ड ह्रासोन्मुख हड़प्पा संस्कृति के द्योतक हैं। साधार तश्तरी का दण्ड छोटा तथा किनारा झुकावदार हो गये। एक मिट्टी का उपकरण नीचे 10 सेमी. वर्गाकार और 17.5 सेमी. ऊँचा है जिसका ऊपरी हिस्सा दो भागों मे विभक्त

है। ऐसे उदाहरण संघोल तथा चण्डीगढ़ से भी मिले है और अनुष्ठान से संबधित थे। किंतु उनमें से कुछ भाण्डों पर चित्रित अभिप्राय बलूचिस्तान तथा कोटदीजी और कालीबंगां के पूर्व हड़प्पा संस्कृति कालीन अभिप्रायों से भी कुछ समानता रखते है। वृत्त काटते वृत्त, पीपल पत्ती, मत्स्य शल्क अलंकरण नहीं हैं जबकि सीगं के बीच में बाण और क्षैतिज धारियों के बीच ठोस बिन्दु का अलंकरण हैं।

हरियाणा

राखीगढी – राखीगढ़ी हरियाणा के हिसार जिले में दृषद्वती नदी के किनारे स्थित है। इसकी खोज 1963 में सूरजभान ने की। उसके पश्चात यहां पर कुछ पुरातत्त्विक सर्वेक्षण किए गये। फिर 1997 से अमरेन्द्रनाथ ने उत्खनन कराया। इसमें 7 टीले है। पूरा क्षेत्र लगभग 100 हेक्टेयर में फैला है।

यहां पर प्रारंभिक सिंधु सभ्यता और विकसित सिंधु के अवशेष प्राप्त हुए। प्रारंभिक सिंधु के दो चरण है (अ) जो नागारिक स्वरूप के पूर्व का है तथा (ब) जिसमें प्रारंभिक नागरिक स्वरूप के लक्षण मिलते हैं। उपचरण (1 ब) में योजनाबद्ध बस्ती बसने के साक्ष्य मिलते हैं। इस चरण में बिना लेख वाली मुद्राएं, मिट्टी की बैल की आकृतियां, चर्ट फलक, बाट इत्यादि मिले हैं। इस काल में कालीबंगां 1 में प्राप्त सभी 6 प्रकार के मृद्भाण्ड़ प्राप्त हुए। इस काल के उपकरण में ग्रैफिटी युक्त मृद्भाण्ड़, पत्थर की गोलियां, मिट्टी की पशु आकृतियां, खिलौने, सिलबट्टे तथा कई पदार्थों से निर्मित मनके प्राप्त हुए। राखीगढ़ी का द्वितीय काल सिंधु सभ्यता का था। यहां पर उत्खनन से गढ़ी होने की संभावना दिखायी दी। सुरक्षा दीवार के भी अवशेष प्राप्त हुए। यहां पर भी कालीबंगां के समान चबूतरों पर गर्त मिले जिनमें कोयला तथा पशु की हड्डियां पायी गयी। चबूतरों पर चार पांच गर्त वेदिकाएं मिली। इनके मध्य में एक ईंट को खड़ा किया गया था, जो संभवतः 'यष्टि' का प्रतीक था। इसके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट प्रकार की अग्नि–वेदिकाएं भी मिली हैं, जिनके संदर्भ में तिकोन 'केक' प्राप्त हुए।

यहां से सिंधु सभ्यताकालीन अनेक विशिष्ट प्रकार के मृद्भाण्ड–कुल्हड़, थाली, नांद, विशाल घड़े, छिद्रित बर्तन, साधार तश्तरियां और कुछ नये प्रकार के भाण्ड भी मिले। मिट्टी की पशु आकृतियों में बैल, भैंसा, कुत्ता, चीता, खरगोश और घोड़े पहिचाने जा सके हैं। कुछ मिट्टी की मानव आंकृतियां भी मिली हैं। अन्य वस्तुओं में चर्ट के फलक, बाट, खेलने की गोली, सेलखड़ी की मुद्राएं, मिट्टी की मुद्रा–छाप एवं सीसे के पिण्ड पर अंकित लेख मुख्य हैं। यहां पर सिंधु सभ्यता के शवाधान भी प्राप्त हुए। उनके साथ मिट्टी के बर्तन तथा कुछ अन्य उपकरण रखे हुए मिले। तीन कंकालों के हांथों मे शंख की बनी चूड़ियां थीं। एक कंकाल के पास सोने का भुजबन्द मिला।

कुणाल – कुणाल जिला फतेहाबाद, हरियाणा, बणावली से 20 किलोमीटर

की दूरी पर प्राचीन सरस्वती के निकट स्थित है। लगभग 3000 ई. पू. में सिंधु सभ्यता से पहले हाक्रा प्रकार के बर्तनो का प्रयोग करने वाले लोग प्रारंभिक चरण में गर्त बनाकर रहते थे। आगे चलकर (1 ब) लोगों ने गर्त्त को बड़ा बनाया तथा उसके आसपास कच्ची ईटों का भी प्रयोग किया। कालीबंगां 1 प्रकार के बर्तन बनाने प्रारभं हुए।

कुछ सिंधु सभ्यता जैसे चषक और मर्तबान मिले। अगला उपप्रकाल (1 स) संक्रमण काल का द्योतक है। इसमे आयताकार कच्ची ईटों (1 : 2 : 3 तथा 1 : 2 : 4 के अनुपात में) के आवास बनाये गये। गली तथा नाली व्यवस्था का भी साक्ष्य मिला। इस प्रकाल के अन्तिम चरण से एक मृद्भाण्ड में चांदी के पत्तर मे लपेटे सोने तथा चांदी के आभूषण मिले। इनमें चांदी के मुकुट विशेष उल्लेखनीय है। ये आभूषण किसी राजा अथवा किसी संभ्रात व्यक्ति के रहे होगें। सोने, मिट्टी, लाजवर्द, अफीक (गोमेद) के कुल मिलाकर 12 हजार मनके मिले। कांसे की अंगूठी, शंकु, अंग्रेजी के 'वी' अक्षर आकृति के बाणाग्र, चपटी कुल्हाड़ियां, मछली के कांटे तथा ज्यामितीय चिह्न अंकित मिट्टी तथा शंख की मुद्राएं मिली। सरस्वती की घाटी में सैंधव सभ्यता से पूर्व की संस्कृति पर्याप्त समृद्ध थी और उसके सिंधु सभ्यता के नगरीकरण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। इस स्थल पर विकसित सिंधु सभ्यता का चरण नहीं मिला।

बणावली – बणावली दिल्ली से 220 किमी की दूरी पर फतेहाबाद जिले के इसी नाम की तहसील में प्राचीन सरस्वती, जो अब सूख चुकी है, की घाटी में स्थित है। हरयाणा राज्य के पुरातत्त्व विभाग के तत्वावधान में रवीन्द्र सिहं बिष्ट ने 1973–74 में यहां उत्खनन कराया। टीला लगभग ग्यारह मीटर ऊंचा है और उत्तर दक्षिण की ओर 600 मीटर तथा पूर्व पश्चिम की ओर भी 400 मीटर के क्षेत्र में फैला है। उसमें तीन संस्कृतियां पहचानी गयी। प्रथम काल में सिंधु संस्कृति से पहले की संस्कृति और सिधु संस्कृति के अवशेष मिले। इस काल के मृद्भाण्ड कई आकार प्रकार के हैं। इनमें कुछ चित्रित तथा कुछ सादे हैं और बहुत कुछ कालीबंगां के प्रथम काल के संदर्भ में प्राप्त मृद्भाण्डों के समान हैं। इस काल में भी नगर नियोजन का साक्ष्य मिलता है जिसमें सड़कें चौराहे पर एक दूसरे की काटती हुई मिलती हैं। इस काल में कुछ पक्की ईटें भी शामिल हैं। प्रथम काल की सतहों के ऊपर द्वितीय काल के सिंधु संस्कृति के अवशेष मिलते हैं। इसके तीन चरण हैं। प्रथम चरण में सुरक्षा दीवार नहीं थी। इसका निर्माण दूसरे चरण में किया गया। तृतीय चरण में गढ़ी तथा निचले नगर का सृजन किया गया। बणावली सिंधु संस्कृति का एक सुनियोजित और महत्त्वपूर्ण नगर था। आकार प्रकार और चित्रण की दृष्टि से यहां के मृद्भाण्ड अन्यत्र सिंधु सभ्यता के संदर्भ में प्राप्त मृद्भाण्डों के समान हैं। तांबे के बाणाग्र, उस्तरे, मनकें, चर्ट फलक, कार्नीलियन और कांचली मिट्टी के मनके, पशु और मानव मृण्मूर्तियां, बाट बटखरे, मिट्टी की गोफन गोलियां, सिंधु लिपि में अंकित लेख वाली एक मुद्रा और कुछ

मुद्रा–छापें भी पायी गयी हैं। कुछ मृद्भाण्ड खण्डों पर भी सिंधु लिपि के अक्षर उत्कीर्ण हैं। तृतीय काल में विकसित सिंधु सभ्यता में ह्रास के लक्षण दिखते हैं।

बालू – बालू का टीला हरियाणा प्रान्त के कैथल जिले में बालू गांव से 3 किलोमीटर की दूरी पर उत्तर दिशा में स्थित है। यह पूर्व–पश्चिम में 250 मीटर तथा उत्तर–दक्षिण में 200 मीटर क्षेत्र में फैला है। आसपास की भूमि से 4.50 मीटर ऊंचा है। इसका उत्खनन कई वर्षों तक (1974–79) उदयवीर सिंह तथा सूरजभान के निर्देशन में प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरूक्षेत्र के तत्त्वावधान में हुआ, और पुनः 1996–97 में संकटा प्रसाद शुक्ल के निर्देशन में। यहां के पुरातात्त्विक अवशेषो को तीन प्रकालों (अ,ब,तथा स) में बांटा गया। 'अ' प्रकाल के, अवशेष प्राग् सिंधु प्रकाल के, ब प्रकाल में विकसित सिंधु प्रकाल के, और स प्रकाल के परवर्ती सिंधु सभ्यता प्रकार के पाये गयें। यहां पर अन्त तक सांस्कृतिक निरंतरता रही। सिंधु काल में यहां एक गढ़ी का निर्माण हुआ। उत्खनन से विभिन्न प्रकालों की भौतिक सामग्री प्राप्त हुई। यहां से अनाज तथा फलों के महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले हैं।

मीताथल – मीताथल हरियाणा प्रदेश के भिवानी जिले में इसी नाम के नगर से उत्तर–पश्चिम में स्थित है। यहां पर पहली सतह से ताम्र निधि के कुछ उपकरण मिले थे। 1968 में सूरजभान ने यहां पर उत्खनन कराया। उनके मतानुसार टीले के पूर्व में जो लगभग 400 मीटर चौड़ी प्राकृतिक खाई है वह यमुना के प्राचीन प्रवाह मार्ग की द्योतक लगती है जो आगे चलकर राजस्थान में दृषद्वती–सरस्वती सरणि से मिलती थी। मीताथल के प्रथम काल के मृद्भाण्ड कालीबंगां के प्रथम काल के बर्तनों से मिलते जुलते हैं। इस काल में भवन निर्माण कच्ची ईंटों से किया गया। दूसरे काल की संस्कृति सिंधु संस्कृति है जिसके अवशेषों को दो चरणो में बांटा गया है। प्रथम चरण विकासशील और दूसरा चरण ह्रासोन्मुख है। प्रथम चरण में सुनियोजित नगर निमार्ण की नींव डाली गई। यहां पर भी नगर निर्माण में गढ़ी और निचले नगर की परियोजना दिखाई देती है। सड़कें पूर्व–पश्चिम उत्तर–दक्षिण दिशा को थी। इस काल में सिंधु सभ्यता के सामान्य भाण्डों के साथ कुछ पहले काल (कालीबंगां प्रथम प्रकाल) की शैली में निमिंत बर्तन भी प्रचलित रहे। सिंधु सभ्यता के द्वितीय चरण में निश्चित रूप से ह्रास के लक्षण मिलते हैं। इमारतों का निर्माण निम्नकोटि का था और उसके लिये खण्डित ईटों का प्रयोग होने लगा था। मृद्भाण्डों के आकार प्रकार और चित्रण शैली भी पहले की अपेक्षा निम्नकोटि के है। कुछ ताम्र उपकरण यथा चपटी कुल्हाड़ी तथा परशु ताम्रनिधि के उपकरणों से मिलते जुलते हैं। पानपात्र और चंचुक, जो सिंधु सभ्यता के खास बर्तनों के प्रकारों में से है, का चलन शनैः शनैः कम होता गया और अन्तिम चरण में उनका प्रचलन ही बन्द हो गया। अन्य उपकरणों में खिलौने गाड़ियों के पहिये, पशु आकृतियां, मृत्पिण्ड, गोफन गोलियां, पत्थर के बांट और

फलक, मिट्टी और शंख की चूड़ियां और पत्थर की अंगूठी उल्लेखनीय हैं।

राजस्थान

कालीबंगां – पुरानी सरस्वती और दृषद्वती (जिनकी पहचान क्रमशः आज की घग्घर और चौतांग नदियों से की गई है) की घाटियां आज सूखी पड़ी हैं। किसी समय इनमें निरंतर जल–धारा बहती थी और तब सतलज तथा जमुना का जल भी उसमें ही मिलता थी। इस क्षेत्र में खूब बस्तियां बसी थी, सिंधु संस्कृति भी फूली फली थी। इसका प्रमाण वे अनगिनत टीले हैं जो राजस्थान की रेतीली भूमि में अपने वक्ष में पुरा सामग्री छिपाये बैठे हैं। आरेल स्टाइन ने भूतपूर्व बहावलपुर रियासत में हक्रा नदी (घग्घर नदी का ही विस्तार) के सूखे मार्ग में प्राग् हड़प्पा संस्कृति के करीब ग्यारह प्राचीन स्थल 1942 में ढूंढ निकाले थे, और लगभग एक दशक बाद अमलानंद घोष ने 1953 में लगभग दो दर्जन हड़प्पा संस्कृति के स्थल राजस्थान के भूतपूर्व बीकानेर रियासत में खोज निकाले। इनमें हनुमानगढ़ जिले में घग्घर (प्राचीन सरस्वती) के किनारे पर स्थित कालीबंगां प्रमुख है। दिल्ली से यह लगभग 300 किलोमीटर उत्तर–पश्चिम में है। यहां पर सिंधु सभ्यता के अवशेषों के नीचे प्राग् सिंधु सभ्यता के अवशेष मिले है। कालीबंगां में उत्खनन ब्रजवासी लाल और बालकृष्ण थापड़ के निर्देशन में 1961 में मुख्य रूप से हड़प्पा संस्कृति के उद्भव के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए और साथ ही स्कूल औफ आक्योलाजी के विद्यार्थियों को महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक स्थल के उत्खनन का प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से आरम्भ किया गया था। मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की भांति यहां भी मुख्य रूप से दो टीले मिले। एक छोटा पश्चिम में, और दूसरा बड़ा पूर्व में (यों यहां पर तीसरा टीला भी दिखाई देता है पर वह अपेक्षाकृत बहुत छोटा है)। महत्त्व की बात यह है कि ये दोनों टीले अलग–अलग सुरक्षा दीवार से घिरे थे। गढ़ी भी दो भागों में विभजित थी, उत्तरी भाग में शायद पुरोहित रहते हों और दक्षिणी चबूतरे में अग्निवेदिकाएं मिली जहां पर ये आकर अनुष्ठान करते थे। छोटे टीले पर पहले हड़प्पा संस्कृति से पूर्व की संस्कृति के लोग बसे हुए थे, फिर हड़प्पा संस्कृति मिलती है। बड़े टीले पर सिंधु सभ्यता और प्राग् सिंधु संस्कृति के अवशेष साथ–साथ मिले। कुछ विद्वानों का सुझाव है कि सम्भवतः सिंधु सभ्यता का क्षेत्र एक साम्राज्य के अन्तर्गत था और हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो और कालीबंगां हड़प्पा साम्राज्य की तीन राजधानियां थीं। गढ़ी ही नहीं बल्कि नीचे नगर की बस्ती का भी रक्षात्मक दीवार से घिरा होने के कारण कालीबंगां का सिंधु सभ्यता के स्थलों में विशिष्ट स्थान है। कालीबंगां में सामान्य शवाधानों के अलावा प्रतीक शवाधान भी मिले। यहां पर सबसे प्राचीन जुते खेत और भूकम्प का प्राचीनतम पुरातात्त्विक साक्ष्य मिले हैं। मोहेंजोदड़ो में नगर नियोजन की विस्तृत जानकारी मिली किंतु सुरक्षा की उतनी अच्छी नहीं। हड़प्पा में सुरक्षा दीवार के बारे में अच्छी जानकारी

मिलती है, मगर नगर योजना का कम। कालीबंगां में सुरक्षा दीवार और नगर योजना दोनों की अच्छी जानकारी मिली।

उत्तर प्रदेश

आलमगीरपुर – सन् 1958 तक हड़प्पा संस्कृति के अवशेष गंगा–यमुना दोआब में नहीं मिले थे। इसी साल यमुना की सहायक हिण्डन नदी के बायें तट पर उससे 3.2 किलोमीटर की दूरी पर इस संस्कृति के अवशेष मिले। यह मेरठ से तीस किलोमीटर पश्चिम और दिल्ली से लगभग 45 किलोमीटर उत्तर–पूर्व में है। यहां पर भारत सेवक समाज का शिविर लगाया जा रहा था तो अचानक कुछ पुराकालीन सामग्री प्रकाश में आयी। भारतीय पुरातत्त्व विभाग के अधिकारियों द्वारा परीक्षित होने पर यह सिंधु संस्कृति कालीन प्रतीत हुई। कालांतर में किये गये उत्खननों से इसकी पुष्टि हुई। टीले का आकार 60 X 50 मी0 है। इसमें पहली संस्कृति सिंधु संस्कृति थी। उसके बाद तीन और संस्कृतियां थीं जिनमें प्रत्येक में अपने पूर्व संस्कृति से काल व्यवधान था। यहां पहले काल में सिंधु प्रकार के मृद्भाण्ड, यथा छिद्रित भाण्ड, चंचुक, साधार तश्तरियां, मृत्पिण्ड, मनके, सोने का पानी चढ़ा मिट्टी का मनका, घनाकर बाट, तथा मिट्टी की खिलौना गाड़ियां मिलीं। लालभांड पर काले रंग से वृत्त को काटते वृत्त, मोर आदि चित्रण हैं। कुछ मिट्टी के पायेदार चकले मिले। साधार तश्तरी के रिम झुके हुये थे। आलमगीरपुर से प्राप्त सामग्री ह्रासोन्मुखी हड़प्पा सभ्यता की द्योतक है। यहां पर एक भी मुद्रा नहीं मिली और सिधु सभ्यता के कुछ भाण्डों के प्रकार भी यहां पर अनुपलब्ध है।

हुलास – यह सहारनपुर (उत्तर प्रदेश) मे काठानाला (जो यमुना में गिरता है) के पास स्थित है। यहां प्रथम काल जो परवर्ती सिंधु सभ्यता का है से पंचम काल जो गुप्त काल का है, तक की संस्कृति के अवशेष मिले। यहां कच्ची ईंट का चबूतरा, शायद बाढ़ से रक्षा हेतु बनाया गया होगा। परवर्ती सिंधु सभ्यता के भाण्डों के चित्रण में विविधता नहीं किंतु केले के पेड़ और मोर का चित्रण है। अन्य वस्तुओं में कांचली, मिट्टी के 'केक', मिट्टी के खिलौना गाड़ी के पहिये, एक सिंधु लिपि चिह्न अंकित मुद्रा, दो मिट्टी की वस्तुएं जिनमें ऊपरी भाग सींग सा है, उल्लेखनीय हैं। चबूतरा, मोर और केले के पेड़ का चित्रण, सिंधु लिपि युक्त मोहर सिंधु सभ्यता के तत्त्वो के चलते रहने के साक्ष्य हैं; किंतु भाण्डों का आकार–प्रकार, सींग का आभिप्राय आदि परवर्ती सिंधु सभ्यता के घोतक है।

गुजरात

गुजरात में सभ्यता का विकास मुख्यतया लूनी, बणास, साबरमती नर्मदा तथा ताप्ती के किनारे हुआ। शि. रंगनाथ राव ने सुझाया है कि सिंधु सभ्यता के लोगों का सौराष्ट्र में पदार्पण सम्भवतः व्यापारिक कारणों से हुआ। अनुमानतः लोथल में इस

सभ्यता का पदार्पण मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा नगरों की नींव पड़ने के अल्पकाल (लगभग अर्द्ध शताब्दी) के भीतर ही हो गया था। रंगपुर की नींव लोथल के कुछ समय बाद पड़ी (देखिये नीचे)। राव का मत है कि सौराष्ट्र के और उसके समीप के सिंधु सभ्यता के कुछ स्थल प्राचीन समुद्रतट पर स्थित है। वे इसके द्योतक हैं कि सिधुं सभ्यता के लोग सौराष्ट्र में समुद्री मार्ग से आये होंगे। जो स्थल समुद्र तट से कुछ दूर है वे व्यापारिक लाभ के लिए अथवा आर्थिक परिस्थितियों के कारण बसाये गये होंगे। लेकिन जगतपति जोशी ने हाल ही में कच्छ में किये सर्वेक्षणों एवं उत्खननों के आधार पर मत व्यक्त किया है कि सिंधु सभ्यता के लोगों ने सौराष्ट्र आने के लिए भूमि मार्ग का प्रयोग किया। लेकिन इस संबंध में सांकलिया की धारणा कि कुछ लोग भूमि मार्ग और कुछ समुद्री मार्ग से सौराष्ट्र में आये होंगे, अधिक समीचीन लगती है।

रंगपुर – रंगपुर लोथल से लगभग 50 किलोमीटर उत्तर–पूर्व में और अहमदाबाद के दक्षिण–पश्चिम में, भूतपूर्व लिम्बिडि राज्य में, भादर नदी के तट पर, धुन्धुका रेलवे स्टेशन से करीब 5 किलोमीटर पर है। 1934 में रंगपुर के टीले को सड़क निर्माण के सिलसिले में खोदने पर कुछ मृद्‌भाण्ड मिले जिन्हें हड़प्पा सभ्यता का करार दिया गया। माधोसरूप वत्स ने 1931–34 में, मोरेश्वर दीक्षित ने 1947 में और शि रंगनाथ राव ने 1953–54 में इस टीले का उत्खनन कराया। वत्स ने इसे हड़प्पा संस्कृति का स्थल घोषित किया था, किंतु दीक्षित ने इसमें संदेह व्यक्त किया। राव द्वारा अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्र पर उत्खनन किये जाने पर न केवल यह हड़प्पा संस्कृति का केंद्र निश्चित रूप से सिद्ध हुआ बल्कि इससे हड़प्पा संस्कृति के ह्रास के काल के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई। राव का अनुमान है कि रंगपुर में सिंधु सभ्यता का उदय लोथल से बाद में हुआ। लेकिन सांकलिया के मतानुसार इस बात की पूरी संभावना है कि रंगपुर और लोथल दोनों ही स्थलों में इस सभ्यता का प्रारंभ लगभग एक ही समय में हुआ।

रंगपुर की खुदाई में सबसे नीचे प्रथम काल में लघु अश्म मिले। इनके साथ कोई भाण्ड नहीं पाये गये। इसके बाद यहां पर सिंधु सभ्यता से पूर्व की संस्कृति के अवशेष मिले जिसके केवल भाण्ड ही ज्ञात है। इसमें (1) लाल अभ्रकी – जिसमें हत्थेदार कटोरा और बाहर की ओर फैले रिम वाला छोटा बर्तन और (2) खुरदरे घूसर बर्तन मुख्य हैं। इसके बाद दूसरे काल में सिंधु सभ्यता के अवशेष मिले हैं जो विकसित सिंधु संस्कृति के चरण के द्योतक है। इसमें सिंधु सभ्यता के विशिष्ट स्मारक, नालियां, कच्ची ईटों के सुरक्षा दुर्ग, मृद्‌भाण्ड, आभूषण, बाट और मृत्पिण्ड मिले हैं, किन्तु मातृदेवी की मूर्तियां और मुद्राएं नहीं मिली। रंगपुर 2 ब, 2 स, निरंतर ह्रास के द्योतक हैं। इनमें सिंधु प्रकार के मृद्‌भाण्डों से आकार–प्रकार में भिन्न भाण्ड मिलते हैं यथा चमकीले लाल भाण्ड और काले–लाल भाण्ड। फलक चकमक पत्थर की जगह जैस्पर के बने थे। रंगपुर के 2 स, चरण में छिद्रयुक्त भाण्ड, कुल्हड़ तथा बीकर नहीं मिलते।

चित्रण में नये अभिप्राय यथा दौड़ता हिरण तथा धुमावदार सींग वाले बैल मिलते हैं। पुरावशेषो मुख्यतया मृद्भाण्डों के अध्ययन से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि यहां पर सिंधु सभ्यता का अन्त अचानक नहीं हुआ, बल्कि वह मध्य भारतीय ताम्र पाषाण संस्कृति के सम्पर्क में आकर परिवर्तित हुई और अन्ततः अपना अस्तिव खो बैठी।

धौलावीरा – यह प्राचीन टीला लगभग 100 हेक्टेयर के क्षेत्र मे फैला है। यह गुजरात राज्य में कच्छ जिले की भचाऊ तालुका में धौलावीरा नाम के गांव के उत्तर में स्थित है। यह टीला खदिर द्वीप के उत्तर–पश्चिमी भाग में है जो कच्छ रण का नमक बहुल भाग है। मन्सर तथा मन्हर बरसाती पानी के नाले हैं जिनका उपयोग लोगों ने जल संचय के लिए किया था। इस टीले के लगभग आधे भाग पर सिंधु सभ्यताकालीन आवास रहा था।

धौलावीरा की खोज जगत्पति जोशी ने की। तदुपरान्त रवीन्द्र सिंह बिष्ट ने 1991 से इसका उत्खनन कार्य प्रांरभ किया जो किंचित व्यवधान के साथ अभी भी चल रहा है। उत्खनन से इस नगर की संस्कृति के पाँच चरणों (1–5) का ज्ञान हुआ। यहां पर 3 ब से सिंधु सभ्यता के तत्त्व प्रारंभ हो जाते है यथा छाप लगाने के लिये मुद्रा (बिना लेख वाली) मृद्भाण्ड पर अंकित सिंधु लिपि के चिह्न। चतुर्थ काल विकसित सिंधु सभ्यता का है। पूर्ण विकसित अवस्था में यह नगर दुर्ग, मध्य नगर तथा निचला नगर के साथ एक ही रक्षाप्राचीर से घिरा था। दुर्ग में पाँच द्वार थे। रक्षा प्रचीर में अलग–अलग द्वार थे। इसके साथ ही स्टेडियम, चट्टान को काटकर बनाया तालाब, सिंधु सभ्यता की लिपि युक्त साइन बोर्ड, पत्थर के सुन्दर तराशे पालिश युक्त भव्य स्तंभ, आदि विविध प्रकार के अवशेषों से सिंधु सभ्यता के विषय में नवीन जानकारी उपलब्ध हुई है। धौलावीरा में 16 तालाब वर्षा जल एकत्र करने के लिए बनाये गये थे, जो सिंधु सभ्यता में अपने ढंग के अकेले हैं।

सुरकोटड़ा – कच्छ जिले में अदेसर से 12 किलोमीटर उत्तर–पूर्व में स्थित सुरकोटड़ा की ख़ोज जगतपति जोशी ने 1964 ई में की और इसका उत्खनन भी उन्हीं के निर्देशन में किया गया। यहां पर सिंधु संस्कृति के तीन चरण मिले हैं। प्रथम चरण में यहां पर गढ़ी और आवास क्षेत्र मिला है। गढ़ी के बाहर पर कोटा से घिरा बड़ा क्षेत्र था। पर कोटा कच्ची ईंटों और मिट्टी के लोंदों से बना था और 5 से 8 रद्दों तक पत्थर से आच्छादित था। आवास स्थल कच्ची ईंटों की रक्षा दीवार से सुरक्षित था। रक्षा दीवार नींव के पास लगभग सात मीटर चौड़ी थी। इस काल के अधिकांश मृद्भाण्ड़ अन्यत्र प्राप्त सिंन्धु सभ्यता के बर्तनों से मिलते जुलते हैं यद्यपि कुछ पूववर्ती संस्कृति के संपर्क के भी द्योतक है। यहां पर कुल्हड़ मिले हैं जो अन्य स्थलों पर सिंधु सभ्यता के प्रारंभिक चरण में नहीं मिलते हैं। सिंधु सभ्यता की मुद्रा, मनके और चर्ट के फलक भी प्राप्त हुए। शवाधान के उदाहरण मुख्यतः अस्थि कलशों के रूप में मिले हैं। यहां पर बड़ी चट्टान से ढकी एक कब्र मिली है जो सिन्धु सभ्यता में अपने

ढंग की एक ही है। द्वितीय चरण में जिसका अंत एक भीषण अग्निकांड से हुआ था, सिन्धु सभ्यता के बर्तनों के साथ ही एक नये तरह का लाल भाण्ड भी मिला है। तृतीय चरण में भी यहां सिन्धु सभ्यता के तत्त्व विद्यमान रहे, किन्तु इस चरण में सफेद रंग के चित्रित काले और लाल भाण्ड काफी संख्या में पाये गये । घोड़े की हड्डियां इस चरण की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं।

लोथल – लोथल सौराष्ट्र क्षेत्र में सिंधु सभ्यता का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थल है। यह टीला अहमदाबाद जिले में इसी नाम के नगर से लगभग 80 किमी. दक्षिण में सरगवाला गांव की सीमा में स्थित है। संभवतः प्राचीन काल में यह साबरमती और भोगावा नदियों के संगम पर स्थित था, कितु आज यह संगम टीले से लगभग सवा तीन किलोमीटर दक्षिण–पश्चिम में है। यहां पर किये गये उत्खनन से सिंधु सभ्यता के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ा है।

लोथल का टीला आज लगभग 3.22 किमी की परिधि में फैला है। उत्खनन के निदेशक शि. रंगनाथ राव के मतानुसार आज यह अपने मूल आकार का आधा ही रह गया है। टीला तो बहुत ऊंचा नहीं (यह लगभग 5.5 मीटर ही ऊंचा है) परंतु खोदाई में 6.7 मीटर गहराई तक प्राचीन अवशेषों की प्राप्ति हुई है। सबसे नीचे अभ्रकी लाल रंग के मृद्भाण्ड मिले हैं जो राव के मतानुसार सिंधु सभ्यता के लोगों के आने से पहले के लोगों के हैं। ये लोग ताम्र से परिचित थे। ये उल्टे रखकर बर्तन पकाने की विधि से काले–लाल प्रकार के भाण्ड बनाते थे। यह कहना कठिन है कि इस संस्कृति का उद्‌गम भारतीय भूमि में हुआ अथवा विदेश में। सिंधु सभ्यता काल में भी लोथल में इस तरह के भाण्ड़ बनते रहे थे। अभ्रकी भाण्डों के साथ अन्य निम्न उपकरण मिले हैं – मिट्टी के तकुए, पत्थर के मनके, शंख की चूड़ी, हाथी दांत और तांबे के उपकरण। ताम्र का प्रयोग इस संस्कृति के लोगों का पर्याप्त उन्नत होने का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। इसके बाद नगर के पूरे जीवन काल में एक ही सभ्यता सिंधु सभ्यता रही। नगर सुनियोजित था और सीधी सड़कों द्वारा खण्डों में विभक्त था। नालियों का सुंदर प्रबंध था।

कब्रिस्तान बस्ती से थोड़ी दूर पर था। प्रायः सिंधु सभ्यता के सभी प्रकार के विशिष्ट उपकरण, बर्तन, मुद्राएं, बाट बटखरे, आभूषण, ताम्र तथा पाषाण उपकरण आदि यहां मिले हैं। विशेषज्ञों का कहना है कि सिंधु सभ्यता के काल में समुद्र भी इसके नजदीक ही लगभग 5 किलोमीटर के भीतर था। यहां पर एक गोदी मिली है जो समुद्री आवागमन तथा व्यापार के लिए महत्त्वपूर्ण थी। पश्चिमी एशिया के साथ सिंधु सभ्यता के व्यापारिक सम्पर्क में लोथल का महत्त्वपूर्ण योगदान था। राव के मतानुसार लोथल में सिंधु सभ्यता के लोग 2400 ई. पू. में आये । यहां पर संस्कृति के पांच प्रकाल मिले है। एक से चार हड़प्पा संस्कृति के हैं जिन्हें 'अ' काल की संज्ञा दी गई है और पांचवे प्रकाल को 'ब'। 'ब' काल में हड़प्पा संस्कृति के साथ नये तत्त्वों

का सम्मिश्रण पाया गया है। लोथल कई बार भीषण बाढ़ से क्षतिग्रस्त हुआ। लोथल में इस विकसित सिंधु सभ्यता के बाद ह्रासोन्मुखी और किंचित परिवर्तित सिंधु सभ्यता के दर्शन भी होते हैं। राव ने लोथल को नगर माना है जिसकी जनसंख्या विकसित काल में 10 से 15 हजार रही होगी। पोस्सेहल का मत है कि इसकी जनसंख्या एक दो हजार ही रही होगी और इसके लिए नगर से कस्बा शब्द अधिक उपयुक्त रहेगा। लोथल में कच्चा माल काफी मिला। मनकों का कारखाना मिला। समूचे हाथी दांत भी मिले हैं। ऐसी धारणा है कि लोथल में निर्मित वस्तुएं उस क्षेत्र के लोगों के लिए ही नहीं रही होंगी, बाहर भी भेजी जाती रही होंगी और साथ ही बाहर से कच्चा माल भी प्राप्त कियां जाता रहा होगा। तांबा और सेलखड़ी राजस्थान से लाये गये होंगे, सीप अरब सागर के तटीय क्षेत्र से। पोस्सेहल की धारणा है कि लोथलवासी, समीपस्थ आखेट, कन्दमूल और फल--फूल पर निर्भर रहने वाले लोगों से व्यापारिक संपर्क बनाये हुए थे। वे उनसे कच्चा माल प्राप्त करते थे और उन्हें बदले में निर्मित वस्तुएं देते थे। उनके अनुसार वास्तव में लोथल की स्थिति इन शिकार और जंगली फलमूल एकत्र करने वाले लोगों और मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा, आदि सिंधु सभ्यता के केन्द्रों के संदर्भ में बिचौलिये की थी। ये सिंधु सभ्यता के नगर लोथल के माध्यम से इन यायावर लोगों का कच्चा माल प्राप्त करते थे। एक तरफ अत्यंत विकसित और दूसरी ओर यायावर लोगों के संपर्क से लोथल की सामाजिक दशा पर प्रभाव पड़ा होगा और सामाजिक वर्गीकरण को बढ़ावा मिला होगा।

पाद्री – यह गुजरात के भावनगर जिले में खंभात की खाड़ी के निकट स्थित है। भावनगर कस्बे से 50 किलोमीटर दूरी पर है। इस क्षेत्र में इसे केरला ने ढोरो के नाम से जानते है। टीला पूर्व--पश्चिम में 340 मीटर तथा उत्तर--दक्षिण में 210 मीटर है। अवशेष 3.2 मीटर गहराई तक पाये गये हैं। पाद्री का उत्खनन बसन्त शिंदे के निदेशन में दक्कन कालेज, पूना के तत्त्वाधान में किया गया है। यहां से दो प्रकालो की सामग्री उपलब्ध हुई है। प्रथम प्रकाल का 60 सेंटीमीटर मोटा जमाव प्राग् हड़प्पा अथवा प्रारंभिक हड़प्पा सभ्यता कालीन है। प्रथम काल में सिंधु सभ्यता प्रकार के भाण्ड मिले जिनमें से कुछ पर चित्रण है। इस प्रकाल से 12.5 मीटर वर्गाकार संरचना मिली जिसमें एक दूसरे से संबद्ध कमरे हैं। इन्हें तांबे, आदि के संग्रह के लिये प्रयोग में लाया गया था। इसी प्रकाल से हड़प्पा सभ्यता के अक्षरों से उत्कीर्ण मृद्भाण्ड़ खण्ड और कुछ तांबे के उपकरण मिले। कच्ची ईंटें 1: 2: 4 के अनुपात में थी जो सिंधु सभ्यता की ईंटों के अनुरूप है।

पाद्री के दूसरे प्रकाल के अवशेष हड़प्पा सभ्यता कालीन है। लोग मिट्टी या ईंटों से निर्मित वर्गाकार या आयताकार मकानों में रहते थे। मकानों के फर्श गोबर से लीपे जाते थे। सिंधु काल में नमक बनाने के लिये बाड़ा भी पाया गया। इस स्थल में हड़प्पा सभ्यता काल में चार बार बस्ती बसी। तीन बड़े आकार के चित्रित मटके पाये गये।

रोजडि – रोजडि भादर नदी के तट पर राजकोट से लगभग 55 किमी दक्षिण में स्थित है। टीला लगभग 500 मीटर लम्बा तथा 150 मीटर चौड़ा है। पूरा क्षेत्र 7.5 हेक्टेयर में था। यहाँ पर पहले गुजरात सरकार के पुरातत्त्व विभाग ने खुदाई करायी। फिर पोस्सेहल के नेतृत्व में इस विभाग तथा पेन्सलवेनिया के तत्त्वावधान में। इसमें तीन प्रकाल – 'अ' (2500–2200 ई.पू.), 'ब' (2200–2000 ई.पू.) तथा 'स' (2000–1700 ई.पू.) मिले। यहां पर आवासित स्थल को बड़े–बड़े पत्थरों की दीवार से घेर कर सुरक्षित किया गया था। सुरक्षा के लिए इस प्रकार की व्यवस्था हड़प्पा सभ्यता में अपने ढंग की है। घर लगभग 60 सेमी. ऊँचे कच्ची ईटों के चबूतरे पर बने थे जिन पर मिट्टी कूट कर ऊपर से चूना बिछाया गया था। 'अ' चरण में हड़प्पा प्रकार के बर्तन, आभूषण, ताम्र उपकरण तथा लघुपाषाण उपकरण मिले जिनके निर्माण में फिंलट के स्थान पर जैस्पर का प्रयोग हुआ है। इस काल का अंत अग्निकांड से हुआ। 'ब' चरण भी हड़प्पा 'अ' की ही तरह का था, पर इसमें कुछ पांडु मृद्भाण्ड और कुछ काले–लाल मृद्भाण्ड भी मिले हैं। 'स' चरण में बिना तराशे पत्थरों की इमारतों के अवशेषों के साथ 'प्रभास ' प्रकार के बर्तन भी मिलते हैं। कार्बन–14 विधि से ज्ञात रोजडि में हड़प्पा संस्कृति की तिथि 2500–2000 ई. पू. है।

मालवण – यह काठियावाड़ के सूरत जिले में ताप्ती नदी के निचले मुहाने पर स्थित है। संभवतः यह सिंधु सभ्यता का एक बंदरगाह था। आल्चिन तथा जोशी ने 1967 में स्थल का पता लगाया और 1970 में यहां पर सीमित उत्खनन किया। यहां पर उपलब्ध सांस्कृतिक सामग्री दो काल की है। प्रथम काल में सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण के द्योतक तथा सैन्धवोत्तर संस्कृति सम्बन्धी ताम्राश्म उपकरण मिले। द्वितीय काल के उपकरण ऐतिहासिक काल के हैं। प्रथम काल में पूर्व–पश्चिम जाती हुई एक खाई मिली जो 1.50 मीटर चौड़ी थी और 18.30 मीटर तक लम्बाई में मिल चुकी है। संभवतः यह सिंचाई के लिए नहर थी। उत्तर की ओर कच्ची ईटों का चबूतरा मिला। इस काल में लाल, पाण्डु, चमकीले लाल, काले और लाल इत्यादि प्रकार के मृद्भाण्ड मिले हैं। ये मृद्भाण्ड इस बात के द्योतक हैं कि मालवण में मध्य भारतीय (मालवा), दक्कनी और सौराष्ट्र के ताम्र पाषाण कालीन संस्कृति का संगम रहा। यही नहीं यह भी संभावना है कि आंध्र कर्नूल क्षेत्र की संस्कृति का प्रभाव भी इस स्थल की संस्कृति पर पड़ा। यहां पर विभिन्न प्रकार के पत्थरों के बने शल्क और क्रोड, तांबे और कांसे के उपकरण, सांड की मृण्मूर्तियां, कार्नीलियन के मनके, कई जंगली तथा पालतू पशुओं की हड्डियां भी पायी गयी हैं।

कुन्तसी – यह राजकोट जिले में समुद्र तट के निकट कुन्तसी गांव से 2.5 किलोमीटर की दूरी पर छोटा सा नगर था। जिसे 'बी–बी–नो, टिम्बों' कहा जाता है। यहां पर धवलीकर, रावल, तथा चितलवाला द्वारा उत्खनन कराया गया। यहां पर एक के बाद एक दो दीवालों से 125 वर्गमीटर क्षेत्र वेष्टित था। इसके पूर्व में द्वार था।

रक्षित क्षेत्र के बाहर भी चन्द भवनों के अवशेष मिले किन्तु यहां पर निचले नगर के साक्ष्य नहीं प्राप्त हुए। दीवाल से रक्षित क्षेत्र के केन्द्र में खाली जगह थी और उसके चारों ओर मकान थे। संभवतः यह खाली जगह सामाजिक उत्सवों अथवा अनुष्ठानों के निष्पादन के लिए प्रयोग में लायी जाती थी। एक भवन की पहिचान अन्नागार से की गयी है। एक विशिष्ट तथा विशाल भवन मिला जो शासक का रहा होगा। सामान्यतः भवन पत्थर के बने थे तथा मिट्टी से पुते थे। कुछ में नीव पत्थर की थी तथा ऊपरी भाग कच्ची ईंटों से निर्मित था। ईंटें सिंधु सभ्यता के अनुरूप 4 : 2 : 1 के अनुपात में थी। यहां पर द्वितीय काल में संस्कृति में ह्रास हुआ तथा बस्ती का क्षेत्र कम हुआ। सिंधु प्रकार के मृद्भाण्ड, खिलौना गाड़ियों के ढांचे, कार्नीलियन और कांचली मिट्टी के मनके, चर्ट की छुरियाँ आदि प्राप्त हुए। एक ज्यामितीय अलंकरण वाली वर्गाकार सेलखड़ी की मुद्रा मिली।

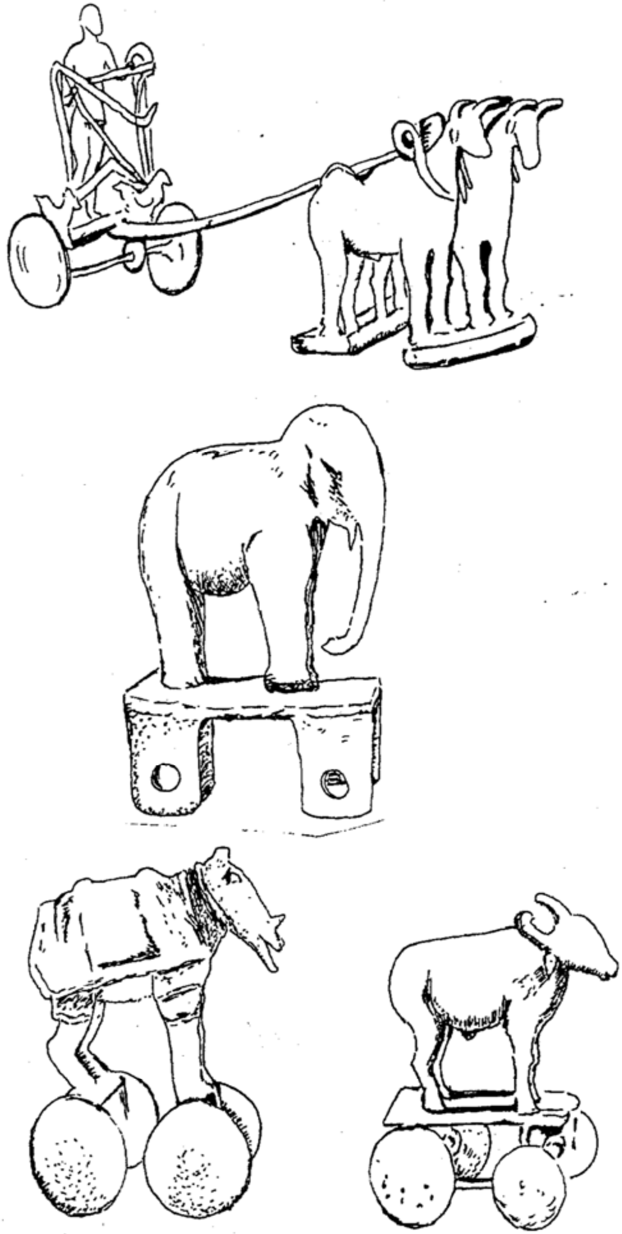
देसालपुर – कच्छ के छोटे रन के उत्तर–पश्चिम में मोहेंजोदडो तथा लोथल के लगभग मध्य मे देसालपुर का टीला 130 X 100 मी. विस्तृत और 3 मी. ऊँचा था। सौंदरराजन के निर्देशन में 1964 में उत्खनन हुआ। यहां बस्ती दीवार से वेष्टित थी, जो मूलतः कच्ची ईंटों से निर्मित थी। पक्की ईंटें खास–खास जगह पर प्रयुक्त होती थी। ईंटें 4 : 2 : 1 के अनुपात में थे। विशिष्ट सिंधु भांड, बाट, मिट्टी का ढांचा, मिट्टी के तिकोन 'केक', तांबे के उपकरण और एक सेलखड़ी और एक तांबे की मुद्रा मिली।

महाराष्ट्र

दाइमाबाद – महाराष्ट्र के अहमदाबाद जिले में गोदावरी की सहायक प्रवरा नदी के तट पर स्थित दाइमाबाद सिंधु सभ्यता की दक्षिणतम सीमा का द्योतक स्थल है। यह टीला 1000 X 500 मी. के क्षेत्र में है। पहले म० न० देशपांडे, फिर शि० रंगनाथ राव (1974–75) और तत्पश्चात् एस. ए. साली ने 1975–76, 1978–89 में उत्खनन कराया। साली के उत्खनन से पांच सस्कृतियां पहचानी गयीं। 1) दाइमाबाद संस्कृति, 2) मालवा संस्कृति, 3) सावल्दा संस्कृति, 4) परवर्ती सिंधु सभ्यता, और 5) जोर्वे संस्कृति।

परवर्ती सिंधु संस्कृति के अवशेष साधारण प्रकार के थे, किंतु बस्ती नियोजित थी। सिंधु लिपि युक्त एक मुहर मिली। सिंधु सभ्यता के कुछ मृद्भाण्ड प्रकार यथा साधार तश्तरियां, साधार कटोरे मिले। मृद्भाण्डों पर सिंधु लिपि मिली, टमटे की कार्यशाला के साक्ष्य मिले।

दाइमाबाद में 1974 में चार तांबें की भारी आकृतियां मिलीं – सारथि के साथ एक जोड़ी बैल के द्वारा खींचा जाता रथ, जिसमें डंडे पर एक कुत्ता है, गैंडा, भैंसा और हाथी। स्तरित उत्खनन में प्राप्त न होने के कारण इनके काल के विषय में विवाद है। ये वस्तुएं गहराई में उसी सतह से मिली जिसमें सिंधु सभ्यता काल के अवशेष मिले। कुत्ते का स्तंभ पर दिखाना मोहेंजोदड़ो की मृण्मूर्ति कला, और सारथि के सिर



चित्र 1 अ : दाइमाबाद की ताम्र आकृतियां

का जैसा अंकन कुछ हड़प्पा की आकृतियों में मिलता है। ये तथ्य इन्हें सिंधु सभ्यता काल में रखे जाने के पक्ष में है। ताम्राश्म संस्कृति इतनी समृद्ध नहीं थी कि उसे इनके निर्माण का श्रेय दिया जाय। इन कृतियों के तांबे में संखिया मिला है जो ताम्र–पाषाण संस्कृतियों के उपकरणों में नहीं मिलता। दूसरे इन कृतियों में टिन का न मिलना सिंधु सभ्यता (जिसमें ताबें में टिन मिलता है) के विपरीत जाता है। ताम्र निधान में बड़े पैमाने पर तांबा प्रयुक्त होना (मध्य प्रदेश के गुन्गेरिया के निधान में प्राप्त उपकरणों की तौल 400 किग्रा. है) और उनके द्वारा प्रयुक्त ताबे में टिन के न होने और संखिया के होने से ब्रजवासी लाल इन्हें ताम्र–निधान की कृति मानने के पक्ष में हैं जिनकी तिथि 2000 ई.पू. तक हो सकती है। सिंधु सभ्यता के घर मिट्टी के बने हैं। दो मकानों से मिट्टी की मोहरों की प्राप्ति से उनके व्यापारियों के होने की संभावना है। आवास स्थल के समीप ही एक शवाधान मिला जिसमें कच्ची ईटों का प्रयोग किया गया था। कैल्सीडोनी और चर्ट पत्थर की छुरियां, शंख की चूड़ियां, पत्थर के मनके, मिट्टी का खंडित पैमाना, मिट्टी का केक, हड्डीसे निर्मित सूजा मिले। तांबे के उपकरण अत्यल्प हैं। एक मिट्टी के बर्तन के खण्ड पर चीते को महिष पर आक्रमण करते दिखाया गया है। पत्थर के सिल और बटे भी मिले है। गेहूं जौ, मटर, चना आदि की खेती किये जाने के साक्ष्य मिले हैं।

अध्याय 2
सिंधु सभ्यता का उद्भव

इस विषय में विद्वानों में मतभेद रहा है कि सिंधु सभ्यता के जनक कौन थे। वे स्थानीय थे अथवा विदेशी ? यदि वे बाहर से आये तो कहाँ से आये, वे किस जाति से संबंधित थे, और शांतिपूर्वक आये अथवा आक्रमणकारी के रूप में ? और यदि भारतीय भूमि के लोग ही इस संस्कृति के निर्माता थे तो एक लघु ग्रामीण संस्कृति से उस महान् नागरिक संस्कृति के क्रमिक विकास के निश्चित सूत्र क्या हैं ? सिंधु सभ्यता के मुख्य तत्त्व –मृद्भाण्ड, निश्चित माप की पक्की ईंटें, लिपि, मुद्राएं, मानक तौल पर आधारित माप और बाट, नगर की गढ़ी और निचले नगर के रूप में योजना, नालियों का उत्तम प्रबंध और विदेशों से घनिष्ठ व्यापारिक सम्पर्क – क्रमिक चरणों में नहीं बल्कि एक साथ शुरू हुये। नीचे अब तक उपलब्ध तथ्यों के आधार पर सिन्धु सभ्यता के मूल पर विचार किया गया है। एक मत सिन्धु संस्कृति के उद्भव का श्रेय मेसोपेटामिया की संस्कृति को देता है, दूसरा ईरानी–बलूची–सिंध और भारत की अन्य ग्रामीण संस्कृतियों से इसे विकसित मानता है।

मेसोपोटामिया का साक्ष्य

अनेक विद्वान् यह मानते हैं कि प्रमुख आविष्कार प्रायः एक स्थल पर होते हैं और वहीं से दूसरी संस्कृतियों के लोग उससे सीखते हैं। कई विद्वान् यह मानते हैं कि मेसोपोटामिया में संस्कृति का विकास कालक्रम की दृष्टि से सिंधु संस्कृति से पहले हुआ था; संभवतः सभ्यता विचार यहीं पर सबसे पहले उद्भासित हुआ था। अतः कुछ विद्वान् मेसोपोटामिया की संस्कृति को सिंधु संस्कृति का प्रेरक मानते हैं। उनके अनुसार सभ्यता की भावना सर्वप्रथम मेसोपोटामिया से थल मार्ग द्वारा मिस्र पहुंची, और मिस्र वासियों ने वहां की वास्तुकला तथा लिपि को कुछ परिवर्तनों एवं परिवर्धनों सहित अपना लिया। कालान्तर में सभ्यता की यह भावना भारत पहुंची और सिंधु सभ्यता की प्रेरक बनी। कतिपय विद्वानों का कथन है कि उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर इस अनुमान की गुंजाइश ही नहीं कि भारतीय धरती पर इस सभ्यता का विकास क्रमिक व धैर्यपूर्ण प्रयासों द्वारा हुआ था। क्रेमर की यह निश्चित धारणा है कि सिंधु सभ्यता से पूर्व की जो संस्कृतियां भारत में मिली हैं उनसे यह नहीं लगता कि उन्हीं से सिंधु सभ्यता का विकास हुआ था। वे मानते हैं कि लगभग 2400 ई. पू. में यहाँ मेसोपोटामिया से लोग आये और उन्होंने यहाँ की परिस्थितियों के अनुकूल अपनी संस्कृति में परिवर्तन कर उस सभ्यता का विकास किया जिसे हम सिंधु सभ्यता के नाम से जानते हैं।

मेसोपोटामिया से इस सभ्यता के अनुप्राणित होने के पक्ष में व्हीलर ने एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह प्रस्तुत किया था कि मोहेंजोदड़ो के राजकीय अन्नागार और गढ़ी तथा दक्षिणी पूर्वी बुर्ज, जो प्राप्त अवशेषों में सबसे पहले के निर्माण कार्यों में हैं, की चिनाई में लकड़ी के शहतीरों का प्रयोग हुआ है। उनके अनुसार इनके निर्माता कच्ची ईंटों से भवन निर्माण करने के अभ्यस्त थे और चूंकि इस तरह की निर्माण शैली मेसोपोटामिया में विशेष रूप से लोकप्रिय थी, अतएव ऐसा लगता है कि मेसोपोटामिया के लोग ही सिंधु सभ्यता के जनक थे।

डी0 एच0 गार्डन का तर्क है कि मेसोपोटामिया के लोगों ने सभ्यता के मूल तत्त्वों को लेकर नये वातावरण के अनुरूप उन्हें ढाल कर एक शताब्दी के भीतर ही अपनी दूरदर्शिता और अध्यवसाय से संस्कृति का ऐसा प्रतिरूप तैयार किया जो दीर्घकाल तक चला। उनके अनुसार यह संभव नहीं लगता कि मोहेंजोदड़ो जैसे नगर का विकास हड़प्पा संस्कृति के ग्रामों से हुआ। ऐसी संभावना है कि बाहर से आये लोगों ने विकसित सभ्यता के तत्वों को यहाँ पर नवीन पृष्ठभूमि में आरोपित कर आमरी संस्कृति के ग्रामों को प्रभावित किया और हड़प्पा संस्कृति का विकास द्रुतगति से होने के फलस्वरुप इस संस्कृति ने आमरी की खेतिहर अर्थ–व्यवस्था को अपने प्रभाव–क्षेत्र के अन्तर्गत कर लिया। गार्डन का अनुमान है कि मेसोपोटामिया के लोग समुद्री मार्ग से, समुद्र के किनारे–किनारे होकर आये। वे टायनबी की इस धारणा को इस संदर्भ में उद्धृत करते हैं कि समुद्र से यात्रा के समय लोग कुछ चुने हुए उपकरण ही अपने साथ ले जाते हैं। इन उपकरणों को भी छोटे टुकड़ों में ही ले जाया जाता है और नये स्थल में पहुंचने पर उन्हें ढंग से जोड़ा जाता है जिससे वे मूल से भिन्न लगने लगते हैं। समुद्री मार्ग से आने के पश्चात् नये वातावरण में नये सिरे से नयी चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना करने के फलस्वरूप ये लोग नई संस्कृति का विकास कर सके।

गार्डन का कहना है कि हड़प्पा संस्कृति के नगरों के निर्माण कार्य के लिये कच्ची ईंटों का प्रयोग थोड़ा बहुत सभी चरणों में मिलता है (मुख्य रूप से चिनाई भराई के लिए)। ऐसी संभावना है कि इस संस्कृति के आदि निर्माता कच्ची ईंटों से मकान बनाते रहे हों, और कालांतर पक्की ईंटों का उपयोग करने लगे हों – जो हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के भवन–निर्माण की मुख्य विशेषता है। यह भी लगता है कि बाहर से आने वालों को यहां पर जो लोग मिले वे भी उन्नतिशील थे और नागरिकता का कुछ सबक सीख चुके थे। शायद नवागन्तुकों ने इन्हें प्रभावित करने के लिए गढ़ियां बनायी हों।

सांकलिया ने बलूचिस्तान के कुछ स्थलों पर पाये गये वर्गाकार या आयताकार चबूतरों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। ये ऊपर की ओर क्रमशः संकरे होते हुए सीढ़ियों की तरह बने हैं। कुछ तो 10 मीटर से भी अधिक ऊँचे हैं। उन्होंने मत व्यक्त किया है कि यदि ये जिगुरेट के अवशेष हैं तो ये बलूचिस्तान में मेसोपोटामिया के

प्रभाव के द्योतक हो सकते हैं। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि कालीबंगां के प्रथम काल से ही साधारण चूल्हों के साथ तंदूरी चूल्हे भी मिले हैं। तंदूरी चूल्हों का रिवाज आज भारत में पश्चिम एशिया की अपेक्षा काफी कम है। सांकलिया ने सुझाव दिया है कि कालीबंगां प्रथम काल में तंदूरी चूल्हों का मिलना पश्चिमी राजस्थान का ईरान तथा पश्चिमी एशिया से सम्पर्क का द्योतक है।

व्हीलर तो सिंधु सभ्यता के चबूतरों और मेसोपोटामिया के जिगुरेट के टीलों को एक ही प्रकार के राजतंत्र की प्रेरणा से निर्मित होने की संभावना मानते हैं। उनके अनुसार हड़प्पा के बैरक जैसे भवन सुमेर के समान पुरोहित–नियंत्रित उद्योग से संबंधित लगते हैं। लेकिन वे यह भी मानते हैं कि ये समानताएं मेसोपोटामिया से सीधे ही सिंधु सभ्यता के लोगों द्वारा सीखने के निश्चित प्रमाण नहीं माने जा सकते और सामाजिक प्रगति के समान स्तर पर पहुंचने के उपरांत सिंधु सभ्यता के लोग स्वतः भी उनका विकास कर सकते थे।

कई विद्वान् मेसोपोटामिया को सिंधु संस्कृति के उद्‌भव का श्रेय देने के मत को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने इसके विपक्ष में कुछ प्रबल तर्क दिये गये हैं। एक तर्क यह है कि मेसोपोटामिया वाले इस सभ्यता के जनक थे तो उनकी लिपि और सिंधु सभ्यता की लिपि में इतनी भिन्नता क्यों हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में गॉर्डन का कहना है कि इसका कारण निश्चित रूप से बताना तो कठिन है पर कदाचित् या तो उन्होंने मूल स्थान से अपनी अलग राष्ट्रीय विशेषता बनाये रखने के उद्देश्य से लिपि में भिन्नता रखी अथवा ऐसा इसलिए किया कि यहां के मूल निवासियों की वाणी को व्यक्त करने के लिए मेसोपोटामिया में प्रचलित लिपि पर्याप्त नहीं थी। ज्ञातव्य है कि हड़प्पा लिपि में तीन सौ या उससे कुछ अधिक चिह्न हैं, जब कि मेसोपोटामिया की कीलाकार लिपि में लगभग नौ सौ चिह्न हैं। वे विद्वान् इस बात की भी संभावना मानते हैं कि यह जान–बूझकर सुधारात्मक परिवर्तन किये जाने का उदाहरण भी हो सकता है और इस सुधार किये जाने में अधिक समय नहीं लगा। उनका कहना है कि मोहेंजोदड़ों में मुद्राएं वहां के सबसे नीचे के स्तरों में नहीं मिलतीं, और द्रवी–मोम विधि से मूर्तियों का निर्माण भी वहां पर दूसरे चरण से ही शुरु हुआ, जबकि यहां पर बसने वाले लोगों का मेसोपोटामिया के लोगों से संपर्क हुआ।

किंतु यह ध्यान देने योग्य है कि सिंधु संस्कृति और मेसोपोटामिया की संस्कृतियों में कई आधारभूत भिन्नताएं हैं। मेसोपोटामिया में पुरातत्त्व के साक्ष्यों के अनुसार, सिंधु सभ्यता से भी पूर्व नागरिक सजगता के प्रमाण हो सकते हैं, किंतु सिंधु सभ्यता में नगर का नियोजन एवं सार्वजनिक स्वच्छता की व्यवस्था को मेसोपोटामिया ही नहीं वरन् विश्व की समस्त प्राचीन सभ्यताओं में श्रेष्ठ पाया गया है। यदि इस संस्कृति के आदि निर्माताओं ने नगर निर्माण के लिए मेसोपोटामिया से प्रेरणा

ली होती तो नगर योजना कम से कम प्रारंभिक चरण में उसी के अनुरूप होती। उनकी माप तौल भी मेसोपोटामिया में प्रचलित नाप तौल पर आधारित होती, पर ऐसा नहीं। मेसोपोटामिया की नगर योजना में मन्दिर महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, किंतु सिंधु सभ्यता के किसी स्थल पर किसी ऐसे भवन के अवशेष नहीं मिले हैं जिन्हें बिना किसी संदेह के मन्दिर की संज्ञा दी जा सके। मेसोपोटामिया और मिस्र के समान भव्य कब्रें भी हड़प्पा संस्कृति में नहीं मिली हैं। शासक वर्ग के लिए हड़प्पा सभ्यता में दुर्ग बनाये गये थे जो विशिष्ट प्रकार के हैं। लेकिन सिंधु सभ्यता के गढ़ी क्षेत्र या अन्यत्र भी ऐसे भवन नहीं मिले जिन्हें निश्चय पूर्वक राजप्रासाद पहचाना जा सके। दोनों सभ्यताओं की भौतिक वस्तुओं यथा आयुध, मृद्‌भांड, पाषाण मूर्तियां, मृण्मूर्तियां और मुहरों में महत्त्वपूर्ण असमानताएं हैं। दोनों की लिपि में भी पर्याप्त अंतर है। एक दूसरे से अपनी विशिष्टता के कारण इस संस्कृति की भौतिक सामग्री आसानी से अलग पहचानी जा सकती हैं। सिंधु सभ्यता की कला की अपनी अलग विशिष्टता है।

सिंधु सभ्यता की जो वस्तुएं मेसोपोटामिया के स्थलों में और मेसोपोटामिया की सभ्यता की जो कुछ वस्तुएं हड़प्पा संस्कृति के स्थलों में उत्खननों से प्राप्त हुई हैं वे केवल परस्पर आदान–प्रदान, व्यापार–वाणिज्य की ही सूचक हो सकती हैं; और इन्हें एक ही क्षेत्र को संस्कृति का उद्‌गम स्थल सिद्ध करने के लिए निश्चित प्रमाण नहीं माना जा सकता। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि प्रारम्भ से ही सिंधु संस्कृति में अनेक तत्त्व मिलते हैं जो यहां परवर्ती काल में भी पाये जाते हैं। इन तर्कों के बावजूद व्हीलर, जो सिंधु सभ्यता के विकास में मेसोपोटामिया के योगदान को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझते हैं, का कहना है कि नागरिक भावना का मूल स्रोत मेसोपोटामिया ही है, वहीं से इस भावना का प्रचार–प्रसार दूसरे देशों में हुआ। किंतु उस भावना का विभिन्न क्षेत्रों के भौतिक उपकरणों को जो रूप दिया गया वे पर्याप्त भिन्न हो सकते हैं। उन्होंने ऐतिहासिक काल के साक्ष्य से अपने मत की पुष्टि की है। व्हीलर कहते हैं कि इस्लामी मस्जिद, गुम्बद वाले मकबरे और दीवार बनाने की प्रेरणा भारतीयों ने फारस से ली। लेकिन शाह अब्बास के इस्फहां की अकबर की फतेहपुर सीकरी से तुलना इस बात को स्पष्ट कर देती है कि एक ही विचार, उस समय भी, जबकि भारत एवं फारस के बीच पर्याप्त राजनैतिक आदान–प्रदान था, दो क्षेत्रों में कितनी भिन्नता के साथ मूर्त रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

व्हीलर के कथनानुसार विचार प्रबल होते हैं और अनुकूल परिस्थितियों में बहुत शीघ्र फैलते हैं। नागरिकता के भाव को नये परिप्रेक्ष्य में कुशलता पूर्वक क्रियात्मक रूप देने से नगर निर्माण कला के क्षेत्र में सिंधु सभ्यता के निर्माता शीघ्र ही मेसोपोटामिया से आगे बढ़ गये होंगे। कुछ ऐसे मेधावी लोग रहे होंगे जिन्होंने नदियों की बाढ़ की चुनौती स्वीकार की और एक निश्चित योजना के आधार पर नगर–निर्माण किया जिसकी प्रमुख विशेषता थी नदी से सुरक्षा की व्यवस्था। उन्होंने लोगों को संगठित

किया होगा क्योंकि ऐसे कार्यों में सामूहिक सहयोग अपेक्षित है। बांध बनाये गये, नहरें निकाली गयी और कृषिकर्म का विकास हुआ। संक्षेप में वातावरण पर विजय प्राप्त करने का पूरा प्रयास किया गया और एक औद्योगिक तथा व्यापारिक समाज का निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त समय–समय पर नगर क्षतिग्रस्त हुए तो उनका जीर्णोद्धार भी किया गया। प्रारंभ से ही संस्कृति विस्तार बिना किसी विशेष दीर्घकालीन चिंतन के एकाएक तीव्र गति से हुआ।

अमलानन्द घोष का मत है कि इस धारणा के बजाय कि बाहर के लोगों ने सिन्धु घाटी और अन्य सिन्धु सभ्यता के क्षेत्र में आकर उपनिवेश बसाये, यह अधिक तर्क संगत मालूम देता है कि भारत के ही लोगों ने, जिनका मस्तिष्क ग्रहणशील था और जिन्होंने मेसोपोटामिया से नागरिक जीवन का भाव ग्रहण किया था, मेसोपोटामिया के लोगों से अधिक योजनाबद्ध निर्माणकार्यों के द्वारा, शायद उनसे अधिक उन्नत बनाने की होड़ में, सिन्धु सभ्यता के नगरों का निर्माण किया था। वे सिन्धु सभ्यता के नरकंकालों पर सरकार द्वारा किये शोधकार्यों के परिणामस्वरुप उपलब्ध साक्ष्य का उल्लेख करते हैं जिनके अनुसार मोहेंजोदड़ो के सैंधव सभ्यता के लोग आधुनिक सिंध के वासियों, हड़प्पा के निवासी आधुनिक पंजाबियों और लोथल के लोग आधुनिक गुजरात के लोगों से मिलते–जुलते हैं, जिससे सिंधु सभ्यता के सभी स्थलों के लोगों का एक ही जाति का न होना सिद्ध होता है। सिंधु सभ्यता के लोगों ने मेसोपोटामिया और अन्य क्षेत्रों से व्यापारिक संबंध स्थापित किये और विभिन्न क्षेत्रों में मानकीकरण किया। उनका कहना है कि सीमित जनसंख्या और एक कुशल बहुमुखी नेतृत्व के द्वारा नदियों की घाटियों में बसे नगरों का विकास अपेक्षाकृत शीघ्र हो सकता था। अन्य क्षेत्रों में बसे लोगों ने भी प्रगति की दिशा में उनका अनुसरण किया हो। सिन्धु सभ्यता के ग्रामीण स्थलों के लोगों ने पूर्ववर्ती कृषक समुदाय के आर्थिक ढांचे तथा उनके बर्तन बनाने आदि की परम्परा को काफी हद तक बनाये रखा, किंतु साथ ही नये तत्वों को भी ग्रहण किया होगा।

बलूचिस्तान तथा सिंध के स्थलों का साक्ष्य

बलूचिस्तान तथा सिंध के क्षेत्र में सिंधु सभ्यता से पूर्व की कुछ संस्कृतियां मिली हैं। सांकलिया ने मत व्यक्त किया था कि इस बात की पर्याप्त संभावना है कि उत्तरी बलूचिस्तान में डाबरकोट में या सिंध के मैदान में जैकोबाबाद से लगभग 22 किमी दूर स्थित जुडेईरोजोदड़ों के उत्खनन से सिंधु सभ्यता के मूल के बारे में कोई जानकारी मिल जाए। डाबरकोट के टीले में तो सिंधु सभ्यता के अवशेष इससे पूर्वकालिक और परवर्ती संस्कृतियों के बीच बिखरे मिले हैं। उनका यह भी सुझाव है कि मूल के संबंध में जानकारी प्राप्ति के लिए कुछ ग्रामीण स्थलों का विस्तृत उत्खनन करना ठीक होगा। उपरोक्त दो स्थलों में तो उत्खनन नहीं किया गया किंतु एक अन्य

अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थल, बलूचिस्तान में स्थित मेहरगढ़ और उसके समीप स्थित नैशारो में खुदाई की गई है।

मेहरगढ़ की खुदाई से सिंधु सभ्यता के उद्‌भव के बारे में महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ा है। यहां पर ईसवी पूर्व सातवीं सहस्राब्दी से संस्कृतियों का क्रम चार कालों में मिलता है। प्रथम काल में गेहूं और जौ का उत्पादन, कच्ची ईंटो के भवन, मृतकों को दफनाना, हाथ से बने भाण्ड जिनमें कुछ पर चित्रकारी है और मनकों का निर्माण हुआ। द्वितीय और तृतीय काल में चाकनिर्मित भाण्ड बने, उन पर चित्रण में विविधता मिलती है, मनका बनाने के लिए बरमा, धातुकर्म में विकास, सिंचाई से उगाई जाने वाली जौ की किस्म, कपास के बीज और छोटे अन्नागार मिले। चतुर्थ काल (3500–3000 ई. पू.) के उपकरणों में लेख रहित मिट्टी तथा हड्डी की मुद्राएं तथा मृद्‌भाण्ड पर सिंधु लिपि से मिलते चिह्न खुदे मिले। इससे ऐसा लगता है कि सिंधु सभ्यता के लिए आधार तैयार हो रहा है। मेहरगढ़ में विकसित सिंधु सभ्यता के चरण नहीं मिले। सिंधु संस्कृति का यह चरण हमें मेहरगढ़ से 6 किमी दूर नौशारो में मिलता है जिसका विवरण हम ऊपर दे चुके हैं। यहां पर संस्कृति के चार उपप्रकालों में (1अ. से 1द) में सबसे ऊपरी काल संक्रांति का द्योतक है। इसमें आकार–प्रकार में सिंधु सभ्यता के सदृश मृद्‌भाण्ड मिले हैं जिनमें चित्रण के रूप में मत्स्य–शल्क, कुबड़ा बैल, पीपल वृक्ष आदि मिले जो सिंधु सभ्यता के अनुरूप हैं। सेलखड़ी तथा लाजवर्द के मनके प्राप्त हुए। कच्ची ईंट के विशाल चबूतरे भी उद्‌घाटित हुये।

डेरा इस्माइल खां से 10 किमी की दूरी पर स्थित गोमल घाटी में गुमला के तृतीय काल, जो सिंधु सभ्यता से पूर्वकालीन है, में सिंधु सभ्यता के समान साधार तश्तरियां मिलीं। ईंटे 4 : 2 : 1 की अनुपात की हैं। भवन योजना पूर्व–पश्चिम, उत्तर–दक्षिण में है। कोटदीजी के भाण्डों पर प्राप्त अभिप्रायों के समान रिम पर चौड़ी धारी है। शृंगी देवता का अभिप्राय भी मिलता है। साधार तश्तरी तथा बाढ़दार रिम वाले भांड सिंधु सभ्यता प्रकार के हैं। चतुर्थ काल में विकसित सिंधु सभ्यता के दर्शन होते हैं।

डेरा इस्माइल खां से 23 किमी दूरी पर स्थित रहमान ढेरी में दुर्रानी द्वारा किये उत्खनन में तीन कालों के अवशेष मिले। प्रथम काल में कोटदीजी प्रकार के भांड, और कुछ क्षेत्रीय प्रकार के भाण्ड मिले। इन पर चित्रण काले, चाकलेट और सफेद रंग से किया है। कालीबंगां के भाण्ड पर अंकित आकृति से कुछ मिलता जुलता 'शृंगी देवता' का अंकन उल्लेखनीय है। एक हाथी दांत की मुद्रा मिली जिस पर एक तरफ दो बकरी और कुछ प्रतीक, दूसरी तरफ दो बिच्छू, एक मेढक और कुछ अभिप्राय अंकित हैं। मेहरगढ़ IV की भांति यहां पर 3000 ई. पू. के लगभग पार्सलों पर मुद्रा लगाने के चलन का साक्ष्य है। रहमान ढेरी के द्वितीय काल से कोटदीजी प्रकार के भाण्ड मिले। अभिप्रायों में मोर, पीपल पत्र, वृत्त काटते वृत्त तथा मत्स्य–शल्क मिलते हैं जो

विकसित सिंधु सभ्यता के मृद्‌भाण्डों की भी विशेषता है। तृतीय काल में विकसित सिंधु प्रकार के भाण्ड, मनके, फ़लक इत्यादि मिले।

आमरी (सिंध) के प्रथम काल (प्रारंभ 3500 ई. पू.) में विकसित सिंधु सभ्यता से मिलता शतरंज बोर्ड का डिजाइन मिला। भांडों पर ग्रैफिटी सिंधु लिपि के चिह्नों से मिलती हैं। I डी से मत्स्य–शल्क डिजाइन, II ए से पीपल पत्ती, II बी से वृत्त काटते वृत्त का चित्रण, छल्लेदार आधार वाले बर्तन, छिद्रित बर्तन और नांद मिले। कोटदीजी I की भांति बाढ़दार रिम वाले भाण्ड, मिट्टी की गाड़ियां, मिट्टी के 'केक', कूबड़दार बैल, चर्ट फलक तथा कांचली मिट्टी की चूड़ियां मिली। यहां बस्ती विकसित सिंधु रूप पाने से पहले ही समाप्त हो गयी।

फेयरसर्विस के अनुसार बलूचिस्तान और सिंध में चतुर्थ सहस्राब्दी ई. पू. के पूर्व में सस्कृतियों का प्रादुर्भाव हुआ। सिंधु सभ्यता से पहले इन पर ईरानी संस्कृतियों का, और ईरानी संस्कृति के माध्यम से ही मेसोपोटामिया की संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव था। सिंध और बलूचिस्तान में हड़प्पा से पूर्व काल की संस्कृतियों का विकास होता गया और साथ ही उनका भारतीयकरण भी। सिंध में आमरी और कोटदीजी संस्कृति, दक्षिण मध्य बलूचिस्तान में नाल और कुल्ली संस्कृति, पंजाब में हड़प्पा में सिंधु सभ्यता से पहले की संस्कृति, और राजस्थान में कालीबंगां में विकसित सिंधु सभ्यता के स्तरों से पहले के स्तरों से भाण्ड मिले हैं जो उत्तरी बलूचिस्तान के रानाघुण्डई नामक स्थल के तृतीय चरण और पेरिआनो घुण्डई में प्राप्त मृद्‌भाण्डों से कुछ मिलते–जुलते हैं। कालांतर में शनैः–शनैः बलूच संस्कृतियों को भारतीयता ने प्रभावित किया जिसका प्रमाण वहां से प्राप्त कूबड़वाला बैल, पीपल के पत्ते का अलंकरण, ईंटों के प्रयोग और नालियों के निर्माण में परिलक्षित होता है।

ऊपर हमने सिंधु सभ्यता से पूर्व की महत्त्वपूर्ण संस्कृतियों का विवरण दिया है। इस बात की संभावना है कि इन्हीं में से कुछ अंततः इस सभ्यता के रूप में विकसित हुए। फेयरसर्विस के अनुसार सिंधु सभ्यता का उद्‌भव और विस्तार बलूची, ईरानी संस्कृतियों का सिंधु प्रदेश की आखेट पर निर्भर करने वाली वन्य और कृषक संस्कृतियों के पारस्परिक प्रभाव के फलस्वरूप हुआ। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि बहुत पहले पैटरसन ने यह मत व्यक्त किया था कि सक्कर और रोहरी की पाषाण कर्मशाला लगभग सिंधु सभ्यता के प्रारम्भिक चरण के समय की है। ऐसा मत व्यक्त किया गया कि इस क्षेत्रीय संस्कृति से सिंधु सभ्यता का विकास हुआ होगा। फेयरसर्विस के अनुसार धर्म इस संस्कृति का प्रमुख आधार था जिसके कारण इस संस्कृति का नगरीकरण की दिशा में तीव्र विकास हुआ और कालांतर में इसी अत्यधिक धार्मिकता के कारण इसमें गत्यवरोध भी हुआ। पर्वतीय क्षेत्र से लोग उत्तम भूमि और पर्याप्त जल के लिए पंजाब और सिंधु के मैदान में आये होंगे। पर्वतीय प्रदेश

पर आर्थिक रूप से उतना निर्भर नहीं रहा जा सकता जितना मैदानी प्रदेश पर। जनसंख्या और मवेशियों के बढ़ने से, और शायद पैतृक सम्पत्ति के बंटवारे से भी परिवार के भरण पोषण के लिए कृषि के उपयुक्त भूमि की कमी हो गई होगी। यह भी हो सकता है कि किसी वर्ष फसल खराब हो जाने के कारण वे लोग काफी संख्या में मैदानी अंचल की ओर चल पड़े हों। लेकिन ऐसा नहीं है कि वे पहाड़ी क्षेत्र को छोड़कर सीधे मैदानी क्षेत्र में आ गये हों। वे धीरे–धीरे पड़ावों में आये होंगे और कुछ समय तक पहाड़ी अंचल और मैदानी अंचल के बीच पड़ावों की एक श्रृंखला सी बन गई होगी। फेयरसर्विस का कहना है कि भारत पाक उपमहाद्वीप के सीमावर्ती क्षेत्रों में भेड़ बकरियों के विशाल पैमाने पर पाले जाने का साक्ष्य है; सिंधु सभ्यता में भेड़ बकरी पालने का साक्ष्य तो मिलता है, पर गाय, बैल, भैंस जैसे पालतू पशुओं का विशेष महत्त्व रहा था। यह अन्तर भी यायावर चरवाहे और मैदान में स्थायी रूप से बसे कृषकों के भेद का द्योतक है। इस संस्कृति के निर्माता जब पर्वतीय क्षेत्र से नदी के तट पर मैदान में आये होंगे तो उनके विचारों में महान् परिवर्तन हुआ होगा। नदियों से यातायात व सिंचाई की सुविधा, आहार के लिए मछलियों की सुलभता और निरंतर अपने साथ लायी मिट्टी से भूमि को उपजाऊ बनाने की क्षमता संस्कृति के तीव्र विकास व विस्तार में सहायक हुई। किसी महान् सभ्यता के विकास के लिए ऐसा वातावरण अत्यंत उपयुक्त और अपेक्षित है। उपजाऊ मिट्टी से इतना अन्न सुगमता से पैदा किया जा सकता था जिससे कृषकों की अपनी आवश्यकता पूरी हो जाय और साथ ही उन लोगों का भी भरण हो सके जो स्वयं तो कृषि उत्पादन नहीं करते थे और धातु व अन्य प्रकार के विभिन्न उपकरण बनाते थे अथवा प्रशासन कार्य चलाते थे। जब धातुकर्म करने वाले तथा अन्य धन्धे करने वाले बिना स्वयं कृषि किए अपने उपकरणों के बदले पर्याप्त खाद्यान्न प्राप्त करने लगे तो वे कहीं अधिक दत्तचित्तता से अपना कार्य करने लगे और नयी विकसित लाभदायक तकनीकों का प्रयोग करने लगे। विकसित उपकरणों के उपयोग से उत्पादन में वृद्धि हुयी। इससे नगरीकरण का मार्ग तीव्रता से प्रशस्त हुआ। भौगोलिक परिस्थतियों एवं वातावरण की कठिनाइयों के कारण पर्वतीय क्षेत्र में थोड़ी–थोड़ी दूर पर अलग–अलग संस्कृतियों का विकास हुआ, किन्तु मैदानी क्षेत्र में तीव्रगति से विकास और विस्तार की पूरी संभावनाएं थीं। विभिन्न प्रकार की वस्तुएं जिनका अभाव हो, विकसित यातायात के साधनों के कारण व्यापार द्वारा आसानी से प्राप्त की जा सकती हैं। किन्तु नदियों की घाटियों के मैदानों में संस्कृति के लिए जहाँ ये लाभ थे वहीं महान् चुनौतियां भी थीं। जहाँ नदियां लाभकारी थीं, वहीं हानिकारक भी थीं। समय–समय पर भयंकर बाढ़ आने के कारण नगर का क्षतिग्रस्त होना स्वाभाविक था। अल्प काल में ही यहाँ पर संस्कृति के प्रथम निर्माताओं को मैदानी क्षेत्र में नदी के तट पर सभ्यता के निर्माण के लाभ और हानि का पूरा परिचय मिल गया होगा और उन्होंने सामूहिक रूप से संगठित एवं अनुशासित होकर कार्य

करने की आवश्यकता को भी भली तरह महसूस किया होगा। ऐसी कल्पना की गयी है कि इस सभ्यता का शनैः शनैः विकास न होकर किसी महान् प्रबुद्ध नेता या नेताओं के सुयोग्य निर्देशन में स्फुटन हुआ। यह उल्लेखनीय है कि सिंधु सभ्यता के अन्तर्गत नगर और गांव बसे। वास्तविकता यह है कि ग्रामों की संख्या नगरों की अपेक्षा कहीं अधिक है। यद्यपि विस्तृत उत्खनन नगर स्थलों का ही मुख्यतया हुआ है। बलूचिस्तान और सिंध की ग्रामीण संस्कृतियों के लोगों को इन ग्रामों के बसाने में कठिनाई की गुंजाइश कम ही थी। फेयरसर्विस का कहना है कि जिस प्रक्रिया से सिंधु सभ्यता का निर्माण हुआ वह उस प्रक्रिया का ही तर्कसंगत परिणाम लगता है जो उस समय उसके निकटवर्ती अंचलों में चल रही थी। टेपे याह्या (दक्षिण ईरान के केमरन प्रांत) के उत्खनन में चतुर्थ सहस्राब्दी ई0 पूर्व के अंत और तीसरी सहस्राब्दी ई0 पूर्व के प्रारम्भ की ऐसी संस्कृति का उद्‌घाटन हुआ है जिसके लोग लेखन कला से परिचित थे। इस बात की सम्भावना है कि सिंधु सभ्यता के लोगों ने लेखन कला की प्रेरणा इस संस्कृति से ली हो।

पंजाब, राजस्थान, हरियाणा तथा गुजरात आदि के स्थलों का साक्ष्य

इस बात का उल्लेख करना समीचीन होगा कि मार्शल के उत्खननों और उनके विवरण के अनुसार, मोहेंजोदड़ों में भवन निर्माण के सात स्तर उद्‌घाटित हुए हैं। इन स्तरों को तीन कालों में बाँटा गया है – तीन स्तर अंतिम, तीन मध्य और एक प्रारम्भिक काल के। किन्तु यहां पर उनके द्वारा उत्खनित निम्नतम स्तरों के नीचे भी पुरावशेषों के साक्ष्य पाये गये जो जल–स्तर के आ जाने से खोदे नहीं जा सके। निम्नतम खोदे गये स्तरों के अवशेष भी नगर सभ्यता का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। नगर–जीवन की जटिलता, भवनों का सुनियोजित होना, कला एवं उद्योग धन्धों का उत्कर्ष, इन सबके विकास में कई पीढ़ियों का संचित और क्रमिक विकासशील ज्ञान अपेक्षित होता है। उनकी चित्रलिपि के अक्षर चिह्नों का विकास साधारण चित्रों से हुआ होगा जो दीर्घावधि तक कुशलतापूर्वक विकास करने के पश्चात् ही एक निश्चित रूप धारण कर सके होंगे। इतर देशों से व्यापार–वाणिज्य का विशेष विकास नगर–संस्कृति के विकासकाल में ही सम्भव हुआ होगा। 1932 में मोहेंजोदड़ो के 'डी के' क्षेत्र के सातवें खण्ड में निम्नतम स्तरों से उसी प्रकार के भाण्ड मिले जैसे कालीबंगां I में मिलते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि क्या पता मोहेंजोदड़ों में जलीय स्तर के नीचे ही सैंधव सभ्यता के मूल की कुंजी छुपी हो ?1950 में व्हीलर ने जल स्तर से 5 मीटर नीचे तक वेधन किया और वहां तक सांस्कृतिक अवशेष मिलते गये। उसके बाद डेल्स ने 1964–65 में ड्रिलिंग द्वारा भूमि सतह से 10 मी. नीचे तक वेधन किया। अवशेष निम्नतम स्तर तक मिलने से भी समस्या का पूर्ण समाधान नहीं हुआ। हां एक प्रकार का भाण्ड जिसे 'वेट' (wet) भाण्ड प्रकार का नाम दिया गया है उस तरह का है जैसा

जलीलपुर में विकसित सिंधु सभ्यता के पहले की संस्कृति के संदर्भ में मिला है।

हड़प्पा में वत्स द्वारा बृहत् पैमाने पर किये गये उत्खनन के पश्चात् 1946 में व्हीलर और 1986 में डेल्स, मीडो और केन्योर द्वारा किये गये उत्खननों से पांच काल मिले। विकसित सिंधु सभ्यता काल, तृतीय काल है और उससे पहले काल के भाण्ड प्रकार और चित्रण कोटदीजी–I प्रकार के हैं। इसमें भवनों की पूर्व–पश्चिम उत्तर–दक्षिण योजना; 4 : 2 : 1 अनुपात की ईंटें; काले और कभी सफेद रंग से लाल भाण्डों पर अंकन, चूल्हे, मृण्मूर्तियां, एक गली जो विकसित सिंधु सभ्यता काल तक बनी रही, द्वितीय काल में रक्षादीवार, मिट्टी के 'केक' मिले जो विकसित सिंधु सभ्यता के समान हैं।

राजस्थान के कुछ स्थलों तथा कुछ अन्य क्षेत्रों से ऐसे मृद्भाण्ड मिले हैं जो प्राग्–हड़प्पा–कालीन मृद्भाण्डों से समानता लिए हैं। इस तरह के मृद्भाण्ड अमलानंद घोष को 1953 में सर्व प्रथम सोथी (बीकानेर क्षेत्र) नामक स्थान पर प्राप्त हुये और बाद में सिंध में कोटदीजी, अब लुप्त सरस्वती–दृषद्वती नदियों की घाटियों में उत्तरी राजस्थान में अन्य अनेक स्थानों पर भी मिले। पहले इस तरह के बर्तनों को (जो तब केवल सर्वेक्षण से प्राप्त हुए थे, उत्खनन से नहीं) सिंधु सभ्यता के बाद का समझा जाता था। किन्तु अब कोटदीजी तथा कालीबंगां की खुदाई से इस तरह के भाण्ड हड़प्पा संस्कृति से पहले की संस्कृति के सिद्ध हुए हैं। इस संस्कृति को कुछ ने 'सोथी' कुछ ने 'कोटदीजी' तथा कुछ ने 'कालीबंगां प्रथम' नाम दिया है। कुछ विद्वानों ने, जिनमें अमलानंद घोष मुख्य हैं, इस (सोथी) संस्कृति का हड़प्पा संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान की संभावना व्यक्त की है। इस सिलसिले में घोष इस बात पर बल देते हैं कि सोथी और विकसित सिंधु सभ्यता के भाण्ड कुछ स्थलों में साथ–साथ मिलते हैं जिसका अर्थ हुआ कि दोनों संस्कृतियां कुछ काल तक समकालीन भी रहीं। कालीबंगां की खुदाई से भी इसकी पुष्टि हुई।

लोथल में विकसित सिंधु सभ्यता के अवशेषों के नीचे अभ्रक युक्त लाल भाण्ड मिले जो वहां पर पहले बसे लोगों के हैं। जगतपति जोशी के सुरकोटड़ा (कच्छ) में किये गये उत्खनन से विकसित सिंधु सभ्यता से पहले के मृद्भाण्ड मिले। शि. रंगनाथ राव का कहना है कि सिंधु सभ्यता के विकास का श्रेय उसी संस्कृति को दिया जा सकता है, जो कालक्रम की दृष्टि से सिंधु सभ्यता से पूर्व की हो और सिन्धु सभ्यता के काल में उसके विद्यमान होने के साक्ष्य हों; उनमें परिवर्तन के क्रमिक चरण स्पष्ट हों और उनमें वे तत्त्व, सूत्र रूप में ही सही हों, जो सिंधु सभ्यता की विशिष्टता है, यथा नगर–नियोजन, नागरिक स्वच्छता का प्रबन्ध, लेखन कला का ज्ञान, मुद्रा और बाट का प्रयोग, धातु–कला का ज्ञान और ऐसे मृद्भाण्डों का निर्माण जिन्हें सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्डों का पूर्व रूप माना जा सके। उनके अनुसार इस सभ्यता का विकास सिंध की स्थानीय संस्कृतियों द्वारा शनैः–शनैः दीर्घावधि में हुआ। उनके अनुसार

लोथल में इस बात के साक्ष्य मिले हैं कि सिंधु संस्कृति के पूर्व की संस्कृति के लोगों को साधारण संस्कृति से विकसित सिंधु सभ्यता में परिणित होने में पर्याप्त समय लगा।

जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है, सिन्धु सभ्यता और सोथी (कालीबंगां प्रथम प्रारंभ लगभग 3000 ई. पू.) संस्कृति के मृद्भाण्डों में कुछ समानताएं हैं, यथा मत्स्य–शल्क और पीपल की पत्ती का चित्रण, रस्सी के निशान का अलंकरण, साधार तश्तरी, उथले नांद और बर्तनों के छल्लेदार आधार। भवनों के मध्य में आंगन, उसके इर्द–गिर्द कमरे विकसित सिंधु सभ्यता के अनुरूप थे। खेत जोतने में पूरब–पश्चिम और उत्तर–दक्षिण के सीते की परंपरा पूर्व सिंधु संस्कृति से अद्यतन प्रचलित हैं। कुछ चित्रण यथा एक–शृंगी देवता इस काल की विशेषता है। कई विद्वानों ने यह धारणा व्यक्त की है कि सोथी संस्कृति सिन्धु सभ्यता से पूर्व की अलग संस्कृति नहीं थीं। दोनों में कालव्यवधान नहीं बल्कि वह सिन्धु सभ्यता का प्रारम्भिक रूप थी। दूसरे शब्दों में ग्रामीण सोथी संस्कृति का ही नागरिक रूप सिन्धु सभ्यता है, और यह ग्रामीण स्वरूप उसके नागरिक रूप के साथ कुछ काल तक समकालीन रहा। सिन्धु सभ्यता के ग्रामीण स्थलों में सोथी का प्रभाव पर्याप्त समय तक रहा यद्यपि उस पर सिन्धु सभ्यता का भी प्रभाव पड़ता रहा।

सिन्धु सभ्यता से पूर्व (तृतीय सहस्राब्दी का प्रथम अर्द्धकाल) के कुणाल से अनेक मनके, बिना लेख वाली मुद्राएं, कार्नीलियन के मनके, सिंधु सभ्यता के जैसे चषक और मर्तबान मिले। प्रथम काल के तृतीय चरण में कच्ची ईंटें 3 : 2 : 1 और 4 : 2 : 1 अनुपात की थीं। धौलावीरा में सिंधु सभ्यता के पूर्व की सभ्यता में 4 : 2 : 1 माप की ईंटें मिलीं। पाद्री (भावनगर) में संस्कृति का प्रारंभ चतुर्थ सहस्राब्दी ई. पू. के अंत में हुआ और यह विकसित सिंधु सभ्यता से पूर्व की है।

बणावली में विकसित सिंधु सभ्यता से पूर्व के काल के 1अ में भवनों की पूर्व–पश्चिम, उत्तर–दक्षिण की योजना, 1 ब में रक्षादीवार, 1 स में गढ़ी और निचले नगर की परियोजना मिलती हैं और सिंधु सभ्यता प्रकार का पत्थर का एक बाट।

मार्क केन्योर के अनुसार सिंधु सभ्यता के नगरों की पृष्ठभूमि में चार कालों में विकसित दीर्घकाल से चली आ रही परंपरा थी। पहला काल प्रारंभिक उत्पादन का काल है जिसकी जानकारी मेहरगढ़ के 1अ, 1ब, तथा 2अ काल से मिलती है। इसे 6500 ई. पू. से 5000 ई. पू. में रख सकते हैं। इसमें गेंहू, जौ का उत्पादन और भेड़, बकरी का पालन शुरु हुआ, अन्न संग्रह के लिए कोठरियां बनीं और मनके, पत्थर की कुल्हाड़ियां तथा ईंट के फलक बनें। दूसरा काल क्षेत्रीयता का काल (5000–2600ई. पू.) था जिसमें मृद्भाण्ड एवं धातुकर्म में क्षेत्रीय शैलियां विकसित हुई, व्यापार में वृद्धि और नगरीकरण के तत्वों का प्रारंभ हुआ। तीसरा एकीकरण का काल (2600–1900 ई. पू.) में क्षेत्रीयता के स्थान पर विकसित सिंधु सभ्यता के रूप में मुद्रा, मृद्भाण्ड, लिपि,

आभूषण, बाट, ईंट के आकार आदि में एकरूपता आई। विशाल नगर सभ्यता का निर्माण हुआ। फिर सिंधु सभ्यता के विघटन का काल है (1900 ई. पू. से 1600 ई. पू.)।

ब्रजवासी लाल ने विभिन्न स्थलों से प्राप्त सिंधु सभ्यता से पूर्व की संस्कृति के उन तत्त्वों की गणना की है जो सिंधु सभ्यता में भी मिलते हैं और निम्नलिखित उसी पर आधारित हैं। ये हैं :– (i) नगर योजना (चोलिस्तान में पूर्व सिन्धु सभ्यता के दो स्थल– जलवलि और गमनवाला, क्रमशः 22.5 और 27.5 हैक्टेयर में फैले स्थल, नगरों के द्योतक हैं); (ii) दिशाविमुख भवन योजना; (iii) आवास सुरक्षा दीवार; (iv) गढ़ी और निचले नगर का भाव (v) 4 : 2 : 1 अनुपात वाली ईंटें जिनमें कुछ का पक्की होना; (vi) अन्नागार, छोटे स्तर के ही सही; (vii) कुछ भाण्ड प्रकार बाढ़दार रिम वाले, आमरी जैसे केंद्रित बर्तन, साधारण तश्तरियां और प्याले, तथा कुछ चित्रण यथा पीपल की पत्ती, केले के पत्ते, वृत्त काटते वृत्त, साये के लिए तिकोन, मत्स्य–शल्क, मोर पक्षी; (viii) मिट्टी के तिकोन 'केक', पेस्ट के डिस्क प्रकार के मनके ओर कार्नीलियन के मनके (यद्यपि सिंधु सभ्यता के मनकों के समान रेखांकित नहीं), पत्थर का बाट (बणावली से), मुद्राएं (यद्यपि विकसित सिंधु सभ्यता से भिन्न) तथा लाजवर्द, कार्नीलियन, शंख के मनके व्यापार के द्योतक हैं। भाण्डों पर ग्रैफिटी सिंधु लिपि के चिह्नों से मिलती हैं।

व्यापार के बढ़ने पर मानक बाट और माप (स्केल), हिसाब किताब के लिए लेखन कला और व्यापारियों के सामान के बंडल पर मुद्रा लगाने के लिए मुद्राओं का विकास हुआ, जो विकसित सिंधु सभ्यता की विशेषता है। व्यापार से समृद्धि और शासनतंत्र में दक्षता आयी जो नगर नियोजन, नालियों के प्रबंध और विशाल भवनों के निर्माण में दिखती हैं। नारियों के लिए सुन्दर आभूषण बने।

जब तक भारतीय भूमि में सिंधु सभ्यता के प्रारंभिक चरणों का ज्ञान नहीं था तब तक इसके मूल के लिये इतर संस्कृतियों को श्रेय देना स्वाभाविक था। विचार प्रभावशाली होते हैं और संस्कृतियां एक दूसरे के विचारों से बहुत कुछ सीखती हैं। किंतु नवीन साक्ष्यों के संदर्भ में मार्क केन्योर का स्पष्ट मत है कि सिंधु सभ्यता के नगर दूरदर्शी कल्पनाशील शासकों द्वारा निर्मित नहीं कराये गये थे, बल्कि उसी स्थल पर सदियों तक स्थित ग्रामों के विकसित रूप थे। उदाहरणार्थ हाल ही में हड़प्पा के उत्खनन से वहां पर विकसित सिंधु सभ्यता (2800–2600 ई. पू.) के क्रमशः पनपने की जानकारी मिली। यह स्थल व्यापार का केंद्र बना और चंद शताब्दियों में इस आवास स्थल का क्षेत्र पहले से छः गुना हो गया और वह विकसित सिंधु सभ्यता का महत्त्वपूर्ण नगर बन गया। पोस्सेहल इस मत को पूरी तरह नकारते हैं कि सिंधु सभ्यता में नगरीकरण मेसोपोटामिया के प्रभाव से हुआ। उनका निश्चित मत है कि इसके मूल में दीर्घकालिक कृषि का विकास रहा था इससे आर्थिक समृद्धि हुई और राजनैतिक सत्ता का विकास हुआ।

व्हीलर ने भी, जो मूलतः इस सभ्यता के उद्गम के लिए मेसोपोटामिया को मुख्य श्रेय देने के पक्ष में थे, चेतावनी दी कि इस सभ्यता के मूल के लिए बाहरी स्रोत ढूँढने में कहीं 'दिया तले अंधेरा' की उक्ति चरितार्थ न हो। ब्रजवासी लाल ने बताया है कि कोटदीजी प्रथम तथा विकसित सिंधु सभ्यता के स्थल सिंध के पश्चिम में बहुत अल्प संख्या में हैं। सिंधु और उसकी सहायक नदियों के क्षेत्र में भी इनकी संख्या अधिक नहीं है केवल 44 सिंध में और 6 पाकिस्तानी पंजाब में। घग्गर (सरस्वती) घाटी में 177 प्रारंभिक सिंधु सभ्यता के और 283 विकसित सिंधु सभ्यता के स्थल मिले हैं। लाल का मत है कि इसी क्षेत्र में पूर्व सिंधु संस्कृति विकसित सिंधु सभ्यता में परिणत हुई।

अध्याय 3
नगर–विन्यास एवं स्थापत्य

सिंधु सभ्यता के कुछ टीले नगरों के द्योतक हैं और कुछ कस्बों और कुछ गांवों के। ग्रामीण संस्कृति के टीले संख्या में अधिक हैं, किंतु पुराविद् स्वाभाविक रूप से विस्तृत, विकसित और वैभवपूर्ण और नागरिक जीवन की संस्कृति वाले टीलों के प्रति अधिक आकर्षित हुए हैं और ग्रामीण संस्कृति के टीले अपेक्षाकृत उपेक्षित रहे हैं। यही कारण है कि हमें सिंधु सभ्यता के नागरिक जीवन के बारे में उसके ग्रामीण जीवन से कहीं अधिक जानकारी उपलब्ध है। इस अध्याय में हम पहले नगर–विन्यास और भवन–निर्माण संबंधी विशिष्टताओं का उल्लेख करेंगे ओर फिर कुछ महत्त्वपूर्ण स्थलों के विन्यास ओर विशिष्ट स्मारकों का विवरण देंगे।

नगर–विन्यास तथा स्थापत्य की विशिष्टताएं

सिंधु सभ्यता के नगर विश्व के प्राचीनतम सुनियोजित नगर हैं। अधिकांश नगर सुरक्षा दीवार से वेष्टित थे और सामान्यतः एक भाग गढ़ी और एक निचलानगर था। कहीं कहीं दोनों ही भाग रक्षा दीवार से वेष्टित थे कहीं केवल गढ़ी ही। रक्षा दीवार की निर्माण शैली में भी अंतर है। इसका उल्लेख नीचे अलग–अलग नगर के संदर्भ में किया गया है। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो तथा सिंधु सभ्यता के कुछ दूसरे स्थलों में जिस तरह का नगर–विन्यास हमें मिलता है वह इस बात का साक्षी है कि विधिवत् नक्शा बनाकर और आज–कल की नगरपालिका की तरह ही किसी तत्कालीन संस्था द्वारा उसे स्वीकृत कराके ही भवन–निर्माण किया गया होगा। प्रायः सड़कें एक दूसरे को समकोण पर काटती हैं और नगर को आयताकार खण्डों में विभाजित करती हैं। यही बात लोथल, कालीबंगां, सुरकोटड़ा आदि नगरों में भी दिखायी पड़ती है। मोहेंजोदड़ों में जो सबसे चौड़ी सड़क मिली है वह 10 मीटर से कुछ अधिक चौड़ी है, जिसे पुराविदों ने राजपथ नाम दिया है। सड़कों के निर्माण में हवा के रुख का भी ध्यान रखा गया था। हवा के झोंकों से सड़कों के दोनों ओर के मकानों की वायु शुद्ध हो जाती थी। चौड़ी सड़कों पर कई बैलगाड़ियां एक साथ समानान्तर चल सकती थीं। मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा, लोथल, आदि स्थलों में सिंधु सभ्यता काल की सड़कों के बारे में जो जानकारी मिली है उससे पता चलता है कि उस काल की किसी भी सड़क को ईंट आदि बिछाकर पक्का नहीं बनाया गया था। मोहेंजोदड़ों की एक सड़क पर टूटे बर्तन और खण्डित ईंटें पड़ी मिली हैं जिससे ऐसा लगता है कि इस सड़क

1. इस शीर्षक के अन्तर्गत यदि किसी स्थल विशेष का उल्लेख नहीं है जो विवरण मोहेजोदड़ों के साक्ष्य पर आधारित है।

को पक्का बनाने की दिशा में प्रयोग किया जा रहा था। न जाने क्यों यह ठीक नहीं समझा गया। कच्ची सड़क के कारण गर्मी में धूल उड़ती रही होगी। धूल से निवारण के लिए शायद नगर पालिका ने पानी छिड़कने का प्रबंध किया रहा होगा। बैलगाड़ियों के गमनागमन और लोगों की पैदल यात्रा में असुविधा रही होगी। सड़कों की सफाई का प्रबंध अवश्य उत्तम लगता है।

भवन विभिन्न आकार–प्रकार के हैं। इनकी पहचान धनाढ्यों के विशाल भवन, सामान्य जनों के साधारण घर, दुकानें, सार्वजनिक भवन इत्यादि से की जा सकती है। साधारणतया घर पर्याप्त बड़े थे और उनके मध्य में आंगन होता था। आंगन के एक कोने में ही भोजन बनाने का प्रबंध रहता था और इर्द–गिर्द चार या पाँच कमरे बने थे। प्रत्येक घर में स्नानागार और घर के गंदे पानी की निकासी के लिए नालियों का प्रबंध था। कई घरों में कुएं भी थे। गलियां 1 मीटर से 2.2 मीटर तक चौड़ी थीं। ये गलियां चक्करदार या भूल–भुलैया जैसी नहीं है, जैसा कि भारत और अन्य कई एशियाई देशों के नगरों में अधिकतर होती हैं; वे सीधी हैं, और निश्चय ही उनका निर्माण योजनाबद्ध तरीके से किया गया था।

हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो दोनों नगर विशाल क्षेत्र में बसे थे। इन दोनों नगरों तथा कालीबंगां, सुरकोटड़ा आदि की नगर निर्माण योजना में पर्याप्त समानता दृष्टिगोचर होती है। इनमें प्रत्येक स्थान पर दो मुख्य टीले हैं – एक छोटा किंतु ऊंचा और दूसरा बड़ा किंतु अपेक्षाकृत नीचा। इतना ही नहीं, सभी में छोटा ऊंचा टीला बड़े नीचे टीले के पश्चिम स्थित है और गढ़ी का द्योतक है। कालीबंगां में निचला नगर भी रक्षा दीवार से सुरक्षित था। हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो में भी नवीन उत्खनन से निचले नगर के भी सुरक्षा दीवार से वेष्टित होने के साक्ष्य मिले। कालीबंगां और हड़प्पा में गढ़ी और निचले नगर के बीच खाली जगह है। मोहेंजोदड़ो में इस बात के साक्ष्य दिखते हैं कि गढ़ी और निचले नगर के मध्य नहर या सिंधु नदी की एक शाखा बहती थी। लोथल और सुरकोटड़ा में गढ़ी और निचला नगर दोनों एक ही सुरक्षा दीवार से रक्षित थे। यह उल्लेखनीय है कि गढ़ी और निचला नगर दोनों में ही बड़े और छोटे दोनों प्रकार के भवन हैं।

सिंधु संस्कृति के नागरिक भवनों के निर्माण में सजावट और बाहरी आडम्बर के विशेष प्रेमी नहीं थे। उनके भवनों में न अलंकरण ही दिखता है और न विविधता ही। यह उल्लेखनीय है कि ऐतिहासिक काल में अलंकरण भारतीय स्थापत्य का आवश्यक अंग रहा है। नगरों के ध्वंसावशेषों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे आधुनिक व्यावसायिक नगरों के अवशेष हों। संभवतः सिंधु सभ्यता के लोगों की व्यावसायिक बुद्धि ने उन्हें स्थापत्य में सुन्दरता से कहीं अधिक उपयोगिता की ओर ध्यान देने को प्रेरित किया हो। कई विद्वानों, विशेषतः पिगट, ने भवन निर्माण शैली में एकरुपता की आलोचना की है, जो उनके अनुसार लोगों के अत्यधिक परंपरावादी

दृष्टिकोण का फल है। सिन्धु सभ्यता में न तो सुमेर की भांति विशाल मन्दिरों के अवशेष मिले हैं और न मिस्र की जैसी प्रभावशाली और विशाल कब्रें। इस सभ्यता की ईंटों में वह चित्ताकर्षक कारीगरी नहीं हैं जो हमें परवर्ती कालीन सारनाथ, भीतरगांव और पहाड़पुर के स्मारकों में प्रयुक्त ईंटों में दिखाई पड़ती है। कालीबंगां के एक फर्श के निर्माण में अलंकृत ईंटों का प्रयोग हुआ है।

यों काष्ठ–कला के विकास में प्राचीन भारत अग्रणी रहा है, यहां तक कि हमें चट्टान से काट कर बनाये गये चैत्यों में भी, जहां काष्ठ का प्रयोग आवश्यक नहीं था, काष्ठ प्रयुक्त मिलता है। अतः यह भी संभव है कि परवर्ती काल की भांति सिंधु सभ्यता की इमारतों में स्थापत्य तथा सजावट के लिए काष्ठ का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता रहा हो, किन्तु उसके अवशेष अब नहीं बचें हैं।

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा जैसे नगरों का भवन–निर्माण सादा होते हुए भी उच्च कोटि का है। इन दोनों नगरों में भवन निर्माण के लिए पक्की ईंटों का प्रयोग किया गया है। यह उल्लेखनीय है कि सिंधु सभ्यता के समकालीन मेसोपोटामिया में पक्की ईंटों का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत कम हुआ है। सिंधु सभ्यता के ही कई स्थलों यथा कालीबंगां, लोथल, रंगपुर आदि में भवनों का निर्माण प्रायः कच्ची ईंटों से हुआ था। धौलावीरा तथा सुरकोटड़ा में भवन निर्माण में पत्थर का यथासंभव प्रयोग किया गया। धौलावीरा में पालिश किए हुए अत्यंत कलात्मक स्तंभ भी प्राप्त हुए हैं। हड़प्पा और मोंहेंजोदड़ों की इमारतों के उस भाग के निर्माण में, जो बाहर से दिखाई देता था, कहीं भी खण्डित ईंटों का प्रयोग नहीं किया गया। केवल भराव के लिए ही खण्डित ईंटों का उपयोग हुआ है। ईंटें नदियों से लायी गयी मिट्टी से बनायी जाती थीं। खुले भट्ठों में पकाने के कारण इनका रंग लाल हो गया है। इनके पकाने में पर्याप्त मात्रा में ईंधन जलाया गया होगा। गीली ईंटों को आज की भांति समतल मैदान में बिछाकर सुखाया जाता था। इसी कारण कुछ ईंटों पर पशुओं के पद–छाप हैं। चन्हुदड़ो की एक ईंट पर पड़े बिल्ली और कुत्ते के पद–चिह्नों के निरीक्षण से स्पष्ट है कि किसी कुत्ते ने बिल्ली का पीछा किया था और इसी भागा–दौड़ी में वे दोनों सुखाने के लिए बिछायी गयी गीली ईंटों के ऊपर से गुजरे थे।

सिंधु सभ्यता में प्रयोग की गई ईंटें अलग–अलग आकार–प्रकार की हैं। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त सबसे बड़ी ईंट 51.43 सेमी. x 26.27 सेमी. x 6.35 सेमी. की हैं। कुछ ईंटों 36.83 सेमी x 18.41 सेमी. x 10.16 सेमी की मिली हैं। छोटी ईंटें 24.13 सेमी. x 11.05 सेमी x 5.08 सेमी की हैं। सामान्यतया व्यवहार में लाई गयी ईंटें 27.94 सेमी. x 13.97 सेमी. x 6.35 सेमी. की हैं। सिंधु सभ्यता के प्रायः सभी स्थलों पर, जहां भी ईंटों का व्यवहार भवनों के निर्माण में हुआ है, लगभग इसी माप की ईंटें अधिकांशतः प्रयुक्त हुई हैं। इमारतों के कोनों की चिनाई अंग्रेजी के अक्षर एल (L)

जैसी समकोणाकार बनी ईंटों से की गयी है। फन्नीदार ईंटों का प्रयोग कुओं की दीवार और मेहराब बनाने में किया गया है।

इमारत की नींव उसके आकार--प्रकार को ध्यान में रखकर कम या ज्यादा गहरी रखी जाती थी। मोहेंजोदड़ो नगर के मध्य प्रकाल के निवासियों ने इमारतों की नींव गहरी रखने का विशेष ध्यान रखा। छोटी–छोटी इमारतों की नींवें अपेक्षाकृत कम गहरी थीं। नींव की भराई में खण्डित ईंटों का प्रयोग हुआ है। नगर के अंतिम प्रकाल में संभवतः निर्धन व्यक्तियों ने अपने मकानों की नींव को गहरा करने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उन्होंने पूर्वकालीन खण्डहरों के मलबे के ऊपर ही, नींव की गहराई की परवाह किये बिना इमारत बना दी। मोहेंजोदड़ों में अगल–बगल के घर आपस में संयुक्त दीवार से संबद्ध नहीं थे। उनके मध्य साधारणतः बहुत थोड़ा, लगभग 30 सेमी. का फासला छोड़ दिया जाता था, जिसे दोनों तरफ से ईंटों से बन्द कर दिया जाता था। स्पष्ट है कि ऐसा चोरों से बचाव के लिए किया जाता था। मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा, लोथल इत्यादि नगर नदियों के किनारे पर बसे थे। चूंकि उन्हें बाढ़ से नुकसान पहुंचने का लगातार खतरा रहता होगा, अतः उन लोगें ने भवनों को ऊंचाई पर बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया था।

मोहेंजोदड़ो की इमारतों में ईंटें चपटी या खड़ी लगाई गई हैं। स्नानागारों में प्रयुक्त ईटें प्रायः खड़ी जमा दी गयी हैं जिससे सीलन कम रहे। मकानों के फर्श तीन तरह से बनाये जाते थे – मिट्टी की कुटाई करके समतल बनाकर या कच्ची ईंटें बिछाकर या पक्की ईंटों का प्रयोग करके। अधिकांशतः फर्श मिट्टी को ठोंक–पीट कर बनाये गये हैं। इस विधि से फर्श बनाना आसान भी होता है और सस्ता भी। महत्त्वपूर्ण इमारतों के फर्श प्रायः पक्की ईंटों से निर्मित हैं। इस तरह के फर्शों की मोटाई एक ईंट से लेकर पांच ईंट तक पायी गयी हैं। कालीबंगां का एक फर्श अलंकृत ईंटों से बना है जिन पर प्रतिच्छेदी वृत्त का अलंकरण है (चित्र 27)।

मोहेंजोदड़ो के अधिकांश घरों में स्नानागार थे, जो कि गली की ओर स्थित होते थे जिससे पानी के निकास में आसानी रहे। स्नानागार के फर्श के निर्माण में विशेष सावधानी बरती गयी है। इसके लिए सदैव अच्छी तरह पकाई गयी ईंटों का प्रयोग किया गया है। ईंटों के किनारे घिस दिये जाते थे ताकि उन्हें फर्श पर ठीक तरह बैठाया जा सके। मकाइ का कहना है कि कुछ ईंटें आरे से काटकर बिठाई गई हैं। कुछ स्नानागार में फर्श पर लाल रंग के धब्बे मिलते हैं जो कुछ चमक लिए हैं। हो सकता है कि यह चमक मनुष्यों के बराबर चलने के कारण घिसने से पैदा हुई हो। फर्श के किनारे पर एक छोटा सा निकास छोड़ा जाता था जिससे गंदा पानी आसानी से बाहर निकल सके। स्नान के लिए प्रायः अलग से एक कमरा होता था, किंतु कभी–कभी एक बड़े कमरे के कोने में ही स्नान का प्रबंध कर लिया जाता था। स्नान करते समय झांवे से शरीर को साफ करते थे। सिंधु सभ्यता में झांवे बड़ी संख्या में

मिले हैं। कुछ तो इतने इस्तेमाल किये गये थे कि वे पूरी तरह घिस गए और बेकार हो गये थे। स्वच्छता के उद्देश्य के अतिरिक्त, धार्मिक अनुष्ठान के रूप में भी लोग स्नान करते थे।

भीतर की ओर तो मकानों की छोटी--बड़ी सभी दीबारें लगभग सीधी हैं। छोटे भवनों की दीवारों का बाहरी हिस्सा या तो सीधा है या थोड़ा ढाल लिए हैं, किंतु बड़ी इमारतों की दीवारें प्रायः बाहर की ओर ढाल लिए हैं। मकाइ ने सुझाया है कि दीवारों को ढालू बनाने की मूल प्रेरणा मिट्टी की बनी दीवारों में ढूँढी जा सकती है, किंतु उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि मिट्टी की बनी दीवारें दोनों ओर से ढालू होती हैं जब कि सिंधु सभ्यता की ईंट की दीवारें बाहर की ओर ढालू हैं। कुछ इमारतों में मिट्टी के पलस्तर लगाये जाने के साक्ष्य मिले हैं। संभवतः उस पर पुताई भी की जाती थी। दीवारें आजकल की तुलना में काफी मोटी हैं। मोहेंजोदड़ो व हड़प्पा जैसे नगरों में धनी सम्पन्न लोगों की कमी नहीं रही होगी। सुरक्षा की दुष्टि से ही दीवारों को पक्की बनाने का विशेष यत्न रहा होगा। मोटी दीवारों से इमारत की मज़बूती तो रहती ही है साथ ही कमरे ठंडे भी रहते हैं। गरम जलवायु वाले स्थलों में गर्मी से राहत पाने के लिए ऐसी दीवारें विशेष उपयुक्त होती हैं। संभवतः एक से अधिक मंजिल वाले मकान भी थे और कुछ दीवारों को इसलिए भी मोटा बनाया गया होगा ताकि वे ऊपरी मंजिल (या मंजिलों) के भार को भली--भांति वहन कर सकें। दीवारों का अनुलम्ब संरेखण अत्यंत सही है जिससे स्पष्ट है कि राज लोगों ने दीवारों को सीधा बनाने में साहुल की सहायता ली होगी। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त एक चूना पत्थर के उपकरण की पहचान मकाइ (*फ0 इ0,* 1, 408) ने साहुल से की है।

दीवारों की चिनाई में एक तह लम्बाई में, फिर एक चौड़ाई में, फिर लम्बाई में, इस क्रम से ईंटों को रखा जाता था। इस तरह की जुड़ाई में ईंटों के किनारे एक सीध में नहीं पड़ते अतः दीवार अधिक मजबूत होती है। कुछ थोड़े से ऐसे भी दृष्टांत मिले हैं जिनमें ईंटों के चपटे हिस्से को खड़ा करके रखा गया है। चिनाई की मजबूती की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं, शायद विविधता लाने के लिए ऐसा किया गया होगा। संभवतः ऐसी दीवारों पर पलस्तर नहीं लगाया जाता था ताकि ईंटों की यह विशिष्ट प्रकार की चिनाई दिखाई देती रहे। वास्तव में दीवार की चिनाई में ईंटों को विभिन्न रूप से रखने के जो थोड़े से उदाहरण सिन्धु--सभ्यता में मिले हैं, वे ही दीवारों के अलंकरण का आभास देते हैं, अन्यथा दीवारें सपाट हैं।

बेबीलोन में इमारतों की जुड़ाई में गारे के लिए गीली मिट्टी अथवा गिरि पुष्पक (बिटूमिन) का व्यवहार होता था। वहां पर चूने से जुड़ाई का प्रचलन सिंधु सभ्यता के बाद में प्रारंभ हुआ। सिंधु संस्कृति में गारे के रूप में मिट्टी का ही मुख्य रूप मे प्रयोग हुआ; जिप्सम का मिश्रण ईंटों की चुनाई में गारे के रूप में बहुत कम किया गया। मोहेंजोदड़ो की केवल एक ही इमारत, विशाल स्नानागार, के निर्माण में गिरिपुष्पक का

प्रयोग मिला है। यह उल्लेखनीय है कि मोहेंजोदड़ो नगर से लगभग 112 किलोमीटर की दूरी पर चूना पत्थर उपलब्ध था, किन्तु फिर भी वहां के निवासियों द्वारा चूने का प्रयोग मकान की चिनाई में नहीं किया गया। चूने और जिप्सम के मिश्रण का प्रयोग केवल नालियों की जुड़ाई में मिलता है, जहाँ निरंतर पानी के बहाव के कारण चिनाई को अधिक मजबूत बनाना आवश्यक था। प्राचीन मिस्र में चूने का प्रयोग गारे के रूप में तथा रोमन काल में प्लास्टर के लिए किया जाता था।

जिन इमारतों के निचले खण्ड बचे रहें हैं उन्हें देखने से ज्ञात होता है कि इमारतों में अधिकांशतः वायु प्रवेश और निकास के लिए मार्ग मात्र दरवाजा ही होता था। दरवाजे लकड़ी के बने होते थे ओर उनके अवशेष प्राप्त नहीं हैं। ये दरवाजे दीवार के मध्य में न होकर एक किनारे पर होते थे। सामान्य द्वार की चौड़ाई लगभग एक मीटर थी किन्तु कुछ काफी चौड़े भी थे। एक 2.35 मीटर चौड़ा दरवाजा था। संभवतः पशुओं के आवागमन की सुविधा के लिए इसे इतना चौड़ा बनाया गया था। दरवाजों के चूल के लिए ईंटों के द्वार विवर मिले हैं। खिड़कियों के होने के अत्यल्प साक्ष्य उपलब्ध (फ0 V, 1) हैं। संभवतः नागरिक अपनी धन–सम्पदा को सुरक्षित और गुप्त रखने के लिए बाहर की दीवारों में खिड़कियां नहीं बनवाते थे। यह भी संभव है कि खिड़कियां कमरे की दीवारों के ऊपरी भागों में रही हों जो अब शेष नहीं रहे। शायद इस क्षेत्र में गरमी काफी पड़ने के कारण धूप और लू से बचाव के लिए खिड़कियां बहुत कम बनाई गयीं थीं। एलबास्टर पत्थर की कुछ खण्डित जालिया प्राप्त हुई हैं। हो सकता है कि इनका प्रयोग खिड़की के लिए किया गया हो। कुछ पकाई मिट्टी की जालियां भी मिली हैं।

दुर्भाग्य से उत्खात वस्तुओं में, एक अपर्याप्त और धुंधली रूप–रेखा अंकित मुद्रा को छोड़कर, किसी वस्तु पर भी किसी भवन का आरेख नहीं मिलता जिससे तत्कालीन भवनों की पूरी रूपरेखा का ज्ञान प्राप्त हो सके। कुछ घरों में सीढ़ियां (फ0 V, 2) मिली हैं जो दीवारों की खड़ी नालियों के साक्ष्य की भांति भवन में ऊपरी मंजिल होने का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। अधिकांशतः सीढ़ियों की पैड़ बहुत संकरी थीं और दो पैड़ों के बीच की ऊंचाई काफी थी। मकाइ को केवल एक सीढ़ी ही अपवाद–स्वरूप ऐसी मिली जिसमें पैड़ों की चौड़ाई काफी थी *(फ0 इ0,168)*। जिन घरों में सीढ़ियां नहीं मिली हैं वहां कुछ में हो सकता है लकड़ी की सीढ़ियां रही हों जो अब नष्ट हो गयी है। मोहेंजोदड़ो की तुलना में हड़प्पा में सीढ़ियां बहुत कम मिली हैं।

शायद इमारतों की छतें समतल थी। छतों पर सरकंडों को चटाई की तरह बिछाकर उन्हें रस्सी से गूँथ दिया जाता था और उसे कड़ियों के बीच रख कर उसके ऊपर मिट्टी की मोटी तह बिछा दी जाती थी। इमारतों के मलबे से खपरैल और कांसे या तांबें की बनी सरियों की जैसी कोई वस्तु उपलब्ध नहीं हुई। एक अधजली लकड़ी की कड़ी के साथ तांबें का उपकरण पाया गया है जिसके बारे में अनुमान है कि

इसका प्रयोग कड़ियों को जोड़ने में कील की तरह किया गया होगा। इसकी संभावना है कि कुछ भवनों का ऊपरी भाग चपटा न होकर शिखरनुमा रहा हो।

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में कुछ ऐसे कमरों की रूप–रेखा भी मिली हैं जिसमें प्रवेश के लिए कोई दरवाजा नहीं था। संभवतः ऐसे कमरों में ऊपर से सीढ़ी द्वारा पहुंचा जाता था। यह मानना युक्तिसंगत नहीं लगता कि उनका प्रयोग निद्रा कक्ष के रूप में किया जाता था। वे या तो किसी धार्मिक अनुष्ठान से संबंधित थे, या इनका प्रयोग गोदामों की तरह अन्न रखने के लिए किया जाता था।

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में भवनों में स्तम्भों का प्रयोग कम हुआ है। हो सकता है कि लोग लकड़ी के स्तम्भों का प्रयोग करते रहे हों जो अब नष्ट हो गये हैं। स्तम्भों के जो अवशेष मिले हैं वे या तो चतुर्भुजाकार हैं या वर्गाकार। गोल स्तंभ सिंधु सभ्यता में अनुपलब्ध हैं, जबकि इस तरह के स्तंभ तत्कालीन मेसोपोटाामिया की सभ्यता में लोकप्रिय थे, जहां संभवतः इस तरह के स्तंभ बनाने की प्रेरणा खजूर के पेड़ों से मिली थी। सुमेर में अर्द्धवृत्ताकार अर्ध–स्तम्भों का निर्माण होता था, किन्तु सिन्धु सभ्यता में ऐसे उदाहरण नहीं मिलते। लेकिन वृत्ताकार अथवा अर्धवृत्ताकार स्तम्भों के अभाव के कारण यह नहीं कि सिंधु संस्कृति के लोग इस तरह के स्तम्भ के निर्माण करने में सक्षम नहीं थे। उन्होंने फन्नीदार ईंटों का प्रयोग करके गोल कुएं बनाये थे। गोल स्तंभ बनाने के लिए भी ऐसी ईंटों की ही आवश्यकता होती है।

उत्खननों से पत्थर के अनेक वृत्ताकार चक्के उपलब्ध हुए हैं। इनमें से कुछ 42.67 सेमी से 48.51 सेमी व्यास वाले हैं और 24.89 सेमी से 27.45 सेमी ऊंचे हैं। विद्वानों का विचार है कि इनका प्रयोग लकड़ी के स्तंभों के शीर्ष भाग की सजावट के लिए किया गया था। पत्थर के अन्य अधिकांश छल्ले काफी छोटे हैं ओर उनके भीतरी भाग का व्यास इतना कम है कि स्तंभ के शीर्ष भाग की मोटाई कम करके भी इनका प्रयोग स्तंभ के शीर्ष के रूप में किया जाना कठिन लगता है।

हड़प्पा में टोडा मेहराब (चित्र 9) का प्रयोग मिलता है। बेबीलोन और मिस्र की संस्कृति में पुराकाल में गोल मेहराब का प्रचलन था, किन्तु मोहेंजोदड़ो नगर में उसे नहीं अपनाया गया। लोथल में अत्यल्प उदाहरण ऐसे हैं जिनसे गोल मेहराब से सिन्धु सभ्यता के लोगों का परिचय होने का प्रमाण मिलता है, लेकिन ये अपवाद स्वरूप हैं। सामान्यतः दन्तक मेहराब का ही प्रयोग होता रहा। सुमेरी सभ्यता और सिन्धु सभ्यता के बीच सांस्कृतिक सम्पर्क था, अतः हड़प्पा एवं मोहेंजोदड़ों के लोग गोल मेहराब से अपरिचित रहे हों इसकी संभावना कम ही है। यदि वे इस तरह की मेहराब बनाना चाहते तो बना सकते थे क्योंकि ये लोग फन्नीदार ईंटें बनाना जानते थे।

मोहेंजोदड़ो के कई मकानों में संडास बनाये गये थे। इनकी तुलना पश्चिमी जगत के शौचालयों से की जा सकती है। इन्हें कुछ ढलुआ बनाया गया था।

कहीं–कहीं इनमें सीढ़ीदार नाली की व्यवस्था की गई है जो दीवार से होकर सड़क की नाली से मिलती है। दीवार में जिस स्थान से नाली निकाली गयी है इसकी जुड़ाई में कुशलता दिखलाई गयी है। इस कार्य के लिये ईंटों को घिसकर (या आरी से काट कर) लगाया गया है। सामान्यतः लोग नित्यकर्म बस्ती से लगे खेतों में करते रहे होंगे।

सड़कों के किनारे स्थित कुछ इमारतों के कोने घिसे मिले हैं। इन स्थानों से बोझ लादे हुए पशु निकलने से रगड़े जाने से ऐसा हुआ होगा। हड़प्पा संस्कृति के नगरों की कुछ इमारतों के कोने कुछ गोलाई लिए हुए बनाये गये थे ताकि सामान–लदे जानवर बिना कठिनाई के गुजर सकें।

मोहेजोदड़ों में इस बात के स्पष्ट साक्ष्य हैं कि समय बीतने पर जनसंख्या बढ़ने के साथ ही ऐसी जगहों पर भी मकान बनने लगे थे जहां नगर निर्माण नियमों के अनुसार उन्हें नहीं बनाया जाना चाहिए था। स्पष्ट है कि भवन–निर्माण संबंधी नियमों का पालन कराने में तत्कालीन नगरपालिका जैसी संस्था असमर्थ थी। जैसे–जैसे परिवार में सदस्यों की संख्या बढ़ी, मकान को छोटे–छोटे कमरों में बांटा जाने लगा जिससे भवनों की गरिमा नष्ट हो गई। कुम्हारों के भट्ठे, जो पहले नगर से बाहर ही बनते थे, अब नगर के अंदर बनने लगे और उन्हें प्रमुख सड़कों पर भी बनाया जाने लगा।

प्राचीन सभ्यताओं में निकास नालियों का इतना सुन्दर प्रबंध और कहीं नहीं मिलता जितना कि सिंधु सभ्यता में। भारत में भी सिंधु सभ्यता के बाद शताब्दियों तक इस तरह का प्रबंध नहीं मिलता। ये नालियां (चित्र 8 अ, चित्र 16) इस बात की साक्षी हैं कि सिंधु सभ्यता के लोग सफाई के प्रति अत्यंत सजग थे। कुछ नालियां तो थोड़ी ही गहरी हैं लेकिन कुछ आधे मीटर से भी अधिक गहरी हैं। साधारणतया बड़ी नालियों को पत्थर के खण्डों से ढक दिया गया था और छोटी नालियों को बड़ी ईंटों से। पत्थर आसानी से उपलब्ध नहीं था, अतः आशा की जाती थी कि वे नालियों को ढकने के लिए पक्की ईंटों का ही प्रयोग करते। किन्तु जैसा कि मकाइ ने सुझाया है, नालियों के ऊपर से जहां यातायात मार्ग था वहां ईंटों के टूट जाने की संभावना थी, और इसीलिए वहां पत्थर का प्रयोग किया गया होगा। घर के कमरों, रसोई, स्नानागार ओर शौचगृह की निकास नालियां एक बड़ी नाली में मिलती थीं और विभिन्न घरों से निकली ये बड़ी नालियां अन्ततः एक बड़ी सार्वजनिक नाली में मिलती थीं। जिस स्थान पर ऊंची सतह से आती कोई नाली किसी दूसरी नाली से मिलती थी वहां पर चिनाई कर एक गड्ढा बना देते थे और जहां नाली किसी कोंण पर मुड़ती थी वहां उसे गोलाई लिये बना देते थे। इस गोलाई को लाने के लिए फन्नीदार ईंटों का प्रयोग होता था। नरमोखा (मैन–होल) को बड़ी–बड़ी ईंटों से ढका जाता था जिन्हें हटाकर सफाई की जाती थी। ऊपर की मंजिलों में पानी निकालने के लिए भी नालियां होती थीं जो कहीं तो दीवारों में ही ईंटों की जगह खाली छोड़कर बनी होती थीं। कुछ

नालियां ईंटों को काटकर बनी मिली हैं। कहीं–कहीं पकाई मिट्टी के बने पाइप की आकृति के परनाले लगाये जाते थे। पक्की मिट्टी के पाइप वाली नालियों के उदाहरण चन्हुदड़ो से विशेष रूप से मिले हैं। मोहेंजोदड़ो में भी इसी तरह के पाइप मिले हैं। ये अलग–अलग हिस्सों में बनाये गये थे और प्रत्येक पाइप के एक किनारे के छेद का व्यास दूसरे किनारे के छेद से कम होता था जिसको कि दूसरे पाइप के चौड़े हिस्से के भीतर बैठाया जाता था। प्राचीन क्नोसोस और मिस्र में इस तरह के मिट्टी के पाइप मिले हैं। कालीबंगां में लकड़ी की नाली के प्रयोग किये जाने के भी प्रमाण मिले हैं वहां पर पेड़ के तने को अन्दर से खोखला करके उसका नाली के रूप में प्रयोग हुआ है। अन्य सभी सिंधु स्थलों में नालियों का निर्माण केवल ईंटों से ही हुआ है। नाली में प्रयुक्त कुछ ईंटों को तो केवल गारे से जोड़ा गया है। किंतु कुछ में जिप्सम के चूर्ण का प्रयोग हुआ है। नालियों को ढकने में टोडा मेहराब का प्रयोग भी मिलता है। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण विशाल स्नानागार के जलाशय की नाली है। (फ0, III, 2) यह 1. 87 से 2. 59 मीटर तक गहरी है और इसे टोडा मेहराब से ढका गया है। नालियों में बीच–बीच में गड्ढे भी बनाये जाते थे जिनमें इकट्ठा हुआ कूड़ा–करकट समय–समय पर निकाल दिया जाता था। सड़क की नालियों के किनारे रेत के ढेर मिले हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि नालियों की नियमित रूप से सफाई की जाती थी। किंतु ये ढेर इस बात के भी द्योतक हैं कि सड़क पर पड़े कचरे को हटाने में कभी–कभी लापरवाही बरती जाती थी। कहीं–कहीं नालियों में बनाये ऐसे गड्ढों में उतरने के लिए सीढियां भी बनी होती थीं। इन गड्ढों को ढकने के लिए कदाचित् लकड़ी के ढक्कन रहे होंगे, जो अब नष्ट हो गये हैं। मोहेंजोदड़ो और सिंधु संस्कृति के कई स्थलों में ऐसे भी उदाहरण मिले हैं, जिनमें घर के परनाले या छोटी नालियां किसी बड़ी नाली से नहीं जुड़ी हैं; उनमें बहता पानी मिट्टी के बृहदाकार घड़ों में गिरता था जिनके पेंदों में छिद्र कर दिये गये थे। पानी घड़ों के पेंदों से होकर जमीन में रिस जाता था, और इकट्ठा हुए कूड़े कचरे की सफाई कर दी जाती थी। कुछ पक्की ईंटों के नाबदान भी मिले हैं। मोहेंजोदड़ो में कुछ नालियां ऐसी भी मिली हैं जो कुएं के बिल्कुल पास से गुजरती थीं। ऐसी दशा में उनका गन्दा पानी रिस कर कुएं में पहुंच सकता था और उसका जल दूषित हो सकता था।

नालियों के निर्माण में इस बात का ध्यान रखा जाता था कि उनसे बहते पानी की छींटें राहगीरों पर न पड़े। वे ढाल पर नालियों को प्रायः सीढ़ीदार बना देते थे जिससे उनमें बहते पानी का वेग कम हो जाये। लोथल की खुदाई से सार्वजनिक नाली का बहुत ही सुन्दर उदाहरण मिला है। इसमें विभिन्न घरों की नालियां मिलती थीं। इनमें ईंटों को चूने से बहुत ही सफाई से जोड़ा गया है। ईंटें एक दूसरे से बिल्कुल सटाकर जोड़ी गई हैं। ढाल पर इस नाली को सीढ़ीदार बनाया गया है ताकि पानी का वेग नियंत्रित किया जा सके और पास से गुजरते लोगों पर छींटे न पड़े।

इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता नाली में द्वार का बनाया जाना है। यह द्वार काष्ठ का होने के कारण नष्ट हो गया और इस कारण आज उपलब्ध नहीं है किंतु द्वार के लिए बनी चूल विद्यमान है जिससे दरवाजा लगे होने का साक्ष्य मिलता है। इस दरवाजे को जालीदार बनाया गया होगा ताकि पानी उससे छन–छन कर बहता रहे और कूड़ा वहीं रुक जाय। कूड़े की सफाई नियमित रूप से होती रही होगी।

मोहेंजोदड़ो में निर्माण–पुनर्निमाण के फलस्वरुप भूमि की सतह उठती गयी और उसके साथ ही नालियों को भी ऊंचा करने की आवश्यकता पड़ी। पहले तो वहां के निवासियों ने नाली की दीवारों को ही ऊंचा करके आसानी से समस्या सुलझानी चाही, पर जैसे–जैसे सड़क की ऊंचाई उठती गई और इतने से काम नहीं बना तो फिर उन्होंने पुरानी नालियों के ऊपर नई नाली का निर्माण किया और इसके लिए अक्सर पुरानी नाली की ही ईटों का पुनः प्रयोग किया। अन्तिम प्रकाल में नगर–निर्माण के विभिन्न पहलुओं में ह्रास के चिह्न मिलते हैं और नालियां भी इसका अपवाद नहीं हैं। इस प्रकाल में नालियों के निर्माण, उनकी सफाई ओर उनके अनुरक्षण की व्यवस्था में शिथिलता आ गई थी।



चित्र 1ब मोहेंजोदड़ो : कुआं

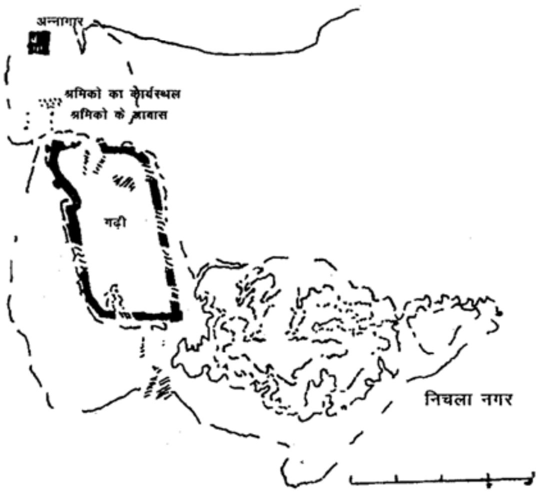
सिंधु सभ्यता के कुएं (चित्र 1ब) वृत्ताकार अथवा अण्डाकार थे। मोहेंजोदड़ो में अनेक घरों में व्यक्तिगत कुएं थे। सड़क के किनारे सामान्यजनों तथा पथिकों के प्रयोग के लिए सार्वजनिक कुएं थे। मोहेंजोदड़ो की अपेक्षा हड़प्पा में बहुत कम कुएं मिले हैं। मोहेंजोदड़ो में प्राप्त कतिपय उदाहरणों के साक्ष्य से ऐसा पता लगता है कि यहां पर सिंधु सभ्यता के प्रारंभिक काल में कुछ कुएं सार्वजनिक प्रयोग के लिए न होकर केवल व्यक्तिगत प्रयोग के लिए थे, क्योंकि उन तक पहुंचने के लिए सड़क से कोई मार्ग नहीं था। पर समय बीतने पर और जनसंख्या बढ़ने के कारण कुछ व्यक्तिगत कुओ को जनता के प्रयोग के लिए भी खोल देना पड़ा। मोहेंजोदड़ो में अन्तिम काल में जब सभ्यता ह्रासोन्मुखी थी, नये कुएं बनाये जाने के साक्ष्य नही मिलते, वे पुराने कुओं से ही काम चलाते रहे। एक तो कुएं खोदने में धन का व्यय बहुत होता और दूसरे पिछले काल की ईंटों को खोदकर नीचे कुएं खोदना बहुत कठिन भी था। जिन कमरों में कुएं हैं उनकी फर्श भली–भांति ईंटें बिछाकर बनायी गयी थी और उनमें घड़े रखने के लिए गहरी जगहें बनी थीं। कभी–कभी ईंटें चिनकर बैठने के लिए थोड़ी ऊंची जगह बना दी गई थी, लोग वहीं बैठकर जल भरने के लिए अपनी बारी की प्रतीक्षा करते रहे होंगे और न जाने कौन से गीत गुनगुनाते रहते होंगे, कौन से दुखड़े रोते रहे होंगे, क्या हंसी

ठिठोली होती रही होगी। अधिकांश कुएं लगभग 0. 91 मीटर व्यास वाले हैं पर 0. 61 मीटर व्यास वाले छोटे कुएं और 2. 13 मीटर व्यास वाले बड़े कुएं भी मिले हैं। नगर की सतह ऊंची होने से समय–समय पर कुएं की जगत की सतह को भी ऊपर उठाना पड़ा था। कुछ अपवादों को छोड़कर कुओं की जगतें बहुत नीची होती थीं और निश्चय ही उनमें बच्चों के गिरने का खतरा रहा होगा। ऐसे भी कुएं मिले हैं जो ठीक स्थिति में हैं किंतु फिर भी लोगों ने निर्माण के थोड़े समय पश्चात् ही उनका उपयोग त्याग दिया था, शायद इस कारण कि उसमें कोई गिर गया था।

हड़प्पा और माहेंजोदड़ो में भवन मुख्यतः पक्की ईंटों से बने हैं। लोथल तथा कालीबंगां में निर्माण के लिए अधिकांशतः कच्ची ईंटों का प्रयोग है यद्यपि यहां पर भी नालियों के लिए पक्की ईंटों का प्रयोग हुआ है। कुछ स्थलों यथा सिंध में अलीमुराद, बलूचिस्तान में सुत्कागेंडोर, और गुजरात में सुरकोटड़ा में विशेषतः नींव में पत्थर का प्रयोग हुआ है। हम नीचे कुछ महत्त्वपूर्ण स्थलों के स्थापत्य की विवेचना करेंगे।

हड़प्पा

लाहौर–मुल्तान रेलवे लाइन पर गिट्टी बिछाने के लिए और मकान बनाने के लिए लोगों ने हड़प्पा के टीले की पुरानी ईंटों को खोद–खोद कर प्रयोग किया, जिस कारण यहां पर भवनों की रूपरेखा उतनी अच्छी दशा में नहीं मिली जितनी कि मोहेंजोदड़ो में मिली है।



चित्र 2: हड़प्पाः गढ़ी तथा निचला नगर

हड़प्पा का पश्चिमी टीला गढ़ी था और पूर्वी टीला निचला नगर। गढ़ी की पहचान सबसे पहले सर मार्टिमर व्हीलर ने की। यह सुरक्षा दीवार से घिरी थी (चित्र 2)। हाल में अमेरिकी पुराविदों तथा पाकिस्तान पुरातत्त्व विभाग द्वारा किये उत्खनन से ज्ञात हुआ है कि निचला नगर भी सुरक्षा दीवार से घिरा हुआ था। गढ़ी आकार में लगभग समानांतर चतर्भुज है जो उत्तर से दक्षिण दिशा में 420 मीटर ओर पूर्व से पश्चिम 196 मीटर परिमाप में है। इसका धरातल दक्षिण की अपेक्षा उत्तर की ओर अधिक ऊंचा है। इसकी सर्वाधिक ऊंचाई लगभग 12 से 15 मीटर के बीच में है और इसके निर्माण में मिट्टी और कच्ची ईंटों का प्रयोग हुआ है।

हड़प्पा की गढ़ी के दक्षिण में किये गये उत्खनन से पता चला है कि सिंधु संस्कृति के पूर्व इस स्थान पर पूर्वगामी लोग कभी निवास करते थे। इनके मृद्भाण्ड, जो सिंधु संस्कृति के मृत्पात्रों से भिन्न हैं, बलूचिस्तान में विशेषकर राना घुंडई तृतीय काल के तृतीय (C) चरण से प्राप्त मृद्भाण्डों से सादृश्य रखते हैं। इस काल में भी लगभग स्थल योजना के आधार पर निर्मित किये गये थे। कालांतर में नदी की बाढ़ से सम्पूर्ण आवास–भूमि पर रेत की तह जम गई और फिर इसके ऊपर विकसित सिंधु संस्कृति के अवशेष मिलते हैं। इस संस्कृति के प्रथम चरण में ही गढ़ी (दुर्ग) बनाये जाने के साक्ष्य हैं। सर्वप्रथम सुरक्षा के लिए एक सुदृढ़ दीवार (फ0 I, 1) का निर्माण किया गया। यह दीवार आधार पर लगभग, 13 मीटर चौड़ी थी और उसकी ऊंचाई 10.66 मीटर थी और वह शनैः–शनैः ढलुआ होती गई थी। इसका निर्माण तो कच्ची ईंटों तथा मिट्टी से हुआ था, किन्तु बाहरी भाग पर पक्की ईंटें लगाई गई थीं। प्रारंभिक अवस्था में ईंटों की दीवार की पीठ सीधी बनायी गयी थी, किन्तु बाद में असुरक्षा की आशंका से उसे तिर्यक कर दिया गया था (चित्र 3)।

सुरक्षा प्राचीर के अन्दर लगभग 6 मीटर से 7.6 मीटर तक ऊंचा कच्ची ईंटों का एक चबूतरा बनाया गया था जिसकी बाहरी सतह पर पक्की ईंटें लगाई गई थीं। निर्माण की दृष्टि से यह रक्षा दीवार से अलग था किन्तु कालक्रम के संदर्भ में यह समकालीन सिद्ध हुआ है। इसी चबूतरे पर 6 बार इमारतें बनायी गयीं जो बनावट की दुष्टि से अलग–अलग चरणों की प्रतीत होती हैं।


चित्र 3 : हड़प्पा : सुरक्षा दीवार

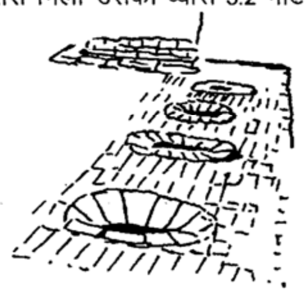
गढ़ी की बाहरी दीवार पर कुछ दूरी पर बुर्ज बने थे जिनमें से कुछ दीवार से अधिक ऊंचें थे। गढ़ी के भीतर मुख्य प्रवेश–द्वार उत्तर की ओर था। पश्चिमी द्वार घुमाव लिए

था जिसके साथ ही सीढ़ियां भी थीं। व्हीलर का अनुमान है कि इस द्वार से जो पथ निकलता वह विशिष्ट प्रकार का था और शायद किसी अनुष्ठान से सम्बद्ध था। द्वार की रक्षा के लिए रक्षकों के कमरे भी बनाये गये थे। दक्षिण सिरे पर भी गढ़ी में प्रवेश के लिए एक सीढ़ी का प्रबंध था। गढ़ी के प्राचीर को मूलतः खण्डित ईंटों से बनाया गया था। प्राचीर क्षतिग्रस्त हो जाने पर उसकी जगह पर नींव के थोड़े ऊपर से अच्छी और पकाई गई ईंटों से पुनर्निर्मित किया गया। गढ़ी निर्माण के दूसरे प्रकाल में उत्तरी–पश्चिमी किनारे पर पश्चिमी द्वार बंद कर दिया गया। रक्षा दीवार का निर्माण आक्रमण और बाढ़ दोनों से बचाव के निमित्त किया गया था।

आधुनिक काल में निर्माण कार्यों के लिए ईंटें खोद कर निकाल ली जाने के कारण गढ़ी के भीतर तो किसी महत्त्वपूर्ण भवन की रूपरेखा नहीं मिली। गढ़ी के बाहर उत्तर में 6.1 मीटर ऊंचें 'एफ' टीले पर 275 वर्गमीटर क्षेत्र मे प्राचीन नदी के तट पर कुछ महत्त्वपूर्ण इमारतों की रूपरेखा मिली है।

उत्खनन से छोटे–छोटे घरों की एक बस्ती का उद्घाटन हुआ है। कुल मिलाकर सात घर उत्तर में तथा आठ घर दक्षिणी पंक्ति में थे। ये घर एक दूसरे से लगभग एक मीटर की दूरी पर बने थे। इस बस्ती के चारों ओर दीवार थी। प्रत्येक घर का आकार लगभग 17 x 7.5 मीटर है। इनका निर्माण एक जैसी योजना पर हुआ था। कुछ विद्वानों ने इन मकानों की तुलना टेल–एल–अमर्ना के श्रमिकों की बस्ती से की हैं, किन्तु वे बस्तियां नगर का अंग न होकर उससे अलग थीं, जब कि हड़प्पा के ये मकान गढ़ी से बाहर होते हुए भी उससे सीधे संबद्ध लगते हैं। संभवतः ये प्रशासन की ओर से निर्मित श्रमिकों के आवास थे। उन्हीं भवनों के समीप सोलह भट्टियां मिली हैं और उनके पास ही मिट्टी का मूषा। मूषा का प्रयोग केवल तांबा गलाने के लिए किया होगा। भट्ठी में कंडे और कोयले का प्रयोग हुआ था। यह तांबे के उपकरण बनने का कारखाना लगता है। शि0 रंगनाथ राव का सुझाव है कि इन छोटे–छोटे घरों में शायद टमटे ही रहते थे।

इस श्रमिक आवास में उत्तर दिशा में ईंटों के 18 वृत्ताकार चबूतरे पाये गये हैं। 1946 में व्हीलर द्वारा किये गये उत्खनन में जो चबूतरा मिला उसका व्यास 3.2 मीटर है। इनमें ईंटों को खड़े रूप में रखा गया है। इनमें से प्रत्येक के मध्य में एक गड्ढा है (चित्र 4)। इनके बीच राख और जले गेंहू व जौ की भूसी के अवशेष मिले हैं। कुछ विद्वानों का मत था कि ये यज्ञ की वेदियां थीं, किन्तु व्हीलर का यह मत कि इनका उपयोग अनाज कूटने के लिए होता था, अधिक समीचीन लगता है। उनके अनुसार इनमें लकड़ी की ओखली लगायी रही होगी जो

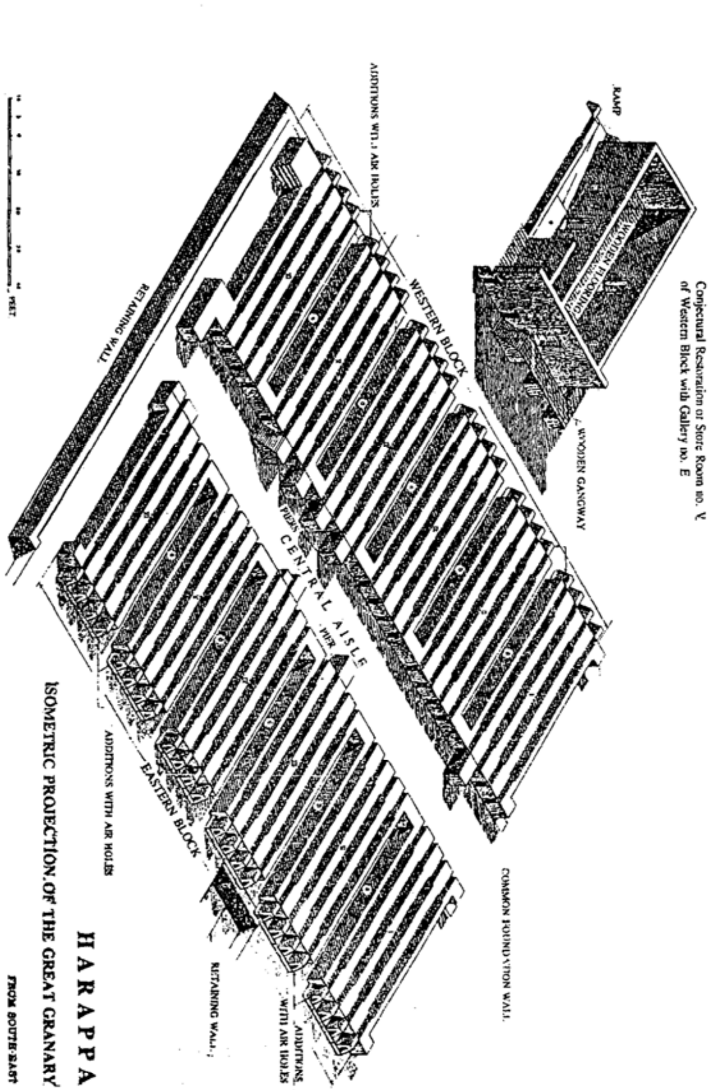


चित्र 4: हड़प्पा : वृत्ताकार चबूतरे

अब नष्ट हो गई है। इस तरह से अनाज कूटने की प्रथा कश्मीर में आज भी प्रचलित है। लगभग 270 मीटर दूरी पर स्थित भवन, जिसका विवरण अगले पैराग्राफ में दिया गया है, की अन्नागार के रूप में पहचान व्हीलर के मत के पक्ष में साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

इन चबूतरों और रावी नदी के मध्य में, दोनों ही से लगभग 32 मीटर की दूरी पर स्थित इमारत के अवशेष को अन्नागार पहचाना गया है। इस विशाल भवन का निर्माण खण्डों में किया गया था। ऐसे बारह खण्ड मिले हैं जो छः–छः की दो कतारों में हैं (चित्र 5)। इन दो कतारों के मध्य 7 मीटर का फासला है। इस स्थान पर अन्नागार में रखने से पहले या वहां से निकालने के बाद अस्थायी रूप से अनाज बोरे में रखे जाते रहे होंगे। प्रत्येक खण्ड का क्षेत्रफल 15.24 x 6.10 मीटर है। इनकी नींव लगभग 1.22 मीटर ऊंची कुटी हुई भूमि पर रखी गयी थी। पश्चिम में दक्षिणी किनारा पक्की ईंटों से सीढ़ीदार बनाया गया था। इस प्रकार दीवार तिर्यक हो गयी। दक्षिणी किनारे पर पूरे हिस्से में पुश्ता बनाया गया था और पूर्व – दक्षिण की ओर जगह की कमी है। अन्नागार में अन्न उत्तर में नदी की ओर से ही ले जाया जाता रहा होगा और अन्न लाने में नदी मार्ग का विशेष उपयोग रहा होगा। अन्नागार के फर्श में लकड़ी के शहतीर लगाये गये थे। इनके बीच में खाली जगह थी जिससे हवा आ जा सके और जमीन की नमी से अनाज बचा रहे। रोमन युग में भी अन्नागार कुछ इसी तरह बनाये जाते थे। हड़प्पा के इन 12 अन्नागार–भवन का पूरा क्षेत्र 2745 वर्ग मीटर से अधिक था जो मोहेंजोदड़ो के मूलतः आयोजित अन्नागार के क्षेत्र के लगभग बराबर ही था।

ऐसा लगता है कि शासन का कृषकों द्वारा उत्पादित अन्न पर नियंत्रण था और अन्न के आगमन–निर्गमन को निरंतर बनाये रखने के लिए अन्नागार शासन द्वारा नियंत्रित थे। यहीं से संभवतः अन्न का वितरण वेतनभोगियों में, जिनमें शासकीय अधिकारी, लेखकर्मी तथा श्रमिक वर्ग सम्मिलित थे, किया जाता था। बैरक जैसे भवनों में रहने वाले लोग संभवतः राजकीय श्रमिक थे जो मुख्यतः विशाल अन्नागार से सम्बद्ध थे। इनका कार्य अन्नागार में अन्न पहुंचाना, वहां से अनाज निकालना, उसे कूटना और फिर शासन के आदेशानुसार उसको यथास्थान पहुंचाना था। कुछ श्रमिक समीपस्थ भट्ठियों पर भी काम करते रहे होगें। राव का कहना है कि ये बैरक ठठेरों के रहने के लिए भी हो सकते थे। मोहेंजोदड़ो नगर में तो अन्नागार का निर्माण गढ़ी के अन्दर ही किया गया था। तत्कालीन अर्थ–व्यवस्था में (देखिये अध्याय 'आर्थिक जीवन') और अन्ततः शासन प्रबन्ध में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा होगा। दजला फरात की घाटी के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण नगरों में अन्नागारों की व्यवस्था थी, जैसा कि वहां से प्राप्त लेखों से ज्ञात होता है। निर्माण–विशिष्टता एवं वैज्ञानिकता की दृष्टि से सिंधु संस्कृति के अन्नागार अपना सानी नहीं रखते। यूनान के 'क्लासिकल युग' से

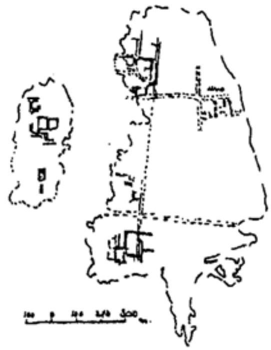


चित्र 5: हड़प्पा : अन्नागार

पहले ऐसे विशिष्ट अन्नागार विश्व भर में कहीं नहीं मिलते।

मोहेंजोदड़ो

मोहेंजोदड़ो सिंधु सभ्यता का सबसे विशाल और सबसे समृद्ध नगर है। यहां भी गढ़ी तथा निचले नगर की योजना थी (चित्र 6)। गढ़ी तथा उसके सुरक्षा दीवार से घिरे होने का ज्ञान सर्वप्रथम 1950 में व्हीलर द्वारा की गई खोदाइयों से हुआ। बाद की खुदाइयों से इस बात के भी साक्ष्य मिले कि निचला नगर भी सुरक्षा दीवार से घिरा हुआ था और उसमें आवागमन के लिये द्वार थे। हड़प्पा की भांति यहां भी गढ़ी कच्ची ईटों द्वारा निर्मित्त काफी ऊंचे चबुतरे पर बनायी गयी थी। इसकी ऊंचाई दक्षिण में 6. 1 मीटर और उत्तर की ओर 12. 19 मीटर तक है। उत्तर दिशा में गढ़ी के ऊपर द्वितीय शती ईस्वी में निमित्त बौद्ध स्तूप है। नगर जीवन के मध्य प्रकाल के समय जब यह सभ्यता चरम विकास पर थी, गढ़ी का निर्माण हुआ था। नगर की सार्वजनिक इमारतें, जैसे विशाल स्नानागार, इसी समय बनायी गयीं। इससे भी पूर्व के स्तरों में सिंधु संस्कृति की इमारतों के अवशेषों को जलस्तर के 9.15 मीटर तक ऊपर उठने के कारण अनावृत्त नहीं किया जा सका है। 1964–65 में गहरी ड्रिलिंग करने से अप्रयुक्ता धरती तक (मैदानी सतह से 11.9 मीटर की गहराई तक) पहुंचना सम्भव हो पाया, किन्तु वहां तक वैज्ञानिक विधि से उत्खनन नहीं हो पाया। 1950 में वहां तक खोदने का प्रयास मोटर पम्प से किया गया जो पूरी तरह सफल नहीं हो पाया था। हां इतना अवश्य स्पष्ट हो गया कि गढ़ी के निर्माण और पहले की संस्कृति के मध्य काल–व्यवधान नहीं है।

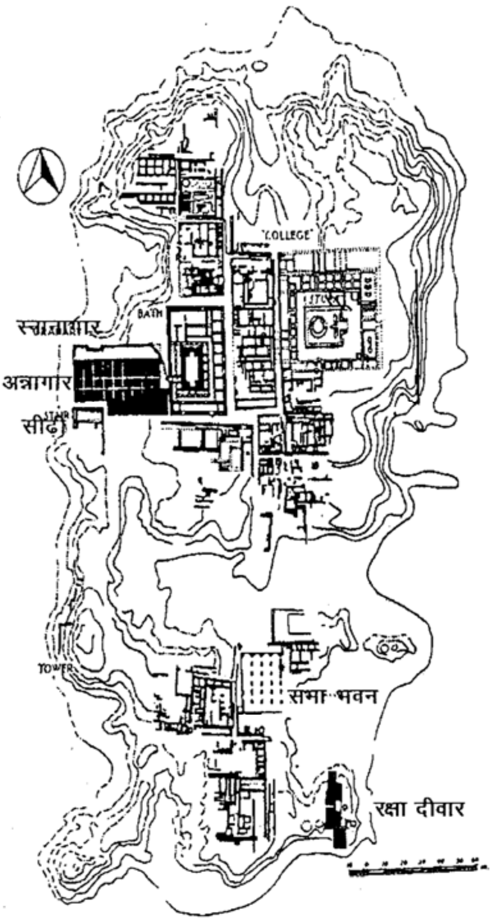


चित्र 6: मोहेंजोदड़ो : गढ़ी तथा निचला नगर

नदी में जल–स्तर का हर वर्ष ऊंचा हो जाना सिंधु संस्कृति के लिए विकट समस्या थी। इसी कारण आरम्भ से ही गढ़ी की सुरक्षा के लिए ईंट और मिट्टी की सहायता से 13.1 मीटर चौड़े एक पुश्ते का निर्माण कर दिया गया था। उसी समय प्लेटफार्म के साथ–साथ जाने वाली एक पक्की ईंट की नाली का 4.27 मीटर ऊंचाई पर पुनर्निर्माण किया गया। बाद में पुश्ते को बाहर से भी मजबूत बनाया गया।

मोहेंजोदड़ो की गढ़ी के भीतर अनेक महत्त्वपूर्ण इमारतें मिलीं (चित्र 7)। दक्षिण–पूर्वी किनारे पर पक्की ईंटों का बना एक ठोस बुर्ज मिला है। चबूतरे का समकालीन बुर्ज 9.15 x 6.71 मीटर था। इसकी नींव विशाल थी। इसकी ईंटों की दीवार की चिनाई में उसे दृढ़ बनाने के लिए लकड़ी का भी प्रयोग किया गया था। लकड़ी का प्रयोग अन्नागार के निर्माण में भी हुआ है जो इसी काल में निर्मित हुआ था।

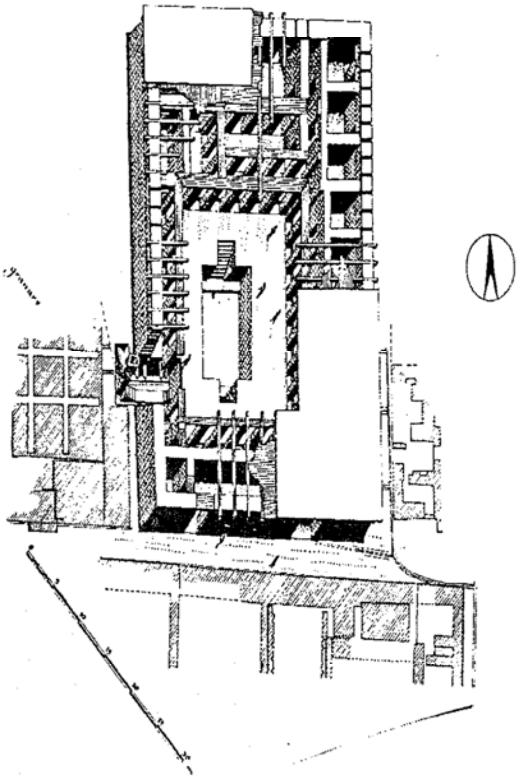
भवनों को मजबूत करने हेतु कच्ची ईंटों से बनाये जाने वाले भवनों की चिनाई में तो लकड़ी का प्रयोग समझ में आता है किन्तु पक्की ईंटों के भवनों की चिनाई में लकड़ी का प्रयोग उन्हें मजबूती देने के लिये अनावश्यक है। इससे व्हीलर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इस टीले के भवनों के अवशेष यह प्रकट करते हैं कि इनके निर्माता वे थे जो पकाई हुई ईंटों की इमारतें बनाने की अपेक्षा कच्ची ईंटों की इमारतें बनाने के अभ्यस्त थे, और चूंकि मेसोपोटामिया में निर्माण कच्ची ईंटों से ही प्रायः होता था, अतः वह इस बात की संभावना मानते हैं कि शायद वहीं से आये लोगों ने ही मोहेंजोदड़ों में इस तरह का निर्माण किया होगा। लेकिन अधिकांश विद्वान् इस मत को नहीं मानते। दक्षिण–पूर्वी कोने में और भी बुर्ज रहे थे जिनमें से दो तो मूलतः पृष्ठ द्वार के दोनों पार्श्व में थे। कालान्तर में द्वार बन्द कर उस स्थान पर चबूतरा बना दिया गया। इस चबूतरे के मलबे में से उत्खनन के दौरान पकी मिट्टी की कई गोफन–गोलियां मिलीं। गढ़ी के पश्चिमी क्षेत्र में भी एक बुर्ज मिला है जिसके उत्तर में एक द्वार था।



चित्र 7: मोहेंजोदड़ो : गढ़ी के भीतर की इमारतें

मोहेंजोदड़ों की सबसे महत्त्वपूर्ण इमारत स्नानागार (चित्र 8) है। वह स्तूप–क्षेत्र में स्तूप से लगभग 57.9 मीटर की दूरी पर स्थित है। इस महत्त्वपूर्ण नगर में, मार्शल

के अनुसार, मध्य प्रकाल में इस भवन का निर्माण हुआ था। यह इमारत काफी बड़ी है। इसका विस्तार उत्तर से दक्षिण की ओर 54. 86 मीटर और पूर्व से पश्चिम की ओर लगभग 33 मीटर है। इसकी दीवारें आधार में 2. 13 से 2. 43 मीटर तक चौड़ी है और बाहर की ओर छह डिग्री का ढाल लिये हैं। इस भवन के प्रांगण में पूर्व में एक तालाब है जो लगभग 11. 89 मीटर लम्बा, 7 मीटर चौड़ा ओर 2. 44 मीटर गहरा था। इसके चारों ओर कुछ ऊंचा चबूतरा बना था। इस तालाब के अन्दर पहुंचने के लिए उत्तर और दक्षिण में लगभग 2.43 मीटर चौड़ी सीढ़ियां बनायी गयी थीं। उत्खनन के समय सीढ़ियां क्षतिग्रस्त मिलीं। उत्तर की ओर बनी 9 सीढ़ी के पैड़ों के अवशेष मिले। दक्षिण में बनी सीढ़ी नमक के प्रभाव से बिल्कुल नष्ट हो चुकी थी। मूलतः इसमें 10 पैड़ियां थीं। पैड़ियों की ईंटों को ऐसा लगाया था कि उनका लम्बान वाला भाग बाहर की ओर दिखे। कुछ साक्ष्यों के आधार पर मकाइ ने सुझाया है कि इन ईंटों के ऊपर लकड़ी लगायी गयी थी। वे तो यह भी सुझाते हैं कि शायद लकड़ी के ऊपर तांबें की परत भी थी। अंतिम पैड़ी के साथ एक चबूतरा बना था जो बच्चों और उन लोगों के सुभीते के लिए था जिन्हें तैरना न आने के कारण पानी में डूबने का डर था। सीढ़ी की अंतिम पैड़ी के नीचे नाली थी जो 23. 5 सेमी चौड़ी और 8. 26 सेमी गहरी थी।



चित्र 8 मोहेंजोदड़ो : विशाल स्नानागार

तालाब का फर्श पूरी तरह समतल नहीं था, पर उसका तल सतर्कता से बनाया गया था। तालाब के निर्माण में उसकी दीवारों को जलरोधी बनाने का और नींव को धंसने से बचाने का पूरा यत्न किया गया था। इस हेतु उन लोगों ने इस तालाब के

निर्माण में पहले अच्छी तरह तराशी गई ईंटों की लगभग एक मीटर मोटी दीवार का निर्माण किया था। इसमें प्रयुक्त ईंटें 25 .78 x 12 .95 x 5 .59 सेमी या 27 .93 x 13 .1 x 5 .65 सेमी आकार की हैं। जुड़ाई जिप्सम से की गई है और इतने सुंदर ढंग की है कि दो ईंटों के बीच अंतर नहीं दिखता है। इस दीवार के पीछे की ओर 2 .54 सेमी मोटा बिटुमिन लगाया गया और उसे मजबूती देने के लिए उसके पीछे एक पक्की ईंटों की दीवार बनायी गयी थी। इसके बाद अपरिशोधित ईंटों की भराई की गई थी और फिर पक्की ईंटों की दीवार थी जिसे छोटी–छोटी आड़ी दीवारों के द्वारा बरामदे से जोड़ दिया गया था, जिसका उद्देश्य संभवतः बाहर की ओर के दबाव को रोकना था। मार्शल का कहना है कि उस काल में उपलब्ध निर्माण सामग्री से इससे सुन्दर और मजबूत निर्माण की कल्पना करना कठिन है। इतने सालों तक भूमि के नीचे दबे होने पर भी उत्खनन के दौरान यह अच्छी दशा में मिला है।

इस विशाल स्नानागार भवन का दक्षिणी पश्चिमी छोर थोड़ा ढलुआ बनाया गया था। यहीं पर स्नानागार की पश्चिमी दीवार के साथ लगी एक नाली थी जिसके द्वारा पानी के निकास की व्यवस्था थी। तालाब के तीन ओर बरामदे थे और उनके पीछे कई कमरे और गैलरियां थीं। पूर्व की ओर एक कमरे में ईंटों की दोहरी पंक्ति से बना कुआं था। स्नानागार के लिए पानी की पूर्ति का यही मुख्य स्रोत था। यों अन्य कुओं से भी कुछ पानी भरा जा सकता था। दूसरे कमरे में ऊपर जाने के लिए जीना था जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि ऊपर दूसरी मंजिल थी। कमरे में भारी मात्रा में कोयला और राख पायी गयी है जो निर्माण में काष्ठ के प्रयोग किये जाने का प्रमाण लगती है। उपलब्ध साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस इमारत में बाद में बहुत से परिवर्तन और परिवर्धन किये गये थे।



चित्र 8अ मोहेंजोदड़ो : नाली

स्नानागार के दक्षिण–पश्चिम कोने में स्थित नाली (चित्र 8 अ) स्नानागार के दक्षिणी प्लेटफार्म से 12. 7 सेमी की दूरी पर थी। यह पश्चिमी दीवार, जिसकी चौड़ाई 1. 4 मीटर है, में होकर जाती है, उसके बाद मिट्टी के भराव से और तत्पश्चात्

दूसरी दीवार से। यह नाली एक कमरे से होकर निकलती थी। आगे यह फर्श खुली बनी है। इसके किनारे पर ईंटें लम्बाई में बड़े ढंग से जिप्सम तथा बालू के मिश्रण से चिनी हैं। यह नाली आगे 69 सेमी चौड़ी है और तत्पश्चात् कड़ीदार छत के नीचे से गुजरती है। यह छत इतनी ऊंची है कि लम्बा आदमी नाली से होकर गुजर सकता है। जहां से नाली के ऊपर मेहराब (चित्र 9) प्रारंभ होती है वह स्थान नाली की सतह में 1. 7 मीटर ऊंचा है और नाली के सतह से मैहराब (चित्र 9) की छत तक पूरी ऊचांई लगभग 2 मीटर है।



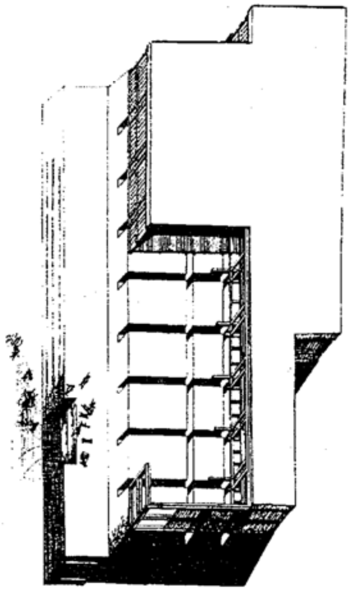
चित्र 9 मोहेंजोदड़ो : टोड़ा मेहराब

विशाल स्नानागार की इमारत को वेष्टित करने वाली बाहरी दीवार बाहर की ओर छह अंश तिर्यक बनी थी। पूर्व तथा दक्षिण दिशा में इस दीवार की मोटाई 1. 9 मीटर और पश्चिम में 2. 2 मीटर थी। उत्तर में कुछ जगह पर यह 2. 34 मीटर मोटी थी। इसकी तथा अंदर के कमरों की दीवारों की नींव में भोंडी ईंटों का प्रयोग हुआ था। इसमें 6 प्रवेश स्थान थे – दो दक्षिण में, तीन पूर्व में तथा एक उत्तर दिशा में। पश्चिम दिशा में शायद ऐसा ही कम से कम एक प्रवेश स्थान अवश्य रहा होगा जिसका अब दीवार के क्षतिग्रस्त हो जाने से मात्र अनुमान ही लगाया जा सकता है। दक्षिण की ओर वाली दीवार में 1. 93 मीटर और 2. 64 मीटर चौड़े प्रवेश द्वार थे। उत्तर में 1. 18 मीटर चौड़ा प्रवेश द्वार था जिसे किसी कारण बंद कर दिया गया था। प्रवेश द्वारों पर फर्श 1. 93 मीटर मोटी थी। इस विशाल स्नानागार की इमारत का मुख्य प्रवेश द्वार किस तरह का रहा होगा इसका निर्धारण करना कठिन लगता है किन्तु अनुमानतः यह काफी प्रभावोत्पादक रहा होगा।

इस विशाल स्नानागार की इमारत के उत्तर में दो पंक्तियों में छोटे–छोटे आठ स्नानकक्ष हैं। इन स्नानकक्षों की माप 2. 9 x 1. 8 मीटर हैं और उन्हें सावधानी से सुदृढ़ बनाया गया था। इनके दरवाजे आमने–सामने नहीं खुलते थे। कदाचित् गोपनीयता के लिए ही ऐसा प्रबंध किया गया होगा। स्नानकक्षों के बीच की खाली जगह में नाली का भी प्रबंध था। इनमें ऊपर जाने के लिए दीवाल में ही सीढ़ियों का होना और इनकी दीवारों की अत्यधिक मोटाई इस बात की द्योतक लगती है कि मकान दुमंजिले थे। मक़ाइ का सुझाव है कि इन मकानों में पुजारी रहते थे जो ऊपरी कक्ष में अनुष्ठान और नीचे के कक्ष में स्नान करते थे।

मोहेंजोदड़ो की विशाल इमारत के पश्चिम की खुदाई में एक अन्य महत्त्वपूर्ण इमारत के अवशेष मिले हैं (चित्र 10)। इसको 1. 52 मीटर ऊंचे पक्की ईंटों से बनाये

गये चबूतरों पर बनाया गया था। यह इमारत पूर्व से पश्चिम 45. 72 मीटर लंबी और उत्तर से दक्षिण की ओर 22. 86 मीटर चौड़ी है। इसका विस्तार दक्षिण की ओर होता रहा। संभवतः मूलतः इसमें 27 खंड थे। इन खंडों के बीच में संकरी खाली जगह छोड़ी गई थी जिससे वायु का संचार होता रहे। मार्शल के समय यह भवन अंशतः उद्घाटित हो पाया था और उनका मत था कि यह 'धूप–स्नान' के लिए किया गया होगा। किन्तु व्हीलर ने 1950 में इस पूरी इमारत के ऊपर से मलवा हटवाया और इसकी रूपरेखा का परीक्षण करके मत प्रकट किया कि यह भवन अन्नागार था, जो अधिक समीचीन लगता है। इस अन्नागार के विभिन्न खंडों में बीच में आड़े–तिरछे मार्ग हैं जिनसे वायु का संचरण होता था। इमारत के ऊपरी भाग के निर्माण में लकड़ी का प्रयोग हुआ था। इस चबूतरे तक अनाज से लदी बैलगाड़ियां आसानी से पहुंच सकती थीं। इसकी दीवारें तिर्यक हैं। इमारत के उत्तर दिशा में बने चबूतरे की दीवारें भी तिर्यक बनायी गयी थीं। इसमें आले बने थे। अन्न के गट्ठर को रस्सी से बांध कर ऊपरी मंजिल के चढ़ाने में इस ढाल से सुविधा रहती थी। इसी स्थल की गढ़ी के दक्षिण–पश्चिम बुर्ज की तरह इस उत्तरी चबूतरे के निर्माण में भी, कच्ची ईंटों से भवन–निर्माण की परंपरा के अनुसार, चिनाई में पक्की ईंटों के साथ लकड़ी का प्रयोग किया गया है।



चित्र 10 मोहेंजोदड़ो : अन्नागार

इस अन्नागार की इमारत मूल रूप में उसके समीप स्थित विशाल स्नानागार की इमारत से पुरानी थी क्योंकि बाद में स्नानागार की टोडी नाली बनाये जाने से अन्नागार की इमारत के चबूतरे का पूर्वी किनारा कट गया था जिसके सहारे कभी सामान चढ़ाया जाता था। लेकिन अन्नागार में दक्षिण की ओर जो कुछ और जोड़ा गया वह विशाल स्नानागार की इमारत का समकालीन था।

प्राचीन समय में अन्नागारों के महत्त्व की चर्चा इसी पुस्तक में अन्यत्र की गई है। अन्नागार की विशाल रूप–रेखा और उसमें वायु–संचरण की सुविधा तथा दुर्ग के बाहर से सामान चढ़ाने की व्यवस्था का होना महत्त्वपूर्ण है। हड़प्पा में अन्नागार की इमारत दुर्ग के पास ही पायी गयी है। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो दोनों नगरों के अन्नागारों का क्षेत्रफल लगभग बराबर है। किंतु यह उल्लेखनीय है कि अभी भी केन्योर

और कुछ अन्य विद्वान् इस इमारत को अन्नागार के रूप में पहचानने में संदेह व्यक्त करते हैं।

मोहेंजोदड़ों में सीढ़ियां (चित्र 11) भलीभंति बनायी गयी थीं। यहां के अन्नागार की इमारत के दक्षिण में विशाल सीढ़ी की मात्र रूप–रेखा अवशिष्ट पायी गयी है (चित्र 11)। जहां पर सीढ़ी आरंभ होती है वहां पर इसकी चौड़ाई 6. 7 मीटर के लगभग है। सीढ़ी के तल पर एक कुआं है और आस–पास दो अन्य कुएं। अंतिम सीढ़ी के पास एक छोटा स्नानकक्ष था। इस स्थान पर बड़ी सीढ़ी का क्या महत्त्व था, यह ठीक–ठीक अनुमान लगाना कठिन है, किन्तु उसके समीप बनाये गये कुएं और स्नानकक्ष को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान लगाया गया है कि उसका संबंध किसी ऐसे अनुष्ठान से था जिसमें स्नान करना आवश्यक था।



चित्र 11 मोहेंजोदड़ो : सीढ़ी

विशाल स्नानागार भवन के उत्तर–पूर्व में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथा विशाल इमारत की रूप–रेखा मिली। इसका आकार 70. 1 X 23. 77 मीटर है। इसमें 10 मीटर वर्गाकार खुला हुआ आंगन था जिसके साथ ही तीन बरामदे और बैरक जैसे कुछ कमरे थे। कमरों का फर्श पक्की ईंटों से बनाया गया था। इसमें दो सीढ़ियां थीं। यह कोई महत्त्वपूर्ण इमारत लगती है। मकाइ का अनुमान है कि यह इमारत पुरोहित जैसे विशिष्ट लोगों का आवास रही होगी।

जिस स्थान पर कुषाणकालीन स्तूप है उसके नीचे किस तरह की इमारत के अवशेष हैं, अभी तक यह अज्ञात है, क्योंकि वहां पर उत्खनन नहीं किया गया है। इस स्थल का अत्यधिक ऊंचा होना इसके महत्त्व का द्योतक लगता है। कुछ विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि कुषाणकाल में इस स्थान को स्तूप निर्माण के लिए शायद इसलिए चुना गया हो कि उसके साथ प्राचीनकाल से धार्मिक स्थल होने की परंपरा चली आ रही थी। किन्तु इस संदर्भ में यह नहीं भूलना चाहिए कि सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण और कुषाणकाल के प्रारंभ होने के मध्य लगभग डेढ़ हजार वर्षों का अन्तराल है, और

इस लम्बी अवधि में इस स्थल के धार्मिक होने के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती।

इसी स्तूप की उत्तर दिशा में सिंधु सभ्यता कालीन एक अन्य विशाल इमारत की पश्चिमी तथा दक्षिणी दीवार का खण्डित भाग है। प्राचीन उर में मन्दिर के पास स्थित इमारतों में मंदिर को कर के रूप में मिली वस्तुओं को संग्रहीत करके रखा जाता था। यदि स्तूप के नीचे मंदिर होने का अनुमान सही है तो इस इमारत का भी कदाचित् इसी तरह उपयोग किया जाता रहा होगा।

मोहेंजोदड़ो की गढ़ी के दक्षिण में लगभग 27. 43 मीटर वर्गाकार प्रशाल के अवशेष मिले है जो मूलतः 20 स्तंभों पर आधारित था। ये स्तंभ चार कतारों में हैं; प्रत्येक कतार में पांच स्तंभ हैं। इमारत तक पहुंचने के लिए उत्तरी छोर के मध्य से रास्ता था। फर्श भली–भांति बिछाई गई ईटों द्वारा कई गलियारों में बंटा था। इनका उपयोग संभवतः बैठने के लिए किया जाता था। इन गलियारों में मूलतः काठ की लम्बी और कम ऊंचाई वाली बेंचें लगी थीं। मार्शल ने इस तरह के निर्माण की तुलना बौद्ध गुफा–मन्दिरों से की है जिनमें बौद्ध भिक्षु लंबी कतारों में बैठते थे। मकाइ के अनुसार यह बाजार का हाल हो सकता है जहां दुकाने लगाने के लिए स्थायी रूप से स्टाल बनाये गये थे। व्हीलर ने इसके फारसी 'दरबारे आम' जैसी इमारत होने की ओर संकेत किया गया है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि पाटलिपुत्र (पटना) में स्तंभों पर आधारित मौर्यकालीन भवनों के जो अवशेष मिले हैं उनके बारे में यह सुझाव दिया गया है कि वे स्तंभों पर आधारित ईरानी भवनों की नकल थे। यह सुझाव सही है अथवा नहीं, यह कहना कठिन है, किंतु सिंधु सभ्यता के संदर्भ में इस तरह स्तंभों पर आधारित भवन के मिलने से अब हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि भारत में इस तरह के भवनों के निर्माण के उदाहरण ईरान में निर्मित ऐसे भवनों से काफी प्राचीन हैं। इस इमारत के पश्चिम में एक छोटी सी इमारत भी मूलतः स्तंभों पर ही आधारित थी। इस इमारत का ठीक तरह से उद्घाटन नहीं हो पाया है।

मोहेंजोदड़ो के गढ़ी वाले टीले के भवनों के बारे में विस्तृत जानकारी की प्राप्ति हेतु उसका वैज्ञाानिक विधि से विस्तृत रूप से उत्खनन आवश्यक है, तथपि जो जानकारी अब तक हुए उत्खननों से वहां के भवनों, विशाल स्नानागार, विशाल अन्नागार, कालेज भवन, स्तंभों पर आधारित भवन, और बुर्ज आदि के रूप में उपलब्ध है, वह गढ़ी की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है।

मोहेंजोदड़ो में गढ़ी के समीप में स्थित टीले के खोदाई से निचले नगर के विषय में जानकारी मिली है (चित्र 12)। डेल्स द्वारा 1964–65 में किये गये उत्खननों में इस तरह के साक्ष्य मिले हैं जिनसे लगता है कि नगर के इस भाग को भी सुरक्षा दीवार से घेरा गया था। यह कहना कठिन है कि यह दीवार बाढ़ से सुरक्षा के लिए थी अथवा आक्रमण से बचाव के लिए। डेल्स के उत्खननों से यह भी पता लगा है कि यहां पर नीचे के स्तरों में निर्माण कार्य के लिए ईंटों के साथ साथ लकड़ी की चिनाई

हुई थी। नगर का यह भाग पूर्व–नियोजित रूप–रेखा के अनुसार बसाया गया था और समकोण पर काटती सड़कों द्वारा खंडों में विभक्त था। ये खण्ड लगभग समान आकार



चित्र 12 मोहेंजोदड़ो : भवनों की रूपरेखा

के हैं जो माप में पूर्व–पश्चिम में 243. 84 मीटर और उत्तर दक्षिण में 365. 76 मीटर के लगभग हैं। खुदाई से 6 या 7 ऐसे खंड और दो मुख्य सड़कें, 'पूर्वी सड़क' और 'पहली सड़क' उद्घाटित हुए हैं। पिगट ने उपलब्ध साक्ष्यों से अनुमान लगाया है कि शायद मूलतः बारह खंड रहे होंगे जो पूर्व–पश्चिम की दिशा में तीन कतारों में थे। प्रत्येक कतार में चार खंड रहे होंगे और नगर करीब–करीब डेढ़ किलोमीटर लम्बे और डेढ़ किलोमीटर चौड़े वर्ग में बसा रहा होगा तथा इनमें से गढ़ी वाला टीला पश्चिम की ओर का मध्यवर्ती टीला रहा होगा। मुख्य सड़कें लगभग 9. 14 मीटर और गलियां लगभग 3 मीटर चौड़ी थीं।

उत्खननों से कुछ महत्त्वपूर्ण इमारतों के अवशेष प्रकाश में आये हैं। 'एच आर' क्षेत्र में उत्खनन से साधारण निवास–गृह के विषय में पर्याप्त सूचना प्राप्त हुई। इसमें प्रवेश के लिए गली से होकर एक छोटा सा द्वार था जो प्रवेश कक्ष में खुलता था जहां कुम्हारों का वास था। दीवारों पर मिट्टी के लेप के चिह्न मिलते हैं। दक्षिणी भाग में एक कुआं था। यहीं से एक रास्ता आंगन में पहुंचता था जो 10 मीटर वर्गाकार था।

कुएं वाले कमरे से सटा हुआ एक स्नानकक्ष था। दूसरे कमरे में, जो पूर्व में स्थित था, मिट्टी के पाइप की नाली थी जो सड़क की नाली से जुड़ी थी। ऊपरी मंजिल से आयी एक नाली पूर्वी आंगन में मिलती थी। दीवारें काफी मोटी हैं और इससे इस बात की पर्याप्त संभवाना है कि यह इमारत दो मंजिली थी और ऊपर की मंजिल तक सीढ़ियों द्वारा पहुंचा जाता था। अनुमानतः घर का अधिकांश काम–काज आंगन में ही होता रहा होगा। पश्चिम की ओर अंग्रेजी अक्षर 'एल' (L) की आकृति के गलियारे में एक कमरा है। यह भवन आंगन, कुआं, स्नानागार, ऊपरी मंजिल तथा नालियों के प्रबंध का एक अच्छा उदाहरण है।

निचले नगर के 'डी के' क्षेत्र के दक्षिणी भाग में पूर्व–पश्चिम में बनी लगभग 76. 2 मीटर लम्बी एक इमारत के भग्नावशेष प्रकाश में आये हैं। इसकी दीवारें अत्यंत मोटी (1 से 2. 13 मीटर तक) और ढलानदार हैं। मुख्यतः इसकी दीवारों की मोटाई के आधार पर मकाइ, इसे राजप्रासाद मानते हैं। राव का यह सुझाव उपयुक्त लगता है कि राजप्रसाद के मिलने की संभावना गढ़ी टीले पर है न कि निचले नगर में, और इसलिए यह इमारत किसी धनी नागरिक की हो सकती थी। इसके दो आंगन हैं जिनके बीच 1. 52 मीटर चौड़ा गलियारा है जिसमें प्रवेश के लिए 2. 43 मीटर चौड़ा द्वार है। जिस समय इसका निर्माण हुआ था उस समय उसमें तीन या चार प्रवेश–द्वार बनाये गये थे। किंतु आगे चलकर किसी अज्ञात कारण से एक को छोड़कर शेष सभी बन्द कर दिये गये। आंगन के पास वाले कमरे में दो कुएं हैं। इसके साथ ही फन्नीदार ईंटों से बनाये गये कुछ वृत्ताकार गढ़े हैं। ईंटों के अत्यधिक ताप से पकी होने से ज्ञात होता है कि इन गढ़ों में कोई वस्तु तेज आंच देकर पकायी गयी थी। दक्षिण पूर्वी कोने में जहां पर एक छोटा सा आंगन था, रोटी पकाने के लिए वृत्ताकार चूल्हे (तन्दूर) बने थे। ऊपरी मंजिल (या छत) में जाने के लिए सीढ़ियां थीं।

इस क्षेत्र के उत्तर में उस स्थान पर जहां 'केन्द्रीय सड़क' और 'निचली गली' मिलती थीं, एक अन्य महत्त्वपूर्ण इमारत थी। मकाइ ने इसे यात्रियों के ठहरने के लिए होटल होने का संकेत दिया है। वैसे यह धर्मशाला या सराय जैसी कोई इमारत हो सकती है। मोहेंजोदड़ो जैसे व्यावसायिक नगर में जहां देश–विदेश से यात्रियों का आना जाना लगा रहता था, इस तरह की इमारत का होना स्वाभाविक ही है। इस इमारत के मुख्य आवास की रूप–रेखा अंगेजी के L अक्षर की भांति बनायी गयी थी। इसमें कुआं, नालियां और शौचालय की व्यवस्था थी। कालांतर में पहले के प्रवेशद्वार को बंद करके दीवार काट कर दूसरा प्रवेशद्वार बनाया गया था।

पहली सड़क (फर्स्ट स्ट्रीट) के समीप ही लगभग 26. 51 x 19. 65 मीटर के क्षेत्र में एक अन्य इमारत के भग्नावशेष मिले हैं। इस इमारत के बीच में आंगन था जिसके चारों ओर कोष्ठावलियां बनीं थीं। सड़क की ओर कुछ ऐसे कक्ष थे जो उस स्थल के व्यावसायिक क्षेत्र होने की दिशा में संकेत करते हैं। तीन कमरों का फर्श

पक्की खड़ी ईंटों से बनाया गया था। संभवतः इनमें नुकीले पेंदे वाले बर्तन रखे जाते थे। एक कमरे में कुआं और सीढ़ी पास–पास हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यह भवन जलपानगृह था, जबकि कुछ के अनुसार इनमें रखे घड़ों का उपयोग वस्त्रों के रंगने के लिए किया जाता था।

'एच आर' क्षेत्र की दक्षिणी गली और एक अन्य गली, जिसे पुरातत्त्ववेत्ताओं ने 'मृतकों की गली' नाम दिया है, के मध्य 15. 85 x 12. 19 मीटर आकार की एक इमारत के अवशेष मिले हैं। इसकी दीवारों की मोटाई लगभग 1. 21 मीटर है। दीवार की चिनाई में भरने के तौर पर कच्ची ईंटों का प्रयोग हुआ है। इस तक पहुंचने के लिए दक्षिणी किनारे पर दो सीढ़ियां एक दूसरे के समानान्तर बनाई गई थीं। एक द्वार था। इसके अन्दर की ओर 1. 21 मीटर व्यास वाला ईंटों का एक चबूतरा था जो संभवतः पवित्र वृक्षों का बाड़ा रहा होगा। यहीं पास में सफेद चूना पत्थर का दाढ़ीयुक्त सिर जो आकार में 17. 15 सेमी है, तथा एक अलाबास्टर पत्थर की सिर रहित 41. 9 सेमी ऊंची मनुष्य आकृति मिली हैं। इस सिर रहित मूर्ति के दो टुकड़े बाद में कुछ दूरी पर मिले। मूर्तियों की प्राप्ति, भवन निर्माण की सुदृढ़ता, उसमें दो सीढ़ियों की व्यवस्था और वृक्षों अथवा मूर्तियों के लिए ईंटों के बाड़े से व्हीलर ने इस इमारत के देवालय होने का अनुमान लगाया है। वैसे इस भवन में न तो प्रार्थना–सभा और न वेदी होने का साक्ष्य मिला है। 'डी के' क्षेत्र में मिली एक अधूरी इमारत के बारे में, जिसकी दीवारें काफी मोटी और दृढ़ थीं, मार्शल ने यह मत व्यक्त किया है कि कदाचित् वह भी देवालय रहा होगा। लेकिन मकाइ इससे भिन्न मत रखते हैं।

निचले नगर में लगभग 1. 37 मीटर मोटी दीवार की एक और इमारत 'एच आर' क्षेत्र में अनावृत्त की गई है। इसके आस–पास 2. 43 मीटर से 3 मीटर तक ऊंची एक दीवार है जो कच्ची ईंटों के चबूतरे को घेरे है। इन दीवारों पर संभवतः ऊपरी मंजिल भी थी। इस इमारत के बीच में एक आंगन है जिसके उत्तर और दक्षिण की ओर स्कंध हैं। दक्षिणी स्कंध में एक कुआं है। इसके भी धार्मिक इमारत होने का अनुमान लगाया गया है।

उपर्युक्त इमारत के सामने एक तंग गली है जिसे पार करने पर बैरकों का खण्ड मिलता है। इसमें 16 बैरकें हैं जो दो पंक्तियों में बनी हैं। उनके पिछवाड़े आमने सामने हैं। प्रत्येक बैरक में एक बड़ा और एक छोटा कमरा है। अधिकांश बड़े कमरों के किनारे पर स्नान करने के लिए व्यवस्था थी। इन कमरों का पानी एक नाली से

1. राव ने अपनी पुस्तक *'लोथल एण्ड द इंडस सिविलिजेशन'* में लिखा है कि मूलतः इस तरह के 64 ब्लाक थे जो 1930 वर्गमीटर के क्षेत्र में बने थे। उनके अनुसार यह भवन मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा के अन्नगारों से भी बड़ा था। उनका मत है कि सिंधु सभ्यता में यह अपने ढंग की सबसे बड़ी इमारत थी जिसका आर्थिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान था।

होकर बाहर रखे हुए मृद्भाण्ड में पहुंचता था। मृद्भाण्ड को टूटने से बचाने के लिए उसके चारों ओर ईंटों का घेरा बना दिया गया था। दक्षिणी किनारे के कमरे में एक कुआं भी था। एक कुआं तो बीच रास्ते में पड़ता था। मकाइ इन इमारतों को दुकानें मानते हैं, किंतु जैसा कि पिगट ने सुझाया है, ये श्रमिकों के आवास भी हो सकते हैं। हड़प्पा नगर में इस तरह के आवास मिले भी हैं। यदि इसके सामने की इमारत देवालय थी तो मिस्र के साक्ष्य के आधार पर (जहां मंदिरों से संबद्ध विभिन्न श्रम–कार्यों के लिए दास अथवा अर्द्ध–दास होते थे), पिगट के सुझाव का समर्थन होता है। व्हीलर यद्यपि पिगट के इस सुझाव को तर्कपूर्ण मानते हैं तथापि उन्होंने दो और संभावनाएं भी रक्खीं हैं। उनके अनुसार ये पुलिस के बैरक अथवा किसी पुरोहित वर्ग के निवास भी हो सकते हैं।

नौशारो

नौशारो के द्वितीय प्रकाल की बस्ती सिंधु सभ्यता के नगर के रूप में विकसित हुई। बस्ती टीले के दक्षिणी भाग में बसी , उत्तरी भाग को छोड़ दिया गया। आवास मुख्य रूप से कच्ची ईंटों से बनाये गये। आवास स्थल के दक्षिणी किनारे पर कच्ची ईंट की दीवाल मिली जो 3. 5 से 6. 85 मीटर तक चौड़ी थी, और जिसकी विद्यमान ऊंचाई 3. 8 मीटर थी। दीवाल बाहर और अन्दर से तिर्यक थी। इसे दोनों ओर प्लास्टर किया गया था। इसके साथ कोई इमारत सम्बद्ध नहीं थी, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि इसका निर्माण सुरक्षा दीवार के रूप में किया गया था। कुछ भाग में यह नष्ट हो गयी है, एक स्थान पर इसमें द्वार भी मिला है। इस दीवाल के पूर्वी और पश्चिमी छोर में टीले के क्षरण हो जाने से निर्माण सम्बन्धी कोई जानकारी नहीं मिल सकी। उत्तर दिशा में पूर्वकाल में बनी दीवाल इसी से जुड़ी थी। दक्षिणी दीवाल में 3. 12 मीटर चौड़ा द्वार था।

नौशारो की सिंधु सभ्यताकालीन बस्ती अन्य नगरों की भांति सुनियोजित ढंग से बसायी गयी थी। नगर में सड़कें तथा गलियां एक दूसरे को समकोण पर काटती थीं। रक्षा प्राचीर के साथ–साथ उत्तर तथा दक्षिण में अन्दर की ओर गली रही थी। नगर में पांच बार क्रमशः मकानों का निर्माण हुआ किन्तु किसी भी काल में भवन सड़कों तथा गलियों पर निर्मित नहीं किये गये। अधिकांशतः मकानों में आंगन के इर्द–गिर्द कमरे बनाये गये। संग्रह के लिए मटके रखे थे। सभी भवनों में अग्नि स्थल के लिए जगह थी।

नौशारो के मकानों का निर्माण कच्ची ईंटों से किया गया था। किन्तु पांचवें निर्माण काल में एक नाली का निर्माण पकी ईंटों से किया गया। इसी निर्माण काल का एक भट्ठा मिला और इस पर पकाये जाने वाले मिट्टी के बर्तन का कक्ष आधारित था। यह दहनकक्ष खम्भों पर आधारित था। तृतीय काल में संस्कृति का क्रम बना रहा लेकिन भवन पूर्वकाल की सीध में छोड़कर नयी सीध मे बनाया। नौशारो के तृतीय

काल के भवन उत्तर–दक्षिण, पूर्व–पश्चिम दिशाओं में बने थे। एक 5 मीटर चौड़ी सड़क और एक 1. 5 मीटर चौड़ी गली पायी गयी। इन मकानों में आंगन और रहने तथा संग्रह के लिए कमरे बने थे। अधिकांश भवनों में कच्ची ईंटों से बने अग्निस्थल पाये गये। ये अग्नि स्थल दो भागों में थे। उत्तरी भाग वर्गाकार था जिसमें मटका रखते थे। दक्षिणी आयताकार भाग में राख मिली।

नौशारो के तृतीय काल के प्रारंभ की तिथि लगभग 2580 ई. पू. के आस पास हैं और यह तथा द्वितीय काल अत्यन्त विकसित हड़प्पा संस्कृति के काल के हैं। नौशारो के चतुर्थ काल में कुछ तृतीय काल के भाण्ड प्रकार प्रचलित थे और कुछ नये।

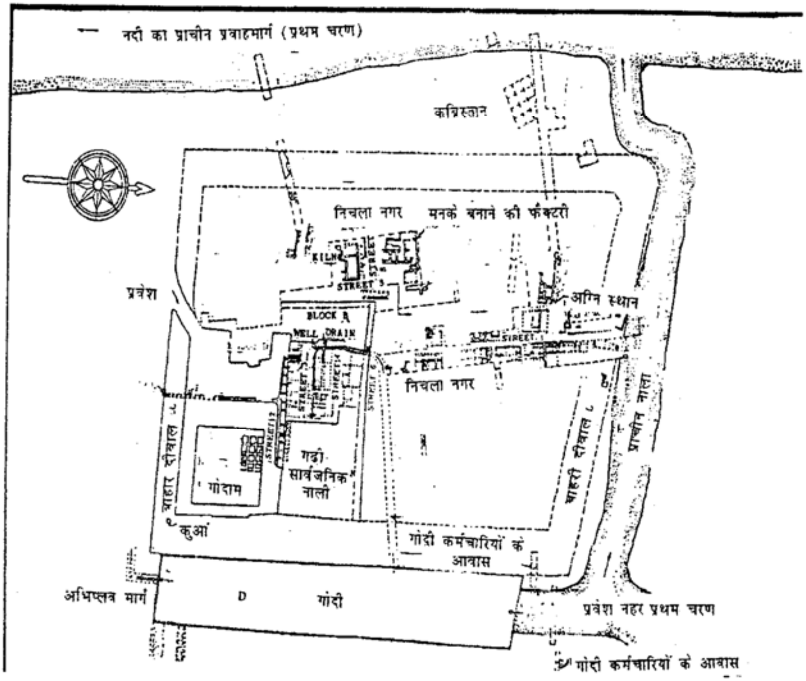
चन्हुदड़ो

चन्हुदड़ो में नगर के रक्षा दीवार से वेष्टित होने की जानकारी नहीं है। उत्खननों से सबसे नीचे की सतह (जहां तक खोदा जा सका है) में ईंटों के बने तीन या चार घरों और एक कुएं के अवशेष मिले हैं। इसके ऊपर निर्जन स्तर होने से स्पष्ट है कि चन्हुदड़ो कुछ समय के लिए निर्जन रहा और फिर जब इसका पुनर्निमाण हुआ तो भवनों को कच्ची ईंट के चबूतरे पर बनाया गया। एक 7. 62 मीटर चौड़ी सड़क थी, तथा मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा के समान ही यहां पर भी मकान सड़कों के दोनों ओर थे। इस मुख्य सड़क को समकोण पर काटती हुई गलियां थीं जिनमें निकास नालियों का सुन्दर प्रबंध था। विशाल संख्या में तांबे तथा कांसें की अधबनी गुरियां तथा गुरियों के पकाने की भट्ठी मिली है, साथ ही शंख और हड्डी का काम तथा मुद्रा–निर्माण के साक्ष्य भी मिले हैं। एक घर में तीन अर्द्धनिर्मित मुद्राएं मिलीं। यह मुद्रानिर्माता का घर रहा होगा। यहां पर बांटों का भी निर्माण होता था। इससे यह स्पष्ट है कि इस स्थल पर मुख्य रूप से कुलिकों की बस्ती थी। लगता है चन्हुदड़ो मुख्यतः औद्योगिक नगर था। सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण में केवल कुछ ठूंठ सी दीवारें मिली हैं जो साधारण कोटि के घरों की परिचायक हैं। किन्तु इस काल की एक दीवार लगभग 1. 52 मीटर मोटी और 24. 38 मीटर से अधिक लंबी है जिसे पूरा नहीं खोदा जा सका। ऐसा मत व्यक्त किया गया है कि ये दीवारें एक अन्नागार का अंग रही होंगी, किन्तु इसकी पुष्टि के लिए निश्चित साक्ष्य नहीं है। यहां पर सिंधु सभ्यता के अन्तिम चरण में लोगों ने उस तरह के उपकरणों का प्रयोग किया जिस तरह के सबसे पहले झूकड़ में मिले थे।

लोथल

लोथल का नगर भी हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो के समान ही सुनियोजित था (चित्र 13)। सड़कें और गलियां एक दूसरे को समकोण पर काटती थीं। यहां की नगर–निर्माण योजना और उपकरणों को देखकर ही इसे 'लघु हड़प्पा' या 'लघु

मोहेंजोदड़ो' कहा गया है।



चित्र 13 लोथल : नगर योजना

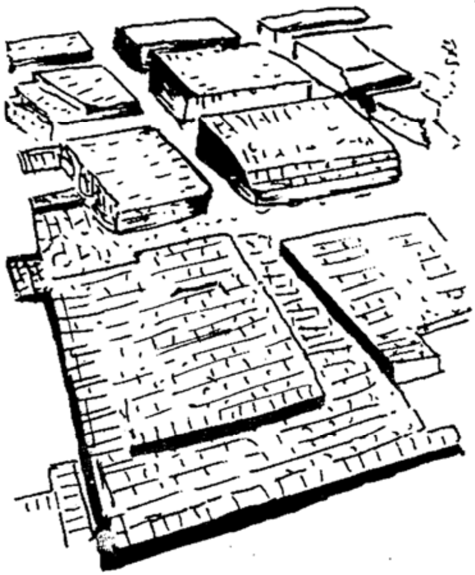
(एस. आर. राव के अनुसार)

राव का कहना है कि प्रारंभ में नगर उत्तर–दक्षिण में 300 मीटर चौड़े और पूर्व–पश्चिम में 400 मीटर लम्बे क्षेत्र में बसा था। कच्ची ईंटों की 13 मीटर चौड़ी एक सुरक्षा दीवार थी जो उत्तर की ओर पक्की ईंटों से मजबूत बनायी गयी थी। लेकिन तृतीय चरण में नगर इसके बाहर भी फैला, और दायरे में लगभग 2 किलोमीटर हो गया। लोथल में भी नगर के दो भाग थे – गढ़ी तथा निचला नगर। यहां पर दोनों एक ही सुरक्षा दीवार से वेष्टित थे। सुरक्षा दीवार में बुर्ज नहीं है जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि इसे कदाचित् बाढ़ से रक्षा के लिए किया गया था न कि बाहरी आक्रमण से सुरक्षा हेतु। इस दीवार के भीतर कच्ची ईंटों से बने ऊंचे चबूतरों पर घर बनाये गये थे। चबूतरों के सात खण्ड खुदाई में मिले। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि मूलतः पांच और खण्ड थे। कब्रिस्तान आवास क्षेत्र से अलग कुछ दूरी पर था। भवन साधारणतया कच्ची ईंटों के बने थे। केवल गोदी–बाड़ा और कुछ थोड़े से महत्त्वपूर्ण भवनों के निर्माण में ही पक्की ईंटों का प्रयोग हुआ था। नालियां और स्नानागार के

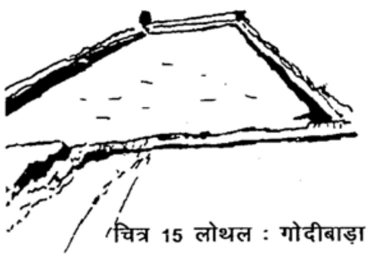
फर्शों के लिए पक्की ईंटों का ही प्रयोग होता था।

लोथल में गढ़ी समलंबक है। यह 117 मीटर पूर्व और पश्चिम में तथा 136 मीटर उत्तर में और 111 मीटर दक्षिण की ओर है। इसके खण्ड 'बी' में एक भवन 126 x 30 मीटर आकार का मिला है। यह भवन ऐसे स्थान पर स्थित था जहां से नौकाघाट, भाण्डागार तथा जहाजों के गमनागमन की निगरानी भलीभांति की जा सकती थी। राव का मत है कि यह शासक का भवन था। यहां पर कुआं, अत्युत्तम नालियां एवं कतिपय मकान थे। साधारण लोगों के घर ज्यादातर 9 x 5. 5 मीटर के थे; कुछ बड़े आवास 13 x 6 मीटर के थे।

गढ़ी में ही एक इमारत (चित्र 14) जिसका वर्तमान क्षेत्रफल 42. 67 x 18. 28 मीटर है, और 4 मीटर ऊंचे कच्ची ईंटों से निर्मित चबूतरे पर बनायी गयी थी। चबूतरा 48 x 40 x 4 मीटर आकार का था। इस चबूतरे पर कच्ची ईंटों से बने 12 घनाकार खंड चार पंक्तियों में हैं। प्रत्येक पंक्ति में तीन खण्ड हैं। शि० रंगनाथ राव के अनुसार मूलतः 64 खण्ड थे। इन खण्डों के बीच लगभग 1. 06 मीटर चौड़ी नालियां बनाई गई थी। ये नालियां उत्तर दिशा में बनी पक्की नाली से मिलती थीं। नालियों और घनाकार खण्डों की ईंटें आग के प्रभाव से लाल हो गयी हैं। इन नालियों में पक्की मिट्टी के खण्ड, त्रिभुजाकार मृत्पिण्ड, गोलियां, मिट्टी के चोंगे (सिलिंडर) और पर्याप्त मात्रा में राख पाई गई है। दक्षिण की ओर पूर्वी छोर वाली नाली के भीतर सिंधु सभ्यता की मुहरों की लगभग 70 छापें मिली हैं। पहले लोथल के उत्खनन के निदेशक शि० रंगनाथ राव ने सुझाया था कि उपर्युक्त निमाण–कार्य सिंधु–सभ्यता कालीन भट्ठे के द्योतक हैं। व्हीलर ने उन्हें अन्नागार के भवन का अंग



चित्र 14 लोथल : अन्नागार



चित्र 15 लोथल : गोदीबाड़ा

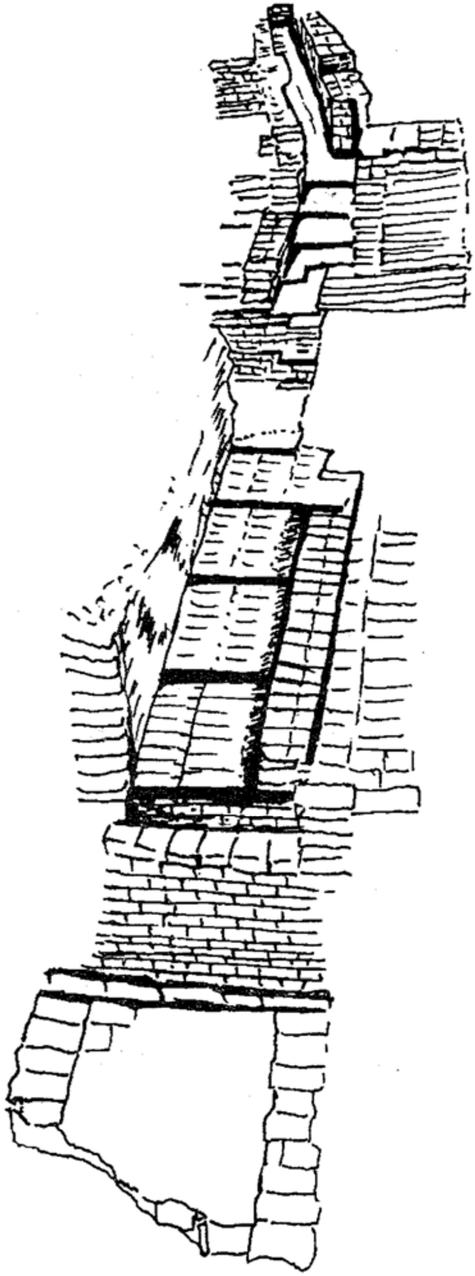
माना है। उनका कहना है कि अन्नागार भवन लकड़ी का बना था जो जल गया। अन्न के गट्ठरों के जलने के कारण उन पर लगीं मोहरें गिर गयीं। इन मुहरों के पृष्ठ भाग की ओर बण्डल पर लपेटे कपड़े और उसे बांधने के लिए प्रयुक्त डोरी के निशान हैं। राव ने बाद में अपने मत में कुछ संशोधन किया और अब उनका विचार है कि वह मूलतः भाण्डागार की इमारत थी, किन्तु परवर्ती काल में इसका भट्ठे के रूप में उपयोग किया गया। इस इमारत के अवशेषों के सामने ही एक चबूतरा था। इसके ऊपर निर्मित भवन अब नष्ट हो गये हैं, किंतु अनुमान है कि वे भी महत्त्वपूर्ण रहे होंगे।

लोथल की तीन इमारतों में पशुओं की हड्डियां, तांबा, कांचली मिट्टी के मनके, मिट्टी की चूड़ियां और कुछ मृद्भाण्ड पाये गये हैं। एक में तो जली हुई हड्डी, सोने का एक आभूषण और कुछ मनके मिले हैं। हो सकता है इन इमारतों का कोई धार्मिक महत्त्व रहा हो। वहां के अनेक मकानों में वृत्ताकर या चतुर्भुजाकार 'अग्नि स्थल' पाये गये हैं जिनमें राख के साथ मृत्पिंड भी मिले हैं। शायद इसका उपयोग यज्ञ जैसे अनुष्ठान के लिए था (विस्तार के लिये देखिये अध्याय 'धार्मिक जीवन')।

राव के अनुसार निचला नगर विस्तार में गढ़ी से कम से कम तिगुना था। इसमें उत्तर की ओर बाजार, पश्चिम की ओर व्यावसायिक निर्माण, और उत्तर–पश्चिम में निजी आवास–गृहों के अवशेष हैं। यह नगर कच्ची ईंटों के चबूतरे पर बना था। राव के अनुसार यह लगभग आयताकार रहा होगा। निचले नगर में चार खंड मिले हैं जो कि सड़कों द्वारा एक दूसरे से अलग थे। राव का मत है कि मूलतः कई और खंड भी थे। खुदाई से चार सड़कों का पता चला है जिनमें से दो उत्तर–दक्षिण को और दो पूर्व–पश्चिम को जाती थीं। एक सड़क के एक ओर 12 मकानों की रूपरेखा की जानकारी मिली है। दूसरी सड़क के दोनों ओर दो–तीन कमरे वाले छोटे–छोटे मकान मिले हैं। शायद ये दुकानें थीं। कुछ चार या पांच कमरे वाले मकानों की रूपरेखा भी मिली है। दीवारें आधा मीटर या उससे भी कुछ अधिक मोटी थीं। कुछ के आगे बरामदा है, जबकि कुछ अन्य के बीच में आंगन और चारों ओर कमरे थे। लोथल में घर बनाने के लिए कच्ची और पक्की दोनों ही तरह की ईंटों का उपयोग हुआ था। टमटों और मनके बनाने वालों के घर अपेक्षाकृत छोटे थे और वे कच्ची ईंटों के बने थे। कच्ची ईंटों की एक इमारत मिली है जिसके मध्य में आंगन और विभिन्न आकार के ग्यारह कमरे मिले हैं; साथ ही रक्षक का कमरा और भंडार कक्ष भी था। दो मिट्टी के बर्तनों में कीमती पत्थरों के छः सौ अर्ध–निर्मित मनके मिले और दो बर्तनों में मनका बनाने के लिए कच्चा माल (पत्थर) भी। लगता है कि मनके बनाने वाले इन कमरों में रहते थे और आंगन में सामूहिक रूप से मनके बनाते थे। तांबे का काम करने वालों के कारखाने का स्थल भी मिला है। मकान कहीं सड़क के दोनों ओर और कहीं एक ही ओर बनाये गये थे। एक मकान जिसकी दीवार एक मीटर मोटी थी धार्मिक कार्य के लिए था क्योंकि उसमें अग्निपूजा के साक्ष्य मिलते हैं। एक मकान, जो किसी धनी

व्यापारी का लगता है, में मूलतः तीन कमरे थे और तीन कमरे बाद में जोड़े गये। इस घर में नौ सोने के बड़े मनके, चार सेलखड़ी की मुद्राएं और कई कीमती पत्थर से बने मनके मिले। इस घर में अक्षीय नली वाले सोने के मनके तथा 'रिजर्व्ड स्लिप' वाले बर्तनों के पाये जाने के आधार पर राव ने इसके मालिक के मेसोपोटामिया से व्यापार करने वाला होने की संभावना व्यक्त की है। लोथल का सबसे महत्त्वपूर्ण स्मारक गोदी–बाड़ा (चित्र 15) है। इसका विस्तृत विवरण इसी पुस्तक में परिशिष्ट के रूप में दिया गया है।

नालियों का बहुत सुन्दर प्रबंध था (चित्र 16)। घरों से छोटी–छोटी नालियों का निकल कर बड़ी नाली में मिलना, ढाल पर नालियों का सीढ़ीदार होना, सफाई की दृष्टि से बीच में नरमोखों का होना, सार्वजनिक नाली में जालीदार किवाड़ की व्यवस्था होना जिससे पानी छनकर निकले और कचड़ा रुक जाये, लोथल की नालियों के अत्यंत विकसित प्रकार के होने तथा वहां के निवासियों की नियोजित योजना और सफाई के प्रति सजगता के प्रमाण हैं तथा सशक्त

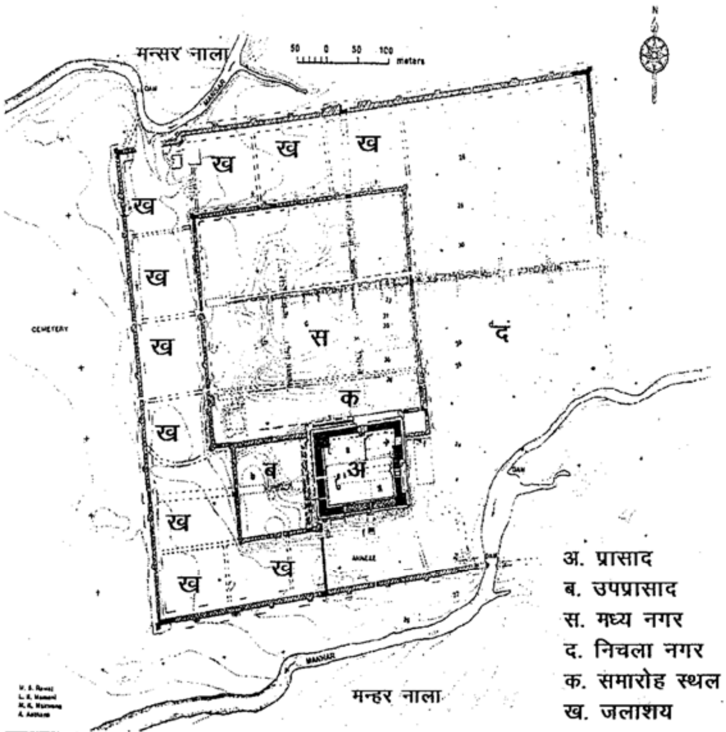


चित्र 16 लोंथल : पक्की ढलानदार नाली

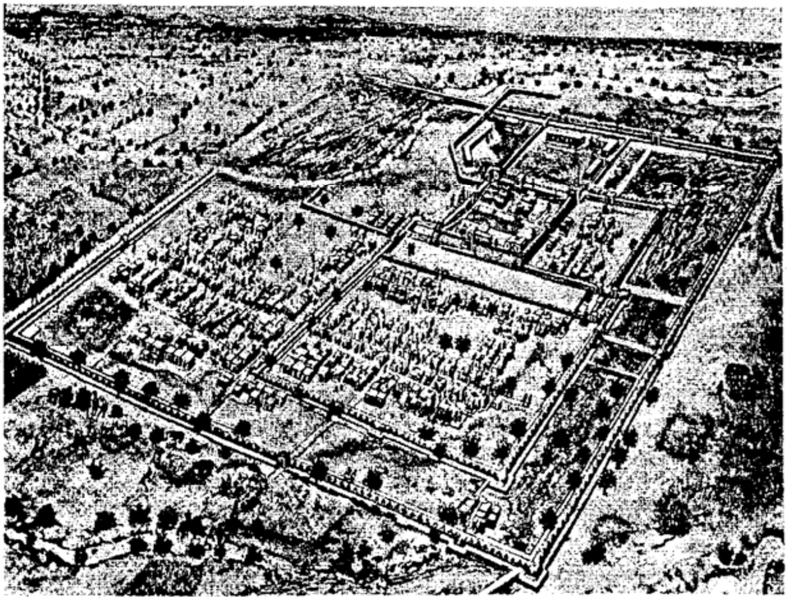
नागरिक संगठन के परिचायक हैं। लोथल के कुछ स्नानागारों की ईंटों को डामर से आच्छादित किया गया था। कुछ भवनों में शौचालय भी थे और उनके साथ शोष–गर्त भी बने थे।

इतने सुनियोजित भवन और इतनी सीधी दीवार बनाना बिना दिशा–मापक यंत्र, साहुल और पैमाने के संभव न था। एक छोटा सा उपकरण मिला है जिसका संभवतः दिशा–मापक की तरह उपयोग होता रहा होगा। पैमाने तथा मिट्टी के बने साहुल भी मिले हैं। अंतिम काल में भवन–निर्माण में ह्रास के चिह्न स्पष्ट दिखते हैं।

लोथल के प्रथम प्रकाल में नगर–निर्माण में काफी सतर्कता बरती गयी, किंतु द्वितीय प्रकाल में इस दिशा में ह्रास दिखलाई देता है। बाढ़ से सुरक्षा के यथासंभव प्रयास किये जाने के बावजूद उसके प्रकोप से मुक्ति नहीं मिली और क्षतिग्रस्त भवनों के पुनर्निर्माण का सिलसिला चलता रहा। शि0 रंगनाथ राव के अनुसार एक बाढ़ तो इतनी भयानक थी कि जनसंख्या का एक विशाल भाग लोथल छोड़कर रंगपुर में आकर बस गया।



चित्र 17 धौलावीरा : उत्खनन से ज्ञात नगर योजना (आर. एस. बिष्ट के अनुसार)

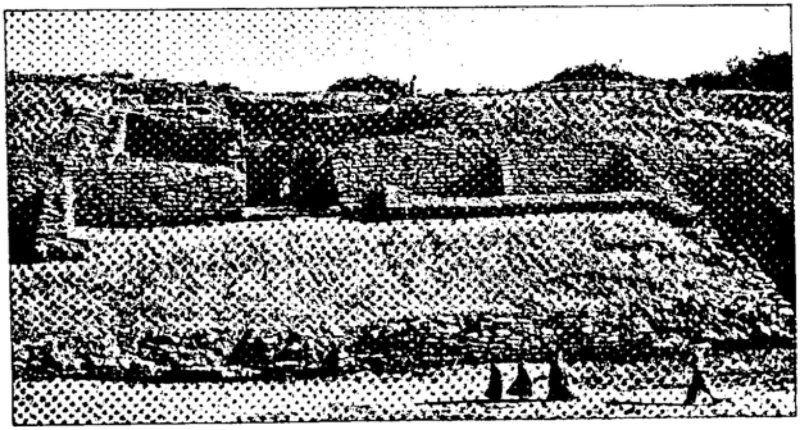


चित्र 18 धौलावीरा : मूल नगर योजना का अनुमानित स्वरूप (आर. एस. बिष्ट के अनुसार)

धौलावीरा

धौलावीरा की नगर योजना के मुख्य अंग थे – गढ़ी, मध्य नगर तथा निचला नगर (चित्र 17, 18)। यह तीनों एक साझी रक्षा दीवार से वेष्टित थे। सुरक्षा दीवाल कच्ची ईंटों की बनी थी और कुछ जगहों पर गढ़े तथा अनगढ़े पत्थरों का भी उपयोग रद्दे के तौर पर किया गया। सुरक्षा दीवाल में बुर्ज भी मिले। रक्षा प्राचीर उत्तर दिशा में पूर्व से पश्चिम लगभग 780 मीटर और पश्चिम दिशा में उत्तर से दक्षिण 630 मीटर है। दक्षिणी दीवार 600 मीटर तथा पूर्वी दीवार 210 मीटर पायी गयी। गढ़ी नगर के केन्द्र में नहीं थी। गढ़ी और मध्य नगर दोनों अलग–अलग दीवालों से घिरी स्वतंत्र इकाइयां थी। किंतु इन दोनों के मध्य एक साझी दीवाल थी। यह उल्लेखनीय है कि सबसे बाहर सुरक्षा दीवाल और मध्य नगर तथा उत्तरी पश्चिमी दीवाल, और सुरक्षा दीवार से वेष्टित प्रांगण के बीच तथा किले की दक्षिणी दीवाल और उपप्रासाद(चित्र 17) तथा प्रासाद (चित्र 17) के बीच खाली जगह है। उत्खनन निदेशक बिष्ट के अनुसार इस खाली जगह का उपयोग जल–संचय हेतु बांधों के लिए था जिनकी मेड़ों का मार्ग की तरह भी प्रयोग होता था। मध्य नगर के उत्तर, पूर्व तथा पश्चिम में अपनी अलग दीवाल थी। लेकिन दक्षिण में गढ़ी के साथ साझी दीवाल थी। मध्य नगर और गढ़ी के बीच अनावासित खण्ड का उपयोग स्टेडियम की तरह समारोह आयोजित करने के लिए किया जाता था। बाद में मध्य नगर को, पता नही किन कारणों से एक

पूर्वी–पश्चिमी दीवाल से विभाजित किया गया था (चित्र 18)।

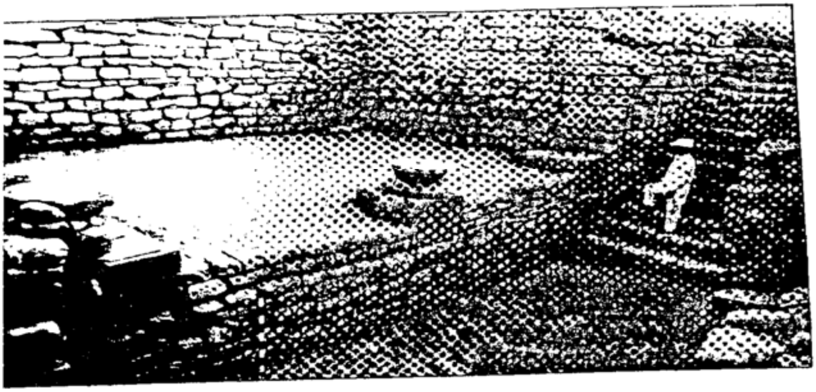


चित्र 19 धौलावीरा : गढ़ी का उत्तरी द्वार



चित्र 20 धौलावीरा : उत्तरी द्वार की सीढ़ी

गढ़ी का पूर्वी क्षेत्र दुर्ग के रूप में था और पश्चिमी क्षेत्र दुर्ग का प्रांगण। दोनों ही रक्षा दीवार से वेष्टित थे। दुर्ग सतह से लगभग 18 मीटर ऊंचा था और यहां से मध्य नगर तथा निचले नगर को अनुशासित करने में सहूलियत रही थी। दुर्ग की प्रत्येक दिशा की दीवाल में द्वार था (चित्र 19)। द्वार में प्रवेश तथा उससे निकास के लिए सीढ़ी थी (चित्र 20)। सबसे निचली सीढ़ी से एक 7 मीटर चौड़ा मार्ग था। इस



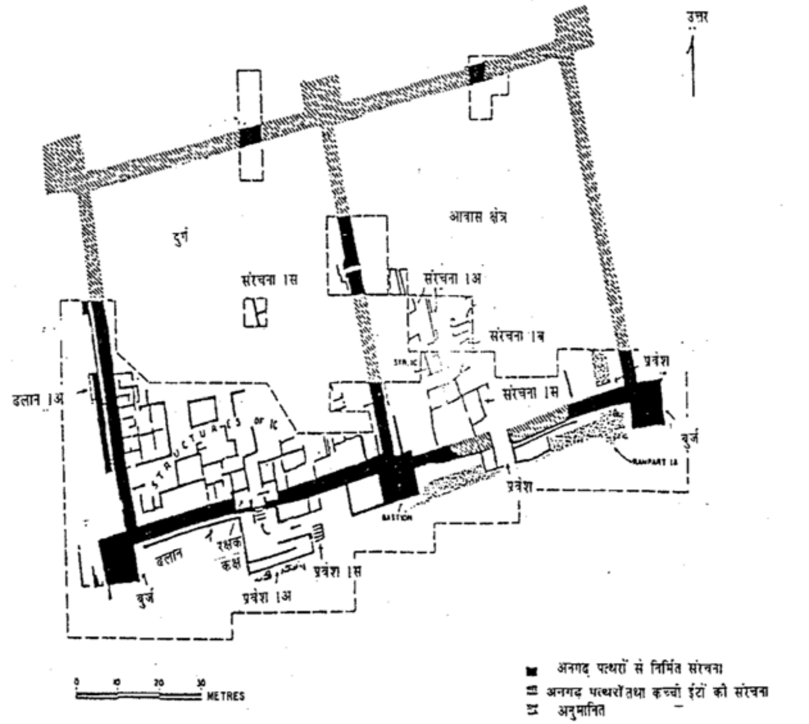
चित्र 21 धौलावीरा : गढ़ी की पूर्वी द्वार के स्तम्भों के आधार

मार्ग के किनारे की दीवालों से संबद्ध पालिश किये पाषाण स्तंभों के खण्ड मिले (चित्र 21)। यह परवर्ती काल के मौर्य स्तंभों की भांति कलात्मक हैं। यहीं पर किसी क्रिस्टली वस्तु द्वारा निर्मित सिंधु सभ्यता की लिपि के बड़े आकार में 10 चिह्न प्राप्त हुए। चिह्नों की ऊंचाई 35–37 सेमी. और चौड़ाई 25–27 सेमी0 है। इन्हें लकड़ी के पट्ट पर आधारित किया गया था जिसके निशान उत्खनन में प्राप्त हुए हैं। यह संभवतः नगर, अथवा शासक का नामपट्ट रहा होगा। इस चरण का नगर जीवन से पूर्वकालीन संबंध नहीं था।

धौलावीरा के सिंधु सभ्यता कालीन नगर की प्रमुख विशेषता वहां जल का संरक्षण करना था। उत्खननकर्ता बिष्ट के अनुसार कच्छ में भूमिगत जल पीने योग्य नहीं था। वहां न कोई नदी है न झील और न ही झरना। खदिर द्वीप में जहां धौलावीरा स्थित है मात्र 62 मिलीमीटर वार्षिक वर्षा होती है। यहां मन्हर और मन्सर नामक दो बरसाती नाले हैं। सिंधु सभ्यता काल में इनके जल का संरक्षण करने के लिए 16 जलाशयों का निर्माण किया गया जो लगभग 16 हेक्टेअर भूमि में हैं। दो जलाशय विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। एक दुर्ग के पूर्व में छोटे स्टेडियम के पास था। इसके उत्तरी किनारे पर 31 सीढ़ियां पहाड़ी के कटे तल तक बनी थीं। यह जलाशय लगभग उत्तर–दक्षिण में 70 मीटर लम्बा है, 24 मीटर चौड़ा और 7. 50 मीटर गहरा था। पूर्व में इसे 5 मीटर गहरा ही खोदा गया। इसका उत्खनन कुशल कारीगरी का नमूना है। दूसरा तालाब पहाड़ में काटा गया था। यह विशाल तालाब दुर्ग और उपभवन के बीच स्थित था। यह पूर्व से पश्चिम में 95 मीटर पाया गया। पश्चिम में ऊपरी भाग 11. 42 मीटर और निचला भाग 10. 80 मीटर था। यह एक नाली से जुड़ा था जिससे एक जलाशय के भर जाने पर पानी दूसरे जलाशय में जा सके।

धौलावीरा के अवशेषों में एक कुआं 4. 25 मीटर व्यास वाला मिला जो 13.60

मीटर गहरा था। दक्षिण–पश्चिम में एक पत्थर के खण्डों से बनी नांद थी जिस पर लम्बे काल तक प्रयोग के कारण रस्सी घिसने से बने निशान पाये गये। पास ही खम्भे के अवशेष मिले। समीप ही एक विशाल तालाब था जिसमें कुएं से निकाल कर पानी नाली द्वारा भरा जाता था। इस उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि धौलावीरा के उत्खनन से सिंधु सभ्यता के नगर–नियोजन के संबंध में कई नये तथ्य प्राप्त हुए। ये इस बात के द्योतक है कि क्षेत्रीय वातावरण तथा परिस्थितियों के कारण सामान्य



चित्र 22 सुरकोटड़ा : नगर योजना (जे. पी. जोशी के अनुसार)

सिंधु नगर–योजना में आवश्कतानुसार परिवर्तन किए गये।

सुरकोटड़ा

सुरकोटड़ा में गढ़ी और नगर की योजना (चित्र 22) अन्य नगरों से कुछ भिन्न थी। इसमें गढ़ी और निचला नगर एक दूसरे से जुड़े हुए थे। दोनों का विस्तार क्षेत्र लगभग बराबर 60 x 65 मीटर था। दक्षिण दिशा में दो द्वार थे। एक गढ़ी में प्रवेश हेतु और दूसरा निचले नगर में। गढ़ी और निचले नगर के मध्य की दीवाल में एक द्वार

था जो दोनों के बीच सम्पर्क का सूत्र था। सुरक्षा दीवार प्रथम चरण में बनी और



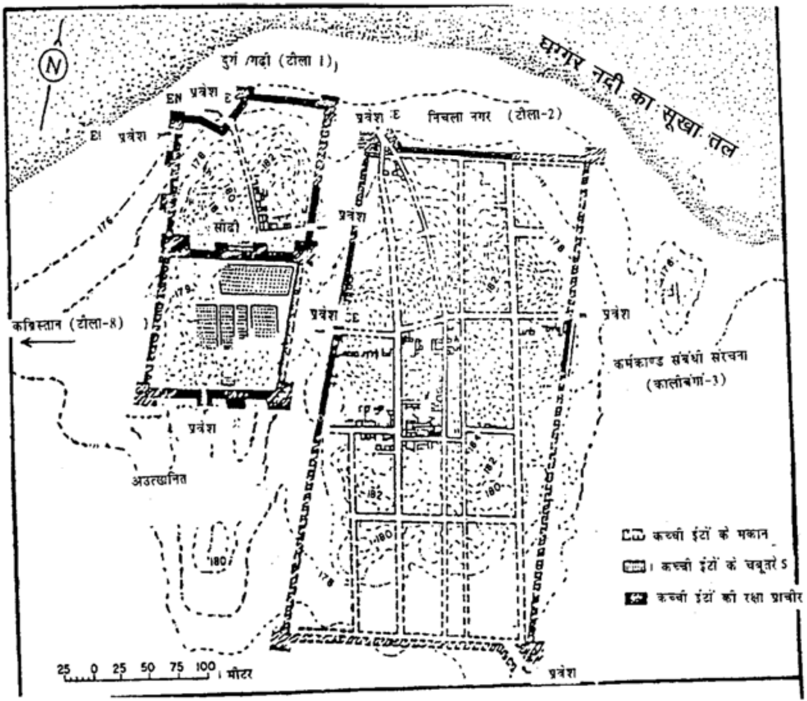
चित्र 23 सुरकोटड़ा : सुरक्षा दीवार

परिवर्तन तथा परिवर्धन के साथ अन्तिम चरण तक बनी रही। पहले चरण में इसे कच्ची ईंटों का बनाया गया और पत्थर के रद्दों का सहारा देकर 7 मीटर चौड़ा बनाया गया । इस पर 5 सेमी लेप लगाया गया। तृतीय चरण में सुरक्षा दीवाल (चित्र 23) पत्थर की बनी किन्तु अब वह चौड़ाई में मूल की आधी ही रह गयी। साथ ही सीढ़ियां, चौकीदार के कक्ष और बुर्ज बने थे। यह कहना कठिन है कि पूरी बस्ती इस छोटे से घिरे हुए क्षेत्र के बीच बसी थी, या इसके बाहर भी थी। इसमें छोटे क्षेत्र को देखकर संभावना व्यक्त की गयी है कि यह या तो व्यापारियों या शासकों की बस्ती थी। गढ़ी में नौ कमरे वाले मकान के अवशेष मिले। आवास क्षेत्र में कुछ छोटे तथा कुछ पांच कमरे वाले घर पाये गये। सड़क की ओर चबूतरे बने थे। कई घरों की नींव पत्थर की थी। घरों में स्नानागार और नालियों का प्राविधान था।

कालीबंगां

कुछ पुराविदों के अनुसार कालीबंगां संभवतः 'सिंधु साम्राज्य' (?) के एक प्रांत की अथवा उस संस्कृति के एक छोटे राज्य की राजधानी थी जहां से सरस्वती की घाटी का समीपवर्ती क्षेत्र शासित होता था। कालीबंगां में पर्याप्त विस्तार से खुदाई हुई है। यहां पर आवासित क्षेत्र लगभग 1. 5 किलोमीटर था। यहां का पश्चिमी टीला जिसे 'कालीबंगां–1' नाम दिया गया है, लगभग 12 मीटर ऊंचा है और समानान्तर चतुर्भुज

के आकार में 250 मीटर उत्तर–दक्षिण और 180 मीटर पूर्व–पश्चिम में विस्तृत (चित्र 24) है। इसमें निचले स्तरों में प्राग्सिंधु–सभ्यता कालीन अवशेष पाये गये हैं। अप्रयुक्ता धरती के ऊपर औसतन 1. 6 मीटर तक मोटे जमाव पाये गये हैं। इस बात के साक्ष्य हैं कि प्राग्सिंधु सभ्यता भूकम्प जैसी किसी प्राकृतिक दुर्घटना से क्षति पहुंचने के कारण लगभग 2700–2600 ई. पू. नष्ट हुई और स्थल वीरान हो गया। समय के साथ ध्वंसावशेषों पर बालू की तह जम गई जो संभवतः नदी में आयी बाढ़ का परिणाम था। कुछ काल व्यवधान के पश्चात् यहां पर जो लोग बसे उनकी भौतिक सामग्री विकसित सिंधु सभ्यता प्रकार की थी। उन्होंने मिट्टी तथा कच्ची ईंटों के चबूतरे बना



चित्र 24 कालीबंगां : नगर योजना (बी. बी. लाल के अनुसार)

कर उन पर इमारतों की नीवें रखी। इस काल में आवास–भूमि के क्षेत्रफल में विस्तार हुआ। यह इस बात का द्योतक है कि जनसंख्या में वृद्धि हुई।

विकसित सिंधु सभ्यता काल में आवास की योजना में परिवर्तन आया और 'गढ़ी' और 'निचला नगर' के रूप में नगर को बसाया गया जो हड़प्पा और माहेंजोदड़ो की नगर–योजना से मिलता–जुलता (चित्र 24) है। गढ़ी को उसी स्थान के ऊपर

बसाया गया जहां पर कि प्राक्–हड़प्पा अवशेष पाये गये हैं। ऐसा संभवतः उन्होंने इसलिए किया कि वह स्थल आवासित होने के कारण कुछ ऊंचा हो गया था और गढ़ी का ऊंचाई पर होना उसकी उपयोगिता को बढ़ा देता है। इसके चारों ओर रक्षा–प्राचीर बना दी गई जो 3 से 7 मीटर तक चौड़ी थी। इसमें प्रवेश के लिए चारों दिशाओं में द्वार बनाये गये थे। दक्षिणी द्वार के दोनों तरफ आरक्षक–कक्ष बने थे। गढ़ी को मध्य से पूर्व–पश्चिम दिशा में निर्मित एक लम्बी दीवार द्वारा दो भागों में बांट दिया गया था। यह विभाजन किस उद्देश्य से किया गया था यह कह सकना कठिन है। गढ़ी का विभाजन किये जाने का दृष्टांन्त धौलावीरा में भी मिलता है। गढ़ी की रक्षा प्राचीर मजबूत रहे इसका भी ध्यान रखा गया। इसीलिए उसमें स्थान–स्थान पर बुर्ज बनाये गये (चित्र 25)। गढ़ी की दीवार तथा बुर्ज कच्ची ईंटों से निर्मित किये गये थे। दीवार के निर्माण में दो आकार की ईंटें इस्तेमाल की गई हैं – 40 x 20 x 10 सेमी की और 30 x 15 x 7.5 सेमी.की। ईंटों के आकार में अंतर निर्माण के दो चरणों का द्योतक है – पहले चरण में बड़ी ईंटों का और दूसरे में छोटी ईंटों का इस्तेमाल हुआ है। दीवार के भीतरी भाग पर लिपाई की गयी थी। आगे चल कर सिंधु सभ्यता काल में ही इस रक्षा–प्राचीर का महत्त्व कम हो गया और शायद बुर्ज बाद में बनी इमारत के नीचे दब गया।



चित्र 25 कालीबंगां : गढ़ी की सुरक्षा दीवार तथा बुर्ज

कालीबंगां के गढ़ी वाले टीले के दक्षिण अर्धभाग में पांच या छह मिट्टी और कच्ची ईंटों के चबूतरे थे जो एक दूसरे से अलग और कुछ भिन्न थे। उनके बीच के मार्ग में भी भिन्नता थी। ये चबूतरे कहीं भी रक्षा–दीवार का अभिन्न अंग नहीं थे। ब्रजवासी लाल का सुझाव है कि ऐसा इसलिए किया गया कि लोग बिना दूसरे चबूतरे पर गये सीधे ही उस चबूतरे पर जा सकते थे जिस पर वह जाना चाहते थे। बाद के लोगों द्वारा ईंटें उखाड़ ली जाने के कारण इन चबूतरों के ऊपर निर्मित भवनों की रूपरेखा स्पष्ट नहीं है, तथापि जो भी साक्ष्य बचे हैं वे इस बात की ओर इंगित करते हैं कि इनमें से कुछ का धार्मिक प्रयोजन था। एक चबूतरे पर कुआं, अग्नि स्थान और

पक्की ईंटों से निर्मित एक आयताकार गर्त था जिसमें पशु हड्डियां थीं। दूसरे चबूतरे पर आयताकार सात अग्नि–वेदिकाएं एक कतार में थीं। गढ़ी के इस दक्षिणी अर्धभाग में जाने के लिए उत्तर और दक्षिण दिशा में सीढ़ियां थीं। उत्तरी दिशा का मार्ग विशिष्ट था और दुर्ग के दो बाहर निकलते हुए कोनों के मध्य से था। इन दोनों मार्गों की स्थिति और रूपरेखा से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि संभवतः दक्षिणी मार्ग निचले नगर के साधारण जनों के आवागमन के लिए था और उत्तरी मार्ग गढ़ी के उत्तरी भाग में रहने वाले संभ्रान्त व्यक्तियों के लिये। गढ़ी के उत्तरी अर्द्धभाग में संभ्रान्त जनों के आवास थे और उसकी सड़क निर्माण योजना विशिष्ट ढंग की थी। इस भाग में प्रवेश करने के लिए तीन या चार मार्ग थे। कालीबंगां में गढ़ी पर धार्मिक अनुष्ठानों से सम्बद्ध होने के साक्ष्य को देखते हुए पुराविदों का अनुमान है कि गढ़ी का धार्मिक महत्त्व था।

कालीबंगां का निचला नगर उत्तर–दक्षिण में 360 मी. और पूर्व पश्चिम में 240 मी. विस्तृत था। यहां का निचला नगर भी रक्षा–प्राचीर से घिरा था, यद्यपि दक्षिण की ओर रक्षा–प्राचीर के बाहर भी बस्ती रही थी। यहां पर सुरक्षा दीवार प्रारंभिक चरण से ही निर्मित थी। इसकी चौड़ाई सर्वत्र समान नहीं थी। यह 3 से 3.9 मीटर तक मोटी है। इसकी ऊंचाई में ईंटों के 15 रद्दे लगे हैं। इस रक्षा दीवार में प्रयुक्त ईंटें 40 x 20 x 10 सेमी परिमाप की हैं, जबकि घर बनाने के लिए ईंटें 30 x 15 x 7.5 सेमी थी। सुरक्षा–दीवार पूर्व से पश्चिम की ओर 230 मीटर है, उत्तर–दक्षिण की ओर सुरक्षा दीवार के क्षतिग्रस्त होने के कारण घिरे हुए क्षेत्र के माप का ठीक अनुमान नहीं लगाया



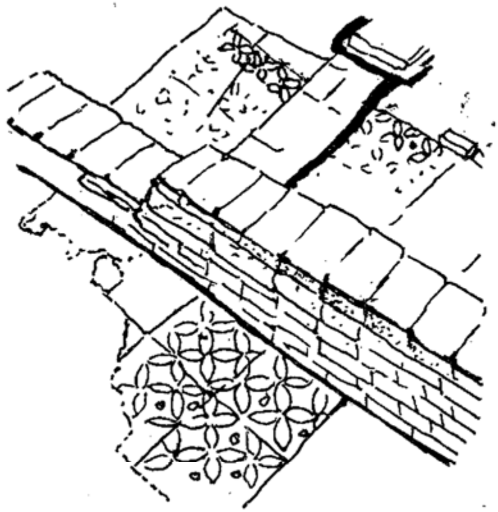
चित्र 26 कालीबंगां : भवन तथा सड़कें

जा सका है. यद्यपि यह अनुमान लगाया गया है कि यह 360 मीटर रहा होगा। उत्तर–दक्षिण की ओर पांच और पूर्व–पश्चिम की ओर तीन मुख्य सड़कों का पता चला

है। कई तंग गलियां भी मिलीं। सड़कों का निर्माण नियोजित ढंग से किया गया था (चित्र 26)। सड़कों की चौड़ाई लगभग 1.80 मीटर गुणक में थी और यह 1 : 2 : 3 के अनुपात में बनीं थीं। सड़कों के मोड़ पर बने घरों को यातायात से क्षतिग्रस्त होने से बचाने के लिए कहीं–कहीं सड़क के किनारे लकड़ी के खम्भे लगाये गये थे। सड़कों पर कुछ स्थलों पर घरों के सामने आयताकार चबूतरे बने थे। अंतिम चरण को छोड़कर सड़कों को पक्की बनाने का प्रयास नहीं किया गया। सड़क को पक्की बनाने का प्रयास हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो में नहीं मिलता और इसीलिए कालीबंगां का यह साक्ष्य इस संदर्भ में विशिष्ट है। यहां पर सार्वजनिक नालियों के अवशेष नहीं मिले। लकड़ी को कुरेद कर उसे नाली के रूप में प्रयोग करना कालीबंगां की अपनी विशेषता है, जिसका साक्ष्य सिंधु सभ्यता के किसी अन्य स्थल पर नहीं मिलता। घर की नालियों का पानी, चाहे वे नालियां लकड़ी की रहीं हों या पक्की ईंटों की, नाबदानों में गिरता था।

इस टीले के एक भाग में इमारतों के नौ क्रमिक स्तर पाये गये हैं। मकानों के आगे और पीछे दोनों ओर सड़कें थीं। साधारणतः घरों में एक आंगन होता था जिसमें कभी कुआं भी होता था। कुछ घरों के दरवाजे इतने चौड़े थे कि बैलगाड़ी तक आंगन में आ सकती थी। आंगन में कच्ची ईंटों की नांद मिलने से ज्ञात होता है कि पशुओं को चारा–पानी आंगन में ही दिया जाता था। भोजन बनाने के तन्दूर भी थे। आंगन के तीन ओर छह या सात कमरे होते थे। इन कमरों में से अक्सर एक कमरा धार्मिक अनुष्ठान के लिए प्रयुक्त होता था जैसा कि अग्नि वेदिकाओं से स्पष्ट है। एक घर में ऊपर की मंजिल (?) में जाने के लिए सीढ़ी भी थी। एक मकान के अवशिष्ट भाग से ज्ञात होता है कि उसका दरवाजा गली में खुलता था। हड़प्पा तथा मोंहेंजोदड़ो में भी दरवाजे गली की ओर ही मिले हैं। द्वार से प्रवेश कर बरामदे में होकर कमरों में पहुंचा जाता था। कमरे बड़े और छोटे दोनों ही आकार के थे जो परस्पर दरवाजे से जुड़े थे। द्वार की चौड़ाई 70 से 75 सेमी तक पायी गयी है। दरवाजे में कदाचित् एक ही किवाड़ लगाया जाता था, क्योंकि किवाड़ लगाने के लिए एक ही छेद पाया गया है जो ऊपर की ओर है। इस तरह के एक–पल्लेवाले किवाड़ के साक्ष्य सिंधु सभ्यता के किसी अन्य स्थान पर उपलब्ध नहीं हैं। कालीबंगां के घर (हड़प्पा ओर माहेंजोदड़ो के पक्की ईंटों से निर्मित भवनों के विपरीत) सभी कच्ची ईंटों के बने हैं। पक्की ईंटों का प्रयोग केवल कुंएं, नालियों और स्नानागारों के निर्माण में ही हुआ है। फर्श मिट्टी को कूट कर बनाया जाता था और कभी उसके ऊपर कच्ची ईंट और पक्की ईंट बिछा देते थे। यह विधि आज भी कालीबंगां के आस–पास के क्षेत्र में फर्श बनाने के लिए अपनाई जाती है। कुछ उदाहरणों में पक्की मिट्टी के 'पिण्ड' फर्श बनाने में प्रयुक्त हुए हैं। इससे यह कहना कठिन है कि पिण्डों का एकमात्र उपयोग यही था अथवा उन्हें धार्मिक अनुष्ठान तथा अन्य कार्यों में भी प्रयोग में लाया जाता था। एक उदाहरण में

फर्श की ईंटों पर वृत्त को काटते हुए वृत्त का बहुत सुन्दर अलंकरण है (चित्र 27)। कालीबंगां में मिट्टी के खण्डों पर शहतीरों की छाप मिली है। शायद शहतीरों का प्रयोग ऊपरी छत को सहारा देने के लिए किया गया होगा जैसा कि आज भी इस क्षेत्र में किया जाता है।

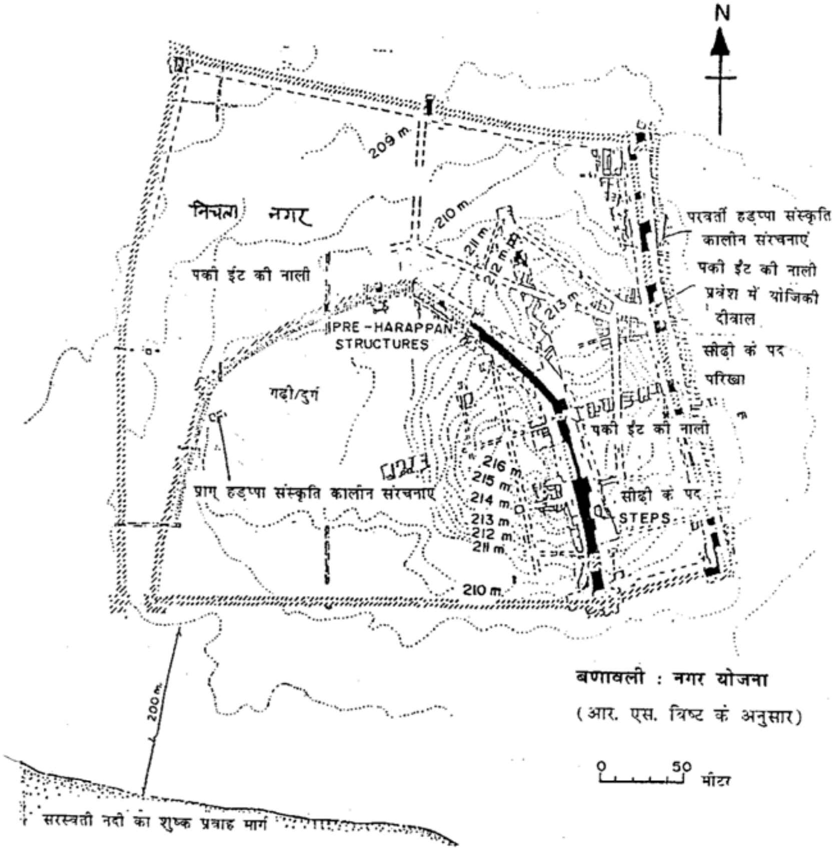


चित्र 27 कालीबंगां : अलंकृत ईंटों का फर्श

कालीबंगां की इमारतों के खण्डहरों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आंगन का क्षेत्रफल समय बीतने के साथ संकुचित होता गया। कई स्तरों पर हरे रंग की तह देखी गयी है। शायद यह तह गोबर की थी जिसे आजकल के गांवों में प्रचलित प्रथा के अनुरूप मकान को लीपने में प्रयोग किया गया था। कालीबंगां में निचले नगर के बाहर पूर्व में एक छोटे से टीले के उत्खनन से ईंटों के घेरे में अग्निवेदिकाओं का समूह मिला। कालीबंगां में गढ़ी के पश्चिम–दक्षिण–पश्चिम में कब्रिस्तान मिला इसका विस्तृत विवरण शवाधानों के संदर्भ में अन्य अध्याय में दिया गया है।

बणावली

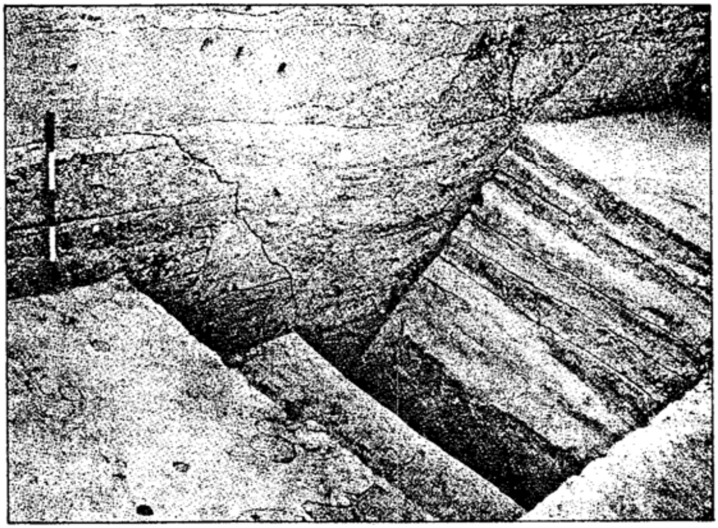
बणावली का सिंधु सभ्यता कालीन नगर दो भागों – गढ़ी तथा निचला नगर में बंटा हुआ था (चित्र 28)। यह दोनों एक ही सुरक्षा दीवाल से घिरे थे। पूर्वी दीवाल 240 मी0, उत्तरी दीवाल 250 मी0, पश्चिमी दीवाल 300 मीटर थी। इसी दीवाल के भीतर गढ़ी की अपनी अलग सुरक्षा दीवाल थी। दक्षिणी दीवाल दोनों में साझा थी। गढ़ी की दीवाल 5. 4 मी. से 7 मी. तक चौड़ी थी। गढ़ी तथा निचला नगर दोनों ही लगभग 9 हेक्टेयर में बने थे। इसमें से 1/3 भाग गढ़ी थी। यह उत्तर–दक्षिण में 175 मीटर (मूलतः 10 या 15 मीटर और अधिक) रही होगी। गढ़ी लगभग 2.7 से 2.8 हेक्टेअर क्षेत्र में बनायी गयी थी। सुरक्षा दीवाल की पूर्वी दिशा में उसके समानान्तर परिखा थी (चित्र 29)। यह 5. 70 से 6. 50 मी. चौड़ी तथा 3. 60 मी. गहरी थी। यह कहना कठिन है कि सुरक्षा दीवाल के साथ परिखा सभी दिशाओं में थी या केवल पूर्वी दिशा में ही।



चित्र 28 बणावली : नगर योजना (आर. एस. बिष्ट के अनुसार)

गढ़ी में बुर्ज भी मिले। गढ़ी के अन्दर 25% क्षेत्र में ही सिंधु सभ्यता कालीन आवास का निर्माण पाया गया। गढ़ी के प्लान को ध्यान में रखते हुए सड़कों को उत्तर–दक्षिण, पूर्व–पश्चिम दिशाओं में एक दूसरे को समकोण पर काटते हुए बनाया गया। इससे मकानों के चतुर्भुजाकार ब्लाक बने। छः ब्लाक स्पष्ट हैं, मूलतः अधिक रहे होगें। सड़कें केन्द्र बिन्दु से ऐसी निकलती हैं जैसी पहिए के अरे। पूर्वी द्वार के समीप पांच मुख्य सड़कें आती थीं जिनमें से तीन समानान्तर थीं। कुछ सड़कों पर बैलगाड़ी के पहियों के निशान मिले। नगर के पूर्वी विशाल द्वार के सामने परिखा, दोनों ओर बुर्ज, सीढ़ियां और बरसाती पानी के निकास के लिए पकी ईंटों की नाली थी। परिखा को पार करने के लिए काठ का पुल रहा होगा।

बणावली में सिंधु सभ्यता काल में विशाल आवासों का सुनियोजित ढंग से



चित्र 29 बणावली : सुरक्षा दीवार के साथ परिखा

निर्माण किया गया था (चित्र 30)। मकानों में आंगन, कई कमरे तथा स्नानागार मिले। गढ़ी से पकी ईंटों से निर्मित कुछ स्नानागार तथा शौचालय पाये गये। उपलब्ध सामग्री से एक भवन व्यापारी का लगता है। एक घर में सोने और कीमती पत्थरों के मनके तथा बाट मिले। यह मनकों के व्यापारी का मकान रहा होगा। यहीं एक कसौटी पत्थर मिला। घरों से गंदा पानी निकालने और बरसाती पानी के निकास हेतु पकी ईंटों की नालियां थीं।



चित्र 30 बणावली : आवास योजना

बणावली में कालीबंगां के समान अग्निवेदिकाएं मिलीं। एक विशेष आकार की संरचना के मन्दिर होने की संभावना व्यक्त की गई है। घरों के बाहर समीप ही कालीबंगां के समान चबूतरे बने थे। बणावली में घर में प्रयुक्त ईंटें 24 x 12 x 6 सेमी. आकार की हैं और सुरक्षा दीवाल के लिए 40 x 20 x 10 और 50 x 25 x 12. 5 सेमी. की ईंटें प्रयोग की गयीं। पकी ईंटों का प्रयोग केवल कुएं, स्नान के लिए फर्श और नालियों के लिए किया गया।

अध्याय 4
पाषाण, धातु तथा मिट्टी की मूर्तियां

जहां सिंधु सभ्यता की कतिपय मुहरे अपनी कलात्मकता के लिये विख्यात है इस सभ्यता की पाषाण मूर्तियां और मृण्मूर्तियां दोनो ही, कुछ उदाहरणों को छोड़कर, कला की दृष्टि से साधारण कोटि की है। अपवाद स्वरूप हड़प्पा की दो पाषाण मूर्तियां और मोहेंजोदड़ो से प्राप्त मिट्टी की बैल की एक आकृति इतनी कलात्मक है कि यह निष्कर्ष निकालना समीचीन होगा कि हड़प्पा सभ्यता की उपलब्ध मूर्तियां उस काल की उन्नत कला का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं करती और सिंधु सभ्यता की कला के बारे में हमारी जानकारी अधूरी है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि इन लोगों ने शिल्पाकृतियां अधिकांशतः लकड़ी की बनाई थीं, जो नष्ट हो गई हैं। परवर्तीकाल में भारत लकड़ी की बनी कलाकृतियों के लिए विश्वविख्यात रहा है और आश्चर्य नहीं कि यही स्थिति सिंधु सभ्यता के समय भी रही हो। पाषाण मूर्तियों का इतनी अल्प संख्या में प्राप्त होना भी इसी निष्कर्ष की ओर इंगित करता है। वैसे पत्थर की मूर्तियों का कम संख्या में मिलने का एक कारण यह भी था कि हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के समीपवर्ती क्षेत्र में पत्थर का अपेक्षाकृत अभाव था। उपलब्ध पाषाण मूर्तियां ऐलाबस्टर, चूना पत्थर ,सेलखेड़ी, बलूआ पत्थर और स्लेटी पत्थर से निर्मित हैं। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो में चंद पाषाण मूर्तियां मिली हैं। लेकिन घग्घर सरस्वती और गुजरात क्षेत्र में इनका अभाव है। धौलावीरा में सुधड़ और पालिश किये स्तंभ मिले हैं। जो इस सभ्यता के अन्य स्थलों में नही मिलते। सभी मूर्तियां खंडित अवस्था में प्राप्त हुई हैं। किसी का केवल सिर मिला है, किसी का केवल धड़। कोई भी पाषाण मूर्ति समूची नहीं मिली। मकाइ का अनुमान है कि इन्हें जान बुझ कर तोड़ा गया, किंतु उन्होंने इस बात को बताने में असमर्थता प्रकट की है कि किन लोगों ने और किन कारणों से इन्हें तोड़ा होगा। कलात्मक मूर्तियां अल्प हैं, किन्तु इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि उस काल के कलाकारों में सौदर्य सृष्टि की पर्याप्त क्षमता विद्यमान थी।

पाषाण मूर्तियां

मानव आकृतियां

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त सेलखड़ी पत्थर की एक खण्डित मानव आकृति जिसका सिर से वक्षस्थल तक का ही भाग बचा है (चित्र 31), उल्लेखनीय है। यह सतह से 1. 37 मीटर की गहराई पर मिली है और इस लिए ऐसा विदित होता है कि यह सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण की है। इसकी ऊँचाई लगभग 19 सेमी है। नेत्र कुछ लम्बें तथा अधखुले हैं। दृष्टि ध्यान मुद्रा में नासाग्र पर केंन्द्रित लगती है। होंठ मोटे

हैं। नासिका मध्यम आकार की है, माथा छोटा तथा ढलुआ है। ग्रीवा साधारण से कुछ अधिक मोटी है। मेसोपोटामिया की प्राचीन शिल्प कृतियों में भी अक्सर गर्दन को मोटी बनाने का चलन था। मार्शल का विचार है कि इन विशेषताओं के कारण यह किसी व्यक्ति विशेष की रूपाकृति नहीं लगती है, और न ही इसे किसी जाति विशेष का द्योतक मान सकते हैं। किन्तु मकाइ इसे कलाकार द्वारा किसी व्यक्ति के यथार्थ रूपांकन की चेष्टा का उदाहरण मानते हैं।



चित्र 31 मोहेंजोदड़ो : पुरोहित (?) की पाषाण आकृति

इस मूर्ति का केश–विन्यास विशेष रोचक है। पीछे काढ़ी गयी केश राशि मस्तक पर एक फीते से बंधी है और माथे के मध्य में इस पर एक वृत्ताकार आभूषण है जिसका धार्मिक महत्त्व लगता है। पर कान कुछ विचित्र ढंग से बनाये गये हैं। दाढ़ी तराशी हुई है। ऊपरी ओंठ की मूछें मुंडी है। उल्लेखनीय है कि प्राचीन मेसोपोटामिया की कलाकृतियों में भी मुंड़ी मूंछ वाली आकृतियां ही अधिकांशतया बनायी गयी थी। वह एक शाल ओढ़े है जो बांए कंधे को ढके हुए है। दायां हाथ खुला है। परवर्ती काल की कला में भी इसी शैली में शाल ओढ़े मूर्तियां, विशेषतया बुद्ध और बोधिसत्व की, मिलती हैं। शाल पर उभरा हुआ तिपतिया अलंकरण है। इस अलंकरण के भीतर वाले भाग को लाल पेस्ट से भरा गया था। तिपतिया अलंकरण सिंधु संस्कृति के कुछ मनकों पर भी मिलता है। मिस्र, मेसोपोटामिया और क्रीट में प्राचीन संस्कृति के संदर्भ में इस तरह का अलंकरण देवताओं की आकृतियों पर विशेष रूप से मिलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार इस तरह से अलंकरण सिंधु सभ्यता के लोगों ने किसी दूसरे स्रोत से सीखा था। आंखे सीप की बना कर अलग से जड़ी गयीं थीं। एक आंख पर सीप के स्पष्ट चिह्न बचे मिलते हैं। इस तरह आंख को जड़ कर बनाने का प्राचीन मिस्र और सुमेर में काफी प्रचलन था। आकृति की दाहिनी भुजा पर भुजबंध है। कान के नीचे छेद है जो आभूषण के लिये अभिप्रेत लगता है।

उपर्युक्त मूर्ति को सतर्कता तथा सावधानी से गढ़ा गया था। किंतु इसकी बनावट में हड़प्पा से प्राप्त लाल पत्थर के धड़ और मोहेंजोदड़ो की कांस्य नर्तकी, जिनका विवरण इस पुस्तक में आगे दिया गया है, जैसी स्वाभाविकता का अभाव है।

नेत्रगह्वर संकरे बनाये गये हैं। बाशम तो इसे मंगोल जाति के व्यक्ति की आकृति का रूपांकन होने की संभावना मानते हैं। लेकिन मकाइ का कहना है कि आंखें मंगोलों जैसी नहीं हैं। केशराशि और चेहरा बाकी भाग के अनुपात में बड़े दिखलाये गये हैं। मोटी ग्रीवा, ऊपरी होंठ मुंड़ा होना, नेत्र गह्वर दिखाना, वस्त्र के तिपतिया अलंकरण, और शायद कान को खचित दिखाना प्राचीन मेसोपोटामिया की कला में भी मिलता है। किंतु मस्तक को ढालू दिखाना समकालीन मेसेपोटामिया की मूर्तियों से इसकी विभिन्नता स्पष्ट करता है। दोनों कानों के पीछे बालों के आधार पर धातु निर्मित कालर के लिए छेद है। इस मूर्ति पर लेप लगाया गया था जो कि उत्खनन के बाद उसकी सफाई करने के लिए धोने से निकल गया। इस मूर्ति को सावधानी से गढ़ने के बावजूद कलाकार द्वारा शारीरिक गठन को स्वाभाविक रूप से न दिखाने का कोई विशेष कारण हो सकता है। परवर्ती काल में विशेषतया भारत में देवी देवताओं की मूर्तियों के अंकन में उनकी मानवाकृति के स्वाभाविक रूपांयन के स्थान पर पारंपरिक शैली का सहारा लिया गया, और आश्चर्य नहीं कि धर्मिक महत्त्व के कारण सिंधु सभ्यता काल में भी इस मूर्ति को इसी तरह पारंपरिक शैली में बनाया गया हो। मार्शल का कहना है कि पारंपरिक शैली का उदाहरण होने के कारण इस मूर्ति को सिंधु सभ्यता की कला समझने का पैमाना नहीं माना जा सकता। वे इस मूर्ति में परवर्ती काल में योगी रूप में देवी देवताओं के अंकन का पूर्व रूप पाते हैं। कुछ विद्वानों ने इस मूर्ति को पुरोहित राजा (अर्थात् पुरोहित जो प्रशासन का भी प्रमुख था) माना है। पर चूकि यह गढ़ी में जहां पुरोहित राजा की आकृति मिलने की संभावना है, नहीं बल्कि निचले नगर में मिली जहां सामान्य जन रहते थे अतः ऐसी संभावना कम है।

चूने के पत्थर से निर्मित लगभग 14 सेमी ऊंचाई का एक सिर अत्यधिक भग्न अवस्था में पाया गया है। इस मूर्ति के एक नेत्र में, मूर्ति निर्माण के लिए प्रयुक्त पत्थर से भिन्न श्वेत पत्थर खचित किया गया था। नाक टूटी है, मुंह भी क्षत–विक्षत है। गर्दन के दोनों ओर हार के लिए छेद है। लगभग 17. 8 सेमी लंबा एक पाषाण का अन्य सिर (चित्र 32) मोहेंजोदड़ो से मिला है। इसमें लहरदार केशों को एक फीते से बांधे और ऊपरी होंठ के मूंछों को मुंडित दिखाया है। इसका चेहरा और कपोल अपेक्षाकृत सुन्दर बनाये गये हैं। केश–सज्जा दिखलाने में विशेष कुशलता प्रदर्शित की गयी है। इस



चित्र 32 मोहेंजोदड़ो : पाषाण पुरूष शीर्ष

आकृति को कुछ विद्वान् किसी व्यक्ति विशेष की रूपाकृति मानते हैं। केवल कानों के अकंन में सावधानी नहीं बरती गयी, इन्हें स्वाभाविक न बनाकर शंखाकार दिखाया गया है। चूने पत्थर की एक मूर्ति 14. 6 सेमी ऊंची है। यह पूरी तरह नहीं बन पायी है। केशों को इसमें भी पीछे चूड़ में संवारा गया है। उसकी ठुड्डी पर दाढ़ी के चिह्न नहीं है। यह आकृति पुरूष की है अथवा नारी की यह स्पष्ट नहीं है। इसका मुंह छोटा है और होंठ मांसल हैं। आंखों में कुछ जड़ा गया था जो अब नष्ट हो गया है और गड्ढे मात्र शेष रह गये हैं। नाक छोटी है। चेहरे के अनुपात मे खोपड़ी छोटी है।

मोहेंजोदड़ो में ऐलाबास्टर पत्थर की बनी एक बैठे हुए आदमी की 20. 5 सेमी ऊंची मूर्ति प्राप्त हुई है। आकृति कटि वस्त्र बांधे दिखायी गयी है। यह बायीं भुजा ढकता हुआ दाहिनी भुजा के नीचे से होता हुआ पारदर्शी पतला शाल ओढ़े है। पुरूष का बायां घुटना उठा है और उस पर उसकी बांयी भुजा टिकी है। सिर खण्डित है। केशों को गांठ बांध कर दिखाने का प्रयास किया गया था। किंतु किसी कारण से उसे अधूरा छोड़ दिया गया है। कला की दृष्टि से यह मूर्ति निम्न कोटि की है। उकड़ू बैठे हुए एक पुरूष की 42 सेमी ऊंची ऐलाबास्टर पत्थर की बनी मूर्ति प्राप्त हुई है। इसकी भुजाएं दाहिने घुटने पर टिकी हैं। वह स्कर्ट की भांति कोई वस्त्र पहने है। उसकी दाढ़ी दिखाई गई थी जिसका अधिकांश भाग खण्डित है। आंखों का जो कुछ भाग बचा है उससे लगता है कि वे लम्बी और पतली थीं। कान अन्य कुछ मूर्तियों की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह दिखाये गये हैं। आकृति केशपाश बांधें हैं जिसके छोर पीछे लटकते दिखलाये गये हैं। इस आकृति के सिर के दो भाग खोदाई में इसके प्राप्ति स्थल से थोड़ी दूर पर पाये गये । यह मूर्ति अंतिम प्रकाल की है।

मोहेंजोदड़ो के उत्खननों से चूने पत्थर की कुछ मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं जो अत्यधिक खण्डित अवस्था में हैं। इनमें एक 21 सेमी ऊंची घुटने पर हाथ रखे पुरूष की खंण्डित अवस्था में हैं। उकड़ू बैठे आदमी की एक 21. 6 सेंमी ऊंची मूर्ति में उसकी भुजा घुटनों पर टिकी हैं। यह मूर्ति दुर्ग के अंतिम स्तर से उस स्थान पर पायी गयी है जहां पर 'पुरोहितों का कालेज' भवन स्थित था। इस खण्डित मूर्ति का सिर केश–पाश से सज्जित था।

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त उपर्युक्त मूर्तियां अधिकाशतः ऊपरी स्तरों से मिली हैं, अतः संस्कृति के अपेक्षाकृत बाद के चरण की हैं। इनमें से तिपतिया डिजाइन का शाल ओड़े आकृति और कुछ परंपरागत शैली में बैठी आकृतियां देवता की भी हो सकती हैं। मोहेंजोदड़ो की ग्यारह मूर्तियों में से पांच गढ़ी वाले टीले में मिली हैं। मकाइ का निश्चित मत है कि अधिकांश मूर्तियों पर मूलतः लाल अथवा अन्य किसी रंग का लेप था। मूर्तियों को रंगने की प्रथा अन्य प्राचीन संस्कृतियों में भी प्रचलित थी।

मूर्तेयों में कान यथार्थ रूप में नहीं दिखाये गये हैं। 'पुजारी' (?) की मूर्ति में

तो कान को इतना परंपरागत शैली में दिखाया गया है कि यदि इसे सिर के संदर्भ से अलग कर दे तो उसे कान पहचानना कठिन ही नही असंभव है। उपर्युक्त मूर्तियों में कोई न कोई अंग ऐसे हैं जिन्हें देख कर लगता है, कि मानवाकृतियों के अंकन में इन मूर्तियों के निर्माताओं ने दक्षता नहीं प्राप्त की है। कलाकारों ने कुछ मूर्तियों में दाढ़ी दिखायी है जो इस बात का द्योतक है कि उस काल के लोग दाढ़ी रखते थे। इन मूर्तियों से यह भी अनुमान लगता है कि पुरुष लम्बी अलकावली भी रखते थे और बाल की गांठ को सिर पर बंधे फीते से संभाले रहते थे।

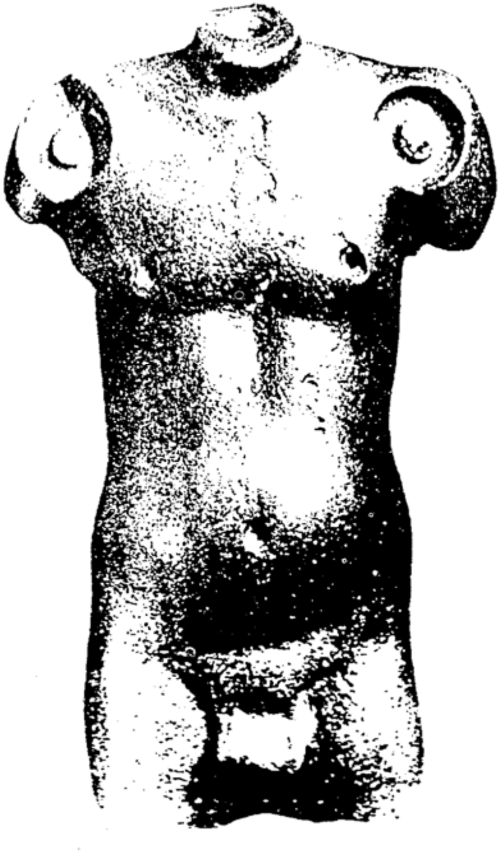
मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से परीक्षण करने से कुछ आकृतियां दीर्धशिरस्क और कुछ लघुशिरस्क लगती है। मकाइ ने यह भी उल्लेख किया है कि एक को छोड़कर सभी उदाहरणों में गाल चपटापन लिए हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि आदिम अवस्था में मनुष्य के गाल की हड्डियां उभरी होती है, और सभ्य होने पर कुछ चपटी हो जाती हैं।

दो मूर्तियों में शाल के नीचे वस्त्र दिखाये गये हैं। सिंधु सभ्यता के लोगों में सिर पर पट्टी बांधने की भी प्रथा थी। सुमेर की मूर्तियों के सिर पर भी पट्टी दिखायी गयी है। केवल इन चंद मूर्तियों से ही तत्कालीन लोगों की जातिगत विशेषताओं का निर्धारण करना समीचीन नहीं होगा, यद्यपि अन्य साक्ष्यों के समर्थन अथवा विपक्ष में इनके साक्ष्य का भी उल्लेख करना असंगत न होगा। मूर्तियों के जो सिर मिले हैं वे सभी एक ही तरह की आकृति दिखाने का प्रयास नहीं करते बल्कि वे इस बात की संभावना प्रस्तुत करते हैं कि कलाकारों ने उन्हें अलग अलग आकृतियां (वास्तविक लोगों की अथवा काल्पनिक देवी देवताओं की) दिखाने की चेष्टा में बनाया है। धौलावीरा से एक पत्थर की उकडू बैठी हुई नग्न मूर्ति मिली है, जिसका सिर खंडित है। बणावली से प्राप्त गहरे हरे रंग के पत्थर पर खड़ा व्यक्ति अपनी जांघ पर एक व्यक्ति को खड़ा किये है। बिष्ट ने इसे नट–कला प्रदर्शन का अंकन माना है। इसमें आकृति उस तरह का वलय पहने है जैसे गुजरात के आदिवासी आज भी पहनते हैं।

मोहेंजोदड़ो की मूर्तियों की तुलना समकालीन और लगभग समकालीन मेसोपोटामिया की मूर्तियों से करने पर कुछ समानता और कुछ भिन्नता दिखायी देती है। मोहेंजोदड़ो की मूर्तियों में आंखो को संकुचित दिखाया गया है जिससे वे अधखुली सी लगती है। मेसोपोटोमिया में नेत्र गोल और पूरे खुले दिखाये जाते थे। सिंधु सभ्यता की मूर्तियों में मुख का शेष सिर से उचित अनुपात न होना और ढलुआं मस्तक दिखाया जाना भी इन्हें मेसोपोटामिया की शिल्पाकृतियों से अलग करता है। दूसरी ओर, मोटी गर्दन और मूंछों का मुड़ा होना, दोनों क्षेत्रों के कलाकृतियों में मिलते हैं। मोहेंजोदड़ो की तीन मूर्तियों में आंखों को उत्खचित दिखाने का स्पष्ट साक्ष्य है। एक में उत्खचन पत्थर का है, दूसरे में सीप का। प्राचीन बेबोलोनिया और मिस्र की कलाकृतियों में आंखों को स्वाभाविक रूप से दिखाने के लिए उत्खचन का प्रयोग

सामान्य था। यद्यपि अधिकांश पाषाण मूर्तियों में नाक क्षतिग्रस्त है तथापि जो भाग बचा है उससे इतना आभास होता है कि नाक प्रखर नहीं दिखाई गई है। केवल 'पुजारी' (?) की आकृति में ही नाक सुपुष्ट है। सुमेरी कलाकृतियों में अधिकांशतः नाक को सुपुष्ट दिखाया गया है।

हड़प्पा के उत्खननों से पत्थर की दो ऐसी मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं जो शैली और भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से काफी हद तक यूनानी कलाकृतियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं। दोनों ही मूर्तियां खण्डित हैं। इनमें से एक लाल बलुआ पत्थर का धड़ है जो वत्स द्वारा किये उत्खनन में मिला था (चित्र 33)। यह एक युवा पुरूष का धड़ है और इसकी रचना में कलाकार ने मानव शरीर के विभित्र अंगों के सूक्ष्म अध्ययन का प्रमाण दिया है। मूर्ति के शरीर के अंग अत्यंत सजीव तथा स्वाभाविक रूप से गठित हैं और इसी स्वाभाविकता के कारण यूनानी कलाकृतियों के जैसे हैं, किंतु इसकी किंचित् तुन्दिलता यूनानी नहीं बल्कि भारतीय शैली के अनुरूप है। यह मूर्ति पूर्णतया नग्न है। कुछ विद्वान् इसमें जैन तीर्थकरों की कायोत्सर्ग मुद्रा के प्राग् रूप की कल्पना करते है। मूर्ति के कंधों और ग्रीवा में छेद है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि सिर और भुजाएं बनाकर उन्हें यथा स्थान जोड़ा गया था जो अब उपलब्ध नहीं।



चित्र 33 हड़प्पा : लाल बलुआ पत्थर का धड़

दूसरी स्लेटी चूने पत्थर की नृत्य मुद्रा में बनाई गई आकृति का धड़ है जो दयाराम साहनी द्वारा किये उत्खनन में मिला (चित्र 34)। इसमें शरीर के विभिन्न अंगों का विन्यास आकर्षक है। इसमें सिर और भुजा अलग-अलग बनाकर उन्हें जोड़ा गया होगा किन्तु अब उनके मूल उपस्थिति के द्योतक केवल छेद ही बचे हैं। यह आकृति

दायें पैर (जो काफी हद तक बचा हुआ है) पर खड़ी है और बायां पैर (जो घुटने से ऊपर से खंडित है) आगे की ओर कुछ ऊपर उठा हुआ है। ऐसा लगता है मानों ताल के साथ यह गति कर रही हो। पैर के उठने से शरीर के पृष्ठ भाग में जो उतार चढ़ाव आता है यह भी कलाकार की पैनी दृष्टि से छूटा नहीं है। पूरी आकृति में जीवन और गतिशीलता है।



चित्र 34 हड़प्पा : स्लेटी पत्थर का धड़

मार्शल, मकाइ, व्हीलर प्रभृति विद्वानों ने इसे पुरुष आकृति माना है। मार्शल ने तो उस आकृति के शिव नटराज के पूर्वरूप होने की संभावना व्यक्त की थी। उनके द्वारा इस तरह की पहिचान का कारण उनकी यह धारणा थी कि आकृति को मूलतः उर्ध्वलिंग दिखाया गया था। उनका यह भी अनुमान है कि गर्दन स्वाभाविक से अधिक मोटी लगती है और यह हो सकता है कि आकृति पर सिर (जो अब उपलब्ध नही है) एक न होकर तीन रहे हो, और यदि ऐसा था तो इसकी पहचान शिव से की जा सकती है। किन्तु क्षीण कटि, भारी नितम्ब तथा अन्य नारी सुलभ अंगों को ध्यान में रखकर डा वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसे नवयौवना नारी की आकृति माना है। यह उल्लेखनीय है कि मार्शल ने भी इसके अंगों में कोमलता दिखाये जाने का उल्लेख किया है। तत्कालीन मेसोपोटामिया की संस्कृतियों में मंदिरों में नर्तकियां रहती थीं। ऐसी ही परम्परा देवदासी के रूप में हाल ही तक दक्षिणी भारत के कुछ मंदिरों में प्रचलित थी। हो सकता है कि हड़प्पा संस्कृति में भी ऐसी ही कोई प्रथा रही हो।

निश्चय ही ये दोनों मूर्तियां सिंधु सभ्यता की अन्य मूर्तियों से , जो कला की दृष्टि से अपेक्षाकृत निम्नकोटि की हैं, अत्यत भिन्न है। जब ये दोनों मूर्तियां उद्घाटित हुई तो कलाविदों मे सनसनी फैल गयी। अब तक यही धारण थी कि यूनानी कला को ही सर्वप्रथम यथार्थ रूपांकन का श्रेय है। भारत में ऐतिहासिक काल में जो मूर्तियां मिली हैं उनमें आकृति को दिखाने में परम्परा का ही निर्वाह अधिक मिलता है, यथार्थ अंकन की ओर कलाकारों का ध्यान कम गया। और यह आशा नहीं की जाती थी कि भारत के पुरैतिहासिक कलाकारों ने मूर्तियों के अंकन में यथार्थवादी कला के ऐसे

उदाहरण प्रस्तुत किये होंगे जैसे कि ग्रीक कलाकारों ने परवर्ती काल में किये। आज भी कुछ लोग, जिनमें मार्टिमर व्हीलर भी शामिल हैं, इनके सिंधु सभ्यता कालीन होने पर संदेह व्यक्त करते है, किन्तु मार्शल ने अकाट्य तर्कों से इनके सिंधु सभ्यता का होना सिद्ध कर दिया है। मार्शल के मुख्य तर्क इस प्रकार हैं। :–

(1) लाल बालुए पत्थर की मूर्ति सतह से 1. 47 मीटर की गहराई पर तीसरे स्तर से मिली है और दूसरी स्लेटी चूना पत्थर की मूर्ति अन्य क्षेत्र में चौथे या पांचवें स्तर से। इस तरह ये दोनों ही सतह से काफी नीचे मिली हैं। यह तर्क दिया जा सकता है कि ये दोनों सिधुं सभ्यता के बाद के काल की है और सतह की भूमि में कुछ परिवर्तन किये जाने के कारण किसी तरह इतनी गहराई तक पहुंच गईं। किंतु यह सोचना स्वाभाविक है कि ऐसी दशा में केवल ये ही नही अपितु परवर्ती काल की कुछ अन्य वस्तुएं उसी तरह भूमि के अन्दर नीचे चली गयीं होंगी। किंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। इन दोनों मूर्तियों के साथ जो उपकरण मिले वे सभी सिंधु सभ्यता के काल के हैं, एक भी वस्तु परवर्ती काल की नहीं। यही नहीं, वत्स का तो यह भी कहना है कि जिस टीले में वह मिली हैं, उसकी सतह से भी कोई पुरैतिहासिक काल से बाद का उपकरण नहीं मिला है।

(2) यह सही है कि हड़प्पा के आस पास न तो स्लेटी चूना पत्थर मिलता है और न लाल बलुआ पत्थर। किंतु पुरैतिहासिक काल में वहां के लोग अन्यत्र से मंगाकर विभिन्न प्रकार के पत्थरों का प्रयोग करते थे जबकि भारतीय यूनानी, शक और पह्लव राजाओं के काल में इस तरह के पत्थर के प्रयोग का एक भी उदाहरण नहीं मिलता।

(3) हाथ और सिर को अलग से बनाकर मूर्ति में छेद करके जोड़ने की शैली और पत्थर में कंधे के समीप खचित करने के उद्देश्य से किये गये नालीदार बर्मे से छेद, और स्लेटी चूने पत्थर की मूर्ति की तरह वक्ष के चंचुक खचित किये जाने के उदाहरण ऐतिहासिक काल की कला में नहीं मिलते।

(4) यह सही है कि शरीर के विभिन्न अंगो के यथार्थ अंकन यूनानी कलाकृतियों की मुख्य विशेषता है और ऐतिहासिक काल में भारतीय संदर्भ में गंधार कलाकृतियों पर यूनानी प्रभाव निश्चित रूप से परिलक्षित होता है, फिर भी गंधार कलाकृतियां मूल यूनानी कलाकृतियों से कुछ भिन्न हैं। इनमें शायद ही कोई कृति ऐसी हो जिसकी सजीवता की दृष्टि से मूल यूनानी कलाकृतियों से तुलना की जा सके। अतः इन दो कलाकृतियों को गंधार कला की कृति मानना समीचीन नहीं लगता है। दूसरी ओर सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर अंकित पशु आकृतियों विशेषतः बैल (और इस संदर्भ में मार्शल की मुंद्रा संख्या 337 विशेष उल्लेखनीय है) की आकृतियों को देखने से अनायास यह धारणा बनती है कि जो लोग पशु का इतना सुंदर, सजीव और गतिशील रूपांकन कर सकते थे वे मानवाकृति का भी उसी शैली में रूपांकन कर सकने में

सक्षम रहे होंगे। फिर इन दो कलाकृतियों की निर्माण शैली में कुछ भारतीय तत्त्व भी है। सरसीकुमार सरस्वती का कहना है कि शैली की दृष्टि से लाल बलुए पत्थर के धड़ और कुषाणकालीन शिल्पाकृतियों में भी कुछ समानता दिखाई देती है। आकृति में गड्ढे बनाकर फिर उस स्थान पर किसी वस्तु को खचित करने का उदाहरण सिंधु सभ्यता में हमें मोहेंजोदड़ो से प्राप्त 'पुरोहित' की मूर्ति, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है, में भी मिलता है, और अब तक किसी भी विद्वान् ने उस मूर्ति का सिंधु सभ्यता की कृति होने पर लेशमात्र भी संदेह नहीं किया है।

पाषाण पशु–आकृतियां

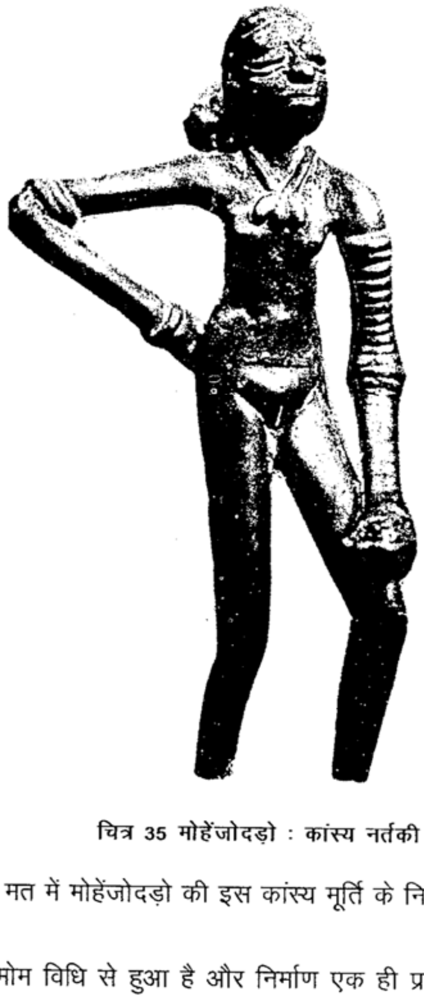
पाषाण निर्मित पशुओं की मूर्तियां अत्यल्प संख्या में मिली हैं। मोहेंजोदड़ो से एक 25. 4 सेमी ऊंची पत्थर की मूर्ति पाई गई है, जिसमें मेढ़े जैसे सींग और शरीर दिखाये गये हैं, और हाथी जैसी सूंड़। सिर उपलब्ध नहीं। इस बात की संभावना है कि मानव सिर दिखाया रहा हो। मुद्राओं पर इस तरह के विभिन्न जानवरों के अवयव लेकर आकृति बनाने के अनेक उदाहरण हैं। एक मेढ़े की, और एक अन्य पशु की आकृति (वह भी संभवतः मेढ़े की है) साधारण कोटि की है। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त सेलखड़ी का एक कुत्ता बहुत सुंदर है और आकृति में वह आजकल के मैस्टिफ नस्ल के कुत्ते से बिल्कुल मिलता–जुलता है।

कांस्य मूर्तियां

हड़प्पा संस्कृति कालीन कांस्य मूर्तियों में सर्वाधिक कलात्मक नर्तकी की मूर्ति है (चित्र 35)। मोहेंजोदड़ो के 'एच आर' क्षेत्र से उपलब्ध यह मूर्ति 14 सेमी ऊंची है। यह टखनों से नीचे खण्डित है। आकृति नग्न है। बायीं भुजा जो कंधे से लेकर कलाई तक चूड़ियों से भरी है, में एक पात्र है। यह पात्र, भिक्षा पात्र, देवताओं को चढ़ाने की सामग्री का पात्र अथवा देव मंदिर में प्रज्ज्वलित करने हेतु दीपक हो सकता है। वह सहज भाव से नृत्य करती प्रतीत होती है। उसकी दाहिनी भुजा कटि पर अवलंबित है और इसमें केवल चंद चूड़ियां हैं। इस हाथ के हाव–भाव दिखाने के लिए अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त होने के कारण ही इसमें दूसरे हाथ की अपेक्षा काफी कम चूड़ियां दिखाई गई हैं। सिर थोड़ा सा एक ओर झुका हुआ है। केशराशि पीछे की ओर एक बेणी में संवार कर दाहिने कंधे पर लटकती छोड़ दी गई है। कण्ठाभरण से कण्ठ शोभित है।

इस मूर्ति में नारी अंगों का न्यास सुन्दर रूप से हुआ है। दुबली–पतली गात्र यष्टि, क्षीण–कटि एवं अभ्यानत जंघाएं परवर्ती भारतीय साहित्य में वर्णित और कला में अंकित आदर्श नारी सौन्दर्य का परिचायक हैं। आकृति को उद्दीपक ढंग से दिखाया गया है। मुखाकृति विशेष आकर्षक नहीं है। नेत्र बड़े हैं और उन्हें गहरे निशान से

अभिव्यक्त किया गया है। नासिका का चपटापन, ओंठ का भारीपन तथा बायीं भुजा का अनेक चूड़ियों के भार से बोझिल होना भी सौंदर्य–सृष्टि में बाधक माना जा सकता है। एक बाँह को चूड़ियों से भरना किसी धार्मिक परंपरा का सूचक हो सकता है। मार्शल के अनुसार इस कांस्य–मूर्ति के अंग सौष्ठव को देखने से लगता है कि इसमें किसी आदिवासी युवती के रुपांकन की चेष्टा की गई है। इसकी शारीरिक गठन की विशेषताओं के आधार पर कुछ ने इसको दक्षिण–भारतीय नारी से प्रेरित कलाकृति माना है। पिगट ने इस आकृति की तुलना कुल्ली (बलूचिस्तान) में प्राप्त मिट्टी की नारी आकृतियों से की है और इसे बलूची नारी पर आधारित माना है। उनका कहना है कि शायद सिंधु सभ्यता के व्यापारी व्यापार के संदर्भ में बलूचिस्तान के मार्ग से लौटते समय मनोरंजन के लिए बलूचिस्तान की किसी बस्ती में नृत्य–नाटिका देखते रहे होंगे और वहीं से किसी नर्तकी को अपने साथ ले आये होंगे, जो उनके मत में मोहेंजोदड़ो की इस कांस्य मूर्ति के निर्माण के लिए माडल रही होगी।



चित्र 35 मोहेंजोदड़ो : कांस्य नर्तकी

इस मूर्ति का निर्माण द्रवी–मोम विधि से हुआ है और निर्माण एक ही प्रयास में होने से इसमें पर्याप्त स्वाभाविकता आ गयी है। इसीलिए पत्थर की मूर्तियों की अपेक्षा (हड़प्पा के दो कलात्मक धड़ों को छोड़ कर) यह कांस्य की मूर्ति अधिक कलात्मक और प्रभावशाली बन पड़ी है। कार्लटन ने सजीवता एवं गतिशीलता के लिए इसकी भूरि–भूरि प्रशंसा की है। यद्यपि शरीर को उतनी यर्थाथता के साथ नहीं दिखाया गया है, जितना कि हड़प्पा की उपर्युक्त दो पत्थर की कृतियों में दिखाया गया है, तथापि इसके निर्माण में उनकी ही जैसी कला–भावना की प्रेरणा लगती है।

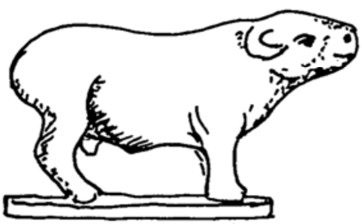
और इसका निश्चित रूप से हड़प्पा संस्कृति की मूर्ति होना, हड़प्पा की उन दो शिल्पाकृतियों को भी हड़प्पा संस्कृति की ही सिद्ध करने में एक और साक्ष्य प्रस्तुत करता है। मोहेंजोदड़ो से ही एक और नर्तकी की कांस्य–मूर्ति मिली है। यह उपर्युक्त कांस्य नर्तकी की मूर्ति से कला की दृष्टि से निम्न कोटि की है। कांस्य निर्मित किसी मूर्ति का केवल एक पैर ही मिला है जो भली–भांति बनाया गया है। यदि पूरी आकृति प्राप्त होती तो अनुमानतः वह बहुत सुन्दर होती।

चन्हुदड़ो से 4. 1 सेमी. ऊंची आकृति दाहिनी भुजा से या तो भाला फेंकती हुई या नृत्य करती हुई दिखाई गई है। उसके केश पीछे की ओर गुच्छे के रूप में संवारे थे (चित्र 36)। इसे भी द्रवी–मोम विधि से निर्मित किया गया था। केन्योर ने गतिशीलता की प्रभावशाली अभिव्यक्ति के लिए इसे बहुत सराहा है।



चित्र 36 चन्हुदड़ो : कांस्य मूर्ति

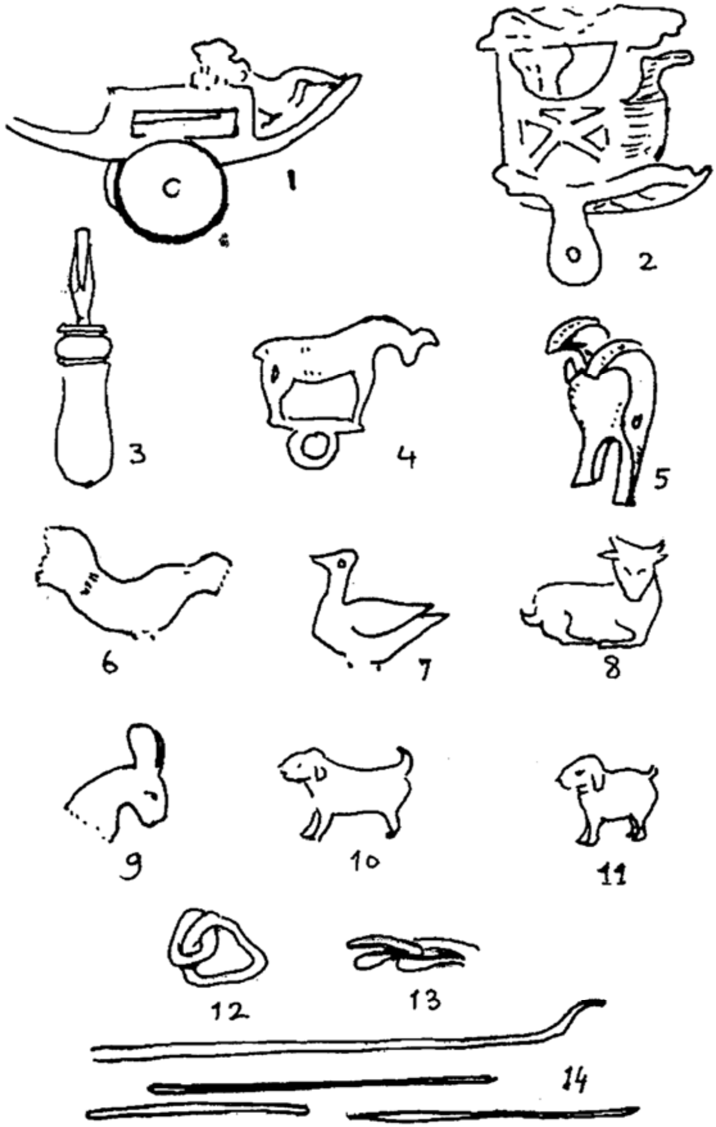
मोहेंजोदड़ो से कांसे की कुछ पशुओं की भी आकृतियां मिली हैं। इनमें भैंसे (चित्र 37) और मेढ़े (अथवा बकरे) की आकृतियां विशेष उल्लेखनीय हैं। क्रोध में तिरछे देखते हुए भैंसे की आकृति कला का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती है। लोथल से तांबें से निर्मित पक्षी (चित्र 38. 6, 7), बैल (चित्र 38. 8), खरगोश (चित्र 38. 9) और कुत्ते (चित्र 38. 10, 11) की आकृतियां मिली हैं। इनमें तांबें का एक कुत्ता कला की दृष्टि से विशेष महत्तवपूर्ण है। हड़प्पा से एक 5. 08 सेमी ऊंची तांबें की इक्का–गाड़ी मिली है। चन्हुदड़ो से तांबें से बने गाड़ियों के दो माडल उपलब्ध हुए हैं।



चित्र 37 मोहेंजोदड़ो : कांस्य महिष

जैसा कि पिगट ने कहा है, सिंधु सभ्यता के लेखों के समान ही उस सभ्यता की शिल्पाकृतियों में विशालता और उसका सार्वजनिक रूप में प्रयोग किये जाने का अभाव है। ये लघु हैं और जो देवताओं की मूर्तियां रही होंगी, उनकी स्थापना व्यक्तिगत देव स्थानों में ही की गयी होगी, सार्वजनिक मंदिरों में नहीं। पिगट

के मतानुसार अन्य कई साक्ष्यों की भांति इन मूर्तियों से भी हड़प्पा सभ्यता के लोगों का निजीयता, या कहना चाहिए गोपनीयता, के प्रति विशेष लगाव होने के मत का ही अनुमोदन होता है।



चित्र 38 तांबे तथा कांसे की पशु–पक्षी आकृतियां तथा उपकरण

मिट्टी तथा कांचली मिट्टी की मूर्तियां

सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्थलों से मृण्मूर्तियां मिली हैं। मिट्टी की सर्वत्र सुलभता, उससे आकृतियों के निर्माण में धातु एवं पत्थर से अधिक आसानी होना, और कम खर्च के कारण प्रायः सभी प्राचीन संस्कृतियों में मृण्मूर्ति–कला अत्यंत लोकप्रिय रही। हड़प्पा संस्कृति में उपलब्ध शिल्प आकृतियों में सर्वाधिक संख्या मृण्मूर्तियों की ही है। ये मूर्तियां मानव, पशुओं और पक्षियों की हैं। जहां तक मानव आकृतियों का प्रश्न है, मोहेंजोदड़ो में नारी मृण्यमूर्तियों की तुलना में पुरुष मूर्तियां बहुत कम मिली हैं। हड़प्पा में भी नारी आकृतियां ही सर्वाधिक हैं, किन्तु पुरुष आकृतियां मोहेंजोदड़ो की तुलना में कहीं अधिक हैं (लगभग नारी आकृतियों की आधी)। मृण्मूर्तियां उसी तरह की नदी द्वारा लाई मिट्टी से बनी हैं जिस तरह की मिट्टी मृद्भांडों के बनाने में प्रयुक्त की गई हैं। सिंधु सभ्यता की प्रायः सभी मृण्यमूर्तियां हाथ से बनाई गई हैं। अपवाद स्वरूप कुछ मुखौटे हैं जिन्हें सांचे से बनाया गया था।

नारी आकृतियां

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में जो नारी आकृतियां मिली हैं (चित्र 39अ तथा 39 ब) वे कर्धनी से नीचे घुटने से ऊपर स्कर्ट की तरह के वस्त्र पहने हुए दिखाई गई हैं; शेष शरीर बिल्कुल नग्न है। समकालीन मेसोपोटामिया और अन्य देशों की संस्कृतियों में अधिकांशतः इस तरह की मृण्मयी नारी आकृतियों का नग्न अंकन मिलता है। सिर पर पंखाकार शिरोभूषा है जिससे दोनों ओर प्यालेनुमा आकार बनाये गये हैं। प्यालेनुमा वेशभूषा वाली आकृतियां नीचे के स्तरों में कम और ऊपर के स्तरों में अधिक मिली हैं। मकाइ का कहना है कि शायद उस काल में नारियां इससे मिलती जुलती शिरोभूषा पहनतीं थीं। एशिया माइनर स्थित अदालिया से प्राप्त कुछ प्राचीन मूर्तियों की शिरोभूषा भी बहुत कुछ पंखाकार है। कुछ में इस भूषा को सर से बाँधा हुआ दिखाया गया है। इनके



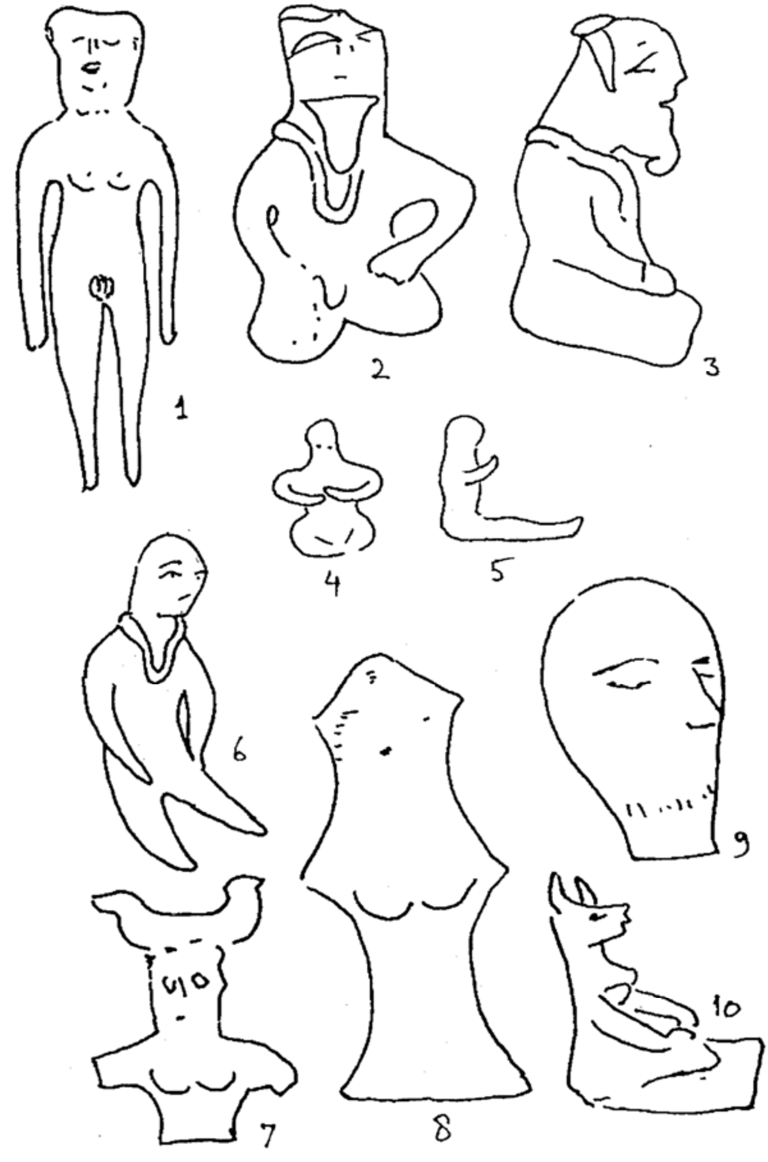
चित्र 39अ मोहेंजोदड़ो : मिट्टी की नारी आकृति

चेहरे पर दोनों ओर एक–एक शंकु बने हैं जो वास्तविक रूप में शिरोभूषा के अंग हैं न कि चेहरे के। शंक्वाकार सोने का आभूषण उत्खनन में मिला है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि आकृतियों में सोने का आभूषण दिखाने का ही अभिप्राय था। इन मिट्टी की मूर्तियों में नारी आकृतियों को खूब लम्बे–लम्बे कई लड़ी वाले हार पहने दिखाया गया है। हारों में मनकों को अलग–अलग दिखाने का प्रयास किया गया है। करधनी मनकों की बनी लगती है। गले पर अत्यंत अलंकृत हँसली है। अधिकांश मूर्तियों के हाथ और पैर टूट गये हैं लेकिन जिनमें बच गये हैं उनमें हाथों में भुजबंद और पांवों में कड़े पहने दिखाये गये हैं। इन मूर्तियों का एक ही परम्परा के अनुसार निर्मित होना और उनके अत्यधिक अलंकृत शिरोभूषा और आभूषण इस बात के द्योतक लगते हैं कि वे धार्मिक महत्त्व की थीं। विद्वानों का मत है कि ये मातृदेवी की मूर्तियां हैं, जिसकी पूजा अन्य प्राचीन सभ्यताओं में भी प्रचलित थीं। इस संदर्भ में यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि इस तरह के वेशभूषा और आभूषण से अलंकृत मातृदेवी की मूर्तियां मुख्यतः हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो में ही पायी गयी हैं। सिंधु सभ्यता के कुछ स्थलों पर नारी आकृतियां अति अल्प संख्या में मिलीं हैं, और कुछ में तो मिली ही नहीं हैं। धौलावीरा से एक नारी के सिर पर सींग जैसा अलंकरण है। यहीं पर तीन सिर–विहीन मूर्तियां नाली में मिली हैं, जहां उन्हें प्रवाहित किया गया था। बणावली से प्राप्त एक नारी आकृति का पक्षी जैसा चेहरा है और शिशु को दुग्धपान कराती दिखाई गयी है। लोथल जैसे महत्त्वपूर्ण नगर से भी नारी मृण्मूर्तियां अत्यंत अल्प संख्या में मिली हैं और उनका आकार–प्रकार भी हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो से प्राप्त नारी मृण्मूर्तियों से किंचित भिन्न है। लोथल से एक नारी मृण्मूर्ति का धड़ मिला



चित्र 39ब मोहेंजोदड़ो : मिट्टी की नारी आकृति

(चित्र 40. 8) है जिसमें मोहेंजोदड़ो की नारी मूर्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक सजीवता दिखती है। लोथल से ही प्राप्त एक नारी मृण्मूर्ति को कुल्ली की



चित्र 40 सिंधु सभ्यता की मृण्मूर्तियां

मृण्मूर्तियों की तरह, सिर से कमर के पास तक ही बनाया गया था। मोहेंजोदड़ो की मूर्तियों की तरह अलंकरण का इसमें अभाव है। कुछ मृण्मूर्तियां में नारी को आटा सानते दिखाया गया है (चित्र 40. 10)। हड़प्पा से एक नारी आकृति को, जो खंडित अवस्था में है, तीन पाये वाली कुर्सी पर बैठा दिखाया गया है। कभी–कभी नारी के पेट को काफी बड़ा दिखाया गया है जो उसे प्रजनन के प्रतीक रूप में गर्भवती दिखाने के उद्देश्य से किया गया हो सकता है। कुछ में नारी को शिशु के साथ दिखाया गया है। शिशु या तो कूल्हे पर दिखाया गया है या वक्षस्थल पर दुग्धपान करता हुआ। कुछ में नारी हाथ में पक्षी लिये दिखायी गयी है; इस तरह की अभिप्राय वाली मृण्मूर्तियां ऐतिहासिक काल में काफी प्रचलित थीं। कभी–कभी नारी आकृतियों के सिर पर कुछ दिखाया गया है, जो कुछ में सींग जैसी (चित्र 40. 8) और कुछ में चपाती जैसी आकृति लगती है। कुछ उदाहरणों में नारी को तख्ते पर लेटा दिखाया गया है। जिन मूर्तियों में उत्पादिका शक्ति स्पष्ट करने का प्रयास है, वे निश्चय ही मातृदेवी की मूर्तियां लगती हैं। लेकिन जो साधारण प्रकार की नारी आकृतियां हैं, वे बच्चों के खिलौने भी हो सकती थीं।

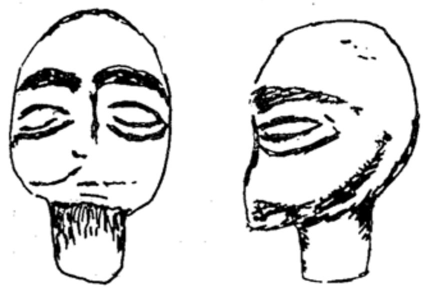
मातृदेवी की मूर्तियां कला की दृष्टि से बहुत साधारण प्रकार की हैं। मातृदेवी के चेहरे कुरूप हैं, यद्यपि उनमें भयानकता अथवा रौद्र रूप दिखाने का प्रयास नहीं लगता। आकृतियों के शरीर के कुछ अवयवों, यथा आंख को अलग से बनाकर उन्हें शरीर में यथास्थान जोड़ दिया गया था। इनके आभूषण भी अलग से चिपका कर लगाये गये थे। प्रायः सभी मानव मृण्मूर्तियों में आंखों के स्थान पर गोल टिकली चिपका दी गयी थी। अत्यंत अल्प उदाहरण ही ऐसे हैं जिनमें इन टिकलियों में आंखें स्पष्ट करने के लिए लकीरें डाली गई हों। लेकिन इस बात की संभावना है कि मूलतः ये मूर्तियां रंगी गई हों, और आंख की पुतली को अलग रंग से स्पष्ट रूप से दिखाया गया हो। आंखों की पुतलियों को इस तरह लकीरों द्वारा दिखाने की प्रथा प्राचीन मेसोपोटामिया में विशेष रूप से प्रचलित थी। नौशारो की एक मृण्मूर्ति में नारी की मांग में लाल रंग का सिन्दूर लगा मिलता है। एक अन्य मूर्ति में कण्ठ का आभूषण पीला रंगा गया है जिससे सोने का आभास मिले। इन मूर्तियों में केश काले रंग से दिखलाये गये थे। यह सिंधु सभ्यता के प्रारंभिक काल की हैं। पुरुष आकृतियों में तो आंखें, बिना अपवाद के, विभिन्न भागों को स्पष्ट किये बिना ही दिखाई गयी हैं। गीली मिट्टी की टिकली चिपका कर उसमें बीच में लकीर लगाकर मुंह और होंठ दिखाये गये हैं। उल्लेखनीय है कि प्राचीन किश की मूर्तियों में मुंह दिखाने का प्रयास बहुत कम उदाहरणों में मिलता है, और जहां मुंह दिखाने का प्रयास किया भी है वहां होंठ न दिखाकर केवल लकीर उत्कीर्ण कर मुंह होने का आभास दिया गया है। सिंधु सभ्यता की मृण्मूर्तियों में नासिका अलग से गीली मिट्टी चिपका कर नहीं बल्कि मुंह के ऊपर के भाग में मिट्टी को चुटकी से दबाकर बीच में उभार देकर बनायी गयी है, जो चोंच

जैसी लगती है। कुछ मृण्मूर्तियों पर लाल रंग लगाये जाने के चिह्न मिलते हैं। यह अनुमान लगाया जाना स्वाभाविक है कि इनमें से अनेक मूर्तियां मूलतः लाल रंग से रंगी रही होंगी।

पुरुष आकृतियाँ

पुरुष मृण्मूर्तियां, बहुत थोड़े अपवादों को छोड़कर, नग्न दिखायी गयी हैं। कुछ मूर्तियां खड़ी दिखाई गयी हैं, और कुछ बैठी। बैठी आकृतियां घुटनों को भुजाओं से घेरे दिखाई गयी हैं या फिर उन्हें हाथ जोड़े हुए दिखाया गया है। कुछ पुरुष आकृतियां तंग–सी टोपी पहने हुए हैं, लेकिन यह भी संभव है कि यह टोपी न होकर बाल दिखाने का प्रयास हो। वत्स को हड़प्पा के उत्खनन में एक विशिष्ट पुरुषाकृति मिली जिसका दाहिना भाग खंडित होने के कारण अनुपलब्ध है। यह मूलतः कुर्सी पर बैठी दिखाई गई थी। इसकी आंखें कुछ लम्बी हैं, मस्तक ढलुआ है, नाक काफी उभरी है। बाल चार लटों में दिखाए गए हैं। यह नर आकृति अन्य नग्न आकृतियों के विपरीत तहमद पहने है जिस पर कुछ उभरे हुए डिजाइन हैं। वह चार लड़ी का हार पहने हैं। वत्स का कहना है कि उभार लिए दाने वास्तविक जीवन में धातु से अलंकृत वस्त्र पहने जाने के परिचायक हैं। कुछ पुरुषाकृतियों को सींगयुक्त दिखाया गया है।

सिंधु सभ्यता में कुछ ऐसी आकृतियों का भी निर्माण हुआ है जिनकी शक्लें विदेशी लगती हैं (चित्र 41)। इस दृष्टि से मोहेंजोदड़ो में अन्नागार के समीप 1950 के उत्खननों में पायी गयी पुरुष मृण्मूर्ति महत्त्वपूर्ण है। इसका शरीर कुछ चपटा है। नासिका लम्बी और उत्तरोत्तर ढालू है। ठुड्डी मांसल हैं, किन्तु उस पर केश नहीं है। इस मूर्ति में सेमेटिक जाति के पुरुष के शारीरिक लक्षण विद्यमान हैं। यह धार्मिक आकृति नहीं लगती। लेकिन 'डी के' क्षेत्र से प्राप्त सींग वाली आकृति शायद देवता की है। मोहेंजोदड़ो के 'एच आर' क्षेत्र से प्राप्त पुरुष मृण्मूर्ति को आभूषण पहने दिखाया गया है। इससे तथा कुछ अन्य साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि पुरुष भी नारियों की तरह के आभूषण पहनते थे। कालीबंगां से प्राप्त एक मिट्टी का मानव सिर इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। इसमें माथा पीछे की ओर ढलुआं, गालों की हड्डियां उभरी हुई तथा ठुड्डी कुछ आगे निकली हुई हैं। नाक सीधी और नुकीली है, नीचे का होंठ सामान्य से थोड़ा अधिक मोटा है। आंखों का आकार बादाम की तरह है। मोहेंजोदड़ो तथा



चित्र 41 चन्हुदड़ो : मिट्टी के मानव शीर्ष

हड़प्पा की कुछ मृण्मूर्तियों के दाढ़ी के बाल भी दिखाये गये हैं। इस तरह की एक पुरुष की प्रसन्न–मुद्रा प्रभावशाली है। एक मृण्मूर्ति की छोटी दाढ़ी बहुत कुछ मिस्र देश की कलाकृतियों में दिखाई दाढ़ी से मिलती है। मकाइ का कहना है कि केवल दाढ़ी की समानता के आधार पर ही इस आकृति को मिस्र देश के किसी व्यक्ति की आकृति मानना ठीक नहीं होगा। लोथल की खुदाइयों से दो महत्त्वपूर्ण मृण्मूर्तियां प्रकाश में आयी हैं। एक में दाढ़ी लगभग वर्गाकार कटी है, और नाक तीखी है। शि0 रंगनाथ राव के अनुसार यह सुमेरी पाषाण–मूर्तियों, (विशेषतः मारी से प्राप्त मूर्तियों) से बहुत मिलती–जुलती है। असीरिया में भी दाढ़ी रखने की प्रथा लोकप्रिय थी। दूसरा उदाहरण एक मृण्मय 'ममी' का है। मिस्र में शवों को इस तरह के खोल में रखकर दफनाया जाता था। ये दोनों मूर्तियां विदेशी संपर्क की द्योतक हो सकती है। इस संदर्भ में मोहेंजोदड़ो की दो सिर वाली मृण्मूर्ति का भी उल्लेख करना समीचीन होगा। इसके दोनों चेहरे समान हैं और एक सांचे से बने हैं। यह मूर्ति कण्ठ के नीचे खण्डित है। मेसोपोटामिया की मूर्तियों में मर्दुक को दो चेहरे वाला दिखाया गया है। ग्रीक–रोमन देव–शास्त्र में जेनस की दो सिरों वाली आकृति के रूप में कल्पना की गयी है। संभवतः इसमें दो सिर दिखाये जाने का अभिप्राय देवता द्वारा भूत और भविष्य पर दृष्टि रखने की क्षमता को दिखाना था। चूंकि मिस्री संस्कृति की अपेक्षा मेसोपोटामिया की संस्कृति से सिंधु संस्कृति के घनिष्ठ संपर्क होने के पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं, अतः इस मूर्ति की मेसोपोटामिया के देवता मर्दुक अथवा उससे मिलते–जुलते हड़प्पा संस्कृति के किसी देवता की होने की संभावना है। यों एक तरह के सिर दिखाने से यह भी असंभव नहीं कि एक ही देवता के दो रूप दिखाने का अथवा उसके ही पुरुष और स्त्री रूप दिखाने का प्रयास किया गया है।

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा से सांचे द्वारा बने मिट्टी के शृंग युक्त चेहरे पाये गये हैं। ये मुखौटे पीछे की ओर से खोखले हैं और इनके किनारे पर छेद थे (चित्र 41अ)। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पीछे का हिस्सा दिखाने के लिए अभिप्रेत नहीं था। उर में शवों पर धातु से बने मुखौटे लगाए जाते थे। यह कहना कठिन है कि सिंधु सभ्यता में इनका उपयोग नाटक के मुखौटों के रूप में होता था। मकाइ की धारणा है कि इनका धार्मिक महत्त्व था। मोहेंजोदड़ो के 'डी के' क्षेत्र से प्राप्त एक शृंगी पुरुष की आकृति को देवता पहचाना गया है। वहीं से प्राप्त एक बैठी हुई मृण्मूर्ति इसी तरह की बैठी पाषाण शिल्प मूर्तियों की याद दिलाती है।



चित्र 41अ मोहेंजोदड़ो : मिट्टी का मुखौटा

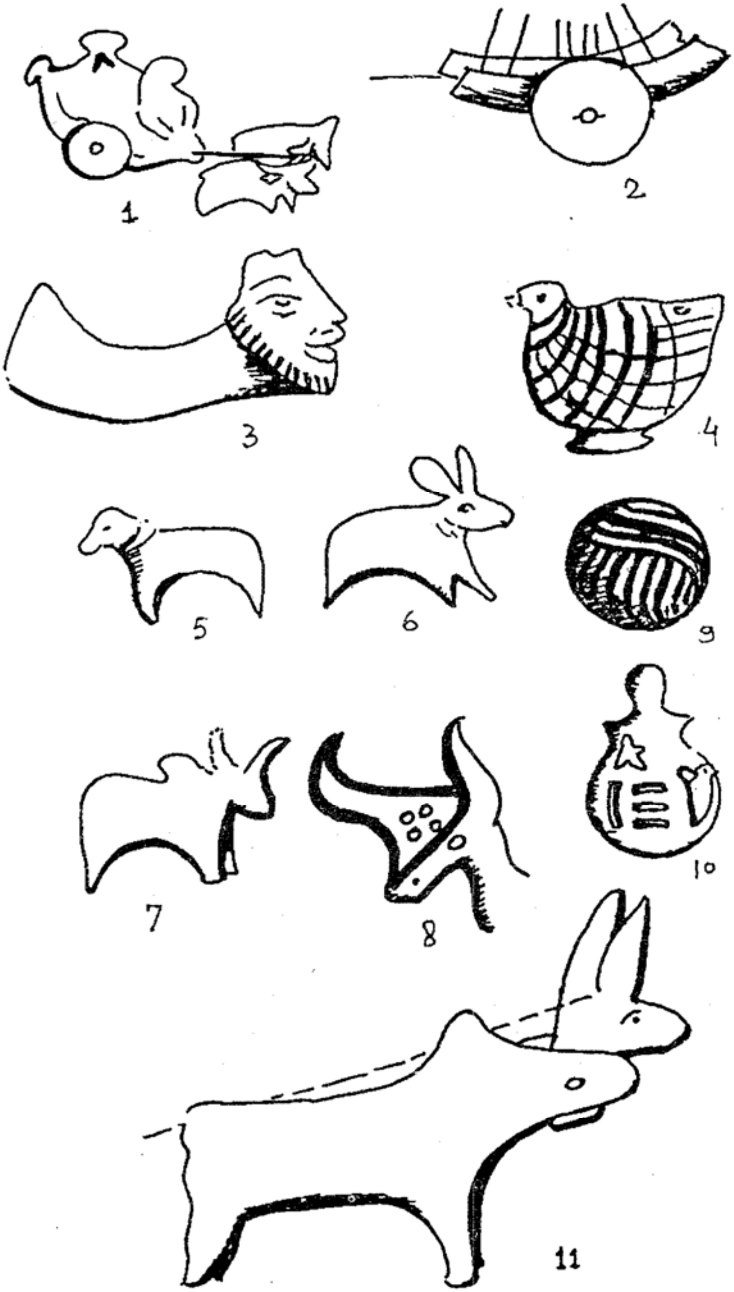
मोहेंजोदड़ो में पुरुष और नारी आकृतियां, दोनों ही अत्यधिक खण्डित अवस्था में पायी गयी हैं। इन भली–भांति पकाई गई मूर्तियों का खण्डित अवस्था में पाया जाना, जबकि मेसोपोटामिया में अधिकांश मूर्तियां बहुत कुछ सुरक्षित रूप में मिली हैं, मकाइ के अनुसार इस बात का द्योतक है कि इन्हें जान–बूझ कर तोड़ा गया था। इस संबंध में उन्होंने दो सुझाव दिये हैं – या तो किन्हीं बाहरी आक्रमणकारियों ने, जो इनसे भिन्न प्रकार के धर्म का पालन करने वाले थे अथवा मूर्ति पूजा के प्रबल विरोधी थे, इन्हें तुड़वाया; या यहीं के लोगों ने धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन के कारण, स्वयं ही तुड़वा दिया। दोनों ही सुझावों को मानने में कठिनाइयां हैं। मिस्र के अख्नाटन नामक राजा ने, जो अपने क्रांतिकारी धार्मिक विचारों के लिए सुप्रसिद्ध है, अपने राज्य में अनेक मूर्तियों को तुड़वाया था। तो क्या कोई ऐसा ही शासक सिंधु सभ्यता में भी हुआ ? लेकिन धार्मिक क्षेत्र में कितना भी राजनियंत्रण रहा हो, ये छोटी–छोटी मिट्टी की मूर्तियां इस तरह की निषेधाज्ञा से ही लोगों ने तोड़ दी हों ऐसा मानने में हिचक होना स्वाभाविक है। अधिक संभावना यह है कि इन्हें घरों के पूजा ठौर में रखा जाता था और कुछ अवसरों पर बाहर भी निकाला जाता था। जब ये टूट जाती थीं तो इन्हें कूड़े की तरह फेंक दिया जाता था।

मोहेंजोदड़ो से घुटने के बल चलते हुए दो बच्चों की मूर्तियां मिली हैं। इन्हें आभूषण पहने दिखाया गया है। मकाइ का कहना है कि इनका भी धार्मिक महत्त्व था। कुछ मानव–मृण्मूर्तियों के आकार–प्रकार से ऐसा लगता है कि इनका उपयोग शतरंज जैसे खेल की गोटी की तरह भी हो सकता था।

पशु आकृतियां

सिंधु सभ्यता की पशु–मूर्तियां मानव–मूर्तियों से कहीं अधिक संख्या में पाई गई हैं (चित्र 42)। ऐसा अनुमान है कि मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में पशु मूर्तियों की संख्या पूरी मूर्तियों की संख्या की तीन चौथाई है। अधिकांश पशु–मूर्तियां मिट्टी की ही बनी हैं। इनके लिए प्रयुक्त मिट्टी मानव मूर्तियों के लिए प्रयुक्त मिट्टी की तरह की हैं। कांचली मिट्टी की बनी पशु मूर्तियों की संख्या भी कम नहीं। अल्प संख्या में पशु–मूर्तियां सेलखड़ी, सीप और हड्डी की भी बनी हैं। हड़प्पा की पशु मृण्मूर्तियों में मोहेंजोदड़ो की पशु मृण्मूर्तियों से अधिक विविधता मिली हैं।

कुछ पशु आकृतियां तो बहुत साधारण कोटि की हैं और इनमें अधिकांश बच्चों के खिलौने हो सकती हैं। कुछ तो स्वयं बच्चों के ही बनाये लगते हैं। कभी–कभी पशु के विभिन्न अंगों को अनुपात में नहीं बनाया गया है। खरगोश की पूंछ को काफी लम्बा दिखाया गया है जब कि बैल की पूंछ को बहुत छोटा। लेकिन कुछ मूर्तियां ऐसी हैं जिनके निर्माता काफी कुशल कलाकार थे और उन्होंने यत्नपूर्वक इन्हें बनाया है।

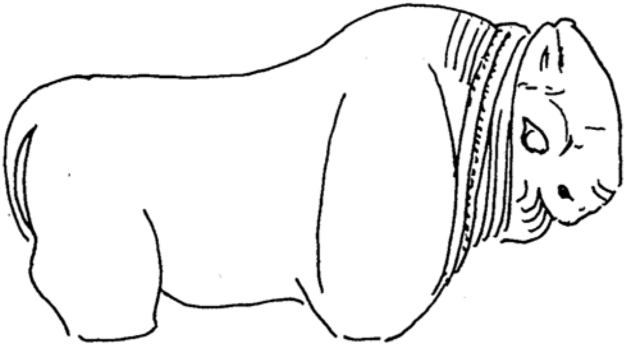


चित्र 42 सिंधु सभ्यता की मिट्टी की पशु--पक्षी आकृतियां और खिलौने

मोहेंजोदड़ो में छोटे सींग और बिना कूबड़ के बैल की मूर्तियां सर्वाधिक संख्या में हैं, और उसके बाद कूबड़ वाले बैल की। दूसरी ओर हड़प्पा में संख्या की दृष्टि से कूबड़ वाले बैल की मूर्तियों के बाद बिना कूबड़ वाले बैल का स्थान है। मोहेंजोदड़ो में वृषभ के बाद मेढ़े की आकृतियां सर्वाधिक मिली हैं और फिर गैंडे की। लेकिन हड़प्पा में गैंडे की आकृतियां मेढ़े की अपेक्षा अधिक मिली हैं। अन्य पशुओं में महिष, हाथी, बाघ, बकरा, कुत्ता, सुअर, खरगोश, गिलहरी, सांप आदि हैं। एक उदाहरण में कुत्ता खरगोश को पकड़े हुए दिखाया गया है। जलचरों में घड़ियाल, कछुआ और मछली की मृण्मूर्तियां हड़प्पा से मिली है। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो की मृण्मूर्तियों में गाय की आकृति नहीं मिलती। राव ने लोथल से गाय की दो मृण्मूर्तियों के मिलने का उल्लेख किया है।

हड़प्पा से एक काल्पनिक पशु के एक ही गर्दन से दो सिर निकलते दिखाए गए हैं। इस मृण्मूर्ति का धार्मिक महत्त्व लगता है। लोथल से प्राप्त एक मृण्मूर्ति में मानव धड़ और पशु का सिर दिखाया गया है। इसी स्थल से प्राप्त एक गोरिल्ला की आकृति के रूपांकन में पर्याप्त यथार्थता दिखती है।

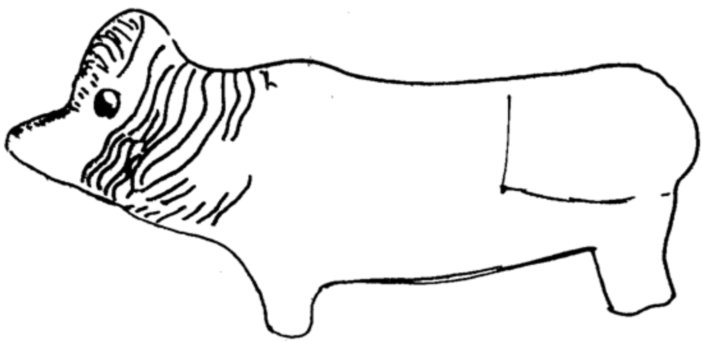
कई प्राचीन सभ्यताओं में बैल शक्ति का प्रतीक माना गया है और शायद सिंधु सभ्यता में भी उसका यही महत्त्व था। छोटे सींग वाला बैल कभी तो गर्दन में मालाओं से लदा है और कभी सिर कुछ नीचे झुकाए है, जैसा कि उसे मुद्राओं पर भी दिखाया गया है। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक छोटे सींग वाले बैल की आकृति (चित्र 43)



चित्र 43 मोहेंजोदड़ो : वृषभ मृण्मूर्ति

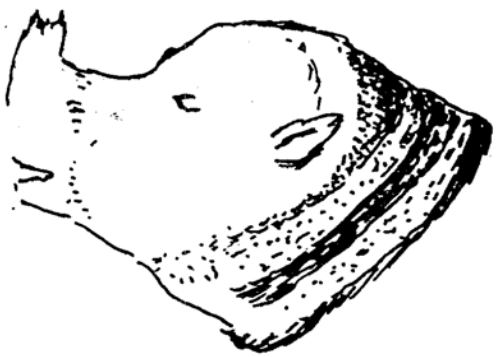
कला की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उसका मांसल शरीर और भावभंगिमा विशेष आकर्षक है और कलाकार की दक्षता का परिचायक है। कला की दृष्टि से इसकी तुलना किसी भी काल की कला के उत्तम उदाहरणों से की जा सकती है। मार्शल का कहना है कि इसके निर्माता में महान् कलाकार होने की पूरी संभावना थी। इसी स्थल

से बैल की एक और कलात्मक मृण्मूर्ति मिली है। (मकाइ, *फ0 ए0,* LXXIX, 30) जो मकाइ ने मार्शल द्वारा वर्णित उपर्युक्त बैल से भी कलात्मक बतलाई है। लोथल से प्राप्त एक बैल की मृण्मूर्ति (चित्र 44) भी कला की दृष्टि से मोहेंजोदड़ो के उपर्युक्त



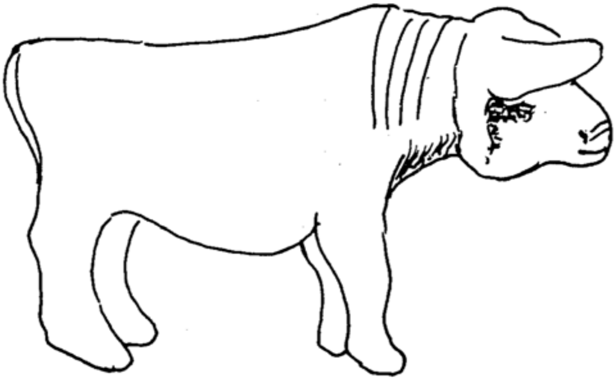
चित्र 44 लोथल : वृषभ मृण्मूर्ति

उदाहरणों के निकट है। कालीबंगां से प्राप्त एक बैल की आकृति को कलात्मक ढंग से आक्रमण की भंगिमा में दिखाया गया है। सुरकोटड़ा में मिट्टी का पहियेदार बृषभ मिला है। सांकलिया ने भावनात्मक दृष्टि से इसकी साम्यता ईरान, ईराक सीमा पर स्थित नुजि नामक स्थल और नेवासा तथा चाण्डोली की इस तरह की मूर्तियों से की है। मोहेंजोदड़ो में मिट्टी के अतिरिक्त पत्थर, तांबें और कांसे से भी बैल की आकृतियां बनी थीं। मेढ़े की आकृतियां मिट्टी से अधिक कांचली मिट्टी की है। कांचली मिट्टी की आकृतियां काफी सावधानी और सफाई से बनी हैं। प्राचीन मिस्र में मेढ़ा पवित्र पशुओं में से एक था। वैदिक साहित्य में उसकी अग्नि के वाहन के रूप में कल्पना की गई है। साधारणतः गैंडे की आकृतियां असावधानी से बनी हैं और भोंडी हैं। ये बालकों अथवा नौसिखिए लोगों के द्वारा निर्मित लगती हैं। लोथल से प्राप्त गैंडें का मिट्टी का बना सिर प्रभावपूर्ण है (चित्र 45)। मिट्टी के महिष की आकृति (चित्र 46) भी मिली हैं। कुछ उदाहरणों में जानवरों की खाल को यथार्थ रूप से दिखाया है।



चित्र 45 लोथल : गैंडे की मृण्मूर्ति

अधिकांश कुत्ते की आकृतियां भी बच्चों की ही कृतियां लगती है। लेकिन कुछ इतनी स्वाभाविक बन पड़ी हैं कि कुत्ते की नस्ल तक पहचानी जा सकती है। मकाइ ने तीन नस्लों को पहचाना है। कुछ उदाहरणों में कुत्ते के गले में पट्टा बांधा दिखाया गया है जो उसके पालतू होने का परिचायक है। मोहेंजोदड़ो से तांबे के कुत्ते की आकृतियां मिली हैं। मोहेंजोदड़ो की मुद्राओं पर तो हाथी का अंकन अनेकशः हुआ है, किंतु मिट्टी की हाथी की मूर्तियां अत्यल्प हैं। सुअर की आकृतियां भी कम ही मिली हैं। गिलहरी की आकृति कांचली मिट्टी में मिली है (चित्र 47)। ये कला की दृष्टि से काफी अच्छी हैं। कुछ खरगोश की मूर्तियां भी मिली हैं। बन्दर की कुछ आकृतियां मिट्टी की और कुछ कांचली मिट्टी (चित्र 48) की हैं। कुछ विभिन्न पशुओं के अवयवों के मेल से बनी आकृतियां भी हैं। आलमगीरपुर से प्राप्त मृण्मूर्तियों में एक रीछ और एक सांप की आकृति उल्लेखनीय है। एक जानवर के धड़ की आकृति मोहेंजोदड़ो के अन्तिम प्रकाल में पायी गयी है जो घोड़े की लगती है। रंगपुर और लोथल (चित्र 49) तथा बणावली की मूर्तियों में भी घोड़े की पहचान हुई है। यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि हड़प्पा की खुदाई में घोड़े की हड्डियां नहीं मिली हैं। मोहेंजोदड़ो में जो सबसे ऊपरी सतह पर घोड़े की हड्डियां मिली हैं उन्हें कुछ विद्वानों ने सिंधु सभ्यता के बाद का आंका है। लोथल के अपेक्षाकृत बाद के चरण में कुछ हड्डियों को घोड़े की हड्डी पहचाना गया है। यह उल्लेखनीय है कि बलूचिस्तान के रानाघुंडई नामक स्थल से घोड़े की हड्डियां सिंधु सभ्यता से कहीं पहले के काल के स्तरों में मिली हैं। कांचली मिट्टी के सर्प की आकृति में सिर और विषदन्त भी अलग से जोड़े गए होंगे। कांचली मिट्टी और सीप के बने बैल के सिर में आंख और कान के लिए छेद बने हैं। बच्चों के खिलौने में सीटियों के अतिरिक्त पहियेदार मिट्टी की गाड़ियां भी सम्मिलित हैं। इनके आकार–प्रकार



चित्र 46 मोहेंजोदड़ो महिष मृण्मूर्ति



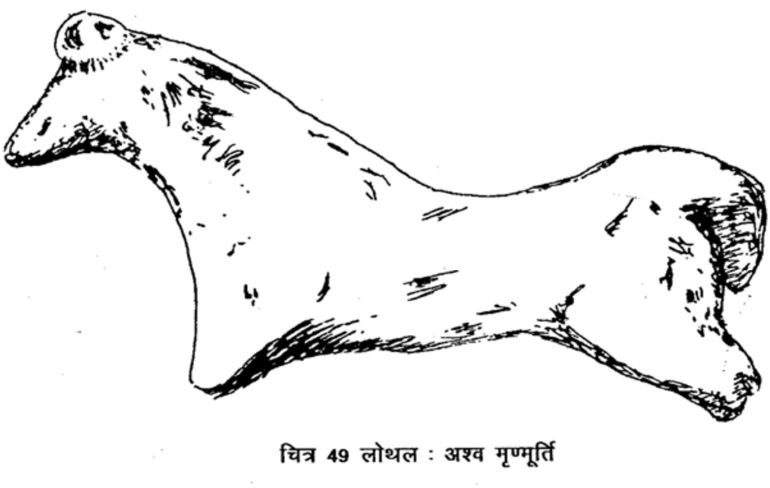
चित्र 47 मोहेंजोदड़ो : कांचली मिट्टी की गिलहरी

में दर्शनीय विभिन्नता है। कुछ गाड़ियां इक्के जैसी भी है। इन गाड़ियों को खींचने वाले बैलों की आकृतियां विशेष आकर्षक नहीं हैं तथा उनमें सींग, कूबड़ तथा पैर बहुत भोंडे हैं (चित्र 42. 1)। पशु आकृतियों के शरीर की सूक्ष्मताएं भी दिखायी गयी हैं। अंगों के उभार बड़ी कुशलता से प्रदर्शित हैं।

मकाइ ने मोहेंजोदड़ो की पशु–मृण्मूर्तियों की निर्माण शैली के बारे में अध्ययन किया है। उनके अनुसार मानव मृण्मूर्तियों के विपरीत पशु मृण्मूर्तियां खोखली हैं। इससे स्पष्ट है कि पशु मृण्मूर्तियां किसी ऐसी वस्तु के आधार पर बनाई गई हैं जो पकाने पर नष्ट हो गया और इसलिए अंदर खोखली हैं। जो आकृतियां पूरी मिली हैं उनमें एक छेद मिलता हैं जो अन्दर की आधार वस्तु के जलने से उत्पन्न गैस को निकालने के लिए अभिप्रेत था। सांचे से बनी पशु–मृण्मूर्तियों के एक दो ही उदाहरण मोहेंजोदड़ो में प्राप्त हुए हैं। नौशारो से सांचे से निर्मित दो मूर्तियां पाई गई हैं जिनमें से एक में हाथी तथा बैल और दूसरे में बाघ अंकित है। गज–वृषभ का संयुक्त अंकन ऐतिहासिक काल में भी मिलता है।



चित्र 48 मोहेंजोदड़ो : कांचली मिट्टी का बंदर



चित्र 49 लोथल : अश्व मृण्मूर्ति

मोहेंजोदड़ो की कुछ पशु मृण्मूर्तियों में आंख को यथार्थ की भांति दिखाया गया है। मिट्टी में पहले कुछ गहराई तक गड्ढा सा बना, उसके भीतर गीली मिट्टी की टिक्की भर कर पुतली दिखाई गई है। झुर्रियों को रेखाओं द्वारा और खाल की परत को मिट्टी की पट्टियां चिपका कर दिखाया गया है। इन मिट्टी की पशु–आकृतियों पर लेप लगाया गया था और कुछ को चित्रित भी किया गया था।

पक्षी–आकृतियां

सिंधु सभ्यता की कला में पक्षियों को बैठे, उड़ते और चोंच खोले दिखाया गया है। मोहेंजोदड़ो की मृण्मूर्तियों में पक्षियों की ठीक प्रकार पहिचान करना कठिन है। पक्षियों की कुछ मूर्तियां अन्दर खोखली हैं तथा उनमें एक छेद है। इनका व्यवहार संभवतः सीटी की तरह किया जाता था। यदि मुंह को छेद पर रखकर फूंक मारी जाय तो सीटी की सी आवाज पैदा होती है। ये घुग्घू (फाख्ता) की आकृतियां लगती हैं। हड़प्पा के उत्खननों में प्राप्त मृण्मूर्तियों से वत्स ने फाख्ता के अतिरिक्त बतख, मोर, मुर्गी, चील, कबूतर, गौरैया, तोता, उल्लू आदि पक्षियों की पहचान की हैं। हड़प्पा की कुछ मूर्तियों में पक्षियों के शरीर में जहां से टांग शुरू होती है वहां छेद बने हैं। स्पष्ट है कि इन छेदों में टांग अलग से बनाकर जोड़ी गई होगी। धौलावीरा से एक चित्रित पक्षी मिला है। हड़प्पा के कुछ उदाहरणों में इस बात के साक्ष्य मिलते हैं कि कुछ में पंख भी अलग से बनाकर जोड़े गए होंगे। कुछ चिड़ियों के पंख को उभरा दिखाया गया है। चिड़ियों को अधिकांशतः किसी आधार पर स्थित दिखाया गया है। इस बात के साक्ष्य हैं कि चिड़ियों को स्वाभाविक दिखाने के लिए उन्हें अनुरूप रंगों से रंगा गया था।

अध्याय 5

मुद्राएं, मुद्रा–छापें तथा ताम्र–पट्ट

मुद्राएं

मुद्राओं का प्रयोग

सिंधु सभ्यता की मुद्राएं तथा ताम्र–पट्ट (चित्र 50, चित्र 51, चित्र 52 तथा चित्र 53) विशिष्ट प्रकार की हैं। प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण नगर स्थलों के उत्खनन



चित्र 50 सिंधु सभ्यता की मुद्राएं

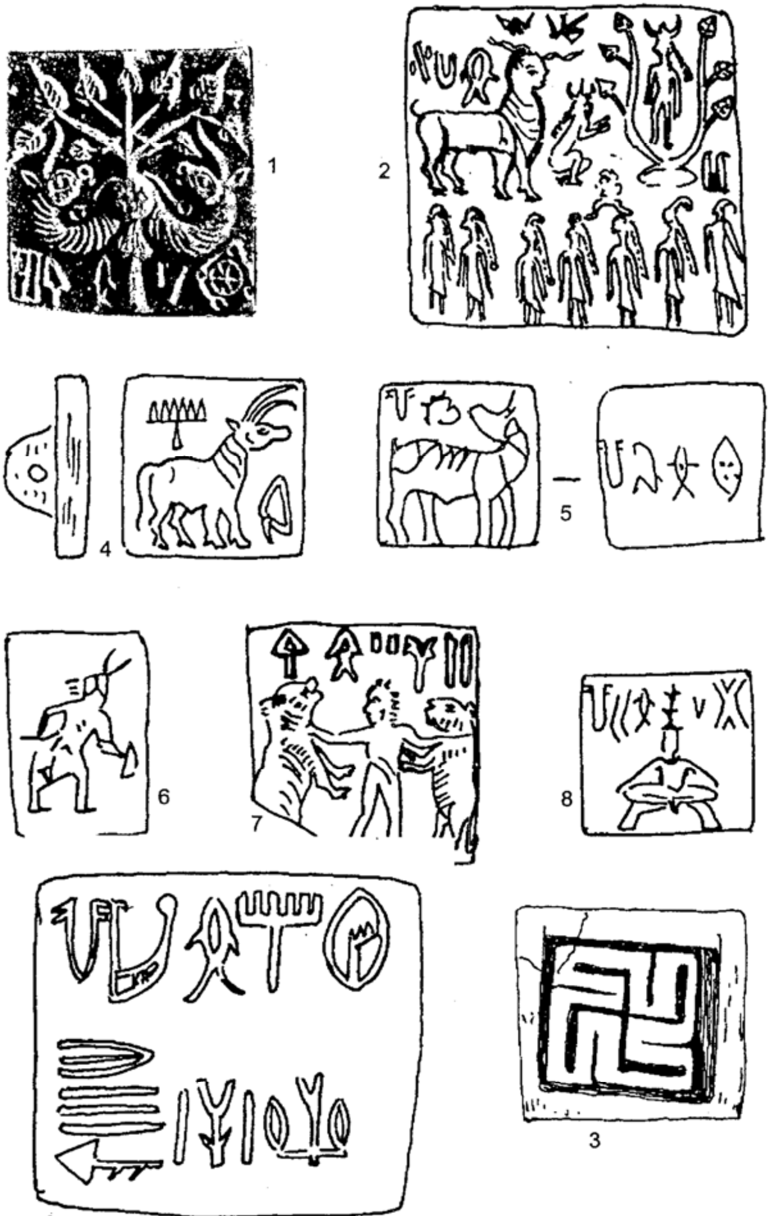
से मुद्राएं मिली हैं। इनमें से अधिकांश पर चित्रलिपि में लेख, जो साधारणतया 3 से लेकर 8 अक्षर वाले हैं, और पशु–आकृतियां बनी हैं। कुछ पर केवल लेख हैं और कुछ पर केवल अभिप्राय। मोहेंजोदड़ो से कुल मुद्राओं का 68 प्रतिशत मुद्राएं प्राप्त हुई हैं, और 19 प्रतिशत हड़प्पा से, शेष अन्य स्थलों से कुल मिलाकर 13 प्रतिशत ही मुद्राएं

मिली हैं। प्रारंभ में विद्वान् इस बात पर एकमत नहीं थे कि इनके उपयोग मुद्रा के लिए था अथवा ताबीज के रूप में यद्यपि ऐसा भी मत प्रकट किया गया है कि इन्हें विवाह



चित्र 51 सिंधु सभ्यता की मुद्राएं

के अवसर पर स्मृति चिन्ह स्वरूप भेंट किया जाता था पर यह शायद ही किसी को स्वीकार हो। इसका कारण यह था कि मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा और चन्हुदड़ो के उत्खननों



चित्र 52 सिंधु सभ्यता की मुद्राएं



चित्र 53 सिंधु सभ्यता की मुद्राएं और ताम्र–पट्ट

से मुद्राओं की उपलब्धि तो सैकड़ों की संख्या में हुई थी किन्तु उनकी छाप नहीं के बराबर प्राप्त हुई थी। मुद्राओं के पीछे घुण्डियां होने के कारण कुछ विद्वानों ने उनके ताबीज होने की बात कही थी लेकिन दूसरे विद्वानों ने घुंडी शरीर के लिए कष्टप्रद होने के कारण इनको ताबीज की तरह प्रयुक्त होने में संदेह व्यक्त किया था, और कुछ विद्वानों ने मुद्रा के संदर्भ में घुण्डी की उपयोगिता भी दर्शाई। यह भी उल्लेखनीय है कि मुद्राओं पर जो लेख और अभिप्राय खुदे हैं उनका शुद्ध रूप उनकी छाप में मिलते हैं इसलिए भी इनका ताबीज के रूप में प्रयोग समीचीन नहीं लगता। किंतु केवल इससे ही ताबीज मानने वाले मत का निश्चित रूप से खण्डन नहीं हो सका था। कुछ ही वर्ष पूर्व लोथल में किये गए उत्खननों से न केवल मुद्राएं, अपितु अनेक मुद्राओं की छापें भी उपलब्ध हुई हैं। उसके बाद कालीबंगां से भी कुछ मुद्रा–छापों के उदाहरण मिले हैं। इन छापों में कुछ पर पृष्ठ भाग पर जिस वस्तु पर उसे बांधा गया था उसके निशान हैं। लोथल से 65 मिट्टी की मुद्रा छाप मिली जिनके पीछे कपड़ा, सरकंडे तथा रस्सी के निशान हैं। स्पष्ट हो गया है कि वे मुद्राएं ही थीं जिनकी छापें, पत्र, पार्सल आदि वस्तुओं को मुहरबंद करने के लिए प्रयुक्त की जाती थीं। यों कालीबंगां और लोथल की खुदाइयों से पूर्व भी बेबीलोनिया के एक स्थल से सिंधु सभ्यता की किसी मुद्रा की मिट्टी पर छाप मिली थी जिसके पीछे कपड़ा चिपके होने के निशान थे। विद्वानों ने इससे यह निष्कर्ष निकाला था कि यह मुद्रा–छाप सिंधु सभ्यता के किसी स्थल से भेजे गये कपड़े में लपेटे गट्ठर पर लगायी गयी थी। लोथल की एक मुद्रा छाप पर भी कपड़े के स्पष्ट निशान मिले (चित्र 50. 3)। स्पष्ट है कि अधिकांश सिंधु सभ्यता की मुद्राएं, ऐतिहासिक काल की मुद्राओं की भांति पत्र अथवा पार्सल पर छाप लगाने के लिए प्रयुक्त होती रही होंगी। छापें बहुत रही होंगी लेकिन मिली बहुत कम हैं। इसका कारण यह है कि जब तक कि छाप लगी मिट्टी को पकाया न गया हो या वह विशेष तरह से तैयार न की गयी हो तो भूमि की नमी और लवण के कारण नष्ट हो जायेगी। लोथल से एक कपड़े पर एक से अधिक मुद्रा छापें हैं जो, जैसे केन्योर ने सुझाया है, या तो कई व्यापारियों द्वारा साझा व्यापार करने से अथवा माल का निरीक्षण कर एक से अधिक अधिकारियों द्वारा मुद्रा छाप लगाई गई थी। किंतु ऐतिहासिक काल की भांति ही कुछ छापें मन्नत–चढ़ावा, स्मृति–चिन्ह अथवा परिपत्र के रूप में भी प्रयुक्त होती रही होंगी; ऐसी मुद्रा–छापों के पीछे की ओर रस्सी आदि के निशान नहीं होते। कालीबंगां की अग्निवेदिकाओं के संदर्भ में एक ही स्थान पर एक ही तरह के लेख वाली 7 मुद्राएं मिली हैं जिनके पीछे न कपड़ा, न सरकंडा और न रस्सी के ही निशान है। अतः जैसे लाल ने सुझाया है यह पत्र अथवा पार्सल पर छाप लगाने के लिए नहीं थी। इसका धर्मिक अनुष्ठान में प्रयोग हुआ था। लाल यह भी सुझाते हैं कि 'शिव–पशुपति' के अंकन वाली मुद्रा का भी धार्मिक महत्त्व लगता है, उसका शायद ही छाप लगाने के लिये प्रयोग किया गया हो।

मुद्राओं का कालक्रम

मार्शल, मकाइ आदि के द्वारा किये गये उत्खननों से यह ज्ञात नहीं होता कि मुद्राओं का कोई प्रकार विशेष नगर के प्राथमिक, माध्यमिक अथवा अंतिम काल की विशेषता है। लेकिन वत्स ने हड़प्पा के एक टीले के उत्खनन के साक्ष्य के आधार पर बताया है कि प्रारंभिक (निम्न) स्तरों में अधिकांश मुद्रायें छोटे आकार की मिलीं, जिनकी माप 1. 77 से 0. 91 सेमी लम्बी, 1. 52 से 0. 51 सेमी चौड़ी और 1. 27 सेमी मोटी थी। सबसे नीचे वाले स्तर में केवल छोटे आकार की ही मुद्रायें मिलीं। इन छोटी मुद्राओं पर बाद की मुद्राओं के समान एक–शृंगी पशु या बैल, हाथी, गैंडा जैसे महत्त्वपूर्ण पशु अंकित नहीं, और न उनके पीछे घुंडी या छेद ही है। इनमें अधिकांश पर एक ओर कुछ अक्षर चिह्न और दूसरी ओर एक अभिप्राय मिलता है जो या तो ज्यामितीय है अथवा किसी पशु – घड़ियाल या मछली, या बकरी या खरगोश का अंकन। चार मुद्राओं पर उसी तरह के ध्वज का अंकन है जिस तरह का एक–शृंगी पशु के साथ दिखाया जाता है। लेख लापरवाही से खुरचे हैं, खोदे नहीं गये हैं। वत्स का कहना है कि इस तरह के उथले लेख छाप में तो कुछ भी नहीं दिखेंगे, अतः ये मुद्रायें छाप लगाने के लिए नहीं थी, और इन पर अंकित अक्षर सीधे ही पढ़े जाने चाहिए, छाप लगाकर नहीं। एक ही लेख इस तरह की अनेक मुद्राओं पर मिला है (उदाहरणार्थ एक लेख तेईस मुद्राओं पर मिला है)। वे इन्हें उपर्युक्त कारणों से और इनके अत्यंत छोटे आकार के कारण निश्चित रूप से ताबीज के लिए प्रयुक्त मानते हैं। वत्स द्वारा इन लघु मुद्राओं के लिए प्रस्तुत काल–क्रम संबंधी साक्ष्य हड़प्पा के संदर्भ में भले ही सही हो, लोथल में छोटे आकार की मुद्राएं सामान्य मुद्राओं के साथ प्रारंभ से लेकर अंत तक के चरणो में मिली हैं।

ग्रामीण स्थलों में मुद्राओं का अभाव

यह उल्लेखनीय है कि आलमगीरपुर तथा सिन्धु सभ्यता के अन्य कई 'ग्राम' स्थलों के उत्खननों में एक भी मुद्रा अथवा उसकी छाप नहीं उपलब्ध हुई है। आलमगीरपुर सिंधु सभ्यता की साधारण लघु ग्रामीण बस्ती थी। हड़प्पा संस्कृति के जिस रूप के वहां दर्शन होते हैं उससे प्रतीत होता है कि लोग पूर्वजों द्वारा निर्मित कलापूर्ण वस्तुओं के निर्माण के प्रति शनैः–शनैः उदासीन होते जा रहे थे। रोपड़ से एक (और वह भी निर्माण शैली की दृष्टि से निम्न कोटि की) मुद्रा, सुरकोटड़ा से एक, और कालीबंगा से कुल आठ मुद्राएं मिली हैं। दाइमाबाद से एक बटन की आकृति की मोहर पर सिंधु लिपि के चिन्ह हैं। लगता है यहां के जनजीवन में व्यापारिक जटिलताओं, विशेषतः विदेशी व्यापार का अभाव था। दूसरी ओर हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो और लोथल जैसे व्यापारिक केन्द्रों में विशाल संख्या में मुद्राएं मिली हैं। सभी मुद्राओं के निर्माण में एक ही जैसी सावधानी और कलात्मकता नहीं दिखती। कुछ अपेक्षाकृत असावधानी से बनी हैं तो कुछ में कलाकार ने उन्हें कलात्मक बनाने में कोई कसर

नहीं रखी। अभिप्राय का कलात्मक अंकन युक्त मुद्राएं विश्व की सर्वोत्तम कलाकृतियों में अपना स्थान रखती हैं।

आकार–प्रकार एवं निर्माण वस्तु

सिंधु सभ्यता की मुद्राएं विभिन्न पदार्थों से निर्मित की जाती थी, किंतु सबसे अधिक सेलखड़ी की हैं। कांचली मिट्टी की मुद्राएं भी पर्याप्त संख्या में मिली हैं। थोड़ी सी मुद्राएं गोमेद, चर्ट और मिट्टी की भी हैं। लोथल और देसालपुर से तांबे की मुद्राएं मिली हैं जो पीछे छेद होने के कारण ताम्र फलकों से भिन्न हैं। आकार–प्रकार की दृष्टि से मुद्राओं में विविधता है। ये वर्गाकार, चतुर्भुजाकार, बेलनाकार, बटन–जैसी, घनाकार और गोल हैं। मोहेंजोदड़ो से कुल पाँच बेलनाकार मुद्राओं के उदाहरण उपलब्ध हुए हैं। एक बेलनाकार मुद्रा कालीबंगां से मिली (चित्र 51. 7) और एक दाइमाबाद से जोर्वे संस्कृति के संदर्भ में मिली। ये बेलनाकार मुद्राएं हड़प्पा संस्कृति की अन्य मुद्राओं से पूर्णतः भिन्न हैं। इस प्रकार की मुद्राएं कुछ अन्य देशों, विशेषतया प्राचीन मेसोपोटामिया में लोकप्रिय थीं। सिंधु सभ्यता में ऐसी मुद्रायें बहुत कम मिलने से स्पष्ट है कि सुमेरी सभ्यता से संपर्क होने के बावजूद मुद्रा के निर्माण में सिंधु–सभ्यता के लोगों ने अपनी अलग विशिष्टता बनाए रखी। बेलनाकार मुद्राओं को गीली मिट्टी, मोम या लाख पर इस तरह लुढका कर लगाया जाता था जिससे दृश्य–चित्र बन जाता था। इन मुद्राओं में कुछ पर सिंधु सभ्यता के अभिप्राय हैं। ब्रजवासी लाल ने सुझाया है कि ये मेसोपोटामिया से व्यापार करने वाले सिंधु सभ्यता के व्यापारी की लगती है। लोथल से एक बटन की तरह गोल मुद्रा मिली है जिसके पीछे घुंडी है। छाप लगाने वाली तरफ एक दुमुहें राक्षस के दोनों ओर एक–एक कूद भरते हिरन दिखाये गए हैं। इस तरह की कई मुद्राएं फारस की खाड़ी के समीप के भू–भागों से मिली हैं और इनकी तिथि सारगन से कुछ बाद की है। ठप्पे लगाकर प्रयोग की जाने वाली मुद्राएं सीरिया में हलाफ काल से मिलती हैं। पर उन पर जो अभिप्राय हैं वे ज्यामितीय हैं, जब कि सिंधु सभ्यता की अधिकांश मुद्राओं पर पशु की आकृति है। प्राचीन ईरान में ठप्पे लगाने वाली मुद्राओं का प्रचलन था। लेकिन बलूचिस्तान में प्राग्–सिंधु सभ्यता के संदर्भ में मुद्रा नहीं मिलती जिससे ईरान का भी सीधा प्रभाव इस संदर्भ में होने की अधिक संभावना नहीं लगती। बलूचिस्तान के पुरास्थलों से जो थोड़ी बहुत मुद्राएं उपलब्ध हुई हैं, वे सभी सिंधु सभ्यता में निर्मित हुई लगती हैं।

वर्गाकार मुद्राएं प्रायः सभी सेलखड़ी की हैं और सिंधु सभ्यता के नगरों में ये बहुत लोकप्रिय थीं। कांचली मिट्टी की एक वर्गाकार मुद्रा कुन्तसी से मिली है। सेलखड़ी की वर्गाकार मुद्राएं दो प्रकार की हैं – छिद्रयुक्त घुण्डीदार और बिना घुण्डीवाली। घुण्डीदार मुद्राओं का आकार 1. 27 X 1. 27 सेमी और 6. 86 X 6. 86 सेमी. तक है। मुद्रा का सबसे अधिक प्रचलित्त आकार 2. 8 X 2. 8 सेमी. है। इस प्रकार

की मुद्राओं पर पशु की आकृति के साथ अभिलेख हैं जो एक अथवा दो पंक्तियों में लिखा मिलता है। जिन वर्गाकार मुद्राओं के पृष्ठ भाग में घुण्डी नहीं है उनका आकार साधारणतया 2. 8 X 1. 27 सेमी. तक है और इन पर अभिलेख प्रायः दोनों ओर है। इस तरह की कुछ मुद्राओं के पृष्ठ भाग में छेद भी मिलता है। इनकी संख्या अधिक नहीं है। घुण्डी–विहीन आयताकार मुद्राओं की संख्या बहुत कम है। ये भी अधिकांशतया सेलखड़ी की हैं, केवल थोड़ी सी ही मुद्राएं मिट्टी की हैं। इनमें कई ऐसी हैं जिनके दोनों ओर लेख हैं। ये 1. 33 सेमी x 2. 8 सेमी आकार की हैं। बिना घुण्डी की आयताकार मुद्राएं भी कम ही हैं। बटन जैसी मुद्राओं पर, जो सेलखड़ी और कांचली मिट्टी की हैं, अधिकांशतया स्वस्तिक का चिह्न बना है। ऐसी मुद्राओं पर स्वस्तिक का चिह्न क्रीट, कैपेडोसिया व ट्राय में भी लोकप्रिय था। बटन जैसी मुद्राओं पर मिले स्वस्तिक की तरह का अलंकरण सूसा और मुसयान के मृद्भांड पर भी मिलता है। छेददार घुंडीयुक्त आयताकार और वृत्ताकार और बिना घुंडी वाली वृत्ताकार मुद्राएं सेलखड़ी और मिट्टी की हैं। इनकी संख्या भी अधिक नहीं हैं। घनाकार मुद्राओं की संख्या भी कम है। इनके प्रत्येक ओर की माप 1. 44 सेमी तक है। यह बलुए पीले रंग के पेस्ट की बनी हैं, जिस पर कुछ चमक भी है। इनमें से कुछ पर दो तरफ एक दूसरे को काटती रेखाएं हैं और एक ओर मुद्रा छाप है जिसमें एक–शृंगी पशु दिखाया गया है।

मुद्राओं पर अंकन

अधिकांश मुद्राओं पर लेख और पशु आकृति है। कुछ अपवादों को छोड़कर पशु बायीं ओर मुंह किये दिखलाया गया है। लेकिन छाप लगाने पर पशु दायीं ओर मुख किये दिखेगा। चूंकि मुद्राओं से छाप ही लगाई जाती थी, अतः छाप पर जैसा पशु दिखेगा वही मुद्रा–निर्माता को दिखाना अभिप्रेत था। अतः हम पशुओं को दायीं ओर मुख किया हुआ ही उल्लेख करेंगे। सिंधु सभ्यता संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों में मुद्राओं का चित्र नहीं, उनसे लिये गये छापों का चित्र छपा है, ताकि अभिप्रेत रूप का ही अवलोकन हो। एक–शृंगी पशु (चित्र 51. 1) की आकृति का कुछ भाग बैल और कुछ हिरन जैसा है। या तो कलाकार का उद्देश्य एक ही शृंग दिखाना था या दूसरा शृंग पशु का पार्श्व चित्रण होने के कारण दिखाये गये शृंग से छिपा समझना चाहिए, जिस कारण कलाकार ने उसे अभिव्यक्त नहीं किया। किंतु इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि पार्श्व में अंकित होने पर भी बैल की आकृतियों के दोनों शृंग दिखाये गये हैं। इस पशु के सम्मुख एक वस्तु का अंकन मिलता है जो एक डण्डे पर आधारित एक के ऊपर एक बर्तन की तरह लगता है (फ0 XVII, 1)। इस अभिप्राय की पहचान कुछ ने पिंजड़े से की है, लेकिन कुछ विद्वानों का कहना है कि यदि इसका अभिप्राय पिंजड़े को दिखाना होता तो कलाकार ने उसमें चिड़िया भी दिखाई होती। इसमें दोनों बर्तनों (?) को बीच से पार करता हुआ डण्डा दिखलाया गया है।

नीचे वाला बर्तन कटोरे की तरह का है। इसका प्रयोजन पशु के लिए भेंट की गई वस्तु के रखने के पात्र को दिखलाना हो सकता है। एक मुद्रा से ली गई दो छापों में चार व्यक्तियों को एक कतार में दिखाया गया है, और प्रत्येक ध्वज लिए हुए हैं। इनमें से एक ध्वज पर एक शृंगी–पशु और एक पर उसी तरह का दो बर्तनों वाला अभिप्राय है जैसा कि एक–शृंगी पशु के सामने रखा दिखाया गया है लेकिन अभिप्राय के स्थान पर मछली दिखाई गई है। यह मुद्रा किसी भारतीय द्वारा बनायी अथवा भारतीय प्रभाव से बनी हुई लगती है। सिंधु सभ्यता का यह ध्वज या धूपदानी प्रकार इस सभ्यता तक ही सीमित लगता है। वैसे कुल्ली के एक बर्तन पर बैल को मुद्राओं पर अंकित दो बर्तनों से बने अभिप्राय से मिलते–जुलते अंकन से बंधा दिखाया गया है। मिस्र की प्राचीन सभ्यता में ध्वज के साथ जन समूह दिखाने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। यह एक धार्मिक परंपरा थी। हो सकता है कि हड़प्पा संस्कृति की मुद्राओं पर अंकित ध्वजों का भी कुछ धार्मिक महत्त्व रहा हो।

मुद्राओं पर छोटे सींगों वाले बैल का अंकन भी लोकप्रिय था। मुद्राओं पर इनके पर्याप्त उदाहरण हैं। इन पशुओं को प्रायः सिर नीचा किये और थोड़ा एक ओर घुमाए चित्रित किया गया है, मानों वह क्रुद्ध हो और आक्रमण करने के लिए तैयार हो। बैल की मिट्टी में बनी आकृतियों में भी उसे क्रोध की मुद्रा में दिखाया गया है। कुछ मुद्राओं पर बैल के कंधे और गलकंबल को बड़ी कुशलता से व्यक्त किया गया है। आकृति के अंकन में अतीव सजीवता है। बैल के आगे एक नांद दिखाया गया है। इस तरह के नांद के अभिप्राय वाली एक बेलनाकार मुद्रा सूसा में मिली है। मकाइ का मत है कि शायद इस मुद्रा का निर्माण किसी प्रवासी भारतीय के लिए एलम के कारीगर ने किया हो। उर के उत्खननों में एक मुद्रा पुराविद् वूली को अक्कद के सारगन के काल के स्तर में मिली थी जिसमें इसी तरह का बैल और नांद बना है, किंतु उस पर लेख कीलाकार लिपि में हैं। जो भी इस मुद्रा का स्वामी रहा होगा वह भारतीय कला–अभिप्राय से परिचित था। ब्रिटिश संग्रहालय में बेबीलोनिया के किसी प्राचीन स्थल से प्राप्त मुद्रा पर भी यह अभिप्राय अंकित है।

मुद्राओं पर कूबड़ वाले बैल की आकृतियां (चित्र 51. 2) विशेष कुशलता से बनायी गयी हैं। वास्तव में ये सिंधु सभ्यता की कला के चरम विकास की झांकी प्रस्तुत करती हैं। मोहेंजोदड़ो से उपलब्ध एक मुद्रा (मार्शल की सं. 337) पर अंकित बैल की आकृति की कलात्मकता की मार्शल ने भूरि–भूरि प्रशंसा की है। अंगों के उभार और शरीर के अनुपात में जो विशिष्टता दिखाई गई है वह अपूर्व है। कलाकार ने यथार्थ और कल्पना के सुंदर सम्मिश्रण से इस मुद्रा को बहुत तन्मयता और कुशलता से बनाया है। इस छोटी सी मुद्रा के सीमित क्षेत्र में अपेक्षाकृत विशालकाय बैल का इस तरह अंकन किया गया है कि उसकी विशालकायता का पूरा आभास मिल जाता है। खड़े दिखाये जाने पर भी उसमें अत्यधिक गतिशीलता लगती है। पशु को पार्श्व में

दिखाते हुए भी उसके दोनों सींग कलाकार ने दिखाए हैं। यद्यपि ऐसा दिखाना यथार्थता की दृष्टि से सही नहीं, तथापि कला की दृष्टि से दोनों सींगों के दिखाने से आकृति की सुन्दरता और भी बढ़ जाती है, और सामान्य दर्शक का ध्यान इस त्रुटि की ओर जाता ही नहीं। प्राचीन सुमेर अथवा एलम की कला में कूबड़ वाले बैल की आकृतियां नहीं मिलतीं। अपवाद स्वरूप इसका उदाहरण बेबीलोन में गुडिया (Gudea) के समय के एक चूना पत्थर पर निम्न उद्भृत रूप में प्राप्त होता है। नाल संस्कृति के एक मृद्भाण्ड पर भी इस प्रकार के बैल की आकृति चित्रित है।

पालतू और जंगली भैंसे की आकृतियां अपेक्षाकृत यर्थाथवादी ढंग से अंकित हैं। भैसे को सिर नीचा किए रंभाते दिखाया है, मानों कि वह लड़ने के लिए उतारू हो। अन्य पशुओं में व्याघ्र, हाथी और गैंडे का चित्रण हुआ है। व्याघ्र का चित्रण सिंधु सभ्यता के संदर्भ में सिंधु घाटी के ही स्थलों में मिलता है। इस घाटी से बाहर केवल एक उदाहरण कालीबंगां की मुद्रा पर किया गया इस पशु का अंकन है। व्याघ्र अब सिंधु क्षेत्र में नहीं पाया जाता है, किंतु एक शताब्दी पूर्व तक उसके यहां पर पाये जाने के साक्ष्य हैं। एक मुद्रा पर एक मनुष्य वृक्ष की शाखा पर बैठा दिखाया गया है। शाखा के नीचे खड़ा व्याघ्र उसे बड़े ध्यान से देख रहा है। यह चित्रण नव–बेबीलोन–कालीन मुद्रा के चित्रण से साम्य रखता है। किश से उपलब्ध इस युग की एक मुद्रा पर भी एक ऐसे ही दृश्य का अंकन हैं, किंतु व्याघ्र के स्थान पर इसमें लकड़बग्घा दिखलाया गया है।

मुद्राओं पर हाथी की आकृति का अंकन (चित्र 51. 3) भी पर्याप्त लोकप्रिय था। इस पशु का चित्रण वास्तविकता के अनुरूप हुआ है। कुछ विद्वानों के मतानुसार भारतीय और अफ्रीकी दोनों प्रकार के हाथियों का अंकन हुआ है। यह उल्लेखनीय है कि अब सिंध में हाथी नहीं पाये जाते। गैंडे (चित्र 50. 4) के पृष्ठ भाग और पैर अनुपात से बनाये गये हैं ओर चर्म की सिकुड़न और तहें स्वाभाविक रूप से दिखाई गई हैं। खुरदुरे अधिमांस दिखाने के लिए छोटे गोल चिह्न अंकित हैं। टेल अस्मर से फ्रैंकफोर्ट को एक वर्तुलाकार मुद्रा मिली थी जिस पर गैंडे और घड़ियाल के साथ हाथी भी चित्रित है। अनुमानतः मुद्रा का निर्माण भारत में ही हुआ था, और वह सुमेर में स्थित किसी भारतीय व्यापारी द्वारा प्रयोग में लायी गयी थी। नांद के साथ गैंडे और बाघ को तो अनेक, किंतु हाथी को थोड़ी ही मुद्राओं पर दिखाया गया है। घड़ियाल भी कम मुद्राओं पर अंकित मिला है। चन्हुदड़ो की एक मिट्टी की मुद्रा पर तीन घड़ियालों का अंकन है। इसके दूसरी ओर अभिलेख है। हड़प्पा की एक मुद्रा पर गरुड़ दिखाया गया है। गरुड़ के फैले पैरों के ऊपर दो सांप दिखाए गए हैं। मेसोपोटामिया और एलम में गरुड़ क्ला का एक लोकप्रिय अभिप्राय था। हड़प्पा की मुद्रा पर खरगोश का अंकन है। हिरन का अंकन बहुत कम हुआ है जबकि सुमेरी मुद्राओं पर इस पशु का अंकन काफी मिलता है।

कुछ मुद्राएं विशेष रूप से धर्म से संबंधित लगती हैं। मोहेंजोदड़ो की एक मुद्रा (चित्र 50. 1) पर देवता (शिव–पशुपति) की आकृति के साथ हाथी, बाघ, गैंडा, भैंसा (अथवा बैल) और हिरन दिखाए गए हैं (विस्तार के लिये अध्याय 'धार्मिक विश्वास और अनुष्ठान')। इसमें प्रथम चार पशु एक अन्य मुद्रा पर भी अंकित हैं, जिनमें केन्द्र में एक बिच्छू भी दिखाया गया है। बिच्छू का यह अंकन इंने–गिने उदाहरणों में से है। उल्लेखनीय है कि उर से प्राप्त सिंधु सभ्यता की एक मुद्रा पर भी बिच्छू दिखाया मिलता है। एक अन्य मुद्रा में वृक्ष की दो शाखाओं के मध्य एक शृंगयुक्त आकृति है, उसके समीप ही एक दूसरी इसी तरह की आकृति उससे प्रार्थना कर रही लगती है। दूसरी आकृति के पीछे एक बकरा और नीचे सात मानव आकृतियां हैं। एक मुद्रा (चित्र 52. 2) में एक अर्ध–मानव और अर्ध–पशु आकृति दो बाघों को अलग–अलग अपने हाथों से गले से पकड़े दिखलाई गई हैं, जो मेसोपोटामिया के गिल्गामेश अभिप्राय का द्योतक लगता है। एक अन्य मुद्रा से इसी तरह की आकृति सींगयुक्त बाघ से युद्ध करती हुई दिखाई गई है (चित्र 52. 7)। बेबीलोनी कला में इंकिडू को इसी तरह सिंह से लड़ता दिखलाया गया है, ओर गिल्गामेश को सांड से।

मेसोपोटामिया की मुद्राओं पर सिंह का अंकन काफी लोकप्रिय रहा, किंतु सिंधु सभ्यता की एक भी मुद्रा पर सिंह की आकृति नहीं मिलती। यह कहना कठिन है कि सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर अंकित मानव–पशु युद्ध के अंकनों में बेबीलोन कला और आख्यानों का प्रभाव किस सीमा तक है। धनुष–बाण लिये मानव आकृतियों का अंकन भी मिलता है। यह ध्यान देने की बात है कि मानव आकृतियों का आलेखन पशु आकृतियों की भांति सजीव नहीं है। चन्हुदड़ो की एक मुद्रा छाप विशेष महत्त्व की है। इस पर वर्गाकार मुद्रा की छाप है, जिसमें दो नग्न नारियां अंकित हैं जो एक–एक हाथ में ध्वज पकड़े खड़ी हैं। ध्वजों से पीपल की पत्तियां निकलती दिखाई गई हैं। उनका खाली हाथ कटिविन्यस्त है। कला की दृष्टि से नारी आकृति की तुलना कांसे की नर्तकी से की जा सकती है।

कुछ मुद्राओं पर मानव एवं विभिन्न पशुओं के अंगों से मिश्रित आकृतियां अंकित हैं। मुद्राओं पर ऐसी भी आकृतियां बनी हैं जिनमें बैल के जैसे सींग, मनुष्य का चेहरा, गज के शुण्ड तथा दंत, अग्र भाग मेष का और पृष्ठ भाग बाघ जैसा दिखाया गया है (चित्र 51. 5)। एक उदाहरण में एक ही आकृति में एक–शृंगी पशु, बकरा तथा छोटे सींग वाले बैल के सिरों का मिश्रण है (चित्र 50. 2)। यदि हम किन्हीं दो सिरों को ढक दें तो एक पशु की पूरी आकृति बन जाती है। शायद ऐसे अभिप्राय का आशय भक्त को एक साथ तीन भिन्न देवताओं की कृपा प्राप्त करना हो। कुछ मुद्राओं पर विचित्र मानवी चेहरे तथा पशु आकृति का संयुक्तीकरण है। संयुक्त पशु का अंकन अन्य संस्कृतियों में भी किया गया है। मकाइ की धारणा है कि शायद इस तरह की आकृतियों के निर्माण का प्रारंभ भारत में सबसे पहले हुआ और फिर यहाँ से इस तरह

के अंकन की शैली स्थल मार्ग से पश्चिमी देशों में पहुंची। एक अन्य मुद्रा (चित्र 53. 4) पर बीच में बिच्छू है, दाहिनी ओर एक मनुष्य और बायीं ओर एक गैंडा है। ऊपर और नीचे दो–दो पशु अंकित हैं। बिच्छू का अगला भाग ऊपर के पशुओं के सींग, और उसकी पूंछ नीचे (बायें ओर अंकित) हाथी की सूँड और दाहिनी ओर दिखाये गये पशु की पूंछ बनाती है।

कभी–कभी एक ही पशु के अनेक सिर एक ही धड़ से संयुक्त भी दिखाये गये हैं। मोहेंजोदड़ो की एक मुद्रा पर तीन बाघों के सिर दिखाये गये हैं जिनके शरीर का मध्य एक दूसरे से गुंथा हुआ बनाया गया है (चित्र 51. 4)। ऐसे अभिप्राय से युक्त एक मुद्रा का खण्डित भाग चन्हुदड़ो से भी प्राप्त हुआ है। मोहेंजोदड़ो की एक मुद्रा पर छः पशुओं के गर्दन और सिर छल्लेदार अभिप्राय से बाहर निकलते दिखते हैं। इनमें चार सिर जिनकी पहिचान निश्चित है – एक–शृंगी पशु, छोटे सींग वाला बैल, हिरन और बाघ के हैं। शेष दो सिरों में से एक गैंडा और एक हाथी का सा लगता है। लोथल की एक मुद्रा पर बीज बोने का यन्त्र जैसी आकृति का अभिप्राय अंकित है।

सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर वृक्षों के चित्रण भी मिलते हैं। एक उदाहरण में पीपल की शाखा के निचले भाग से एक–शृंगी पशु के दो सिर निकलते दिखाये गये हैं (चित्र 52. 1)। पीपल के अतिरिक्त अन्य वृक्षों की पहचान कठिन है। मकाइ ने कुछ मुद्राओं पर बबूल और झण्डी के पेड़ की पहचान की है। कुछ मुद्राओं पर एक प्रतीक – यथा स्वस्तिक, छोररहित गांठ, अथवा बहुरेखीय क्रूस का चिह्न है। मोहेंजोदड़ो की एक मुद्रा पर नाव की आकृति उकेर कर बनाई गयी है (चित्र 53. 1) जिससे मिलता जुलता अंकन वहीं के एक मृद्भाण्ड खण्ड (चित्र 53. 3) पर भी उपलब्ध हैं। इसमें मस्तूल का अभाव है, पोत वाहक की खण्डित आकृति बनी है। ऐसी नावों का उपयोग नदियों में आवागमन और सामान ढोने के कार्यों के लिए किया जाता था। प्राचीनकाल में ऐसी नावें अन्य देशों में भी प्रयुक्त होती रही हैं। प्रारंभिक मिनोअन की मुद्रा, तथा प्राग् राजवंश काल में किश तथा सुमेर की वर्तुलाकार मुद्राओं पर इससे मिलती–जुलती नाव का अंकन हुआ है।

मुद्रा निर्माण विधि

सेलखड़ी की मुद्राएं किस प्रकार निर्मित की जाती थीं इसके बारे में उनके परीक्षण से कुछ जानकारी मिलती है। सर्वप्रथम आरी से सेलखड़ी की एक लम्बी पट्टी काटी जाती थी। तत्पश्चात् जिस माप की मुद्रा अभिहित होती थी उस आकार में उसे काट दिया जाता था। यदि मुद्रा के पृष्ठ भाग पर घुंडी बनानी होती थी तो उस ओर बीच में केवल उतना स्थान जितने में घुण्डी बननी थी छोड़कर, बाकी हिस्से में जितनी मुद्रा की मोटाई रखनी थी वहां तक कटाई की जाती थी। घुण्डी में किये छेद में तागा या तार डाला जाता रहा होगा, जिससे उसमें उंगली डालकर मुहर लगाने में, और लगाने के बाद मिट्टी या लाख से मुहर हटाने में सहूलियत होती थी। सेलखड़ी पत्थर

मुलायम होता ही है अतः बार–बार प्रयोग से रस्सी से घिसने के कारण छेद बड़े हो जाते थे और कभी–कभी तो घुण्डियां टूट भी जाती थीं। अतः मुद्राओं के छेद को बीच में कुछ गहरा कर दिया जाता था ताकि रस्सी से घिसने से घुण्डी जल्दी न टूटे।

मुद्राओं पर अभिलेख और अभिप्राय को उत्कीर्ण करने से पहले उस की रूप–रेखा बनाई जाती थी, इस विषय में निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। सुमेर में मुद्रा के अभिप्राय की रूप–रेखा पहले अंकित की जाती थी, तत्पश्चात् उसे उत्कीर्ण किया जाता था। इस कार्य के लिए नुकीले तथा गोलाई लिए, दोनों तरह के उपकरण (बर्मा) का व्यवहार होता था।

कुछ मुद्राएं अधूरी छूट गई हैं जिनसे निर्माण–विधि के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इस संदर्भ में एक अधूरी मुद्रा का विशेष उल्लेख करना असंगत न होगा। मुद्रा को निश्चित आकार देकर उसे तराश भी लिया गया। उसके पृष्ठ भाग की घुण्डी पूरी तरह बनी है और उसमें छिद्र भी किया गया है। मुद्रा निर्माता ने पहले पशु की पूरी आकृति का रेखांकन नहीं किया, अपितु पहले उसके शरीर के मध्य भाग से बनाना प्रारम्भ किया और वहां उसे जितने भी अलंकरण दिखाने थे वे सब अंकित कर दिये। फिर शरीर के अन्य भागों की रेखाकृति बनाना शुरु किया। पशु के कंधे की हड्डियों युक्त भाग का बनाना अपूर्ण रह गया है। इस मुद्रा के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि हड़प्पा संस्कृति के कुछ मुद्रा–निर्माता मुद्रा–निर्माण कला में इतने सिद्धहस्त थे कि वे बिना पूरी रूप–रेखा अंकित किये ही पशु की आकृति का, उसके किसी भी अंग से बनाना प्रारंभ कर, सजीव और आनुपातिक चित्रण कर सकते थे, यद्यपि यह असंभव नहीं है, कि उकेरने से पहले पूरे पशु का रेखांकन स्याही से किया गया रहा हो जो अब नष्ट हो गया है। अक्षरों में अक्सर ठीक अनुपात का अभाव है और इससे ऐसा लगता है कि मुद्रा–निर्माता ने पशु आकृतियों का अंकन पहले ही करके मुद्राएं बनाकर रख ली थीं और बाद में ग्राहक के किसी मुद्रा को पसंद करने पर मुद्रा पर उससे संबंधित नाम–पद–वाची लेख अंकित किये। बड़े नाम होने पर जगह की कमी के कारण अंत में आने वाले अक्षरों को छोटा कर दिया और उन्हें ठीक आनुपातिक ढंग से नहीं लिख पाये। मुद्राएं बन जाने के पश्चात् उस पर किसी पदार्थ (शायद क्षार) का लेप चढ़ाया जाता था। तत्पश्चात् मुद्रा को भट्ठी में पकाया जाता था जिससे उसमें सफेद चमक आ जाती थी और वह कुछ मजबूत भी हो जाती थी।

मुद्रा–छापें

मुद्रा–छापें वर्गाकार, आयताकार, तिकोन, वृत्ताकार इत्यादि कई प्रकार की हैं। छापें मिट्टी, कांचली मिट्टी और पेस्ट की बनी हैं और उन पर मानव, पशु या लेख अंकित हैं। मुद्राओं की कुछ छापें मृद्भाण्डों पर भी मिली हैं। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक आयताकार मुद्रा छाप, जो पेस्ट की है, के अग्रभाग में एक कतार में छः मानव आकृतियां हैं। इनके बारे में निश्चित करना कठिन है कि ये पुरुष आकृतियां हैं या

नारी। नीचे के हिस्से में झुकी हुई आकृति है जो अपने हाथ में एक चौड़े फालवाली वस्तु पकड़े है। उसके आगे एक बकरा है जिसके सामने पीपल का पेड़ है। मुद्रा के दूसरी ओर भी इस तरह का चित्रण था, किंतु यह अब धूमिल हो गया है। मकाइ के अनुसार इस दृश्य में पुरोहित बकरी को वृक्ष की आत्मा के लिए बलिदान दे रहा है।

एक अन्य आयताकार मुद्रा–छाप, जो कांचली मिट्टी की है, पर मध्य में एक योगी की मूर्ति है, जिसके दोनों ओर एक–एक भक्त हैं, जिनके पीछे एक–एक नाग है। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक मुद्रा–छाप लगभग 2. 9 सेमी लम्बी है और इसके चारों किनारे लगभग 0. 9 सेमी चौड़े हैं। दो तरफ कुछ लेख हैं, तीसरी तरफ चार लोग एक कतार में, प्रत्येक एक–एक ध्वज लिए हैं। यहां से प्राप्त एक और मिट्टी की तिकोनी मुद्रा–छाप के एक तरफ एक कतार में एक हाथी, एक गैंडा, एक बाघ और एक बिल्ली की आकृति सदृश जानवर हैं, ऊपर की ओर एक मछली, और मुंह में मछली लिए एक घड़ियाल है। दूसरी तरफ एक–शृंगी पशु, गाय जैसा पशु, छोटे सींगो वाला बैल और गैंडा हैं। इनके ऊपर कुछ जंगली चिड़ियां और घड़ियाल हैं। तीसरी तरफ दो बकरे, एक जंगली चिड़िया, एक पशु (बकरा ?) को खींचता हुआ आदमी और एक हिरन जैसा पशु है। एक और मिट्टी की छाप में एक ओर बाघ और तीन अक्षर, दूसरी ओर एक–शृंगी पशु और तीन अक्षर, और तीसरी ओर छोटे सींग वाला बैल और दो अक्षर हैं। चूंकि इन मुद्रा छापों के पीछे रस्सी के निशान नहीं हैं अतः उनका प्रयोग मुहर बन्द करने के लिए नहीं किया गया था। मकाइ का कहना है कि इनका या तो तावीज की तरह से अपयोग हुआ था या इन्हें पुरोहित लोग भक्तों को प्रसाद के रूप में बांटते रहे होंगे और वे भक्त उन्हें संभाल कर रखते रहे होंगे। लोथल और कालीबंगां से प्राप्त मुद्रा–छापें सेलखड़ी की बनी वर्गाकार या आयताकार मुद्राओं से ली गई हैं और उनमें से कुछ के पृष्ठ भाग पर रस्सी के निशान भी हैं। इनका उपयोग पार्सल को मुहरबन्द करने के लिए किया गया होगा।

ताम्र–पट्ट

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा से कुछ ताम्र–पट्ट (Copper tablets) (चित्र 52. 5, 6; चित्र 53. 4–6) मिले हैं। अधिकांश ताम्र–पट्ट मोहेंजोदड़ो से ही मिले हैं, हड़प्पा से कुल आठ ताम्र–पट्ट मिले हैं। मकाइ का कहना है कि इनका प्रयोग ताबीज की तरह किया जाता था। ये आकार में तीन प्रकार के हैं –(1) लम्बे और कम चौड़े, (2) वर्गाकार या लगभग वर्गाकार और (3) आयताकार। शायद लोग उन्हें शरीर पर ताबीज की तरह बांधते थे। जहां मुद्राओं के अभिलेख मुद्रा–स्वामियों के नाम, पद, आदि के द्योतक लगते हैं वहां ताम्र–पट्टों के लेख पशुओं से संबंधित लगते हैं क्योंकि कई ताम्र–पट्टों पर एक तरह के पशु के साथ एक ही तरह के लेख मिलने के उदाहरण मिले हैं। कई ताम्र–पट्टों पर छोर रहित गांठ के डिजाइन हैं। यह डिजाइन मिस्र में पवित्र चिह्न समझा जाता था।

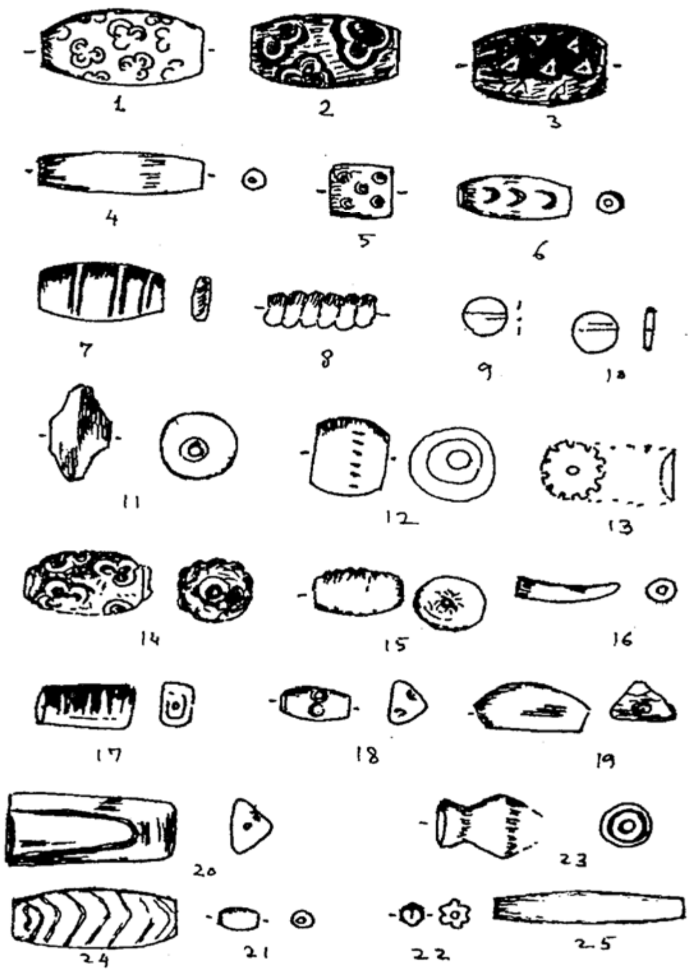
ताम्र पट्टों में पशु दाहिनी ओर मुंह किये है। चूंकि ताम्र–पट्टों पर अंकित अक्षर और अभिप्राय इतने उथले खुदे हैं कि इनसे छाप लिए जाने की कोई संभावना नहीं लगती, अतः यही मानना ठीक होगा कि इन पर पशु जिस दिशा में दिखाया गया है उसे उसी दिशा में दिखाना अभिप्रेत था।

ऐसा लगता है कि ताम्र–पट्ट निर्माता ताम्र–पट्टों को काटकर रखता था और ग्राहक की इच्छानुसार उस पर अभिप्राय और लेख खोद देता था। मकाइ ने कुछ पर आरी से काटने और कुछ पर सीधे पैने औजार से काटने के निशान पाये।

इन ताम्र–पट्टों को तांबें के सिक्के नहीं माना जा सकता, यद्यपि कुछ विद्वानों ने ऐसा मानने का सुझाव दिया है। सिंधु सभ्यता के बाट अपनी तौल में सही होने के लिए विख्यात हैं और आशा यही की जाती है कि यदि उन लोगों ने सिक्कों का निर्माण किया होता तो उनके सिक्के भी निर्धारित नाप–तौल के ही होते। एक ही आकार–प्रकार के ताम्र–पट्टों को तौलने पर पाया गया है कि वे किसी खास निश्चित तौल प्रणाली पर अथवा तौल प्रणालियों पर आधारित नहीं लगते हैं। इन्हें तांबें की सिल भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इनमें से एक भी ऐसा नहीं लगता जिसे हम सिंधु सभ्यता में प्राप्त किसी वस्तु के बनाने के लिए उपयुक्त आकार मान सकें। लेकिन सेलखड़ी और कांचली मिट्टी के पट्टों से भिन्न, इन ताम्र पट्टों का कम से कम तांबें की धातु का तौल के आधार पर मूल्य था और कुछ विद्वानों का सुझाव है कि सिक्के न हांते हुए भी इनका प्रयोग क्रय विक्रय के लिए होता था।

अध्याय 6
मनके

सिंधु सभ्यता में मृद्भाण्ड–निर्माण और मुद्रा–निर्माण के समान ही मनकों का निर्माण भी एक विकसित उद्योग था। यों तो सिंधु सभ्यता के सभी स्थलों से मनके



चित्र 54 सिंधु सभ्यता के मनके

मिले हैं किंतु हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो, चन्हुदड़ों और लोथल से ये सहस्रों की संख्या में पाये गये हैं (चित्र 54)। सेलखड़ी के हजारों छोटे–छोटे मनके मिले हैं। लोग इन मनकों को लड़ियों में गूंथ कर लड़ियों वाले हार बनाते थे। मृण्मूर्तियों पर आभूषणों के अंकन का साक्ष्य इस बात का द्योतक है कि नारियां मनकों की माला की बनी मेखला भी पहनती थीं। सिंधु सभ्यता के मनकों के निर्माण के लिए सेलखड़ी, कार्नीलियन, जैस्पर, कैल्सीडोनी, क्रिस्टल और लाजवर्द इत्यादि पत्थरों का प्रयोग हुआ। कांचली मिट्टी, मिट्टी, शंख, हाथी दांत, आदि के भी मनके बने।

मनकों का आकार प्रकार

सिंधु सभ्यता के मनकों के आकार–प्रकार में पर्याप्त विविधता है। आकार–प्रकार की दृष्टि से मनकों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया गया है–

बेलनाकार मनके (चित्र 54. 4) – इस तरह के मनके अत्यन्त लोकप्रिय थे। ये कांचली मिट्टी, सेलखड़ी, शंख, मिट्टी और कैल्साइट पत्थर के हैं। सेलखड़ी के कुछ वर्तुलाकार मनकों पर सोने की टोपी लगी है।

दंतचक्र प्रकार के मनके (चित्र 54. 13) – इस तरह के मनके पेस्ट के बने हैं और इन पर ओप भी हैं। ये मनके सांचे से बने हैं। मेसोपोटामिया की प्राचीन संस्कृतियों के संदर्भ में ऐसे मनकों का अभाव है।

छोटे ढोलाकार मनके – ये मनके कांसा, तांबा, सोना, चांदी, स्फटिक, शंख, जेड, सेलखड़ी और चूना–पत्थर के हैं। स्फटिक और हरिताश्म के मनके बहुत कम हैं।

अण्डाकार काट वाले ढोलाकार मनके – यद्यपि यह अनेक पदार्थों के बने हैं किंतु कांचली मिट्टी और चूना पत्थर के बने मनके सबसे अधिक हैं। मोहेंजोदड़ो से इस प्रकार का गोमेद का भी एक मनका मिला है। सोने चांदी के भी ऐसे आकार के मनके मिले हैं। एक शंख का मनका एक ओर चपटा है और दूसरी ओर अर्ध–गोलाकार। इस प्रकार के मनके जेम्देत नस्र के उत्खनन में पाये गये हैं। दक्षिणी नाल (बलूचिस्तान) के प्रारंभिक मृद्भाण्डों के साथ भी इस तरह के मनके उपलब्ध हैं। हड़प्पा से कार्नीलियन के ऐसे मनके मिले हैं जिनकी तुलना उर, किश ओर टेल अज्मर के मनकों से की जा सकती है।

अण्डाकार या अर्धवृत्त काट वाले आयताकार मनके (चित्र 54. 20)– कुछ आयताकार मनके अण्डाकार या अर्धवृत्ताकार काट वाले बनाये गये हैं। इनमें अण्डाकार काट वाले मनके विशेष लोकप्रिय रहे। यह सेलखड़ी, गोमेद और हरी कांचली मिट्टी के बने हैं।

खाड़ेदार तिर्यक (fluted tapered) मनके – ये पेस्ट के हैं और सांचे से बने हैं। संभवतः ऐसे मनके लटकन की तरह प्रयुक्त होते रहे होंगे।

लम्बे ढोलाकार मनके (long barrel cylinder) (चित्र 54. 24–25) – इस तरह के मनके बड़े आकर्षक हैं और या तो लाल कार्नीलियन या मिट्टी के बने हैं। कार्नीलियन के मनके बनाने की तकनीक काफी श्रमसाध्य थी इसलिए ये मूल्यवान रहे होंगे और समृद्ध जनों द्वारा ही प्रयुक्त रहे होंगे। मिट्टी के मनके आकार में कार्नीलियन मनकों की प्रतिलिपि हैं और इन्हें समाज के आर्थिक दृष्टि से निम्न वर्ग के लोग पहनते रहे होंगे। इस प्रकार के मनके मेसोपोटामिया में शवाधानों के साथ मिले हैं पर वहां उनकी संख्या अधिक नहीं, जबकि हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो में ये भारी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। अतः इनका निर्माण सिंधु सभ्यता में हुआ और वहां से ये मेसोपोटामिया भी पहुंचे। कार्नीलियन के विश्व में सबसे लम्बे मनके बनाने का श्रेय सिंधु सभ्यता को ही है। मेसोपोटामिया में राजकीय शवाधानों में मिलना उनकी बहुमूल्यता का परिचायक है। कुछ ऐसे मनके मेसोपोटामिया में बसे सिंधु सभ्यता के कारीगरों द्वारा बनाये गये होंगे।

बिम्ब (disc) **मनके** (चित्र 54. 10) – इस तरह के मनके कांचली मिट्टी, मिट्टी और शंख से बने हैं और इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है।

गोल मनके – ऐसे मनके छोटे तथा बड़े दोनों आकार के मिले हैं। छोटे मनके विभिन्न पदार्थों से निर्मित हैं। कुछ ऐसे छोटे सोने के मनके मोहेंजोदड़ो के दो आभूषण निधानों में पाये गये। बड़े मनके विभिन्न धातुओं के बने हैं। इन्हें या तो सांचे से या पीट कर बनाया गया है। ऐसे एक ओपदार मनके का विश्लेषण डा0 हामिद ने किया है। उनके अनुसार इस तरह के मनकों में उन्हें चमकाने के लिए किसी पदार्थ को अलग से मिलाया नहीं गया। ओप के लिए पालिश ही काफी थी।

रेखांकित मनके (चित्र 54. 1–3) – ऐसे मनके उर, किश ओर तेल अज्मर से भी मिले हैं। लेकिन चन्हुदड़ो तथा मोहेंजोदड़ो के जो उदाहरण हैं वे अधिक सुन्दर बने हैं। हड़प्पा से एक हृदयाकार मनका मिला है। मोहेंजोदड़ो के रेखांकित मनके तीन तरह के हैं। कुछ में लाल भूमि पर सफेद, कुछ में सफेद भूमि पर काला, और कुछ में लाल भूमि पर काला डिजाइन है। चन्हुदड़ो से पहले दो प्रकार के मनके मिले।

खण्डशः विभक्त (segmented) **मनके** (चित्र 54. 8) – इस तरह के मनकों का निर्माण केवल कांचली मिट्टी से हुआ है। इन पर किसी तरह के ओप के चिह्न नहीं हैं। मेसोपोटामिया में प्रायः सारगन काल तथा मिस्र में इससे बाद के काल में ऐसे मनके बहुत लोकप्रिय थे। वहां इस तरह के मनकों पर तरह–तरह के रंगों की परत चढ़ाकर चमकाया गया था। प्रारंभिक मिनिओन 2 में पत्थर के इस तरह के मनके बनते थे। मार्शल के अनुसार मोहेंजोदड़ो में इस तरह के कांचली मिट्टी के बने मनके अन्तिम प्रकाल में पाये गये हैं।

कांचली मिट्टी के खण्डशः विभक्त मनके टेलब्राक (उत्तरी सीरिया) में जम्देत

नस्र काल (लगभग 3000 ई. पू0) में मिले हैं। क्रीट में ये मध्य मिनिओन तृतीय और मिस्र के अठारहवें राजवंश के काल तक पाये गये हैं। पी0 डी0 रिशी (Richie) ने एक हड़प्पा और एक क्नोसोस के मनके के वर्णक्रमलेखी (स्पेक्टोग्राफिक) विश्लेषण से पता किया है कि इन दोनों के निर्माण पदार्थ में पूर्ण समानता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि ये लगभग 1600 ई. पू. के एक ही स्थल में निर्मित हुए किंतु यह तिथि सिंधु सभ्यता के हड़प्पा स्थल की तिथि से मेल नहीं खाती। यह भी निश्चय करना कठिन है कि इन दोनों में से निर्माण स्थल कौन था।

उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त कुछ और आकार–प्रकार के मनके भी मिले हैं। उदाहरणार्थ हड़प्पा में सेलखड़ी के कुछ दांत की शक्ल के, कुछ सीढ़ीनुमा और कुछ सलीबनुमा मनके भी मिले हैं।

मनके बनाने की तकनीक

चन्हुदड़ो और लोथल में मनका बनाने वालों के कार्यस्थल (फैक्ट्री) उद्घाटित हुए हैं। इन स्थानों पर निर्मित मनकों के साथ मनके बनाने के लिये लाये गये अनगढ़े पत्थर तथा कई अधूरे मनके मिले। लोथल में एक भवन में 11 कमरे थे, यहां पर एक कमरे में एक भाण्ड के अंदर 582 कर्नीलियन और दूसरे भांड में 212 कार्नीलियन, सीप और सेलखड़ी के मनके थे। इनमें कुछ बने और कुछ अधबने थे। कारखानों में ही मिट्टी होने के साक्ष्य मिले। निश्चिय ही यह मनके बनाने का कारखाना था, जहां इनका निर्माण कर विभिन्न स्थानों को निर्यात किया जाता था। मकाइ ने चन्हुदड़ो के संदर्भ में अध्ययन कर साधारण पत्थर के टुकड़े से लेकर पूरी तरह बने मनके तक निर्माण के विभिन्न चरणों की जानकारी प्राप्त की। लम्बे कार्नीलियन के मनके बनाने की विधि निम्नलिखित थी –पहले पत्थर की लगभग 7. 62 सेमी लम्बी वर्गाकार तीलियां बनाते थे। इस तरह की आकृति देने के लिए पत्थर को काटने में तांबे की आरी और क्वार्ट्ज पत्थर के चूरे का प्रयोग किया गया होगा। फिर इन टुकड़ों को तराश कर इच्छित आकार दिया जाता था ओर उसे चमका दिया जाता था। इन मनकों पर तागे डालने के लिए छेद दोनों ओर से किया जाता था। कुछ मनकों में छेद सीधा नहीं हो पाया और इसलिए दोनों ओर से किये गये छेदों को मध्य की ओर उकेर कर मिला दिया गया था। छेद वाले भाग को पालिश भी कर दिया जाता था। छेद करने के लिए पत्थर या तांबें अथवा दोनों प्रकार की बेधनी का प्रयोग किया गया था। पत्थर की बेधनी की नोंक प्यालानुमा बनी होती थी जिसमें अपघर्षक और पानी अटक सके। निश्चिय ही अपघर्षक की सहायता से छेद करने में आसानी रही होगी। चन्हुदड़ो में इस तरह के पत्थर की बेधनियां मिली हैं। पिगट के अनुसार परीक्षणों से ज्ञात होता है कि कार्नीलियन के एक 7. 65 सेमी के मनके पर छेद करने में कारीगर को लगभग 24 घंटे लग जाते रहे होंगे, और स्वाभाविक है कि ऐसे मनके काफी कीमती रहे होंगे। लोथल के समीप ही स्थित कैम्बे में आज भी मनके बनाने का कार्य बड़े पैमाने पर होता

है। शि० रंगनाथ राव का मत है कि वहां पर मनके बनाने की परंपरा सिंधु सभ्यता काल से सतत चली आ रही है, और सिंधु सभ्यता के लोगों की मनका बनाने की तकनीक आजकल की तकनीक से अधिक भिन्न नहीं रही होगी। लोथल में मनके बनाने की फैक्ट्री के पास ही एक भट्ठी मिली।

सेलखड़ी के मनके जितने सिंधु सभ्यता में मिलते हैं उतने विश्व की किसी भी संस्कृति में नहीं मिले। मनकों के निर्माण के लिए सेलखड़ी का प्रयोग दो तरह से किया गया है – या तो सेलखड़ी पत्थर से सीधे ही मनके बनाये गये हैं या फिर उसके चूरे से पेस्ट बना कर। सेलखड़ी के पेस्ट से बने अत्यन्त छोटे मनकों को तो कांसे की नली से उस पर दबाव डाल कर बनाया गया है। कुछ के मतानुसार पहले सेलखड़ी के चूरे के पेस्ट को एक पतले धागे में रोलकर दिया जाता था और पतला पतला काटा जाता था। ये मनके बहुत ही छोटे हैं। ये हजारों की संख्या में मिले हैं। सेलखड़ी के पेस्ट से बने मनकों में से कुछ ढोलाकार या उत्तल द्विकोण (कन्वेक्स बाइकोन) मनकों पर तिपतियां अलंकरण है। पहले यह अलंकरण काट कर बनाया गया, फिर पृष्ठभूमि को भी काट दिया गया और इस तरह गहरे किये गये स्थान में लाल या काला रंग भर दिया गया। इस तरह तिपतिया डिजाइन लाल या सफेद रंग की पृष्ठभूमि में उभर आता है और रेखांकित कार्नीलियन के मनकों पर अंकित डिजाइन की तरह दिखता है। कुछ मनकों पर लाल रंग बिना पृष्ठभूमि को काटे भी लगाया गया है।

कार्नीलियन के रेखांकित मनके तीन तरह के हैं – लाल पृष्ठभूमि पर सफेद रंग के डिजाइन वाले, सफेद पृष्ठ भूमि पर काले रंग के डिजाइन वाले और लाल पृष्ठभूमि पर काले डिजाइन वाले। प्रथम प्रकार के मनकों पर डिजाइन तेजाब (एच. सी. बेक के अनुसार सोडा कार्बोनेट) से अंकित किया जाता था और फिर मनके को ताप पर गरम किया जाता था जिससे तेजाब ठीक तरह कार्नीलियन के भीतर बैठ जाता था और स्थायी रूप से सफेद रेखाएं अंकित हो जाती थीं। इस प्रकार आंख की डिजाइन वाले मनके, अंग्रेजी के '8' अंक के समान डिजाइन वाले मनके और ऋजुरेखीय हीराकार मनके उर, किश, टेल अज्मर (सारगान काल) में प्राप्त मनकों के समान है और एक ही स्रोत से इन स्थलों में लाये गये लगते हैं। दूसरे प्रकार के मनकों में पहले सारे मनके पर तेजाब लगाया जाता था जिससे सफेद सतह बन जाती थी। इस सफेद सतह पर काले रंग से डिजाइन बनाया जाता था। इस तरह के मनके मेसोपोटामिया में भी मिले हैं। रेखांकित कार्नीलियन के मनके मोहेंजोदड़ो में कम प्राप्त हुए; ये हड़प्पा में मोहेंजोदड़ो की अपेक्षा अधिक संख्या में मिले हैं। राव के अनुसार लोथल की खोदाइयों में इस तरह के मनके काफी संख्या में मिले हैं। एच. सी. बेक के मतानुसार ऐसे मनके बनाने की तकनीक इतनी क्लिष्ट है कि दोनों संस्कृतियों में इनके स्वतंत्र रूप से बनाये जाने की संभावना नहीं दिखती। राव तो ऐसे मनकों का स्रोत लोथल मानते हैं। उनका मत कि रेखांकित मनके सबसे पहले लोथल में बने और

अन्यत्र लोगों ने इस तरह के मनके बनाने का ज्ञान लोथल से ही प्राप्त किया, सही नहीं लगता। मोहेंजोदड़ो में प्रारम्भिक चरण से ही इस तरह के मनके मिलते हैं और इनकी तिथि लोथल से बाद की नहीं मानी जा सकती।

रेखांकित मनके, लम्बे ढोलाकार कार्नीलियन के मनके, सेलखड़ी के पकाए गए छोटे मनके, सीढ़ीदार मनके, और मनकों पर तिपतियां डिजाइन सिंधु सभ्यता और मेसोपोटामिया की संस्कृतियों के बीच संपर्क के द्योतक लगते हैं। किंतु अन्तर भी ध्यान देने योग्य हैं :– (1) सेलखड़ी के मनके सिंधु सभ्यता में तो पर्याप्त संख्या में मिलते हैं किंतु मेसोपोटामिया में अत्यल्प संख्या में ; (2) सेलखड़ी के मनकों पर सिंधु सभ्यता में चित्रण मिलता है पर मेसोपोटामिया के मनकों पर नहीं; (3) मनकों के कुछ आकार–प्रकार ऐसे हैं जो सिंधु सभ्यता में मिलते हैं, मेसोपोटामिया में नहीं, और मेसोपोटामिया में प्राप्त मनकों के कुछ प्रकार सिंधु सभ्यता में नहीं मिलते।

अध्याय 7
मृद्भाण्ड

सिंधु सभ्यता के स्थलों पर उत्खनन से प्राप्त सामग्री में सर्वाधिक मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं। ये अधिकतर खण्डित अवस्था में मिले हैं। समूचे भाण्डों की संख्या अत्यल्प है। सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्ड अपनी विशिष्टता लिए हुए हैं और इसके मृद्भाण्डों के कई मुख्य प्रकार दूसरी संस्कृतियों में अनुपलब्ध हैं। ये व्यावसायिक पैमाने पर उपयोगितावाद के दृष्टिकोण से निर्मित किये गये थे। इस सभ्यता के बर्तन अधिकतर चाक पर बने हैं। हाथ से बनाये बर्तन भी मिले हैं, किंतु चाक पर निर्मित बर्तनों की अपेक्षा इनकी संख्या बहुत कम है और ये मुख्य रूप से निम्न स्तरों से उपलब्ध हुए हैं। अंतिम चरण में बर्तनों के निर्माण में ह्रास के लक्षण दिखते हैं। आजकल की प्रथा को ध्यान में रखते हुए ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि बर्तन पुरुषों ने बनाये होंगे और उन पर चित्रण आदि स्त्रियों ने किया होगा। मृद्भाण्डों के निर्माण के लिए मिट्टी नदी से लायी गयी थी। उसमें अभ्रक और बालू भी मिली है। भाण्डों को भट्ठे में भलीभांति पकाया गया था। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि सिंधु सभ्यता के बर्तनों में गोलाई अधिक है और सीधे कोने कम।

मोहेंजोदड़ो के अन्तिम चरण में, जब सभ्यता ह्रासोन्मुखी थी, नगर की सीमा में भी भट्ठे पाये गये हैं। विकसित युग में भट्ठे नगर से बाहर थे। ये उपलब्ध भट्ठे वृत्ताकार हैं और इनका व्यास 1. 8 मीटर से 2. 74 मीटर है। इनमें नीचे कोयला रखने के लिए प्रकोष्ठ था जिसे छेदवाली फर्शों से ढका गया था। फर्श के ऊपर धूप में सुखाए बर्तन रखते थे। नीचे आग जलाने पर छेदों के रास्ते तपन और लौ बर्तनों तक पहुंचती थी और वे पक जाते थे। उसके ऊपर गुम्बद था जिसमें छोटा भाग खुला छोड़ दिया गया था जिससे धुंआ निकल सके। इस तरह के भट्ठे पश्चिमी एशिया की प्राचीन संस्कृतियों में भी मिले हैं। बर्तनों का ठीक तरह से पका होना इस बात का द्योतक है कि आंच भलीभांति नियंत्रित थी। लेकिन आजकल की भांति बिना भट्ठे के भी खुले में भाण्ड पकाए जाते रहे होंगे। नौशारों में भट्ठे का दहन कक्ष खंभे पर आधारित था।

लेप

साधारणतः सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्ड भली–भांति तैयार की गई मिट्टी से बने हैं। अधिकांश मृद्भाण्ड बिना चित्रण वाले हैं। उन पर हलका दूधिया रंग का लेप मिलता है। कुछ उदाहरणों में लेप का रंग पीलापन या सफेदी लिए हैं, और अत्यल्प उदाहरण गुलाबी लेप के भी हैं। चित्रित बर्तनों की संख्या अपेक्षाकृत कम है और इनमें

से अधिकांश खंडित मिले हैं। निचले स्तरों में ऊपरी स्तरों की अपेक्षा अधिक चित्रित बर्तन मिले हैं। चित्रित तथा सादे दोनों ही मृद्भाण्ड एक ही तरह की मिट्टी से बने हैं। यह रोचक तथ्य है कि सर लियोनार्ड वूली ने मोहेंजोदड़ो में पुनरुत्खनन न किये जाने की सलाह मुख्यतः इस आधार पर दी थी कि यहां पर मेसोपोटामिया की तरह विशाल संख्या में चित्रित मृद्भाण्ड नहीं मिलते। साधारणतया चित्रित बर्तनों पर लाल लेप लगा मिलता है। लेप लगाने का उद्देश्य सुन्दरता के अतिरिक्त बर्तन को जलाभेद्य बनाना भी था। कुछ बर्तनों को तो लेप से इतना चिकना बना दिया गया कि एक विद्वान् का सुझाव है, कि इनमें चूहों से भी सुरक्षा हो सकती थी, क्योंकि चूहे ऐसे भाण्डों पर फिसल जाते रहे होंगे और उसके मुंह तक नहीं पहुंच पाते रहे होंगे।

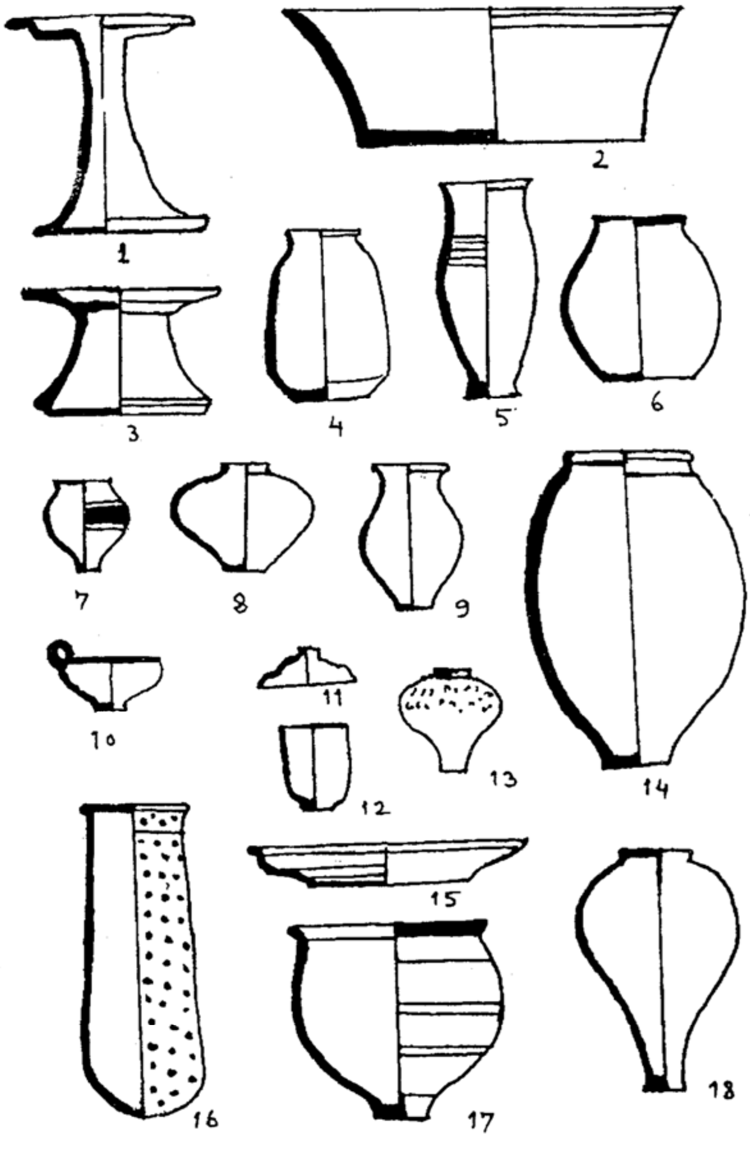
दूधिया, गुलाबी और लाल सभी रंगों के लेप के लिए रंगीन प्राकृतिक मिट्टी ही प्रयुक्त लगती है। लेप को, विशेषतः गाढ़े लाल रंग के लेप को, पालिश कर चमकाया गया है।

चित्रण

अक्सर गाढ़ा लेप पूरे बर्तन पर नहीं लगाया गया, और केवल लेप लगे भाग पर ही चित्रकारी की गई है, बाकी भाग सादा छोड़ दिया गया है। चित्रण साधारणतया काले रंग से किया जाता था जो मेग्निफेरस हाइमेटाइट से तैयार किया जाता था। लाल लेप पर काले रंग से चित्रण की विधा की दृष्टि से इनके निर्माण की शैली उत्तरी बलूचिस्तान के रानाघुंडई तृतीय चरण से प्रभावित लगती है। किंतु जहां तक अभिप्रायों और डिजाइनों का प्रश्न है इनमें उत्तरी बलूचिस्तान का प्रभाव नगण्य है। कुछ अर्थों में दक्षिणी बलूचिस्तान की कुल्ली शैली का भी सिंधु सभ्यता के भाण्डों पर कुछ प्रभाव दिखता है। किंतु अधिकांशतः आकार–प्रकार (चित्र 55) के समान ही चित्रण विधा में भी सिंधु सभ्यता के भाण्डों की अपनी अलग विशिष्टता है।

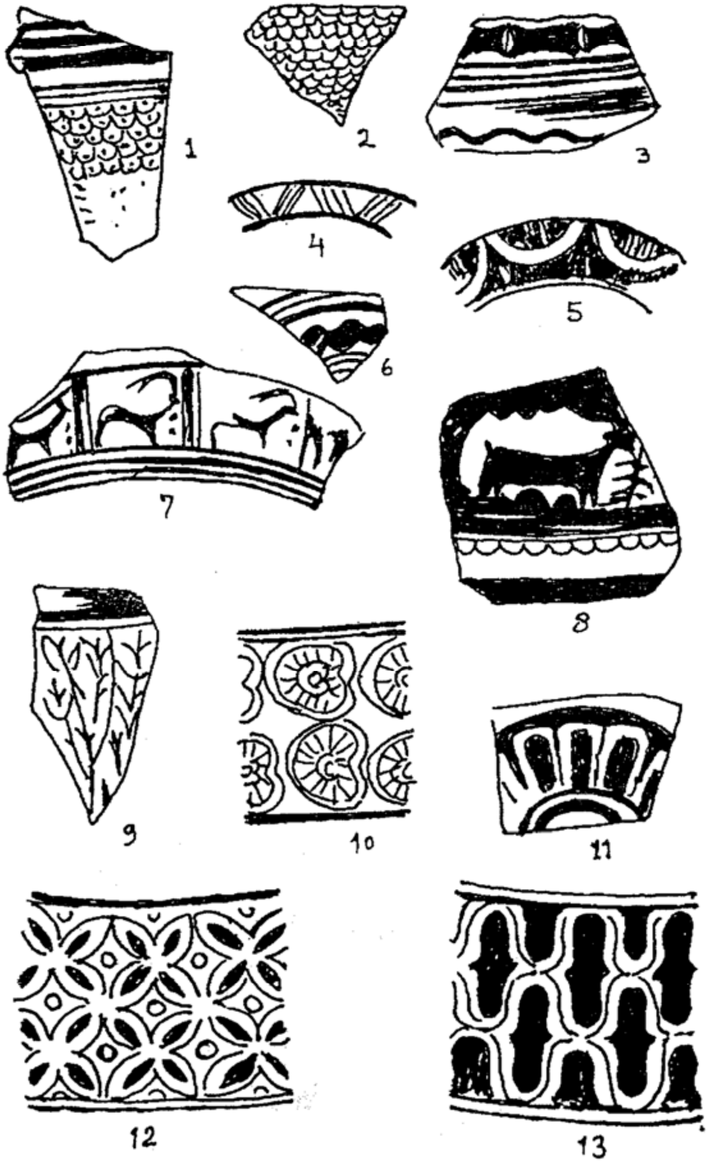
चित्रित बर्तनों (चित्र 55, चित्र 56, चित्र 57 तथा चित्र 58) के ऐसे बहुत कम उदाहरण हैं जिनका सम्पूर्ण बाह्य भाग चित्रित किया गया हो। साधारणतया चित्रित मृद्भाण्ड के लगभग तीन चौथाई या उससे भी कम हिस्सों पर चित्रकारी की गई हैं। छोटे आकार के मृद्भाण्डों के मध्य में काले रंग से एक धारी या धारियां बना दी गई हैं। अधिकांश मृद्भाण्डों में चित्रण काले रंग से किया गया है। चित्रित अभिप्रायों में विविधता है और अधिकांश अलंकरण परंपरागत शैली में हैं। काले रंग की आड़ी धारियों का अंकन सबसे अधिक मिलता है (चित्र 55. 17)। कुछ धारियां मोटी और कुछ पतली हैं। साधारणतया चित्रण के लिए बर्तन की बाहरी सतह को बड़े खण्डों में विभाजित कर लेते थे और फिर उन्हें खड़े और पड़े छोटे खण्डों में विभाजित करते थे। अभिप्रायों में प्रतिच्छेदी वृत्त विशेष उल्लेखनीय है। यह अभिप्राय एलम और सुमेर के मृद्भाण्डों पर तो नहीं मिलता, लेकिन सिंधु और बलूचिस्तान की प्राग् हड़प्पा संस्कृतियों में इस तरह के अलंकरण के अत्यल्प उदाहरण मिले हैं। तिकोन (चित्र 57,

3), शंकु, चेक डिजाइन (चित्र 57. 6), जाली (चित्र 58. 1), मनकों का बार्डर (चित्र 57. 13), अर्धचन्द्र, अंदर की ओर मुड़े तिकोन, सीढ़ीदार तिकोन, वृक्क के



चित्र 55 सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्डों के आकार–प्रकार

आकार का डिजाइन (चित्र 57. 10), लहरदार रेखाएं (चित्र 57. 5), लटकन (चित्र 56. 8), मत्स्य शल्क (चित्र 56. 1, 2) आदि भी उल्लेखनीय हैं। कुछ अभिप्रायों पर छाया की गई है।



चित्र 56 सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्डों पर चित्रण

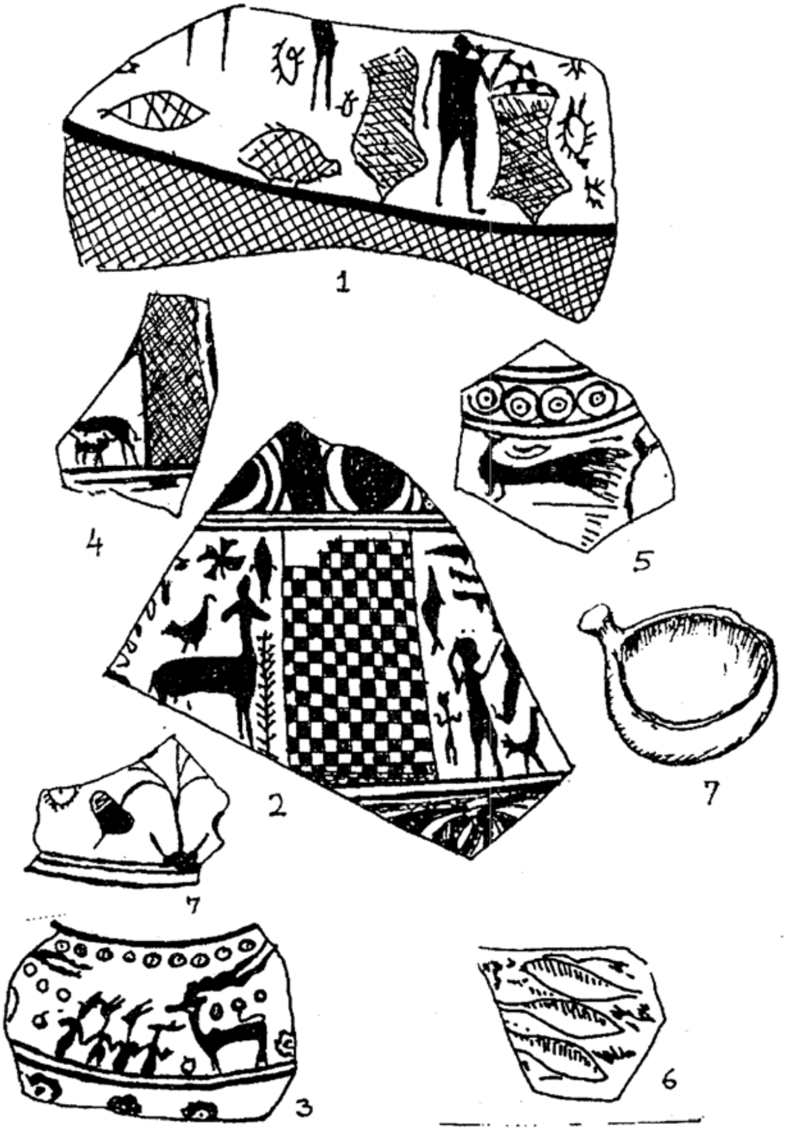
कई बर्तनों पर वनस्पति (चित्र 57. 7, 8, 9) चित्रित हैं। अधिकांशतया वनस्पति का चित्रण पारम्परिक शैली में है और उनकी पहिचान करना कठिन है, किंतु पीपल (चित्र 57. 9), ताड़, नीम, केला, और बाजरा पहचाने जा सकते हैं। कुछ मृत्पात्रों पर



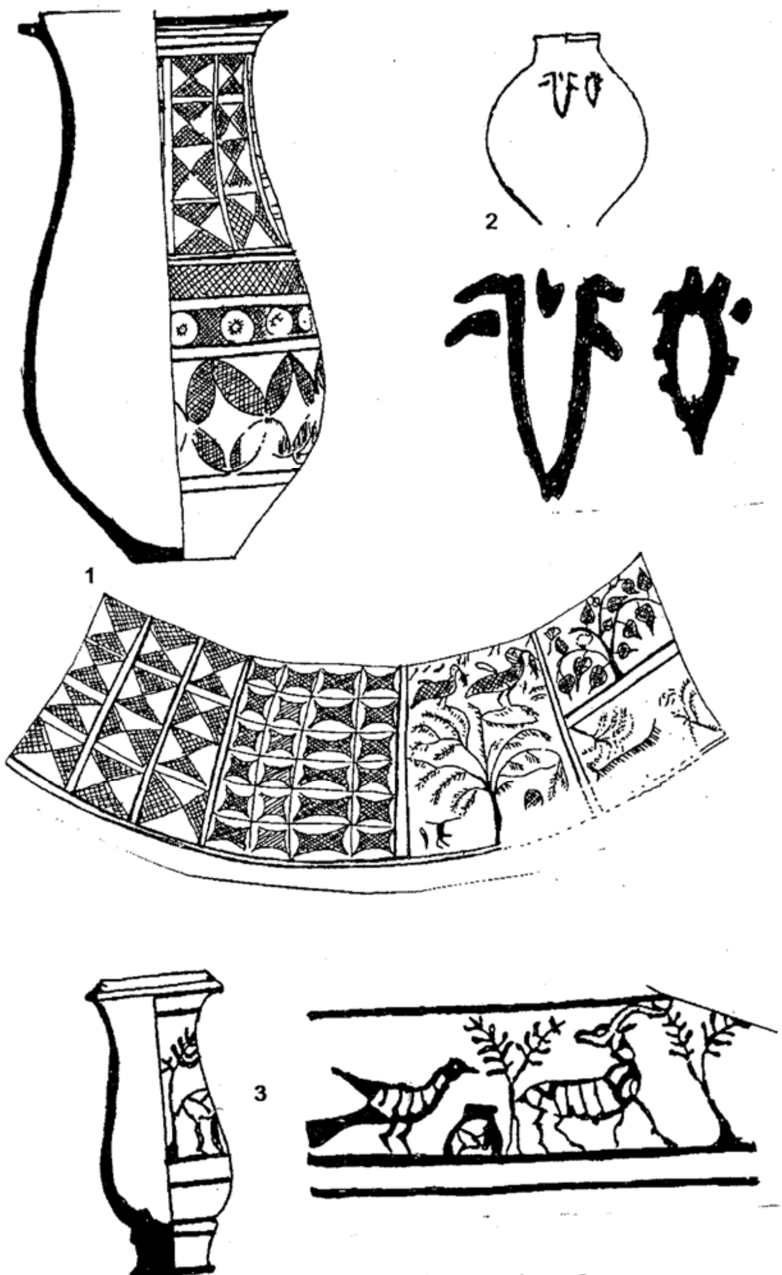
चित्र 57 सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्डों पर चित्रण

फूल का सा अलकरण हैं और कुछ पर सूरज की तरह का अभिप्राय है।

मछली का चित्रण भी कुछ भाण्डों पर हैं (चित्र 58. 6)। पक्षियों में मोर की आकृति कुछ बर्तनों पर मिलती हैं (चित्र 58. 5)। अंग्रेजी अक्षर 'वी' (V) से मिलती



चित्र 58 सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्डों पर चित्रण



चित्र 59 सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्डों पर चित्रण

जुलती आकृति का डिजाइन पक्षी का द्योतक लगता है। पशुओं की आकृतियों का अंकन अधिक नहीं है और कुछ को वास्तविक रूप में नहीं दिखया गया है और इसलिए उनकी पहिचान करना कठिन है। कुछ मृद्भाण्ड खण्डों पर बड़े सींग वाले बकरे और हिरण का अंकन है (चित्र 56. 7, 8)। पशुओं के साथ वनस्पति का भी चित्रण मिलता है। मोहेंजोदड़ो के एक उदाहरण में कनखजूरे का सा चित्रण है। कुछ उदाहरणों में पक्षी वृक्ष की शाखा पर बैठे और कुछ उसके समीप दिखलाये गये हैं। थोड़े से उदाहरणों में सर्प का अंकन हैं। एक उदाहरण में दो सांप फण उठाये हैं। एक में सांप बांबी से निकलता हुआ, और दूसरे में उसमें प्रवेश करता हुआ दिखाया गया है। सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्डों पर पशु–पक्षियों के चित्रण में कुल्ली शैली से निकटता पाते हैं जिसमें शरीर की रूप–रेखा मोटी रेखाओं से दिखाकर भीतरी भाग में आड़े तिरछे छाया की गयी है। लेकिन अन्य बातों में दोनों में चित्रण की दृष्टि से पर्याप्त भेद भी हैं। केवल एक मृद्भाण्ड पर पशुओं को एक पंक्ति में दिखाया गया है। इस तरह के अलंकरण की विधा एलम और सुमेर में विशेष रूप से लोकप्रिय थी। वैसे इस बर्तन का आकार और निर्माण में प्रयुक्त मिट्टी अन्य भाण्डों से भिन्न लगती हैं। मृद्भाण्डों पर मानव आकृतियों के भी चित्रण हैं, किंतु इनकी संख्या अत्यल्प है, और जो हैं भी वे अपेक्षाकृत भोंडे हैं। जाने क्यों मुद्राओं पर भी, जिनमें जानवरों का स्वाभाविक चित्रण है, मानव आकृतियां सुन्दर नहीं बन पड़ी हैं। हड़प्पा से प्राप्त एक ही भाण्ड के तीन टुकड़ों पर अलग–अलग तीन दृश्यों का अंकन हैं। एक फलक में वृक्ष की शाखा दिखायी गई है। दूसरे में हिरनी बच्चे को दूध पिला रही है (चित्र 58. 2)। हिरनी के ऊपर वाले भाग में दो पक्षी और एक मछली है। इस दृश्य के बाद एक चेक डिजाइन है। उसके बाद एक और दृश्य का अंकन है जिसमें एक हाथ उठाये और दूसरे हाथ से सिर को छूता हुआ एक मनुष्य, दोनों हाथ उठाये एक बालक, दो मछली और एक मुर्गा दिखाया गया है। तीसरे में एक तरफ पेड़, मानव हाथ, सिर और शायद नागफण, और दूसरी ओर एक पेड़ की शाखाएं दिखायी गयी हैं। हड़प्पा से ही प्राप्त एक मृद्भाण्ड खण्ड पर एक मछुआ अंकित है जो अपने कंधे पर रखी बहंगी पर जाल लटकाये हुए है (चित्र 58. 1)। उसके पैरों की सीध में एक मछली और एक कछुआ भी दिखाया गया है। ब्रजवासी लाल ने लोथल के दो बर्तन पर प्राप्त चित्रण को दो कहानियों को अंकित करने की चेष्टा माना है। लोथल से प्राप्त एक भाण्ड पर चित्रण में एक हिरन, एक घड़ा और एक कौआ है (चित्र 59. 3)। यह उस कहानी का चित्रण लगता है जिसमें प्यासा हिरन घड़े से पानी नहीं पी सका जबकि कौए ने घड़े में कंकड़ डालकर पानी की सतह को उठाया और प्यास बुझाई। लोथल के ही एक अन्य मृद्भाण्ड पर अंकित चित्रण में दो चिड़ियां एक पेड़ की शाखा पर बैठी हैं और चोंच में मछली लिये हैं। बायीं ओर नीचे किसी जानवर के पैर और पूंछ पहचानी गयी है; शायद यह लोमड़ी थी (चित्र 59. 1)। क्या यह लोमड़ी द्वारा कौअे से रोटी का टुकड़ा पाने के लिए उसके गान की प्रशंसा करना, उसका गाना, रोटी के टुकड़े का गिरना

और लोमड़ी का इसे खाना जैसी कहानी का अंकन है। क्या पंचतंत्र तथा जातक जैसी कहानियों का मूल इतना प्राचीन है ? कुछ बर्तनों पर लेप को कंघी जैसी किसी वस्तु से हटाकर उसके नीचे के गहरे रंग के धरातल को दिखाया गया है। उर और टेल अज्मर में प्रारंभिक राजवंश में इस तरह की विधा प्रचलित थी।

यह एक विचित्र सी बात है कि ये लोग लाल रंग का प्रयोग लेप के लिये तो खूब करते थे किंतु चित्रकारी के लिए उन्होंने इसका प्रयोग बहुत कम किया है। सिंधु सभ्यता में बहुरंगी चित्रण वाले भाण्ड बहुत कम मिले हैं, और जो हैं वे आकार में अपेक्षाकृत छोटे हैं। मोहेंजोदड़ो में जो थोड़े से बहुरंगी भाण्ड हैं, उन पर लाल और हरे रंग से पाण्डु सतह पर चित्र बनाये गये हैं। पीले रंग का प्रयोग बहुत कम हुआ है। चन्हुदड़ो से प्राप्त कुछ भाण्डों पर काले, सफेद और लाल रंग से पीले सतह पर पशु–पक्षी चित्रित किये गए हैं। बहुरंगी बर्तनों पर रंग कुछ धुंधले हैं जिससे लगता है कि इन पर रंग पकाने के बाद ही किया गया होगा। चित्रण के लिये काले और लाल रंग का प्रयोग तो कई प्राचीन संस्कृतियों में मिलता हैं किंतु बहुरंगी चित्रण वाले बर्तन बहुत कम मिलते हैं; केवल नाल (बलूचिस्तान) के कब्रिस्तान में ही बहुरंगी चित्रण वाले बर्तन काफी संख्या में मिले हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि सिंधु सभ्यता के बहुरंगी चित्रण वाले बर्तन नाल संस्कृति के सम्पर्क के फल हैं। यह कहना कठिन है कि इनका निर्माण नाल की भांति शवों के साथ गाड़ने के लिए किया गया था। ज्ञात सिंधु संस्कृति के शवाधानों में इस तरह का साक्ष्य नहीं मिला।

ठप्पे एवं उत्कीर्ण अलंकरण

सिंधु सभ्यता के कुछ बर्तनों पर ठप्पे भी मिलते हैं। मोहेंजोदड़ो में तो ठप्पे लगे बर्तन बहुत कम संख्या में मिले हैं किंतु हड़प्पा में इस तरह के बर्तन काफी संख्या में मिले हैं। दाइमाबाद के कुछ भाण्डों पर सिंधु लिपि के अक्षरों के चित्रण और उनके उकेरे जाने के साक्ष्य हैं। अधिकांश ठप्पों पर सिंधु लिपि के चिह्न मिलते हैं जो शायद कुम्हारों के अथवा उनकी फर्मों के नाम हैं। कुछ पर ग्रैफिटी के चिह्न भी मिलते हैं। उत्कीर्ण अलंकरण वाले बर्तन बहुत कम हैं और इस तरह के अलंकरण गहरे बर्तन और साधारण तश्तरी पर ही मिलते हैं। कुछ पर प्रतिच्छेदी वृत्त अभिप्राय अंकित हैं जो कभी नाखून से और कभी सरकंडे से बनाया गया है। मोहेंजोदड़ो के एक बर्तन पर नाव का चित्र खुदा है। कालीबंगां के कुछ बर्तनों पर सिंधु लिपि के अक्षर खुदे हैं (चित्र 70। चंडीगढ़ से मिले एक सिंधु सभ्यता के पात्र पर भी ठप्पा मिला हैं। इस पर भी सिंधु लिपि के चिह्न हैं।

भाण्डों का आकार–प्रकार

सिंधु सभ्यता के मृद्‌भाण्डों में आकार प्रकार की दृष्टि से पर्याप्त विविधता है (चित्र 55)। इस सभ्यता के प्रायः सभी स्थलों से साधार तश्तरियां बहुलता से पायी

गयी। इस तरह के बर्तन का ऊपरी भाग एक तश्तरी या प्याले जैसा तथा निचला भाग उलटी तुरही के समान हैं। कुछ का आधार लम्बा है और कुछ का छोटा। ये हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो में सभी स्तरों में मिलती हैं, लेकिन ऐसा देखा गया है कि समय के साथ तश्तरी के रिम कुछ झुके बनने लगे। साधार तश्तरियां अथवा प्याले तत्कालीन एलम, सुमेर, क्रीट और मिस्र में प्रचलित थीं। मेसोपोटामिया में तो कब्र में यह विशेष रूप से अन्य सामग्री के साथ मिलती हैं। भारत में ही सिंधु सभ्यता से इतर ताम्राश्म संस्कृतियों में भी इस तरह के पात्रों से मिलती जुलती आकृति वाले बर्तनों के उदाहरण पाये गये हैं। सुमेर के कुम्हारों की भांति ही सिंधु सभ्यता के कुम्हार पहले इस बर्तन के दोनों भागों, तश्तरी और उसके आधार, को अलग–अलग बनाते थे और फिर उन्हें जोड़कर एक बर्तन का रूप दे देते थे। किंतु सिंधु सभ्यता के भाण्ड का यह प्रकार, उसके लिए प्रयुक्त मिट्टी, उसकी आकृति और पकाने की विधि कुछ इस तरह की है कि उसे उपर्युक्त इतर संस्कृतियों के बर्तनों से अलग ही पहचाना जा सकता है। कुछ विद्वानों के अनुसार झोब घाटी के रानाघुंडई द्वितीय काल से प्राप्त आधार युक्त कटोरे ही मूलतः सिंधु सभ्यता के इस प्रकार के भाण्डों के प्रेरणा स्रोत रहे होंगे। साधार तश्तरी में लगता है सूखी वस्तुएं प्रस्तुत की जाती थीं। साधारण प्यालों में रसदार वस्तुएं प्रस्तुत की जा सकती थीं किंतु इस तरह के भाण्ड कीमती होने के कारण इसकी संभावना कम है। रसदार वस्तुओं के प्रयोग से उन्हें बारबार धोना पड़ता और वे क्षतिग्रस्त हो जाते। सम्भवतः लोग इस पर सूखी भोज्य सामग्री रखकर स्वयं चौकी पर बैठकर भोजन करते रहे होंगे, ताकि भाजन करते समय झुकना न पड़े। निश्चय ही यह उच्च वर्ग के लोगों की अभिरुचि का द्योतक है। कब्रों में भी शव के साथ इस तरह के बर्तन मिलते हैं और यह भी संभव हैं कि इनका प्रयोग धार्मिक अनुष्ठान के संदर्भ में किया जाता रहा हो।

कुछ मटकों के हत्थेदार प्याले जैसे ढक्कन मिले हैं, लगभग उसी तरह के जैसे कि जम्देत नस्र (मेसोपोटामिया) में भी पाये गये हैं, जो कालक्रम की दृष्टि से सुमेर के प्रारंभिक राजवंश युग के ठहरते हैं। हत्थेदार मद्भाण्डों के उदाहरण हड़प्पा तथा मेहेंजोदड़ो, दोनों से कम ही प्राप्त हुए हैं। केवल बहुत छोटे आकार के प्यालों पर, जिनका उपयोग बच्चों को दूध और अन्य तरल पदार्थ पिलाने के लिए होता रहा होगा, ही हत्थे मिले हैं। हत्थेदार मृद्भाण्ड मेसोपोटामिया में काफी पहले से लोकप्रिय थे। सिंधु सभ्यता में टोंटीदार बर्तन बहुत कम उपलब्ध है। बड़े घड़े (चित्र 55. 14, 17) मिले हैं; जिनमें अन्न या जल संग्रहीत किया जाता रहा होगा। कुछ घड़ों के पेंदे नुकीले हैं उन्हें जमीन में गाड़ कर स्थिर किया गया होगा। कुछ घड़ो का प्रयोग मृतकों की अस्थियों के विसर्जन के लिए भी होता था। कुछ छोटे मुख वाले काले रंग के मर्तबान भी हैं। कुछ बर्तनों के गर्दन पर छिद्र है जिसमें रस्सी डालकर शायद उन्हें लटकाया जाता रहा होगा, या शायद इन छेदों में रस्सी डालकर ढक्कन को ठीक तरह

से कसा जाता रहा होगा। थालियों में मुख्य रूप से खाना परोसा जाता रहा होगा। नांद की तरह के बर्तनों में पर्याप्त विविधता हैं। इनका प्रयोग कपड़े धोने, नहाने तथा जानवरों को पानी पिलाने के लिये किया जाता रहा होगा। घड़ों और अन्य बर्तनों के ढक्कन भी पर्याप्त संख्या में पाये गये हैं।

कुछ मृद्भाण्डों के बाहर उस तरह के छोटे–छोटे दानों के उभार हैं जैसे कटहल के फल पर होते हैं (चित्र 55. 13)। टेल अस्मर की खोदाई से प्राप्त इसी तरह के अलंकरण वाले बर्तन सिंधु सभ्यता के समकालीन हैं, और भारत से आयातित लगते हैं। लम्बे और बेलनाकार आकृति के कुछ बर्तन ऐसे भी पाये गये हैं जिन पर अनेक छेद हैं (चित्र 55. 16)। छेदों का आकार बर्तनों के आकार के अनुपात में भिन्नता लिये हैं। छेद गीले बर्तन पर लकड़ी से बनाये गये थे। इन भाण्डों के आकार में काफी भिन्नता है। कुछ छिद्रित बर्तनों पर दूधिया लेप हैं। ऑरेल स्टाइन को बलूचिस्तान से प्राप्त इसी तरह के एक मृद्भाण्ड के अन्दर राख मिली थी। हो सकता है कि उसका प्रयोग सिगड़ी के रूप में किया जाता रहा हो। लेकिन साधारणतः ऐसे बर्तनों पर आग जलाने के निशान नहीं हैं। बेबीलोनिया में भी छिद्रित बर्तन अति प्राचीन काल से मिलते हैं, यद्यपि वे आकार में सिंधु सभ्यता के छिद्रित बर्तनों से भिन्न हैं। बेबीलोनिया के संदर्भ में छिद्र युक्त भाण्डों को दूध छानने के लिए प्रयुक्त होना सुझाया गया है। सिंधु सभ्यता के बर्तनों पर काफी बड़े छेद हैं, अतः उनका इस तरह से प्रयोग किये जाने की संभवाना नहीं हैं। केन्योर का मत है कि इसे कपड़े में लपेटकर खमीर वाले पानीय तैयार किये जाते थे, यथा मदिरा। कुछ विद्वान् इन बर्तनों की पहचान ऋग्वेद में उल्लिखित शतधार कलश[1] के रूप में करते हैं। शि. रं. राव का कहना है कि यज्ञ के समय अवभृत स्नान में इससे जल डालते थे। कुछ का मत है कि इससे सोम रस छानते थे। ब्रजवासी लाल के अनुसार इनमें खाने पीने की वस्तुएं रखी जाती रही होंगी। इसके भीतर हवा के आगमन के कारण ये जल्दी खराब नहीं होती रही होंगी।

कुछ चंचुक (बीकर) की आकृति के बर्तन मिले हैं ये अपेक्षाकृत पतले हैं। इन्हें भली–भांति तैयार की गई मिट्टी से बनाया गया है और ये अधिकांशतया बिना लेप के हैं। जिन पर लेप हैं भी वह सावधानी से नहीं लगाया गया हे। ये ज्यादातर सिंधु सभ्यता के मध्य और अंतिम काल में मिलते हैं, मुख्यतया मध्यकाल में।

हड़प्पा संस्कृति के छोटे मृद्भाण्ड सुन्दर बन पड़े हैं। इनमें से कुछ भाण्डों की ऊंचाई तो केवल आधा इंच ही है। यह मिट्टी अथवा कांचली मिट्टी के बने हैं। इनमें संभवतः इत्र तथा प्रसाधन की अन्य बहुमूल्य सामग्री रखी जाती रही होगी। एक प्रकार के कटोरे मिले हैं जिनके पेंदे में अन्दर की ओर घुंडी हैं। इस तरह के कटोरे मेसोपोटामिया में जम्देत नस्र काल में तथा अन्य संस्कृतियों में भी पाये गये हैं।

ऐसे बर्तन भी मिले हैं जिन पर विभिन्न सामग्री अलग–अलग रखने के लिए कई खाने बने हैं। आज इस तरह स्टील निर्मित खाने वाली थालियों का प्रचलन है।

कुछ कुल्हड़ के तरह के पानपत्र मिले हैं। इनका पेंदा नुकीला है, अतः इनको सीधा करके नहीं रखा जा सकता। ये उलटे रखे जाते थे। इनका प्रयोग कुल्हड़ की तरह पानी पीने के लिए होता रहा होगा। यों यह भी संभावना व्यक्त की गई है कि इनका उपयोग रहट पर लगाये गये भाण्डों के रूप में कुओं से पानी निकालने के लिए होता रहा होगा। लेकिन इनका अपेक्षाकृत छोटा आकार इस कार्य के लिए उपयुक्त नहीं लगता, और उत्खनन में जिस संदर्भ में ये अधिकांशतः मिले हैं उससे कहीं–कहीं तो प्याऊ जैसे स्थलों में पानी पिलाने के लिए इनका उपयोग होना लगता है। इनमें कुछ पर ठप्पे भी मिलते हैं जो संभवतः कुंभकारों के अथवा उनकी फर्म के नाम हो सकते हैं। वास्तव में सिंधु सभ्यता से प्राप्त भाण्डों में यही एक मात्र ऐसा प्रकार है जिस पर ठप्पे मिलते हैं। हड़प्पा के दस ऐसे बर्तनों पर एक ही तरह के लेख वाले ठप्पे मिले हैं। इससे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि ये सब एक ही कुम्हार के द्वारा निर्मित थे। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो में ये कुल्हड़ जैसे बर्तन ऊपरी स्तरों में मिलते हैं। सौराष्ट्र के कुछ स्थलों से हड़प्पा संस्कृति के संदर्भ में इस तरह के बर्तन नहीं मिलते।

थालीनुमा बर्तन भी मिले हैं (चित्र0 55. 15)। संभवतः इनका प्रयोग भोजन के लिये किया जाता रहा होगा। ये थालियां काफी मोटी, उथली और एकदम सादी हैं। गीली मिट्टी से पशु अथवा मानवाकृति बनाकर गीली अवस्था में ही बर्तनों से जोड़ने का चलन सिंधु सभ्यता में नहीं था। केवल एक ही उदाहरण अपवाद स्वरूप उपलब्ध है जिस पर एक बैठे मेष की आकृति है। यह मसिपात्र सा लगता है। समकालीन मेसोपोटामिया के बर्तनों पर विभिन्न पशुओं की आकृति बनाने का काफी चलन था।

धूसर रंग की मिट्टी से बने बर्तनों की संख्या बहुत थोड़ी है। इन पर काला लेप हैं और इनमें से कई पर पालिश किये जाने से चमक है। मेसोपोटामिया की प्राचीन संस्कृति के संदर्भ में भी इसी तरह के बर्तन मिले हैं, पर वे बहुत थोड़े से हैं। ये हड़प्पा संस्कृति के बर्तनों से भिन्न आकृति के हैं और शायद बाहर से लाये गये थे।

विभिन्न स्थलों के भाण्डों की विशेषता

यहां पर सिंधु सभ्यता के कुछ स्थलों के मृद्भाण्डों की विशेषताओं का उल्लेख समीचीन होगा। चन्हुदड़ो में सिंधु सभ्यता के भाण्डों के साथ अंतिम चरण में नये प्रकार के भाण्ड मिले जैसे कि सबसे पहले झूकड़ में मिले थे और जो विकसित सिंधु सभ्यता के भाण्डों से कुछ न्यून प्रकार के थे। रोपड़ की खुदाई से हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के बर्तनों के समान ही साधार तश्तरियां, चंचुक (बीकर), चपटी थाली, उथले नांद और छिद्रित बर्तन उपलब्ध हुए हैं। पानपात्र बहुत कम संख्या में मिले हैं और ऊपरी सतहों में तो यह बिल्कुल ही नहीं मिले।

आलमगीरपुर के बर्तनों में आकार–प्रकार में उतनी विविधता नहीं जितनी कि

हड़प्पा या मोहेंजोदड़ो के बर्तनों में। यहां पर कुछ मिट्टी की बड़ी थालियां मिली हैं जिनके पेंदे छल्लेदार हैं। यज्ञदत्त शर्मा, जिनके निर्देशन में यहां पर उत्खनन हुआ, के अनुसार इनका प्रयोग चकले की तरह आटा सानने के लिए होता था। यहां चंचुक (बीकर) तथा छिद्रित बर्तन भी अत्यल्प संख्या में मिले। अंग्रेजी वर्णमाला के 'एस' (S) अक्षर की आकृति के बर्तन, जो हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो में पर्याप्त संख्या में मिलते हैं और जिन पर चित्रण भी मिलता है, इस स्थल पर नहीं मिले।

सिंधु–सभ्यता के मृद्भाण्डों के संदर्भ में लोथल और गुजरात के अन्य स्थलों से प्राप्त मृद्भाण्डों का साक्ष्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। यहां हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो की तरह के मृद्भाण्ड के साथ ही कुछ परिवर्तित और परिवर्धित और कुछ नये प्रकार के मृद्भाण्ड भी उपलब्ध हुए। ये इस बात के द्योतक हैं कि संस्कृति का अंत अचानक नहीं हुआ; समय के साथ और शायद अन्य संस्कृतियों से संपर्क के फलस्वरुप मृद्भाण्डों के आकार–प्रकार में परिवर्तन हुआ।

लोथल में प्रारंभिक सिंधु सभ्यता के चरण में साधार तश्तरी, छिद्रित कलश, पानपात्र, चंचुक, छोटे गर्दन वाला कलश, नांद, 'S' आकृति के भाण्ड, बड़े गोल घड़े इत्यादि सिंधु सभ्यता के प्रकार के हैं। अलंकरण के अभिप्राय यथा प्रतिच्छेदी वृत्त, पीपल की पत्ती, मोर इत्यादि भी हड़प्पा और मोहेंजोड़ो की तरह के हैं किंतु कहीं–कही चित्रण की शैली में भेद दिखता हें। अधिकांश बर्तन लाल रंग के हैं किंतु कुछ पाण्डु रंग के भी हैं। राव का मत है कि सिंधु सभ्यता के लोगों ने उन्नतोदर कटोरे, जिनमें कुछ पर हत्थे हैं (चित्र 58. 7) और कुछ पर नहीं, को लोथल के मूलवासियों से लिया, जो सिंधु संस्कृति से पहले वहां पर रहते थे।

सिंधु सभ्यता के द्वितीय चरण में सिंधु सभ्यता के कुछ विशिष्ट भाण्ड यथा चंचुक और पानपात्र का चलन समाप्त हो गया तथा बेलनाकार छिद्रित कलश का चलन कम हो गया। कुछ नये प्रकार के भाण्ड यथा नौतली स्कंध वाला कटोरा और ऊंची गर्दन वाला गोल भाण्ड प्रचलन में आये जो क्रमशः उन्नतोदर कटोरा और छोटी गर्दन वाले गोल भाण्ड से विकसित हुए। साधार तश्तरियां अब नौतली नहीं रहीं और उनका आकार छोटा हो गया। 'स्टड' कटोरे का हत्था कुछ लंबा बनाया जाने लगा और दीपक का आकार भी बदला। बर्तनों के चित्रण में कुछ सादगी आ गयी। जानवर और वनस्पति का चित्रण पारंपरिक ढंग से होने प्रारंभ हो गये थे। पहले के अपेक्षाकृत क्लिष्ट अलंकरणों के स्थान पर सरल अलंकरण अधिक प्रयुक्त हुए। छाया किये त्रिभुज और अपुष्पपर्ण (frond) का भी चित्रण मिलता है। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो से प्राप्त सिंधु सभ्यता के अन्य अलंकरणों का प्रयोग कम मिलता है। पशु–पक्षियों का अपेक्षाकृत विशाल पैमाने पर चित्रण द्वितीय काल की अन्य विशेषता है जो लोथल के मृद्भाण्डों को विशिष्टता प्रदान करता है। इस यर्थाथवादी चित्रण का सर्वोत्तम उदाहरण एक बहुत ही कलात्मक रूप से अंकित बारहसिंघे की आकृति है जिसे वृक्ष

के नीचे दिखाया गया है (चित्र 59. 3)। बारहसिंघा की गर्दन बहुत सुन्दर ढंग से बनी है और पेड़ की झुकी शाखा और पत्तियां उसके साथ बहुत सुंदर सामंजस्य स्थापित करती हैं। इसे पाण्डु सतह पर चाकलेटी रंग से चित्रित किया गया है। सिंधु सभ्यता के बर्तन निर्माण तथा उनके अलंकरण में जो परिवर्तन और परिवर्द्धन हुए वे इस बात के प्रमाण हैं कि सिंधु सभ्यता के उपकरणों की एकरूपता वाली धारणा पूरी तरह सही नहीं है।

रंगपुर का द्वितीय काल सिंधु सभ्यता का काल था। इस काल के प्रथम चरण के लाल भाण्ड में तश्तरी व मर्तबान मिले हैं। चंचुक (बीकर) बहुत थोड़ी संख्या में हैं, और चित्रित बर्तन भी कम ही मिले हैं। रंगनाथ राव के अनुसार ये इस बात के द्योतक हैं कि सिंधु सभ्यता के लोग रंगपुर में उस समय आकर बसे जब कि उनकी संपन्नता ह्रासोन्मुखी थी। द्वितीय चरण में जो बर्तन बने वे भलीभांति नहीं पकाए गये और छिद्रित बेलनाकार बर्तन का प्रयोग शनैः शनैः समाप्त हो गया। हड़प्पा काल के तृतीय चरण में उन्नतोदर कटोरे से नौतली कटोरा बल्ब की आकृति के छोटी गर्दन वाले भाण्ड से ऊंची गर्दन वाले भाण्ड का विकास हुआ। हड़प्पा सभ्यता के आधारयुक्त प्याले से ही विशिष्ट 'चषक' का विकास हुआ। इसी चरण में चमकीले लाल भाण्ड का आविर्भाव हुआ। मोर की आकृति को पारंपरिक ढंग से चित्रित किया गया, तथा बकरे और वृषभ, जिनका चित्रण हड़प्पा सभ्यता तथा मध्य–भारतीय ताम्र–पाषाण संस्कृति में भी मिलता है, का चित्रण किया गया। अन्य अलंकरणों में विकल्पतः छाया रेखाएं और अपुष्प–पर्ण हैं। इस काल में श्वेत रंग से अलंकृत काले और लाल भाण्ड और अधिक प्रयुक्त हुए और 'स्टड' हत्थे वाले अभ्रकी बर्तन का हत्था पहले के काल की अपेक्षा कुछ लंबा हो गया। इस स्थल के अंतिम काल (तृतीय काल) में चमकीले लाल भाण्ड, तथा काले–और–लाल भाण्ड अधिक संख्या में बनाये गये।

सुरकोटड़ा (कच्छ) के प्रथम काल के प्रथम चरण में लाल भाण्डों पर काले रंग से चित्रण की विधा का प्रचलन रहा। पीपल की पत्ती, मत्स्य–शल्क हिरन, सारस, तथा बतख का चित्रण सुंदर बन पड़ा है। पानपात्र (अल्प संख्या में), साधारण तश्तरियां, छिद्रित भाण्ड, 'चंचुक' आदि सिंधु प्रकार के भाण्ड प्राप्त हुए हैं। लेकिन सिंधु प्रकार से भिन्न बर्तन यथा बहुरंगी (बैजनी, सफेद और काले) चित्रण वाले, दूधिया लेप वाले, सोथी प्रकार के तथा रिजर्व्ड लेप वाले भाण्ड मिले हैं। अंतिम प्रकार के भाण्ड लोथल, मोहेंजोदड़ो और भारत से बाहर टेलब्राक में मिले हैं। लोथल के प्रथम काल से प्राप्त सफेद रंग के चित्रण वाले काले और लाल भाण्ड की तरह के भाण्ड इस चरण में नहीं मिलते। प्रथम काल के द्वितीय चरण में भी भाण्डों में कोई विशेष अंतर नहीं दिखता लेकिन तृतीय चरण में सिंधु सभ्यता के चित्रित भाण्ड, छिद्रित भाण्ड और पानपात्र के साथ ही आहाड़ प्रकार के श्वेत रंग से ब्रित्रित काले और लाल भाण्ड मिले हैं जिनमें कटोरे, तश्तरियां और हत्थेदार कटोरे उल्लेखनीय हैं। किंतु यहां

पर सौराष्ट्र के सिंधु सभ्यता के स्थलों में प्राप्त चमकीले लाल भाण्डों का अभाव है।

रोजडि में मोहेंजोदड़ो से प्राप्त 98 भाण्ड प्रकारों में से 28 प्रकार ही मिलते हैं। यहां पर प्राप्त कुछ भाण्ड प्रकार मोहेंजोदड़ो में नहीं मिलते। चित्रण की विधा में भी अंतर है। कुन्तसी के प्रथम काल में लाल रंग के भाण्ड के ऊपर काले रंग से चित्रण युक्त भाण्डों के साथ पाण्डु पर काले या बादामी रंग से चित्रण वाले भाण्ड मिले। 'S' आकार के बर्तन और 'स्टड' युक्त कटोरे मिले हैं। द्वितीय काल, जो ह्रासोन्मुखी था, में सिंधु भाण्डों के साथ ही आहाड़ प्रकार के काले–लाल भाण्ड तथा अन्य प्रकार के भाण्ड भी मिले।

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में मार्शल के निर्देशन में हुए उत्खनन में परतों का आधुनिक वैज्ञानिक विधि से विभाजन नहीं किया गया था। लेकिन व्हीलर द्वारा 1950 में मोहेंजोदड़ो में किए गये उत्खनन में मृद्भाण्डों में क्रमिक परिवर्तन के कुछ साक्ष्य मिले हैं और यह देखा गया कि परवर्ती चरण में तकनीकी मानक में ह्रास हुआ।

एक विकसित सभ्यता के अनुरूप ही सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्डों में आकार प्रकार की दृष्टि से पर्याप्त विविधता और विशिष्टता पाई जाती है और उनकी निर्माण–तकनीक भी काफी उन्नत है। इनके निर्माण में उपयोगिता का दृष्टिकोण अधिक है। कल्पनाशीलता का अभाव नहीं, किंतु कम है। एक बार एक विशिष्ट आकार–प्रकार का निर्धारण हो गया तो फिर कुम्हार उसी तरह के भाण्ड विशाल संख्या में बनाने लगे और बर्तन बनाने में कलात्मकता की अपेक्षा व्यावसायिकता को अधिक महत्त्व मिला। तथापि कुछ भाण्ड सिंधु सभ्यता के कुम्भकारों की कलाकारिता के सुन्दर उदाहरण हैं। मृद्भाण्डों की विशिष्टता के कारण ही गार्डन चाइल्ड ने यह मत व्यक्त किया कि सिंधु सभ्यता के बर्तन उसे अन्य सभ्यताओं से जोड़ने के बजाय उसकी अलग विशिष्टता दर्शाने में अधिक सहायक हैं।

अध्याय 8

धातु, पाषाण एवं हाथीदांत से निर्मित कुछ उपकरण

धातु प्रयोग, धातु मिश्रण एवं निर्माण तकनीक

उपकरणों के निर्माण के लिए धातु–प्रयोग का ज्ञान मानव की संस्कृति में महान् प्रगति का परिचायक है।[1] संस्कृतियों के नगरीकरण में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। धातु के बने उपकरण मजबूत तो होते ही हैं वे काफी तेज धार वाले बनाये जा सकते हैं और धार के कुंद होने पर उपकरणों को फेंकना नहीं पड़ता, बल्कि उन्हें ठोक पीट कर या घिस कर पुनः पैना बनाया जा सकता है। जो धातु उपकरण अत्यंत जीर्ण–शीर्ण हो गया हो उसे गला कर नया उपकरण भी बनाया जा सकता है। ईरान और मध्यपूर्व में धातु का प्रयोग सिंधु सभ्यता से कुछ शताब्दी पहले प्रारंभ होने के साक्ष्य मिले हैं। कुछ विशेषज्ञों का अनुमान है कि धातु के प्रयोग का प्रचलन ईरान से अफगानिस्तान में और तत्पश्चात् बलूचिस्तान और सिंध में हुआ। बलूचिस्तान, सिंध और राजस्थान में प्राग्सिंधु सभ्यता की संस्कृतियों में धातु का प्रयोग ज्ञात था किंतु उपकरण निर्माण हेतु इसका उपयोग अत्यल्प मात्रा में हुआ। सिंधु सभ्यता में धातु के उपकरण उनसे कहीं अधिक संख्या में मिले हैं और उनमें पर्याप्त विविधता भी है।

सिंधु सभ्यता के लोग द्रवी–मोम विधि से धातु के उपकरण बनाने, धातु पर पानी चढ़ाने और धातु–मिश्रण की विधि से भलीभांति परिचित थे। उनके उपकरण तकनीकी दृष्टि से वहाँ के धातु कर्मकारों की दक्षता के परिचायक हैं। इस सिलसिले में नालीदार बर्मा और दांतेदार आरी का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। निश्चय ही धातुकर्म में दक्षता तभी आ सकती थी जबकि पेशेवर धातु का काम करने वाले लोग रहे होंगे और उन्हें पर्याप्त मात्रा में खनिज प्राप्त होता रहा होगा। कुछ लोगों का पेशेवर धातुकर्मी होना तभी संभव हो सकता था जबकि वहां के कृषक अपनी आवश्यकतानुसार भरण–पोषण के लिए पर्याप्त अनाज से कहीं अधिक अन्न उपजाने लगे हों।

ऐसा लगता है कि सिंधु सभ्यता के लोग अपने नगरों में तांबे को अयस्क के रूप में नहीं लाते थे। इस सभ्यता के नगरों में न तो अयस्क ही मिले और न उनको गलाने के लिए प्रयुक्त भट्ठे ही। संक्षेप में तांबा इन रूपों में पाया गया है –(1)

1. धातु की तकनीक के बारे में देखिये धर्मपाल अग्रवाल की कृति *Copper Bronze Age in India.*

अपरिष्कृत ताँबा, (2) परिष्कृत ताँबा, (3) आर्सेनिक मिश्रित तांबा और (4) टिन मिश्रित तांबा। कुछ में निकल और सीसा मिलने के भी साक्ष्य हैं। टिन का मिश्रण 1 प्रतिशत से 12 प्रतिशत, आर्सेनिक का 1 प्रतिशत से 7 प्रतिशत, निकल का 1 प्रतिशत से 9 प्रतिशत, सीसे का 1 प्रतिशत से 32 प्रतिशत तक मिलता है।

टिन, आर्सेनिक आदि धातुएं अति न्यून मात्रा में तो खान से ही ताँबे के साथ मिली रही होंगी। किंतु कुछ उपकरणों में इन धातुओं का मिश्रण पर्याप्त मात्रा में मिलता है, जो निश्चय ही जानबूझ कर मिलाया गया था। तांबा एक अपेक्षाकृत कोमल धातु है और टिन आदि के मिश्रण से उसमें मजबूती आ जाती है। उपलब्ध साक्ष्य से पता लगता है कि सिंधु सभ्यता में टिन मिलाकर कांसा बनाने की विधि सभ्यता के प्रथम चरण से ही ज्ञात थी, लेकिन यह देखा गया है कि टिन का मिश्रण नीचे के स्तरों की अपेक्षा ऊपरी स्तरों में अधिक है। यों अपवाद स्वरूप काफी गहरे निक्षेप से प्राप्त एक कांसे के उपकरण में 22 प्रतिशत टिन पाया गया। मेसोपोटामिया और मिस्र में भी कांसे का प्रयोग प्राचीन समय से प्रचलित था।

जहां तक तांबे के साथ अन्य धातुओं के मिश्रण करने का प्रश्न है, अग्रवाल ने जितने उपकरणों का परीक्षण किया उनमें केवल लगभग आठ प्रतिशत उपकरणों में आर्सेनिक, चार प्रतिशत में निकल और छः प्रतिशत में सीसे का प्रयोग हुआ है। तांबे और आर्सेनिक के मिश्रण के बने उपकरण तांबे की अपेक्षा तो अधिक किंतु कांसे की अपेक्षा कम मजबूत होते हैं। मकाइ का कहना है कि शायद सिंधु सभ्यता के वासियों ने तांबे में आर्सेनिक अलग से नहीं मिलाया, वह खान से ही तांबे के साथ मिला हुआ था। धातु के अधिकांश उपकरण जीर्ण–शीर्ण अथवा खंडित अवस्था में मिले हैं।

तांबे अथवा कांसे की कुल्हाड़ियों, कुल्हाड़ा–बसूला, बरछे, भालों की नोक, बाणाग्र, चाकू और कटार का विवरण हमने 'युद्ध सम्बन्धी उपकरण' के संदर्भ में इसी अध्याय में नीचे दिया गया है। सोने, चांदी, तांबे आदि के आभूषणों, मनके, वलय, अंगूठी और दपर्ण इत्यादि प्रसाधनोपकरण का विवरण 'परिधान तथा आभूषण' अध्याय में और तांबे और कांसे की मानव तथा पशु आकृतियों का विवरण 'पाषाण तथा धातु की मूर्तियां वाले अध्याय में दिया है। उनकी पुनरावृत्ति यहां आवश्यक नहीं हैं। अन्य प्रकार की कुछ वस्तुओं का विवरण नीचे दिया गया है।

गृह–कार्य के उपयोगी धातु के उपकरण

बर्तन

तांबे के कई छोटे–बड़े बर्तन मिले हैं। तांबे के बर्तन बनाने की एक सरल विधि है धातु की चादर को काट कर उसे ठोक पीट कर इच्छित रूप देना। यों कांसे के बर्तनों को भी इस तरह बनाया जा सकता है पर तांबे की अपेक्षा कांसे के बर्तनों को इस तरह बनाना अधिक श्रमसाध्य है। दूसरी विधि है धातु को गलाकर सांचे से

बनाना। तांबा अपेक्षाकृत मुलायम धातु होने के कारण उससे बने बर्तनों पर दबाव पड़ने पर आसानी से गड्ढे पड़ जाते हैं। कांसे के बर्तनों को बनाने में श्रम भले ही अधिक पड़े, वे तांबे के बर्तनों से कहीं अधिक मजबूत होते हैं। अधिकांश धातु के बर्तनों का आकार–प्रकार मिट्‌टी के बर्तनों के अनुरूप है, किंतु मिट्टी और धातु के बर्तनों के निर्माण की तकनीक का अन्तर होने के कारण धातु में मिट्‌टी के बर्तनों के जैसे आकार के बर्तन बनाने में भाण्ड निर्माता को कुछ कठिनाई महसूस होना स्वाभाविक था। अपेक्षाकृत बड़े बर्तनों में सारे बर्तन को एक साथ न बना कर पेंदे को अलग से बनाया गया। कुछ बर्तनों पर मजबूती के लिए मोटा बनाने की इच्छा से बर्तन के पेंदे पर अलग से तांबे की चादर का टुकड़ा जोड़ दिया गया। कुछ धातु के बर्तन ऐसे हैं जिनके अनुरूप मिट्‌टी के बर्तन नहीं मिले हैं। मकाइ का मत है कि उनकी तरह के मृद्‌भाण्ड अवश्य रहे होंगे लेकिन वे अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। कुछ तांबे और कांसे के बर्तनों के कोर (रिम) ज्यादा पतले हैं। उपयोगिता की दृष्टि से इन्हें इतना पतला बनाना ठीक नहीं कहा जा सकता।

साधारण बर्तनों के अतिरिक्त तांबे की तश्तरियों के ढक्कन, घड़े के ढक्कन और कुछ बहुत छोटे बर्तन (जिनका प्रयोग अनुमानतः काजल जैसी चीजों को रखने के लिए होता था) भी मिले हैं। एक तांबे के बर्तन के भीतर कार्नीलियन के मनकों की लड़ी और सोने तथा चांदी के आभूषण मिले। कांसे के भी बर्तन, कटोरे तथा ढक्कन मिले हैं, लेकिन तांबे के बर्तनों की अपेक्षा इनकी संख्या अत्यन्त कम है। बहुत थोड़े से चांदी के भी बर्तन और उनके ढक्कन मिले हैं जिनके भीतर सोने और चांदी के आभूषण मिले। लेकिन मृद्‌भाण्डों की तुलना में धातु के बर्तन अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। उनके कम संख्या में प्राप्त होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि जब मोहेंजोदड़ो निर्जन हुआ तो लोग शहर छोड़ते समय अपने साथ कीमती सामान के साथ धातु के बर्तन भी लेते गये होंगे।

आरी

मकाइ के द्वारा किये गये उत्खनन में मोहेंजोदड़ो से दो आरियां मिलीं। एक तांबे की है जो लगभग 42 सेमी लम्बी हैं। इसके दांत नियमित फासले पर नहीं हैं। दूसरी आरी कांसे की है, यह लगभग 32 सेमी लम्बी है। तकनीकी दृष्टि से यो दोनों आरियां पर्याप्त विकसित हैं और विश्व में झुकाव तथा तिरछे दांत वाली आरियों के प्राचीनतम् उदाहरण लगती हैं। मकाइ की धारणा है कि इस तरह की विकसित आरियां रोमनकाल से पहले अन्यत्र नहीं मिलती। मोहेंजोदड़ो से एक अन्य कांसे की आरी मिली है जिसकी लम्बाई 46. 5 सेमी, अधिकतम चौड़ाई 16 सेमी, तथा मोटाई 0. 125 सेमी है। इसके चूल में दो छेद हैं जिनसे उसे हत्थों से जोड़ा गया था। इसी स्थल से एक और खण्डित आरी मिली है। लोथल से भी एक आरी मिली है जो चक्राकार है और तकनीकी दृष्टि से पर्याप्त विकसित होने के कारण महत्त्वपूर्ण है।

छेनियाँ

सिंधु सभ्यता में, विशेषतः मोहेंजोदड़ो में, छेनियां काफी संख्या में मिली हैं। इनमें से कुछ साँचे से बनी हैं और कुछ को ठोंक–पीट कर ही छेनी का आकार दिया गया है। इनके आकार–प्रकार में पर्याप्त विविधता है। मकाइ ने इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है–

(1) आयताकार या वर्गाकार काट वाली छेनियां; ऐसी छेनियों की मोटाई पूरी लम्बाई में एक सी है,

(2) आयताकार या वर्गाकार काट की छेनियां जिनके चूल चपटे हैं,

(3) गोल काट वाली छेनियाँ; इन्हें साधारण छड़ से काट कर बनाया गया है,

(4) छोटी मजबूत छेनियाँ; जिनकी काट गोल, आयताकार या वर्गाकार है, और

(5) छोटी नुकीली छेनियाँ।

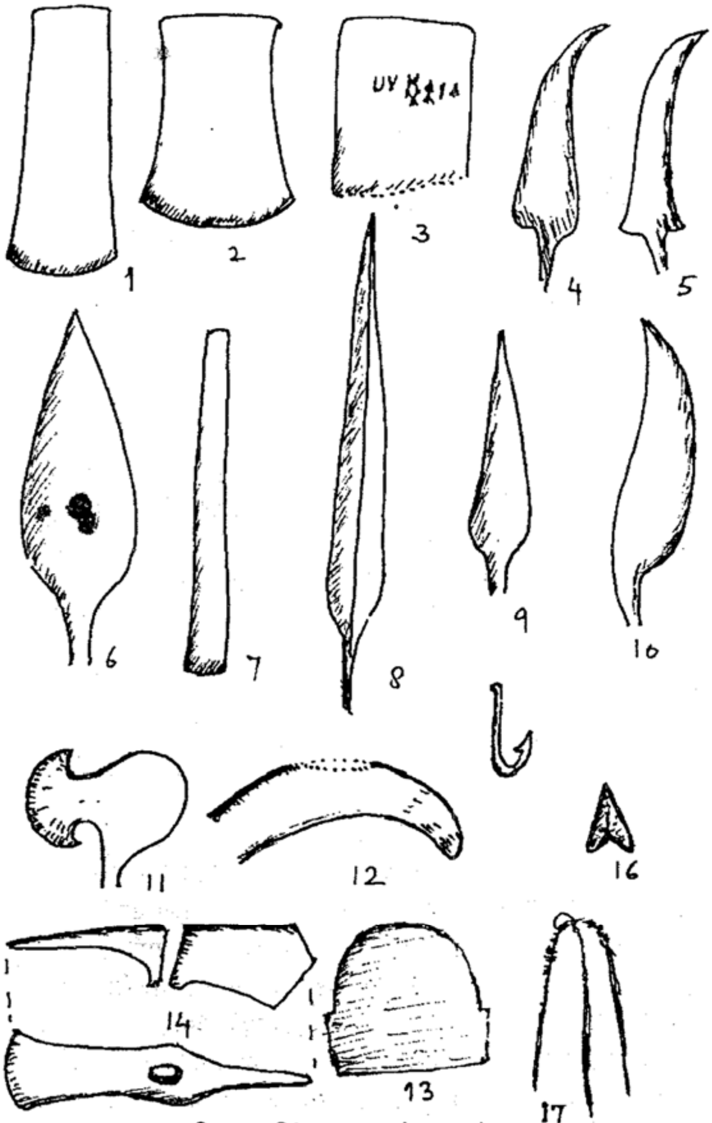
पहले प्रकार की छेनियाँ पर्याप्त संख्या में मिली हैं। यह प्रकार कई अन्य प्राचीन संस्कृतियों में भी पाया गया है। इन्हें आयताकार ढांली हुई छड़ों को पीटकर बनाया गया था। कुछ उदाहरणों में उनका सिरा भी पतला है जो हथौड़े से पीट–पीटकर बनाया गया था। शीर्ष और धार वाले भागों को अधिक मजबूत बनाना आवश्यक था क्योंकि छेनी को ठोंकते समय इन्हीं दो हिस्सों पर विशेष जोर पड़ता था। दूसरे प्रकार की छेनियां सिन्धु सभ्यता की अपनी विशिष्टता है और अन्यत्र नहीं पाई गईं। मकाइ का अनुमान है कि सम्भवतः इसके शीर्ष पर हत्था लगा था और हथौड़े की चोट सीधे छेनी के शीर्ष पर न पड़कर इस हत्थे पर पड़ती थी। किंतु कुछ इस प्रकार की छेनियों के सिरों पर निशान इस बात के द्योतक हैं कि हथौड़े की चोट सीधे उनके सिर पर की गई थी। मकाइ का यह भी मत है कि पहले तीन प्रकार की छेनियों का प्रयोग बहुत सख्त वस्तुओं पर नहीं होता था। इनका प्रयोग या तो लकड़ी के काम में या सेलखड़ी जैसे मुलायम पत्थर की वस्तुओं के निर्माण के सन्दर्भ में ही होता था। शेष दो प्रकार की छेनियां अपेक्षाकृत अधिक मजबूत थीं।

अन्य वस्तुएं

सिंधु सभ्यता के सन्दर्भ में तांबे के बने 'सर्जरी सेट' (चित्र 60. 17) अंजन लगाने की सलाइयां, नहनी, उस्तरा (चित्र 60. 11), सुई, सूजा आदि मिले हैं। इस संदर्भ में लोथल से प्राप्त उस सुई का विशेष उल्लेख करना समीचीन होगा जिसमें नोंक की ओर छेद है। तकनीकी दृष्टि से यह एक अत्यन्त विकसित उपकरण है। उस्तरों के लम्बे चूल हैं जिन्हें हत्थे में लगाया जाता रहा होगा। तांबे का एक हंसिया का फाल मोहेंजोदड़ो में मिला है। मछली पकड़ने के कांटों (चित्र 60. 15) को तांबे की चादर से काट कर फिर ठोक पीट कर आकार दिया गया था। लोथल में प्राप्त खांचे वाला बर्मा विशेष उल्लेखनीय है। इसी स्थल से एक अन्य महत्त्वपूर्ण तक्षणी यन्त्र का

भाग भी मिला है।

मकाइ का कहना है कि मोहेंजोदड़ो के ऊपरी सतह में जो ताम्र उपकरणों की निधियां उपलब्ध हुई हैं वे इस बात की द्योतक हैं कि लोगों को इस बात की सूचना थी कि शीघ्र ही बाह्य आक्रमण होने वाला है। लगता है कि उपकरणों को तो उन्होंने



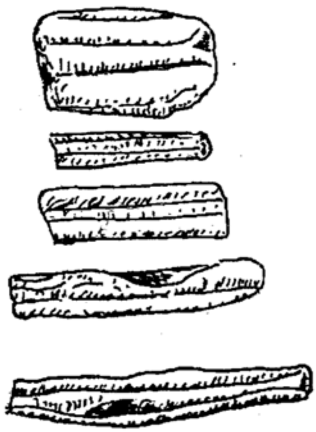
चित्र 60 सिंधु सभ्यता के धातु के उपकरण

गाड़ दिया लेकिन वे अपना जीवन नहीं बचा सके, और ये उपकरण गड़े ही रह गये। किंतु अब प्रायः विद्वान् यह नहीं मानते कि मोहेंजोदड़ो का अंत बाह्य आक्रमण से हुआ। यह हो सकता है कि लोग किसी संक्रामक रोग के फैलने पर उससे बचने के लिए नगर छोड़ कर अन्यत्र चले गये, और किन्हीं कारणों से लौट नहीं सके।

पत्थर के उपकरण तथा वस्तुएं

पाषाण की मूर्तियों, मुद्राओं, मनकों, सिल–बट्टों, बाट–बटखरों, हल के फालों (?), छल्लों इत्यादि का कुछ विस्तार से उल्लेख हमने इसी कृति में अन्यत्र विभिन्न संदर्भों में किया है।[1] कुछ अन्य पाषाण उपकरणों का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

उत्खननों से चकमक पत्थर के शल्क और क्रोड मिले हैं (चित्र 60अ)। ये दोनों ही प्रकार कई घरों के भीतर से भी मिले हैं। मकाइ ने इससे अनुमान लगाया है कि लोग घरों में क्रोड रखते थे और जैसे ही औजार की जरूरत पड़ती थी घर पर ही नौकर या घर का कोई सदस्य क्रोड से शल्क निकाल लेता था। जिन्न क्रोड से ये शल्क निकले हैं उन्हें शल्क निकालने के लिए भलीभांति तराश कर तैयार किया गया था। इन क्रोडों से शल्क निकालना कठिन कार्य न था। परीक्षण से देखा गया है कि लकड़ी का हथौड़ा ही फलक निकालने के लिए पर्याप्त था। मोहेंजोदड़ो में चकमक पत्थर लगभग 56 मील दूर स्थित सक्कर से लाया गया था। पालिश करने के लिए प्रयुक्त किये गये पत्थर के उपकरण भी मिले हैं। उनसे धातु की वस्तुओं को चमकाया जाता रहा होगा। सान के लिए प्रयुक्त पत्थर बहुत कम प्राप्त हुए। इनकी संख्या से अनुमान लगाया गया है कि लोग घरों में इस तरह के पत्थर नहीं रखते थे और औजार को तेज करने के लिए धातुकर्मियों के पास ले जाते थे।



चित्र 60अ सिंधु सभ्यता के पाषाण क्रोड एवं शल्क

पत्थर के बने बर्तन मोहेंजोदड़ो में बहुत कम मिले हैं और इनमें से अधिकांशतः मुलायम श्वेत ऐलाबस्टर पत्थर के हैं। इस तरह का ऐलाबस्टर पत्थर मोहेंजोदड़ो के समीप ही उपलब्ध था। ये बर्तन अधिकांशतः खंडित अवस्था में मिले हैं। इनमें केवल सूखी वस्तुएं या बहुत गाढ़े तेल ही रखे जा सकते थे। कुछ तो निश्चय ही

1. पाषाण–मूर्तियों के लिए 'पाषाण धातु तथा मिट्टी की मूर्तियां' मुद्राओं के विवरण के लिए 'मुद्राएं, मुद्रा छापें तथा ताम्रपट्ट', सिल–बट्टों, बाट–बटखरों और हल के फाल के लिए 'आर्थिक जीवन', तथा छल्लों के लिए 'धार्मिक विश्वास और अनुष्ठान' अध्याय देखिए।

प्रसाधन–पेटिका की तरह प्रयुक्त होते थे। मकाइ का अनुमान है कि शायद इन्हें सान पर बनाया जाता था। मोहेंजोदड़ो में हरिताभ धूसर सेलखड़ी के बर्तन का टुकड़ा निम्न स्तर से मिला है। मकाइ का अनुमान है कि मूलतः इस बर्तन में दो खाने रहे होंगे। इसकी बाहरी सतह पर चटाई का सा डिजाइन है। यह टुकड़ा 5 सेमी X 3. 81 सेमी X 0. 75 सेमी आकार का है। इस टुकड़े पर प्राप्त डिजाइन सूसा की प्राचीन संस्कृति के संदर्भ में प्राप्त टुकड़े से मिलता जुलता है। किश में भी इस तरह के बर्तनों के टुकड़े मिले हैं। दो छोटे बर्तन ऐसे पत्थर के बने हैं जो आरोगैनाइट (Aroganite) पत्थर से मिलता जुलता है। आरोगैनाइट पत्थर प्राचीन मिस्र और सुमेर में काफी प्रयोग में लाया जाता था। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक बर्तन मिस्र में प्राप्त बर्तनों से बहुत मिलता जुलता है। एक फुक्साइट पत्थर का बर्तन मिला है। इस तरह का पत्थर मैसूर में मिलता है और शायद वहीं से लाया गया होगा।

कांचली मिट्‌टी के उपकरण

कांचली मिट्‌टी का प्रयोग सिन्धु सभ्यता में विभिन्न उपकरणों के निर्माण के लिए होता था। यद्यपि यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कांचली मिट्‌टी बनाने की विधि सबसे पहले किस देश ने ज्ञात की, तथापि कुछ विद्वानों के अनुसार उपलब्ध साक्ष्य इसके पक्ष में हैं कि मिस्र में ही इस विधि का आविष्कार हुआ होगा। मिस्र में राजवंश से पहले के काल में, चतुर्थ सहस्राब्दी ई. पू. में सुमेर में, लगभग तीन हजार ई. पू. में पश्चिमी एशिया के एक बड़े क्षेत्र में, और तृतीय सहस्राब्दी के मध्य क्रीट में इसका प्रयोग होता था। इसमें पत्थर के चूरे को आटे की तरह सान कर वस्तुएं बनायी जाती थीं। और फिर उन पर ग्लेज कर उन्हें पकाया जाता था। सिन्धु सभ्यता की कांचली मिट्‌टी की वस्तुएं साधारणतः सफेद या भूरे पेस्ट की बनी हैं जो शायद भूमिगत लवण या नमी से हल्की नीली या हरी हो गयी हैं। मिस्र में कांचली मिट्‌टी कैसे तैयार की जाती थी, यह ठीक तरह से ज्ञात नहीं। कुछ का कहना है कि यह स्फटिक (क्वाटर्ज) पत्थर का चूरा है। सिन्धु सभ्यता के लोगों ने इसके लिए सेलखड़ी के चूरे का प्रयोग किया। मिस्र और सिंधु दोनों सभ्यताओं में ही पत्थर से आकृति बना कर उसमें ग्लेज करने की प्रथा थी। सेलखड़ी से आकृति बना कर ग्लेज करने की अपेक्षा सेलखड़ी के चूरे से वस्तुएं बनाना अधिक उन्नत तकनीकी ज्ञान का द्योतक है। एक उदाहरण में ग्लेज के ऊपर चित्रण किया गया था।

सिंधु सभ्यता में कांचली मिट्‌टी से बने विभिन्न जानवरों, यथा भेड़, बन्दर, कुत्ता, तथा गिलहरी की आकृतियां बहुत सुन्दर बन पड़ी हैं। कांचली मिट्‌टी के बने मनके विशाल संख्या में प्राप्त हुए हैं। इस पदार्थ से निर्मित कुछ छोटे आकार के बर्तन भी मिले हैं। ये या तो देवताओं को चढ़ाये जाते थे या फिर इनमें प्रसाधन के लिए कीमती तेल, इत्र इत्यादि रखे जाते थे। ये बहुत सावधानी से बनें हैं और आसानी से टूटने वाले हैं, अतः इन्हें बच्चों के खिलौने मानना ठीक नहीं होगा। क्रीट को छोड़कर

अन्य प्राचीन सभ्यताओं में कांचली मिट्टी के बर्तन उपलब्ध नहीं। कांचली मिट्टी के थोड़े से उत्खचन भी मिले हैं। कुछ उत्खचन पेस्ट के भी मिले हैं। कुछ बर्तनों को अलग टुकड़ों में बना कर पेस्ट से जोड़ा गया है।

हाथी दांत और हड्डी के उपकरण

यद्यपि अनेक मुद्राओं पर हाथी का चित्रण है, जिससे इस पशु से सिंधु सभ्यता के लोगों के भलीभांति परिचित होने और उनके काफी संख्या में होने की सम्भावना लगती है, फिर भी सिन्धु सभ्यता में हाथी दांत की बनी वस्तुएं अपेक्षाकृत कम हैं। मोहेंजोदड़ो में ये कुछ अधिक मिली हैं। लोथल में भी हाथीदांत का काम होता था। हाथीदांत की वस्तुओं के कम मिलने के कारण के बारे में मकाइ ने यह अनुमान लगाया है कि शायद हाथी को पवित्र माना जाता था और इसलिये लोग हाथी दांत की प्राप्ति के लिये उसे मारते नहीं थे और इसके मरने के बाद ही जो हाथीदांत उपलब्ध हो पाते थे उन्हीं का उपयोग होता था। पर ऐसी सम्भावना कम है। हाथीदांत निर्मित कुछ वस्तुएं तो काफी अच्छी दशा में मिली हैं लेकिन कुछ क्षतिग्रस्त हैं। मोहेंजोदड़ो के 'एल' (L) क्षेत्र में एक खंडित हाथीदांत के फलक, जो लगभग 4. 86 सेमी लम्बा, 2. 25 सेमी चौड़ा और 1 सेमी मोटा है, के मुख–भाग में एक पुरुष आकृति बायीं ओर मुख किये है, उसके हाथ कमर पर हैं। यह पुरुष कुछ मुद्राओं पर अंकित मानवाकृति वाले लिपि–चिह्न के समान है। यह टोपी और लंगोटा पहने है। उसकी पीठ पर धनुष जैसी वस्तु है। हाथी दांत की कुछ ऐसी वस्तुएं मिली हैं जो सम्भवतः किन्हीं धार्मिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त होती थीं। हाथी दांत की कंघी भी मिली है। कुछ बेलनाकार लेखयुक्त हाथी दांत की कृतियां शायद मुद्राएं थीं। बालों पर लगाने की पिन और सुइयां भी बहुत अल्प संख्या में मिली हैं। हाथी दांत के बने दर्पण के कुछ हत्थे भी मिले हैं। हाथी दांत की पैनी नोक वाली मोटी सुई की तरह के उपकरणों का प्रयोग भोजपत्र जैसी वस्तु पर लिखने के लिए भी हो सकता था। मोहेंजोदड़ो से हड्डी की बनीं सुइयों जैसे उपकरण प्राप्त हुए हैं। हाथीदांत की गोटियां भी मिली हैं। हिरन के सींग के अत्यल्प संख्या में हत्थे उपलब्ध हैं। ऐतिहासिक काल में पाम्पेई और बेग्राम से भारतीय हाथीदांत की सुन्दर कृतियां मिली हैं। यदि सिंधु सभ्यता की पहचान मेसोपोटामिया के अभिलेखों के मेलुह्ह से की जाय तो इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यहां से वहां निर्यातित सामग्री में हाथीदांत की वस्तुएं भी शामिल थीं।

शंख के उपकरण

सिन्धु सभ्यता के लोगों को शंख अपार मात्रा में उपलब्ध था और यद्यपि इसकी भंगुरता के कारण इसकी वस्तुएं बनाना हाथीदांत की अपेक्षा कुछ कठिन होता है, पर कुछ मानों में यह उपकरणों के निर्माण के लिए हाथीदांत से भी उपयुक्त वस्तु है। सिन्धु सभ्यता के कारीगर शंख से वस्तुएं बनाने में अत्यंत दक्ष थे। मोहेंजोदड़ो के 'एल' क्षेत्र में अनेक स्थलों पर थोड़ी संख्या में पूरे और आधा काम किये शंख पाये गये

जिससे स्पष्ट है कि वहां पर शंख का काम होता था। शंख की मुख्यतः चूड़ियां व मनके बने हैं। उत्खनन के लिए भी शंख का प्रयोग होता था। उत्खनन हेतु पंखुड़ियां (जो फूल के डिजाइन का अंग रही होंगी), सीढ़ीनुमा डिजाइन, क्रास डिजाइन, हृदय की आकृति का डिजाइन, पत्ते की आकृति का डिजाइन मिलते हैं। शंख के बड़े चमचे काफी संख्या में प्राप्त हुए। मेसोपोटामिया में भी इस तरह के चमचे मिले हैं। शंख के तश्तरी की जैसी आकृति के चंद बर्तन भी हैं। सुमेर में इस तरह के बर्तन अपेक्षाकृत अधिक मिले हैं। लोथल से शंख का बना उपकरण मिला है जिसकी पहचान एक दिशामापक यन्त्र के रूप में की गयी है। यह बेलनाकार और अन्दर से खोखला है। उसके छोरों पर चार दरारें हैं। इस उपकरण की सहायता नगर के भवनों तथा नालियों की सीध बांधने में और भूमि की पैमाइश में ली जाती रही होगी।

बालाकोट (सिंध) में शंख की अनेक वस्तुएं निर्माण प्रक्रिया के विभिन्न चरणों के द्योतक हैं। स्पष्ट है कि यहां पर बड़े पैमाने पर इसके उपकरणों का निर्माण होता था और यहां से सिंधु सभ्यता के कुछ स्थलों और संस्कृतियों के क्षेत्रों में भी इसका निर्यात होता रहा होगा। बालाकोट की स्थिति और स्वरूप से लगता है कि इसने गुजरात के क्षेत्र और पश्चिमी एशिया के मध्य व्यापार करने वालों के लिए पड़ाव स्थल के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी।

युद्ध संबंधी उपकरण

सिंधु सभ्यता का मूल आधार कृषि तथा व्यापार था। इस तरह का कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इस सभ्यता के लोगों ने आक्रमण के बल पर धन–सम्पत्ति एकत्र की थी और राज्य विस्तार किया। मार्शल, मकाइ आदि पुराविदों का मत है कि ये लोग युद्ध–विमुख शांतिप्रिय थे। इस तथ्य में कुछ सच्चाई हो सकती है, किंतु कालांतर में व्हीलर द्वारा की गयी खुदाइयों से यह स्पष्ट हो गया कि वे लोग आक्रामक भले ही न रहे हों, अपनी सुरक्षा के प्रति पर्याप्त सजग थे। उन्होंने मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा, कालीबंगां, धौलावीरा इत्यादि कई नगरों की गढ़ियों को विशाल रक्षा–प्राचीरों से सुरक्षित किया था जिसके वस्तुविन्यास के संबंध में विस्तार से इसी पुस्तक में अन्यत्र उल्लेख किया गया है। इस सुरक्षा दीवार के साथ बुर्ज भी थे। हड़प्पा में व्हीलर ने बताया कि गढ़ी सुरक्षा दीवार से वेष्टित थी। बाद में डेल्स द्वारा किये उत्खननों से निचले नगर के भी सुरक्षा दीवार से वेष्टित होने के प्रमाण मिले। व्हीलर के अनुसार हड़प्पा का 'एफ' टीला छावनी सा लगता है। आल्चिन के अनुसार हिशाम ढेरी नामक स्थल सिंधु सभ्यता की सेना का पड़ाव स्थल था। यहां पर मृण्मय 'केक' और गोफन गोलियां विशाल संख्या में मिले। कालीबंगां में भी गढ़ी और निचला नगर दोनों अलग अलग सुरक्षा दीवारों से घिरे थे, और गढ़ी दो भागों में दीवाल से विभाजित थी। बणावली में गढ़ी और निचला नगर दोनों एक ही दीवार से रक्षित थे। सुरकोटड़ा में गढ़ी और निचला नगर एक दूसरे से सटे थे और

एक दीवाल दोनों में साझा थी। धौलावीरा में एक ही दीवाल के भीतर गढ़ी, मध्य नगर और निचला नगर थे और गढ़ी तथा मध्य नगर को अलग–अलग सुरक्षा दीवारों से वेष्टित किया गया था। मोहेंजोदड़ो में चबूतरे के ऊपर गढ़ी और नीचे निचला नगर और दोनों एक ही सुरक्षा दीवार से वेष्टित थे, अतः हम देखते हैं कि सिंधु सभ्यता की योजना में अनेकता में एकता है। द्वारों की सुरक्षा का विशेष प्रबंध था। सुरक्षा दीवार का मुख्य प्रयोजन आक्रमण से सुरक्षा ही रहा होगा। यों यह बाढ़ से भी बचाव कर सकती थी। कौन जाने शासक वर्ग ने इसका निर्माण निचले नगर के लोगों पर अपनी श्रेष्ठता जताने के उद्देश्य से अथवा किसी संभाव्य आंतरिक विद्रोह से सुरक्षा के उपाय के रूप में भी किया हो। खुदाइयों में प्राप्त कई उपकरण इस तरह के हैं जिनका युद्ध, शिकार या बढ़ईगीरी में से किसी भी कार्य के लिए प्रयोग किया जा सकता था। ऐसी सामग्री बहुत कम प्राप्त हुई है जिसे निश्चयपूर्वक अस्त्र–शस्त्र की श्रेणी में रखा जा सके।

सिंधु सभ्यता के अवशेषों में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं मिली जिसकी पहचान किसी रक्षात्मक अस्त्र, यथा कवच, ढाल अथवा शिरस्त्राण से की जा सकती हो। वैसे बटन जैसी आकृति के कुछ तांबे के टुकड़े उपलब्ध हुए हैं जिनके बारे में कतिपय विद्वानों का विचार है कि इन्हें शत्रुओं के प्रहार से शरीर की सुरक्षा के लिए सैनिकों की वर्दी में सिल दिया गया होगा।

संभावित अस्त्र–शस्त्रों (चित्र 60) में तांबे और कांसे के भाले, चाकू, बाणाग्र तथा कुल्हाड़ियां पायी गयी हैं। कुछ पत्थर के और तांबे के गदा–सिर तथा मिट्टी की कुछ गोलियां मिली हैं। पत्थर के कुछ फलकों का उपयोग दैनिक गृहस्थी के कार्यों के लिए होता रहा होगा, सैनिक उपकरण के तौर पर नहीं। कुछ ताम्र उपकरणों पर भी लेख मिले हैं। मोहेंजोदड़ो से ताम्र आयुधों की एक निधि प्रारंभिक स्तरों से मिली थी। एक मिट्टी के भांड के भीतर तांबे की 4 कुल्हाड़ियां सीधे किनारे वाली, 8 कुल्हाड़ियां कंधे वाली, 8 लम्बी संकरे फल वाली कुल्हाड़ियां, 2 दोनों सिरे वाली कुल्हाड़ियां, 2 एक प्रकार के और 7 दूसरे प्रकार के खड्ग, एक गदासिर, 13 वर्छी के सिरे, 10 छेनियां, दो छड़, दो आरी, एक बाणाग्र, एक सिरे वाला खड़ग, एक भाले का सिर, एक गंड़ासा और एक कटोरा मिले हैं। इनमें कुछ एकदम नये और कुछ इस्तेमाल किये हुए थे। यह किसी धनी व्यापारी का कमरा था।

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा से भाले के जो फल प्राप्त हुए हैं वे लंबे, पतले, चपटे तथा कुछ आदिम प्रकार के हैं(चित्र 60. 6, 8)। उनके हत्थे लकड़ी के रहे होंगे जो अब नष्ट हो गये हैं। इनकी मध्यशिरा मजबूत नहीं हैं। मकाइ ने सुझाया है कि नोकों को लकड़ी का सहारा दिया गया होगा जो कि मध्यशिरा का काम देती रही होगी। जो लोग कुल्हाड़िया काफी भारी बनाते थे, उन्होंने भालों की नोक इतनी पतली क्यों बनाई, यह बात समझ में नहीं आती। उस काल में, बल्कि उससे कुछ पहले भी,

मेसोपोटामिया और मिस्र में प्रयुक्त भाले कहीं अधिक विकसित प्रकार के थे। सिंधु सभ्यता के भाले चूलदार हैं और इनके उस भाग में, जो दस्ते में जड़ा गया था, छेद है। मूंठ काठ की रही होगी। मोहेंजोदड़ो से बहुत थोड़े से ही भाले के ऐसे फल मिले हैं जिनमें मध्यशिरा है। इनकी तुलना विद्वानों ने सीरिया–फिलस्तीन के लगभग 2200–1650 ई. पू. के संदर्भ में मिले भालों के फलों से की है। पत्ती की आकृति से मिलते जुलते भालों का प्रयोग कई संस्कृतियों द्वारा किया गया था। मोहेंजोदड़ो की एक मुद्रा पर एक कटीले भाले का अंकन है। इससे कुछ मिलते जुलते भाले का प्रकार ताम्र–निधि संस्कृति के साथ विशेष रूप से पाया जाता है।

कुल्हाड़ियां

कुल्हाड़ियों के फाल तांबे और कांसे के मिले हैं (चित्र 60. 1–3)। कांसे की अपेक्षा तांबे की कुल्हाड़ियों की संख्या अधिक है। लगता है कि पहले कुल्हाड़ियों को सांचे में ढाल फिर ठोंक पीटकर आवश्यक आकार दिया जाता था। तत्पश्चात् उन्हें रगड़–रगड़ कर समतल किया जाता था जिससे हथौड़े के निशान भी मिट गये। स्वाभाविक रूप से कांसे की कुल्हाड़ियां तांबे की कुल्हाड़ियों से अधिक सफाई से बनी हैं। बनावट की दृष्टि से इनके दो प्रकार हैं (1) लंबी तथा संकरी, (2) छोटी तथा चौड़ी। मध्यपूर्व और निकट के देशों की प्राचीन संस्कृतियों में भी ये दोनों प्रकार मिलते हैं।

पहले प्रकार की कुल्हाड़ियों के फाल एक ओर धार वाले हैं। इनमें किनारे की ओर ढलान है। अधिकतर फाल दोहरे ढलान वाले हैं जिनकी धार वाले किनारे की आकृति अर्द्ध चन्द्राकार जैसी है। कुछ के किनारे फैलाव लिए हैं। किंतु अधिकांश फालों के दो किनारे समानांतर हैं। इनका ऊपरी छोर गोलाई लिए हैं। जिन फालों की धार कुंठित या टूट–फूट से खराब हो जाती थी उन्हें आवश्यकतानुसार ठीक कर लिया जाता था। दूसरे प्रकार के फाल के अर्द्ध चंद्राकार किनारे अधिक फैलाव लिए हैं। इस वर्ग की कुछ कुल्हाड़ियां नतोदर हैं तथा हत्थे की ओर अधिक संकरी हैं। उन्हें शायद लकड़ी के हत्थे में दरार बना, उसमें कुंद भाग को फंसाकर उसे रस्सी से बांध कर प्रयोग किया जाता था। तांबें के छल्ले नहीं मिले, अतः इस बात की संभावना नहीं लगती कि इन्हें छल्लों से हत्थे पर स्थिर किया गया था। इनका उपयोग युद्ध, शिकार या लकड़ी काटने में, अथवा इन सभी कार्यों के लिये हो सकता था।

कुछ छेददार कुल्हाड़ियों की प्रतिकृतियां मिट्टी में पायी गयी हैं। हो सकता है इनका उद्‌गम स्रोत पश्चिमी एशिया रहा हो। कुल्हाड़ी की मिट्टी में प्रतिकृतियां मेसोपोटामिया में अल–उबैद काल से मिलने लगती हैं। चन्हुदड़ो से एक तांबे की छिद्रदार कुल्हाड़ी हड़प्पा संस्कृति के अंतिम स्तर अथवा झूकड़ चरण के संदर्भ में उपलब्ध हुई हैं। सिंधु सभ्यता के स्थलों से हत्थे के लिए छेद वाले औजार बहुत कम पाये गये हैं। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त हत्थे के लिए छेद वाला एक कुल्हाड़ा–बसूला मिला

(चित्र 60. 14) जो सिंधु सभ्यता में अपने ढंग का एक मात्र उदाहरण है। यह सतह से लगभग 2 मी0 गहराई में पाया गया। इस तरह के कुल्हाड़ा–बसूले उत्तरी ईरान में हिस्सार III C (जिसकी तिथि विद्वान् 2000 से 1000 ई. पू. के बीच मानते हैं) में, और इसका लघु रूप असीरी राजा सालमनेर III (859–324 ई. पू.) द्वारा असुर में बनाये अनुअदद मंदिर के नींव के नीचे, क्रीट में 2001–1900 ई. पू. के स्तर में, और यूक्रेन में लगभग 1500 ई. पू. के संदर्भ में मिले हैं। व्हीलर मोहेंजोदड़ो के कुल्हाड़ा–बसूले की तिथि द्वितीय सहस्राब्दी ई. पू. मानते हैं। वे हाइने गेल्र्डन के मत से सहमत हैं कि कुल्हाड़ा–बसूला मोहेंजोदड़ो में व्यापारिक कारणों से नहीं आया बल्कि यहां पर नये लोगों के आगमन का द्योतक है। मकाइ इसे सिंधु सभ्यता के बाद के काल का उपकरण मानते हैं। उन्होंने यह भी संभावना व्यक्त की है कि बौद्ध स्तूप के निर्माण के लिए जो परवर्ती काल में सिंधु सभ्यता की ईंटें खोदी गई उसी सिलसिले में किसी के हाथ से यह उपकरण यहां छूट गया। कुछ अन्य विद्वान् भी इसे सिंधु सभ्यता की कृति नहीं मानते, किंतु वे इसे इस सभ्यता के अंतिम चरण में बाहर से आने वाले लोगों द्वारा मोहेंजोदड़ो में लाया गया मानते हैं।

चाकू तथा कटार

सिंधु सभ्यता के काल के चाकुओं और कटारों की आकृति बहुत कुछ समान है (चित्र 60. 10)। अतः इनमें प्रभेद करना कठिन है। किसी भी उदाहरण में चाकू की मूंठ नहीं प्राप्त हुई है, लकड़ी की बनी होने के कारण वे नष्ट हो गयी हैं। मोहेंजोदड़ो की खुदाई में मकाइ को एक चाकू प्राप्त हुआ था जिसकी मूंठ चमड़े या किसी अन्य पदार्थ की बनी थी। इसे जिस पदार्थ से जोड़ा गया था उसकी पहिचान नहीं हो पायी है। मकाइ द्वारा किया मोहेंजोदड़ो में प्राप्त चाकुओं का वर्गीकरण इस प्रकार है –(1) चौड़े, पत्ती जैसी फाल और लंबी चूल वाले (चित्र 16, 6), जो मोहेंजोदड़ो में काफी संख्या में मिले हैं; (2) पत्ती सदृश फाल वाले जिनकी नोक मुड़ी है; (3) संकरे तथा सीधी फाल वाले; (4) ऊपर उठे नुकीले अग्रभाग वाले त्रिभुजाकार, जो मिस्र के छठे राजवंश कालीन चाकुओं से मिलते जुलते हैं और संभवतः चमड़ा काटने के काम आते थे; (5) संकरे वक्र धार वाले, जिनकी सदृश कुछ चाकू मिस्र के छठे राजवंश के संदर्भ में प्राप्त हुये हैं; (6) चौड़े वक्रधार वाले; (7) चूल के पिछला भाग खोखले वाले; (8) कांसे के दोहरे वक्र धार वाले; तथा (9) बड़े, जो कटार की तरह हैं।

तलवार या किर्च

मोहेंजोदड़ो से कुछ दोहरे धार वाले उपकरणों की पहचान तलवार से की गयी है। वे आकार में अच्छे बने हैं और वजन में भारी हैं। दो उपकरण काफी अच्छी दशा में एक मकान में पाये गये। एक सुन्दर उदाहरण तांबे–कांसे के आयुधों तथा बर्तनों के निधान के साथ मकान के फर्श के नीचे से मिला था। इसमें मूंठ के स्थान पर दो छेद बने हैं जिनसे मूंठ जोड़ी गई होगी। तलवार का एक अधूरा उदाहरण भी प्राप्त

हुआ है जिसके किनारे कुंद हैं। मकाइ का विचार है कि तलवार का विकास कटार से स्वाभाविक रूप में हुआ था। सबसे पहले किस देश ने इसका निर्माण प्रारंभ किया यह कहना कठिन है। शायद विभिन्न देशों में इस उपकरण का विकास स्वतंत्र रूप से और अलग–अलग समय में हुआ। सिंधु सभ्यता के संदर्भ में कुछ छोटे आकार की तलवारें मिली हैं जिन्हें कटार की संज्ञा दी जा सकती है।

बाणाग्र

सिंधु सभ्यता के स्थलों के उत्खननों से बाणाग्र बहुत अल्प संख्या में पाये गये हैं (चित्र 60. 16)। सर्वाधिक बाणाग्र कालीबंगां और गणेश्वर से मिले हैं। ये तांबे के हैं जो पतले और चपटे हैं। थोड़े से लंबे और संकरे कांटेदार बाणाग्र भी मिले हैं। इनमें चूल नहीं हैं। ये बाणाग्र चकमक पत्थर के बने ऐसे बाणाग्रों से मिलते–जुलते हैं जो मिस्र, उत्तरी फारस तथा मिनोअन काल के क्रीट में पाये गये हैं। सिंधु सभ्यता में साधारणतया पत्थर के बने बाणाग्रों का अभाव है; केवल कोटदीजी और पेरियानोघुंडई (उत्तरी बलुचिस्तान) में मिले कुछ बाणाग्र इसके अपवाद है। लेकिन विद्वानों का अनुमान है कि सिंधु सभ्यता के जो तांबे के बाणाग्र हैं उनके पूर्वरूप पाषाण के बाणाग्र ही रह होंगे। सिंधु सभ्यता के इन बाणाग्रों का कुछ भाग उनसे संबद्ध डंडे से दबा दिया जाता रहा होगा और लकड़ी का यह भाग मध्य शिरा का काम देता होगा।

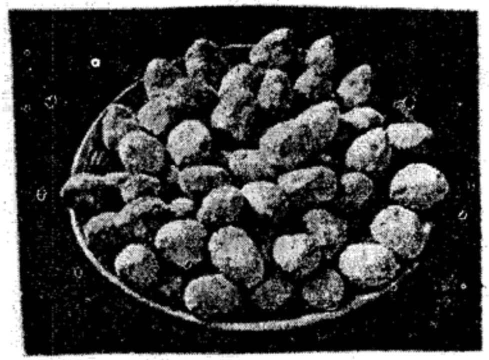
गदा

गदासिर विभिन्न प्रकार के पत्थरों के बने हैं, जैसे ऐलाबास्टर, बलुआ पत्थर, चूना पत्थर, स्लेट से मिलता जुलता पत्थर इत्यादि। तांबे के गदा सिरों की संख्या नगण्य हैं। गदा का उपयोग युद्ध में तो होता ही रहा होगा, जंगल में व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए भी इसके उपयोग की संभावना अस्वीकार नहीं की जा सकती। इनमें दोनों ओर छेद किया गया था। काट (सेक्शन) में वह डमरु की तरह दिखता है। ऐसा अनुमान है कि इन्हें चमड़े की रस्सी या डोरी से हत्थे पर कसकर बांधा जाता था। हत्था शायद लकड़ी का रहा होगा अथवा (जैसे पीट्री ने मिस्र के गदासिरों के संदर्भ में सुझाया है) खाल का। खाल के हत्थे में थोड़ा लोच होना इसके प्रयोग को कुछ और अधिक प्रभावपूर्ण बना देता रहा होगा। गदाएं वीक्षाकार, नासपाती की आकृति की, गोल या वृत्ताकार छल्ले की तरह की हैं। नाशपाती की आकृति के गदा सिर एलम, मेसोपोटामिया, मिस्र आदि अनेक प्राचीन संस्कृतियों के संदर्भ में मिलते हैं। क्रीट, काकेशस, थिसेली और डेन्यूब क्षेत्र से भी इस तरह की आकृति वाले गदा–सिरों के उदाहरण मिले हैं। वीक्षाकार प्रकार के गदासिर का काल और क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है और ये अल्प संख्या में सूसा, मिस्र और काकेशस के क्षेत्रों में की गई खुदाइयों में मिले हैं। मेसोपोटामिया में इस तरह के गदासिर नहीं मिलते। तीसरे प्रकार के गदा–सिर का मोहेंजोदड़ो से एक ही उदाहरण हैं। हड़प्पा से एक तांबे के बर्तन के भीतर मिला गदासिर इसी प्रकार का है। इसकी ऊंचाई और व्यास 4. 57 सेमी है।

आकार में छोटा होते हुए भी यह पर्याप्त वजनी था और इसलिए आयुध के रूप में प्रयुक्त किये जाने के लिए पूर्णतया उपयुक्त था। चन्हुदड़ो से एक कांसे या तांबें का गदासिर मिला है जो हड़प्पा सभ्यता के अंतिम चरण का है जिसे कुछ विद्वान् झूकड़ संस्कृति पहचानते हैं। इनकी तुलना ईरान में प्राप्त द्वितीय सहस्राब्दी ई. पू. के इसी तरह के गदासिरों से की जा सकती है।

गोफन–गोलियां

पक्की मिट्टी की गोलियां मिली हैं (चित्र 60ब) जिन्हें अस्त्र के रूप में प्रयोग किये जाने की पूरी संभावना लगती हैं। इन्हें कदाचित् गोफन में रखकर फेंका जाता था। व्हीलर ने इन्हें दो वर्गों में बांटा हैं :– पहले वर्ग में दो आकार की गोलियां हैं :– (1) गोल, जिनका व्यास लगभग 2. 54 सेमी है, और (2) अंडाकार, जिनकी लंबाई 6. 34 सेमी तक है। इस वर्ग की गोलियां अस्त्र की तरह प्रयुक्त हो सकती थीं, यह संदिग्ध हैं। सिंधु सभ्यता के अतिरिक्त प्राचीन सुमेर और तुर्किस्तान में गोल और अण्डाकार दोनों ही प्रकार की मिट्टी की गोलियां मिलती हैं। फिलिस्तीन और सीरिया में भी इनका प्रयोग हुआ। मिस्र में इस तरह के गोलों का प्रयोग अपेक्षाकृत बाद में हुआ। विद्वानों का अनुमान है कि पहले इस तरह के गोले पत्थर के बनाये गए होंगे और स्वाभाविक है कि उसका उद्‌गम ऐसा क्षेत्र रहा होगा जहां पत्थर पर्याप्त मात्रा में मिलता था। बाद में ऐसे क्षेत्रों में जहां पत्थर नहीं था, लोगों ने मिट्टी के गोले बनाने प्रारंभ किये।



चित्र 60ब सिंधु सभ्यता की गोफन गोलियां

दूसरे वर्ग में ऐसे मिट्टी के गोले हैं जिन्हें पहले हाथ से दबा कर आकार दिया गया है और फिर थोड़ा बहुत आग में पकाया गया है। इस तरह के गोलों के अस्त्र की तरह प्रयोग होने के बारे में संदेह की गुंजाइश नहीं लगती। वजन की दृष्टि से इन्हें दो वर्गों में बांटा जा सकता है। एक वह जिसका वजन लगभग 6 आउंस और दूसरा प्रकार वह जिसका वजन इससे लगभग दुगना है। व्हीलर द्वारा मोहेंजोदड़ो के 1950 में किये उत्खनन में गढ़ी वाले टीले में विशाल अन्नागार के पास कई गोले मिले, और अट्ठानबे पहले प्रकार के गोले गढ़ी वाले टीले में ही दक्षिण–पूर्वी दो बुर्जों को जोड़ने वाले मार्ग में पाये गये। उससे पहले मार्शल के निर्देशन में किये गये उत्खनन में एक बड़े मिट्टी के बर्तन में इस तरह के पचास के लगभग गोले रखे मिले थे। यह

बर्तन गढ़ी वाले टीले के दक्षिणी अर्द्ध के एक कक्ष में रखा मिला था। दक्षिण में इसी क्षेत्र में कुछ बड़े आकार के मिट्टी के गोले मोटे घेर वाली दीवार के बाहर बिखरे पड़े थे। इनका आकार, निर्माण–वस्तु तथा प्राप्ति स्थल इनके अस्त्र होने का समर्थन करते हैं। इन्हें या तो ये लोग हाथ से फेंकते रहे होंगे या ढेलबांस से।

निश्चय ही उपर्युक्त विवरण से सिंधु सभ्यता के अस्त्र–शस्त्रों के बारे में जो जानकारी मिलती है उससे यह स्पष्ट होता है कि इस सभ्यता के लोगों ने आर्थिक समृद्धि की ओर विशेष ध्यान दिया, और अस्त्र–शस्त्रों के निर्माण की ओर अपेक्षाकृत उदासीनता बरती।

अध्याय 9

सामाजिक संरचना एवं राजनैतिक सत्ता

सामाजिक संरचना

सामाजिक जीवन के कुछ पहलुओं का विवेचन, 'परिधान, आभूषण तथा अलंकरण', 'आमोद–प्रमोद', 'शव विसर्जन' अध्यायों के अंतर्गत किया गया है तथा खान–पान के विषय में जानकारी 'आर्थिक जीवन' अध्याय में दी गयी है। नीचे जाति, वर्ग और रुढ़िवादिता का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

ज़ाति निर्धारण

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त कंकालों की शारीरिक रचना के विचार से यहां के कुछ कंकालों से जाति संबंधी निष्कर्ष निकाले गये हैं। प्रारंभिक रिपोर्टों के अनुसार कंकालों को मानव शास्त्रीय अध्ययन से जाति के आधार पर निम्न चार समूहों में वर्गीकृत किया गया है :–

1. आद्य–आस्ट्रेलायड – इसके तीन उदाहरण मिले।
2. भूमध्य–सागरीय – इसके छह उदाहरण मिले।
3. मंगोलीय – इसका एक ही उदाहरण मिला।
4. अल्पाइन – इसके एक निश्चित और तीन संभावित उदाहरण मिले।

आद्य–आस्ट्रेलायड जाति के लोग नाटे होते हैं, उनकी खोपड़ियां संकरी तथा लम्बी, नाक कुछ चौड़ी तथा चपटी और ठुड्डी बाहर की ओर निकली होती है। इनका रंग काला और बाल घुंघराले होते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि ये लोग आदिवासी थे। ऐसे सिरों वाले कुछ लोग आजकल लंका और दक्षिणी भारत में हैं। लंका के बेड्डा जाति के लोग इसी वर्ग के हैं। दूसरे भूमध्य–सागरीय प्रकार के उदाहरणों में खोपड़ियां कुछ लम्बी हैं, नाक छोटी लेकिन नुकीली है। इस तरह के कपाल बलूचिस्तान में एक नाल से और दो अनौ से मिले हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि आद्य–आस्ट्रेलायड इस सभ्यता के मूल निर्माताओं में से थे। मंगोलीय जाति सिंधु प्रदेश की मूल निवासी नहीं थी। पिगट के अनुसार मंगोलीय जाति का जो एक मात्र उदाहरण मिला है वह शायद कोई सैनिक था जो पर्वतीय क्षेत्र से आया था। मकाइ के अनुसार यह जाति सिंध प्रदेश में ईरान के पठार से आयी। चौथे प्रकार के सिर अल्पाइन जाति के हैं। इनके केवल एक निश्चित तथा तीन संभावित उदाहरण हैं। पिगट ने उल्लेख किया है कि ईरान के सियाल्क में चतुर्थ सहस्राब्दी ई. पू. के संदर्भ में अल्पाइन प्रकार के कंकाल मिले हैं।

उपर्युक्त कंकालों के अध्ययन से जो निष्कर्ष सेवेल और गुहा ने निकाले हैं वे सहज बोधगम्य हैं। सिंधु नदी के किनारे पर बसे होने के कारण मोहेंजोदड़ो नगर थलमार्ग द्वारा उत्तर–पश्चिमी एशिया से संबद्ध था। उस अतीत काल में यह नगर इन प्रदेशों की जातियों के लोगों का संगम रहा होगा। अतः इस स्थल पर विभिन्न जातियों के शवों का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

कपालों के अध्ययन से प्राप्त उक्त निष्कर्ष अब तक प्राप्त मूर्तियों के चेहरों से कुछ सीमा तक अनुमोदित लगते हैं। कांस्य नर्तकी के नाक–नक्श आद्य–आस्ट्रेलायड लगते हैं। कुछ सिर चौड़े और कुछ लम्बे लगते हैं। किंतु यह ध्यान में रखना उपयुक्त होगा कि मूर्तिकार मानव–शास्त्र के विशेषज्ञों के लिए मूर्ति निर्माण नहीं कर रहे थे। अतः तत्कालीन मानव जातियों की ठीक–ठीक जानकारी के लिए इन्हें विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

हाल ने द्रविड़ तथा सुमेरवासियों को एक ही जाति का स्वीकार किया है। उनके मतानुसार वे पहले दक्षिण में ही नहीं, पंजाब, सिंध और बलूचिस्तान में भी फैले थे। ब्राहुई भाषा जो आज भी बलूचिस्तान के कुछ भाग में बोली जाती है द्रविड़ भाषा है। किंतु सुमेरी लोगों की शारीरिक रचना के विषय में विद्वानों में मतभेद है और प्राचीन द्रविड़ भाषा के स्वरूप के बारे में भी। यदि आदि द्रविड़ों को पश्चिम से आया माना जाय तो संभावना यही है कि वह आक्रांता के रूप में भारत में प्रविष्ट हुए। भूमध्य–सागरीय लोगों के कंकाल किश, नाल और मोहेंजोदड़ो में पाये गये हैं। वे अन्ततः आद्य–आस्ट्रेलायड आदि जातियों से वैवाहिक संबंध स्थापित कर परिवर्तित हो गये। एस0 के0 चटर्जी के मतानुसार बलूचिस्तान में ब्राहुई में द्रविड़ भाषा का एक लघु क्षेत्र होना इस बात का द्योतक है कि पहले द्रविड़ भारत में दक्षिण से लेकर उत्तर तक फैले थे। लेकिन बुद्ध प्रकाश का मत है कि कुषाण–काल में किन्हीं परिस्थितियों के कारण कतिपय दक्षिण से द्रविड़–भाषी उत्तर की ओर गये और इन्हीं की संतति ब्राहुई–भाषी लोग हैं।

हड़प्पा के मानव अस्थि अवशेषों का एन0 के0 बोस और उनके सहयोगियों ने विस्तृत विवरण दिया है। आर–37 कब्रिस्तान से 36 खोपड़ियां और जबड़े अच्छी दशा में मिले। उनमें 15 वयस्क पुरुष, 19 वयस्क नारी, और 2 छोटी आयु के थे। इन्हें दो वर्गों में बांटा गया है। पहले वर्ग (अ) में 21 वयस्क खोपड़ियां और दूसरे (अ 1) में 10 वयस्क खोपड़ियां रखी गयी हैं। चार की ठीक पहचान नहीं हो पाई है और एक असामान्य है। बाकी सब लम्बे सिर वाले हैं। 'अ 1' वर्ग की खोपड़ियां 'अ' वर्ग से कुछ अधिक लम्बी हैं। 'अ' वर्ग की खोपड़ियों की तुलना उस जाति से की गई है जिसे प्रोटो–आस्ट्रेलायड, काकेशिक या यूरेफ्रिकन नाम दिया जाता है। 'अ 1' वर्ग जो कुछ हल्की बनावट का है, उस प्रकार से मिलता–जुलता है जिसे भूमध्यसागरीय या इण्डोयूरोपियन या कैस्पियन नाम दिया गया है। 'अ' वर्ग के लोगों की औसत ऊंचाई

1 मीटर 70–72. 5 सेमी थी जबकि 'अ 1' की ऊंचाई 5–7. 5 सेमी कम थी। वयस्कों की आयु 20 और 40 वर्ष के बीच थी।

गुजरात में लोथल से प्राप्त कंकालों के अध्ययन से चटर्जी तथा कुमार ने उनका तीन प्रजातियों में परिगणन किया है :–

1. आद्य–नार्दिक – (बड़े, खुरदुरे और लम्बे सिर वाले)
2. आद्य–भूमध्यसागरीय – (मध्य आकार के सिर वाले)
3. अल्पाइन–आर्मेनियन – (चौड़े सिरवाले)।

सरकार ने लोथल के कंकालों को दो मुख्य वर्गों में बांटा है – दीर्घशिरस्क और लघुशिरस्क और उनकी तुलना सियाल्क से प्राप्त क्रमशः इसी प्रकार की दो खोपड़ियों से की है। कुछ विद्वानों ने दीर्घशिरस्कों को आर्य तथा लघुशिरस्कों को आर्मेनियन बताया है। लोथल में एक कंकाल को आस्ट्रेलायड समूह का पहचाना गया है। कंकालों के अध्ययन से प्राप्त साक्ष्यों का राव ने निम्न प्रकार से अर्थ निकाला है। सिंधु घाटी में अति लम्बे सिर वाले आदिवासी लोगों का साक्ष्य मिलता है, जिसकी वेड्डा या आस्ट्रेलायड प्रजाति समूह से पहचान की गयी है। उन्नत सिंधु–सभ्यता प्रकाल में हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो और चन्हुदड़ो के साक्ष्य के अनुसार इंडो–कैस्पियन की प्रमुखता रही। सिंधु–सभ्यता के मध्य प्रकाल में हड़प्पा के 'जी' क्षेत्र में मध्यम आकार की खोपड़ीवाले अल्पाइन प्रकार के कुछ लोग आकर बसे जिनकी संख्या आगे चल कर सबसे अधिक हो गयी। इनके कंकाल कब्रिस्तान 'एच' के प्रथम स्तर में पाये गये हैं। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो में कुछ जनसंख्या छोटे सिरवालों की भी थी। लोथल में सभ्यता के उन्नत युग (प्रकाल 'ए') से 4 दीर्घशिरस्क तथा 2 लघुशिरस्क लोगों के उदाहरण मिले हैं। लघुशिरस्क का उदाहरण यहां प्रकाल 'बी' से भी मिला है। प्रकाल 'ए' से ही आस्ट्रेलायड समूह का एक कंकाल भी मिला। स्पष्ट है कि लोथल में उन्नत सिंधु सभ्यता युग में वहां की जनसंख्या में दीर्घशिरस्क और लघुशिरस्क दोनों ही सम्मिलित थे। किंतु अधिक संख्या दीर्घशिरस्कों की रही थी। इनकी तुलना सियाल्क (ग्रुप–II) से की गयी है। कुछ विद्वान् सियाल्क I के कंकालों को आर्यों से जोड़ते हैं, और इसलिए राव का मत है कि 'ए' काल में लोथल की जनसंख्या में आर्यों की बहुलता रही। ये निष्कर्ष अपने में रोचक एवं महत्त्वपूर्ण हैं किंतु इन अल्प साक्ष्यों से सामान्य रूप से स्वीकार्य निश्चित निष्कर्ष निकालना कठिन है।

यह कहा जा सकता है कि बाद के काल की तरह ही सिंधु सभ्यता के काल में मिश्रित जनसंख्या थी। हाल ही में हड़प्पा के नरकंकालों के पुनरीक्षण तथा लोथल के कंकालों के अध्ययन के पश्चात् कुछ मानवशास्त्रियों ने यह मत व्यक्त किया है कि हड़प्पा और लोथल में सिंधु सभ्यता काल के लोग इन क्षेत्रों में बसे आज के वासियों से बहुत मिलते–जुलते हैं। इन निष्कर्षों का अर्थ होगा कि इन क्षेत्रों में जो अनेकशः

विदेशी आक्रमण हुए उनका यद्यपि भारतीय संस्कृति को प्रभावित करने में हाथ रहा किंतु बाहरी आक्रमणकारियों की संख्या इतनी कम थी कि भारतीयों के साथ उनके वैवाहिक संबंध स्थापित होने पर भी मूल जातियों के आधारभूत शारीरिक गठन में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ।

वर्ग–भेद

सामान्यतः किसी भी संस्कृति में दो वर्ग पहचाने जा सकते हैं – धनी और निर्धन, अथवा मार्क्सवादी भाषा में शोषक और शोषित। विभिन्न उपकरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि उस काल में भिन्न–भिन्न उद्योगों से जुड़े यथा कुम्हार, राज, बढ़ई, टमटा, सोनार, जुलाहे, ईंट बनाने वाले, मनके बनाने वाले, चूड़ियां बनाने वाले, बैलगाड़ी बनाने वाले तथा नाव बनाने वाले रहे होंगे। इसके साथ ही छोटे व्यापारी तथा दूरस्थ प्रदेश यथा मेसोपोटामिया, मध्य एशिया, बहरीन द्वीप आदि से व्यापार करने वाले सम्पन्न व्यापारियों का भी वर्ग रहा होगा। कुछ सूदखोरी का धन्धा करने वाले भी रहे होंगे। कुछ पैमाइश तथा नगर नियोजन का काम करते रहे होंगे तथा कुछ नगर की सफाई का। यह सोचना स्वाभाविक है कि उस काल में पुरोहितों का एक अलग वर्ग रहा था जिसका समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा होगा। सिंधु सभ्यता कालीन शासन–तंत्र का निश्चित ज्ञान नहीं है। राजकर्मचारियों व सेनाधिकारियों का समाज में उच्च स्थान रहा होगा। संपन्न व्यापारियों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा होगा। गढ़ी वाले टीले में शासक, महत्त्वपूर्ण कर्मचारी, संभ्रांत एवं सम्पन्न लोग रहते रहे होंगे और निचले नगर में अधिकतर सामान्य जन।

हड़प्पा के विभिन्न प्रकार के मकानों और उनकी स्थिति को देखकर उस समय जाति प्रथा के प्रचलन की संभावना कुछ विद्वानों ने मानी है। विशाल अन्नागारों और गढ़ी की पश्चिमी एशिया से तुलना कर पुरोहित–राजा के होने की कल्पना की गई है जो धर्म और शासन दोनों का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी था। उपकरणों की निर्माण शैली में जो रुढ़िवादिता है उसे धर्म के प्रभाव का फल माना गया है और धर्म का स्रोत राजा था ऐसा सुझाया गया हैं। लेकिन दूसरे विद्वान् इसे स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार यह रूढ़िवादिता और विभिन्न स्थलों के उपकरणों में समानता आर्थिक क्षेत्र में अत्यधिक अनुशासनबद्धता का परिणाम थी। यह तो लगभग निश्चित लगता है कि हड़प्पा के बैरकों में रहने वालों की स्थिति समाज में निम्न थी, किंतु यह कहना कठिन है कि उनकी स्थिति दासों जैसी थी। इन बैरकों को देख कर वत्स को तेल–अल–अमर्ना के मजदूरों के गांव का ध्यान आया। व्हीलर का कहना है कि मिस्र के दीर–अल–मदीना, काहून या गीजे के गांव का भी उल्लेख समानता की दृष्टि से इस संदर्भ में किया जा सकता है। मिस्र के इन गांवों में छोटे–छोटे घरों को हड़प्पा के बैरकों की तरह कतार में बनाया गया था। पर जहां तक उनमें रहनेवालों का प्रश्न है उनकी स्थिति और हड़प्पा के बैरकों में रहनेवालों की स्थिति में अंतर लगता है। उदाहरणार्थ दीर–अल–मदीना

के ग्रामीण लोग राजाओं के लिए कब्रें तैयार करते थे और उनके घर नगर की बस्तियों से दूर एकांत में होते थे। हड़प्पा के बैरकों में रहनेवालों का वास्ता मृतकों के शवाधान संबंधित संरचनाओं के निर्माण में नहीं बल्कि राजकीय प्रशासन संबंधी कार्यों से रहा होगा। वे गढ़ी में रहनेवाले शासक और संभ्रांत व्यक्तियों के आवासों के निकट ही निवास करते थे जिससे आवश्यकता पड़ने पर उनकी सेवा तुरंत उपलब्ध हो सके। व्हीलर ने सुझाया है कि शायद उनकी स्थिति सुमेर के धर्म–प्रभावित शासन के अंतर्गत दासों अथवा अर्द्ध–दासों की तरह रही हो। सुमेर में इस तरह के अनेक लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मन्दिरों में विभिन्न कार्यों, यथा कपड़ों का निर्माण, बेकरी या कताई बुनाई के लिए दास और अर्द्ध–दासों को काम पर लगाया जाता था। लेकिन रंगनाथ राव ने ठीक ही कहा है कि सिंधु सभ्यता में विभिन्न कार्यों के लिए मजदूर अवश्य लगाये जाते रहे होंगे किंतु इस धारणा की पुष्टि के लिए अकाट्य साक्ष्य उपलब्ध नहीं है कि इन मजदूरों की स्थिति दासों जैसी थी। गढ़ी वाले टीले के लोगों का समाज और राजनीति में महत्त्व तो लगता है किंतु निचले नगर में पर्याप्त संख्या में विशाल और काफी छोटे घर मिलते हैं जो इस बात के द्योतक हैं कि उस समय धनी और निर्धन लोग पास–पास के मकानों में रहते थे। राव का मत है कि आधुनिक ग्रामों के साक्ष्य के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दो कमरेवाले घरों में पांच या छः लोग रहते रहे होंगे और बड़े घरों में दस से बारह लोग।

अधिकांश नगरों में बस्ती के दो भाग हैं – गढ़ी वाला टीला और निचला नगर और यह मानना स्वाभाविक है कि गढ़ी वाले टीले में प्रशासक और उनके अनुचर और निचले नगर में सामान्य लोग रहते थे। धवलीकर का मत है कि हड़प्पा में उपर्युक्त दो टीलों के अतिरिक्त एक और टीला (एफ टीला) है, और आधुनिक हड़प्पा कस्बे के नीचे भी सिंधु कालीन बस्ती थी। रोपड़ में भी आवासीय क्षेत्र तीन भागों में बंटा था। हाल के एक सर्वेक्षण के आधार पर कहा गया है कि मोहेंजोदड़ो का आवासीय क्षेत्र लगभग 500 हेक्टेअर क्षेत्र में फैला था। धौलावीरा में तो स्पष्टतः आवासीय क्षेत्र दीवालों से चार भागों में बंटा था। संभवतः ये चार सामाजिक वर्गों के अलग–अलग क्षेत्र थे।

मोहेंजोदड़ो में गढ़ी और निचला नगर एक दूसरे से 150 मीटर की दूरी पर थे। कालीबंगां के दो भागों के बीच 40 मीटर की दूरी है। धौलावीरा में प्रासाद में शासक रहता रहा होगा, उसके समीपस्थ स्थल जिसे उत्खनन निदेशक बिष्ट उपप्रासाद (Bailey) कहते हैं, में राजकर्मचारी रहते थे, मध्यनगर में कारीगर और व्यापारी और निचले नगर में सामान्य जन। यहां पर यह भी उल्लेखनीय है कि प्राग् सिंधु सभ्यता अथवा प्रारंभिक सिंधु सभ्यता के कई स्थलों में भी दो टीले मिले हैं।

ब्रजवासी लाल ने कालीबंगां के उत्खनन के आधार पर वहां के सामाजिक वर्गों का अनुमान लगाया है। निम्नलिखित उसी पर आधरित है। इस स्थल पर निचला नगर एक दूसरे को काटती सड़कों द्वारा खण्डों में विभक्त था। घर की योजना इस

प्रकार थी – मध्य में आंगन और उसके इर्द–गिर्द कमरे। आंगन में प्रवेश हेतु दरवाजा होता था जो प्रायः इतना चौड़ा था कि उसमें बैलगाड़ियां आ जा सकती थीं। आंगन में पशुओं को पानी पिलाने के लिए प्रयुक्त नांद मिले हैं। कुछ कमरों में अनाज रखने के लिए घड़े थे। ऐसा लगता है कि यहां रहने वाले किसान थे जो कालीबंगां के इर्द–गिर्द कृषि करते थे। कुछ व्यापारी रहे होंगे। निचले नगर के कुछ घरों में मुद्राओं का मिलना उनके मालिकों का व्यापारी होने का साक्ष्य प्रस्तुत करता है, जो अपनी मुद्राओं से माल को अंकित कर उनका निर्यात करते थे। ब्रजवासी लाल ने यह निष्कर्ष निकाला है कि निचले नगर में मुख्य रूप से कृषक तथा व्यापारी दो ही वर्ग रहते थे।

कालीबंगां के गढ़ी वाले क्षेत्र को पूर्व–पश्चिम की दिशा में बनी दीवाल से दो भागों में बांटा गया था – उत्तरी भाग तथा दक्षिणी भाग। दक्षिणी भाग में आवासीय भवन नहीं मिलते, उनके स्थान पर विशाल और ऊंचे चबूतरे थे जो गलियों द्वारा एक दूसरे से अलग किए गये थे। एक चबूतरे पर एक दूसरे से सटी अग्नि वेदिकाएं थीं। उनके समीप एक कुआं तथा ईंटे बिछा चबूतरा था। इन साक्ष्यों के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि कुएं से जल लाकर पुरोहित अनुष्ठान प्रारंभ करने से पहले स्नान करते थे।

गढ़ी के उत्तरी क्षेत्र में केवल एक ही सड़क थी जिसके दोनों ओर घर थे। इस क्षेत्र में न तो एक दूसरे को समकोण पर काटती सड़को की योजना है और न ही दक्षिणी भाग की तरह चबूतरे निर्मित हैं। यहां पर कोई विशाल एवं भव्य भवन प्राप्त नहीं हुआ जिसे हम राजमहल के रूप में पहिचान सकें। इन तथ्यों को देखते हुए इस बात की संभावना मानी गई है कि इस क्षेत्र में पुरोहितों के आवास थे। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि इन घरों और गढ़ी को दो भागों में विभाजित करने वाली दीवाल के उत्तरी ओर एक चौड़ा कच्ची ईंट बिछा मार्ग था, जिसके द्वारा दक्षिणी क्षेत्र में प्रवेश किया जाता था। अनुमानतः यह उत्तरी क्षेत्र से धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए दक्षिणी भाग में आने के लिए पुरोहितों के उपयोग के लिए था। ब्रजवासी लाल का मत है कि गढ़ी में रहने वाले मुख्य पुरोहित और अन्य पुरोहितों की शासन–प्रबंध में भी प्रमुख भूमिका रही थी। कुछ विद्वानों का मत है कि निवास के लिए अलग क्षेत्र और अनुष्ठान के लिए निश्चित स्थल का होना इस बात के साक्ष्य हैं कि पुरोहित वंशानुगत थे। कालीबंगां के निचले नगर की रक्षा दीवाल के बाहर घर थे जो मजदूरों के लगते हैं। एक स्थान पर बड़े पैमाने पर मृद्भाण्ड खण्ड मिले हैं जो वहां पर कुम्हार का भट्ठा होने का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। उपरोक्त आधार पर ब्रजवासी लाल कालीबंगां में तीन वर्ग –पुरोहित, कृषक–व्यापारी और मजदूर के होने की बात करते हैं।

मोहेंजोदड़ो में गढ़ी क्षेत्र में विशाल स्नानागार और उसके पास आठ छोटे स्नान कक्ष थे, जिनमें ऊपरी मंजिल पर जाने के लिये सीढ़ियां थीं। अनुमानतः ऊपरी

मंजिल में पुरोहित रहते थे जो अनुष्ठान से पूर्व स्नान के लिए उन स्नानकक्षों का प्रयोग करते रहे होंगे। उनका यह भी मत है कि विशाल स्नानागार भवन के तालाब का अनुष्ठान से संबंध रहा था। इसके पूर्व में कुषाण–कालीन बौद्ध स्तूप है जिसके नीचे सिंधु सभ्यता कालीन धार्मिक भवन होने की संभावना है। इसी तरह गढ़ी के दक्षिणी भाग में स्तंभों पर आधारित भवन भी धार्मिक अनुष्ठानों से संबंधित हो सकते हैं। विशाल स्नानागार के पश्चिम में स्थित विशाल अन्नागार में पुरोहित–शासक को कर के रूप में प्राप्त अनाज संग्रहीत किया जाता रहा होगा। मोहेंजोदड़ो के निचले नगर में बड़े भवन जिनमें कुछ में ऊपरी मंजिल होने के साक्ष्य हैं, जमीदारों अथवा व्यापारियों के रहे होंगे, जबकि बैरकनुमा दो छोटे–छोटे कमरों वाले 16 घर मजदूरों अथवा दासों द्वारा आवासित रहे होंगे।

हड़प्पा में सुरक्षा दीवाल वेष्टित क्षेत्र में सम्पन्न लोग रहते थे। गढ़ी के उत्तर में विशाल अन्नागार था जिसके समीप ही अन्न कूटने के लिए ओखली वाले चबूतरे तथा धातुकर्म हेतु भट्ठियां मिलीं। इनके समीप ही इनमें काम करने वाले मजदूरों के घर थे। निचला नगर भी रक्षा दीवाल से वेष्टित था और यहां मुख्यतया मध्यवर्गीय लोगों के आवास थे। संभवतः ऐतिहासिक काल की भांति एक प्रकार का व्यवसाय करने वाले लोग एक ही क्षेत्र अथवा गली में रहते थे। यह भी उल्लेखनीय है कि हाल ही में 'एफ' टीले (जिसे पहले नहीं खोदा गया था) के उत्खनन से अलग–अलग क्षेत्र में शंख की वस्तुओं तथा मृद्भाण्डों के निर्माताओं की बस्ती का साक्ष्य मिला।

लोथल में गढ़ी में गोदीबाड़ा, जहाज पर माल चढ़ाने तथा उससे माल उतारने के लिए चबूतरा तथा अन्नागार मिले। ऊंचे क्षेत्र में स्थित भवनों में उच्च अधिकारी रहते थे जो इन सबको नियंत्रित करते थे। यहां पर स्नान के लिए चबूतरा तथा उसके समीप एक कुंआ मिला। कालीबंगां तथा मोहेंजोदड़ो के समान यहां भी स्नान का धार्मिक अनुष्ठान से संबंध लगता है। ब्रजवासी लाल का मत है कि लोथल में भी शासन प्रबंध के क्षेत्र में पुरोहितों का दबदबा लगता है। लोथल में सुरक्षा दीवाल से वेष्टित नगर में मध्य वर्गीय लोग रहते थे, जिनमें से कुछ उद्योगों के मालिक थे। कालीबंगां के समान सुरक्षा दीवाल के बाहर भी आवास थे। ये आवास निम्न वर्ग के लोगों के रहे होंगे।

धौलावीरा में गढ़ी के दो भाग मिलते हैं। यहां पर निचले नगर के अतिरिक्त मध्य–नगर भी था। यह कहना कठिन है कि यह भेद केवल आर्थिक और राजनैतिक कारणों से था अथवा इसका कोई धार्मिक कारण भी रहा था। धौलावीरा में गढ़ी में कुछ भवन अत्यंत प्रभावशाली हैं जो संभवतः शासकों के आवास रहे होंगे। यहां पर राजसभा के अवशेष मिले हैं, जिस तक पहुंचने का एक अत्यंत विशिष्ट मार्ग था।

यह कहा जा सकता है कि सोने, कार्नीलियन, शंख आदि से निर्मित कीमती आभूषणों का उपयोग समाज के सम्पन्न लोग ही करते थे। साधारण लोग मिट्टी और

अन्य सस्ते प्रकार की वस्तुओं से निर्मित आभूषणों से काम चलाते थे। कुछ शवों को पेटियों में रखकर दफनाया गया था। यह संभवतः सामाजिक, राजनैतिक अथवा धार्मिक कारणों से विशिष्ट व्यक्तियों के रहे होंगे।

मोहेंजोदड़ो के अनेक घरों में व्यक्तिगत कुएं थे। ऐसे घर निश्चय ही सम्पन्न और समाज में प्रतिष्ठित लोगों के रहे होंगे। ऐसा अनुमान है कि बहुत बड़े घरों में एक ही रक्त से संबंधी लोग रहे होंगे। यह भी संभव है कि पुरोहित वर्ग के कुछ लोग सार्वजनिक कुओं से पानी लेना उचित नहीं समझते थे और अपने कुंओं का सार्वजनिक उपयोग नहीं होने देना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने अपने घरों में ही कुएं बनाये। कुछ विद्वानों का मत है कि लेखयुक्त मुद्राओं का प्रयोग भी सार्वजनिक प्रतिष्ठा का द्योतक था। कुछ मुद्राएं पुरोहित की और कुछ भूस्वामियों की हो सकती हैं किंतु अधिकांश मुद्राएं व्यापारियों की थीं। मुद्राओं पर अंकित चिह्नों में ककुद् वृषभ को समूह के स्वामी के प्रतीक के रूप में तत्कालीन शासक ने अपने और अपने प्रतिनिधि कर्मचारियों के लिए चुना हो। हाथी भी राजत्व का प्रतीक है। एक–शृंगी पशु का अंकन सर्वाधिक मुद्राओं पर प्राप्त है। महादेवन के अध्ययन के अनुसार 1755 मुद्राओं में से 1627 मुद्राओं पर केवल एक ही पशु का अंकन, और इनमें 1167, जो कुल मुद्राओं का 60 प्रतिशत है, पर एक शृंगी पशु का अंकन है। उनके अनुसार सिंधु सभ्यता के सबसे प्रभावशाली रक्त सम्बन्धियों द्वारा इस तरह की मुद्राओं का प्रयोग किया गया।

ऐतिहासिक काल के प्रारंभ और उससे भी पहले से अब तक जाति प्रथा भारतीय समाज की एक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है। यह विवाद का प्रश्न है कि सिंधु सभ्यता के काल में जाति प्रथा थी अथवा नहीं। सिंधु सभ्यता के लेख पढ़े नहीं जा सके हैं और मात्र पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर इस संदर्भ में कोई निश्चित निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है। वैदिक सभ्यता में वर्णव्यवस्था थी जिसमें जाति व्यवस्था के भी तत्त्व बीज रूप में रहे होंगे। वर्ण का आधार व्यवसाय का चयन है जबकि जाति प्रथा में जन्म के आधार पर व्यवसाय निर्धारित होता है। यह सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति में लोगों का पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही व्यवसाय अपनाने का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। एक ही व्यवसाय करने वाले लोगों ने अपनी जाति में ही वैवाहिक संबंध बनाए होंगे और इतर जातियों से अपना अलग अस्तित्व बनाए रखा होगा। किंतु वैवाहिक संबंधों के बारे में पुरातात्त्विक साक्ष्य मौन हैं। कुछ साक्ष्य इस बात के द्योतक हैं कि कई पीढ़ियों तक एक ही क्षेत्र में एक ही व्यवसाय के लोग रहे और इससे इस बात की संभावना है कि शायद उन्होंने जाति का रूप धारण कर लिया होगा। ब्रजवासी लाल ने सुझाया है कि यदि सिंधु सभ्यता में सामाजिक वर्ग भेद के बाद की वर्णव्यवस्था से तुलना करें तो गढ़ी के पुरोहितों को हम ब्राह्मण वर्ग के अन्तर्गत और निचले नगर के कृषक–व्यापारियों को वैश्य वर्ण के अन्तर्गत रख सकते हैं। रक्षा दीवाल के बाहर तथा हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के छोटे

कमरे वाले बैरकनुमा घरों में रहने वाले लोगों को हम शूद्र वर्ग का मान सकते हैं। सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्थलों के उत्खनन से युद्ध संबंधी सामग्री का पर्याप्त अभाव है और चंद शासकों के अतिरिक्त ऐसे लोगों का, जिन्हें क्षत्रिय वर्ग में रख सके, स्पष्ट साक्ष्य नहीं है। लाल का मत है कि आगे चलकर किसान और व्यापारी वर्ग के लोगों से ही अन्ततः क्षत्रिय वर्ण बना होगा। जहां तक जाति व्यवस्था का प्रश्न है इतना साक्ष्य अवश्य मिलता है कि कुछ उद्योग धन्धे वंशानुगत हो गये थे। कालीबंगां में पुरातात्त्विक उत्खनन से मनके बनाने वालों, शंख का काम करने वालों तथा मृद्भाण्ड निर्माताओं का कई पीढ़ियों तक अलग–अलग एक ही क्षेत्र में निवास करने का साक्ष्य है।

शीरीन रत्नागर के अनुसार सिंधु सभ्यता में भौतिक संस्कृति में स्थायित्व और निरंतरता, उसमें जाति प्रथा के होने के साक्ष्य लगते हैं जिसमें पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही व्यवसाय का अनुकरण कर तकनीकी ज्ञान आगे बढ़ाते थे और उसमें सुधार करते थे। अनेक उपकरणों में समरूपता भी इसी का द्योतक है। ऐसे कार्य जिनमें बहुत शारीरिक मेहनत पड़ती थी या जो गंदे और हेय माने जाते थे उनको करने वालों की स्थिति शूद्र जैसी रही होगी।

लोथल की एक ही कब्र के दो शवों में एक दीर्घशिरस्क है और दूसरा लघुशिरस्क। ऐसी धारणा व्यक्त की गयी है कि इनमें एक शव स्त्री का और दूसरा पुरुष का है और यदि यह पति–पत्नी के साथ ही गाड़े जाने का उदाहरण है तो यह दो भिन्न जातियों के मध्य वैवाहिक संबंध का द्योतक है। लेकिन इस एकमात्र और अनिश्चित साक्ष्य के आधार पर तत्कालीन समाज में अंतर्जातीय विवाह के सामान्य प्रचलन होने की धारणा बनाना ठीक नहीं होगा। यह सोचना स्वाभाविक है कि सिंधु सभ्यता में समाज की इकाई परिवार रही होगी। स्त्री मृण्मूर्तियों के बहुसंख्या में प्राप्त होने से कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि तत्कालीन धर्म में मातृदेवी की प्रधानता थी, और संभवतः परिवार मातृ–प्रधान था। इसे सिंधु सभ्यता के द्रविड़ सभ्यता मानने के पक्षधर अपने मत के पक्ष में एक साक्ष्य मानते हैं। दक्षिण भारत में कई क्षेत्रों में अभी भी मातृ–सत्तात्मक परिवार के साक्ष्य मिलते हैं। किंतु पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस विषय में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

फेयरसर्विस के अनुसार सिंधु सभ्यता के कस्बे और गांव नगरों के ही लघु रूप हैं और दूसरी ओर नगर भी ग्रामों के ही विस्तृत और परिष्कृत रूप। मुख्य अंतर इतना है कि ग्रामों की अपेक्षा नगरों में भव्य भवन थे और उनमें पर्याप्त संपन्नता भी थी। एक ओर तो हम हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो जैसे नगरों में विकसित सिंधु सभ्यता के संदर्भ में प्रारंभ से लेकर अंत तक लगभग एक ही तरह का नगर विन्यास पाते हैं। दूसरी ओर सिंधु सभ्यता के विस्तृत क्षेत्र के विभिन्न स्थलों के मृद्भाण्ड तथा कुछ अन्य उपकरणों में भी पर्याप्त समानता मिलती है। तकनीकी क्षेत्र में शायद ही विश्व की किसी अन्य प्राचीन सभ्यता में इतनी एकरूपता हो जितनी हम सिंधु सभ्यता में पाते हैं। कुछ इसे

राजनैतिक शक्ति के अंतर्गत होने का परिणाम मानते हैं, लेकिन इस संदर्भ में फेयरसर्विस के मत का उल्लेख करना समीचीन होगा। उनका विचार है कि उपकरणों की एकरूपता शासन की निरंकुश तानाशाही के कारण नहीं, जैसा कि कुछ विद्वानों ने सुझाया है, बल्कि जनता के रहन–सहन का एक खास ढंग इसका कारण था। ग्रामीणों का नैतिक लोक नगरों में भी विद्यमान था। सिंधु सभ्यता के विभिन्न नगरों की योजना में पर्याप्त समानता जनता का एक खास परंपरा के प्रति मोह होना, उसमें रंग जाना और उसका निर्वाह करने का फल है। उनके अनुसार परंपरा ही उनके नैतिक मूल्यों का आधार बन गयी थी और धर्म ने इस परंपरावाद को और मजबूत बना दिया होगा। प्रारंभ में नगर और ग्रामों में घनिष्ठ संपर्क रहा जिससे दोनों के मूलभूत उपकरणों में समानता रही किंतु जैसे–जैसे समय बीतता गया उनके संपर्क में ढिलाई आने लगी। दूरस्थ ग्रामीण स्थलों में तो संपर्क बहुत कम हो गया और वे नगरों की छाया मात्र रह गये।

आल्चिन और श्रीमती आल्चिन के अनुसार वस्तुओं के निर्माण में उपयोगिता और मजबूती की ओर विशेष ध्यान और कल्पनाशीलता और नवीनता की ओर कुछ उदासीनता, उनकी परलोक के प्रति अत्यधिक आस्था तथा चिंतन के कारण भी हो सकती है। उनके परंपरावाद में बहुत कुछ परवर्ती काल के भारतीय समाज की रूढ़िवादिता का पूर्वरूप मिलता है। सिंधु सभ्यता में अत्यंत आदिम प्रकार की बिना छेदवाली चपटी कुल्हाड़ियां और बिना रीढ़दार भाले इस सभ्यता के प्रारंभ से अंत तक के चरणों में मिले हैं। यह उल्लेखनीय है कि समकालीन मेसोपोटामिया में हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी और बीच में रीढ़दार भाले सिंधु सभ्यता से काफी पहले से बनने लगे थे। किंतु मेसोपोटामिया से व्यापारिक संपर्क के बावजूद सिंधु सभ्यता के लोगों ने उन्नत प्रकार के उपकरणों का निर्माण नहीं किया और परंपरागत ढंग से ही अविकसित प्रकार के उपकरण बनाते रहे।

राजनैतिक सत्ता का स्वरूप

सुत्कागेंडोर (बलूचिस्तान) से आलमगीरपुर (उत्तर प्रदेश), माण्डा (जम्मू) से दाइमाबाद (महाराष्ट्र) तक फैली यह सभ्यता केवल सांस्कृतिक एकता का ही उदाहरण है अथवा यह एक राजनैतिक इकाई का भी था, यह विचारणीय प्रश्न है। नगरों का सुरक्षा दीवाल से वेष्टित होना, उनमें गढ़ी और निचले नगर की योजना, मानक पर आधारित बाट तथा पैमानों का प्रयोग, सामान तथा प्रशासनिक लेखों को मुद्रांकित करने का विधान, आन्तरिक व्यापार के साथ ही मध्य एशिया, फारस की खाड़ी, मेसोपोटामिया आदि दूरस्थ क्षेत्रों से व्यापार – ये सब सिंधु सभ्यता के एक अत्यंत अनुशासित तथा विकसित सभ्यता होने के प्रमाण हैं।

हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो एक दूसरे से लगभग 640 किमी की दूरी पर स्थित

हैं। इन दोनों नगरों में एक दुर्ग और एक निचला नगर होने के साक्ष्य मिलने के कारण पिगट ने इनके हड़प्पा साम्राज्य की दो राजधानियां होने की संभावना व्यक्त की, हड़प्पा पंजाब के क्षेत्र की और मोहेंजोदड़ो सिंध क्षेत्र की। उन्होंने इस सिलसिले में ऐतिहासिक काल के कुषाण साम्राज्य का उदाहरण दिया है। कुषाण राजा दो राजधानियों – उत्तर में पेशावर और दक्षिण में मथुरा से राज्य करते थे। व्हीलर ने इस संदर्भ में नवीं शताब्दी में अरब शासन के अंतर्गत दो राजधानियों – मुल्तान और मंसूरा से शासन संचालन का उदाहरण दिया है, जो भौगोलिक दृष्टि से सिंधु सभ्यता के उपर्युक्त दोनों नगरों के निकट हैं। मुल्तान हड़प्पा के काफी समीप है और मंसूरा मोहेंजोदड़ो के। व्हीलर ने यह भी सुझाव दिया है कि पहले मोहेंजोदड़ो प्रमुख नगर रहा होगा किंतु जब भूगर्भशास्त्रीय कारणों से उसके इर्द–गिर्द झील बन गई और नगर ह्रासोन्मुख होने लगा तो ऐसी स्थिति में हड़प्पा नगर का राजनैतिक और आर्थिक महत्त्व बढ़ जाना स्वाभाविक था और वही सिंधु सभ्यता का प्रमुख नगर बन गया।

बाद में सिंधु सभ्यता के ही अन्य स्थल कालीबंगां में उत्खनन किया गया। वहां पर भी हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो की तरह गढ़ी और निचले नगर के अवशेष प्राप्त हुए। कुछ पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इसके हड़प्पा साम्राज्य की तीसरी राजधानी होने की संभावना व्यक्त की जो राजस्थान और उसके समीपवर्ती क्षेत्र के प्रशासन के लिए उत्तरदायी थी। इसी तरह गुजरात में लोथल को, जहां पर उत्खनन के फलस्वरूप उपर्युक्त नगरों की भांति गढ़ी और निचले नगर की रूपरेखा मिली है, हड़प्पा संस्कृति के सौराष्ट्र और समीपवर्ती क्षेत्र की राजधानी माना जा सकता है। शि0 रंगनाथ राव के मतानुसार इस बात की अधिक संभावना है कि ये एक ही साम्राज्य की राजधानियां थीं और इस साम्राज्य का केन्द्र–स्थल सिंधु घाटी में था। वे इसे 'विश्व में प्रथम महान् साम्राज्य की संज्ञा देते हैं जिसने विभिन्न जातियों और धर्म के लोगों को एक सूत्र में बांधा। लेकिन हाल ही के उत्खननों से सुरकोटड़ा में भी गढ़ी और निचले नगर की रूपरेखा स्पष्ट हुई है। यह स्थल लोथल से अधिक दूर नहीं और दो राजधानियों के इतने समीप होने की संभावना कम है।

प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में मौर्यों का साम्राज्य विशाल था और यह सुदूर दक्षिण को छोड़कर सारे भारत और भारत के बाहर भी फैला था। इसके जनपद इसमें समाहित होकर प्रांतों के रूप में परिवर्तित हो गये और उनकी राजधानियों का प्रांतीय राजधानियों का दर्जा हो गया। क्या ऐसी संभावना हो सकती है कि ये उपरिलिखित सिंधु स्थल, कम से कम कुछ विशाल स्थल, सिंधु सभ्यता की प्रांतीय राजधानियां थीं। मार्टिमर व्हीलर, सांस्कृतिक एकता को प्रशासकीय अनुशासन का फल मानते हैं। वे सिंधु सम्राज्य की परिकल्पना करते हैं जो उनके अनुसार रोमन साम्राज्य से पूर्व सबसे उल्लेखनीय राजनैतिक प्रयोग था।

कुछ का मत है कि सिंधु सभ्यता के साम्राज्य का केन्द्र बिन्दु मोहेंजोदड़ो था

जा न केवल इस सभ्यता का ही अपितु अपने समय का विश्व में सबसे महान् और विशाल नगर था। बाकी प्रमुख नगर प्रांतीय राजधानियां रही होंगी, और उसके अलावा कई कस्बे और अनेक गांव थे। धवलीकर का मत है कि मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा में लोग कच्छ के क्षेत्र में कच्चे माल के लिये जाते थे। बाद में उन्होंने वहां पर बस्तियां बसाकर वहीं उपकरण बनाना शुरु किया।

मिस्र और मेसोपोटामिया के शासकों के नाम, उनके वंश तथा उनकी उपलब्धियों का ज्ञान उपलब्ध लेखों (जिनका वाचन हो चुका है) से प्राप्त है। उन्हें शिल्पाकृतियों में मंदिर या नगर निर्माता के रूप में दर्शाया गया है। सिंधु सभ्यता में कोई भी ऐसी शिल्पाकृति नहीं जिसकी निश्चयपूर्वक राजा से पहचान की जा सके। यही नहीं भारत में ऐतिहासिक काल में भी राजा की शिल्पाकृतियां नहीं के बराबर हैं। मिस्र और मेसोपोटामिया राजाओं की भव्य कब्रों के लिये विख्यात हैं। मिस्र के पिरामिड संसार में प्रसिद्ध हैं मेसोपोटामिया के जिगुरेट जैसे स्मारक प्रभावशाली हैं। सिंधु सभ्यता के किसी भी स्थल से एक भी भव्य कब्र की जानकारी नहीं है और न वहां मिस्र और मेसोपोटामिया की भांति शवाधान के साथ कीमती वस्तुएं ही मिली हैं। चन्द कब्रों में ईंटे की बाढ़ या अधिक संख्या में मृद्भाण्ड मिले हैं, किंतु यह उन्हें राजकीय शवाधान पहचानने के लिये पर्याप्त नहीं हैं। इस आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि सिंधु सभ्यता के विभिन्न नगरों में शासन की बागडोर एक शक्तिशाली राजा के हाथों में न होकर संयुक्त रूप से श्रेष्ठी, पुरोहित, बड़े भूमिपति और धनी पशुपालकों के हाथ में थी। मौर्यकाल में पाटलिपुत्र नगर के प्रशासन के लिए 30 सदस्यों की परिषद् थी और गुप्तकाल में जिले के प्रशासन में श्रेष्ठी सार्थवाह और कुलिक की संयुक्त रूप से महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

स्टुअर्ट पिगट ने बहुत पहले सिंधु सभ्यता के क्षेत्र के पुरोहित–राजा द्वारा शासित होने की बात की थी, लेकिन कई सिंधु नगरों के विशाल पैमाने पर उत्खनन किये जाने पर भी किसी भी स्थल पर मंदिर के होने के निश्चित साक्ष्य नहीं मिले और इसलिए इसे स्वीकार करने में संकोच होना स्वाभाविक था। लेकिन उसके पश्चात् कालीबंगा में गढ़ी के एक क्षेत्र में विशाल पैमाने पर अग्निगर्त और अग्निवेदिकाएं और दूसरे क्षेत्र में पुरोहितों के आवास का होना अनुष्ठानों की महत्ता और पुरोहितों के महत्त्व को उजागर करता है।

केन्योर के मतानुसार शासक पुरोहितों और व्यापारियों की सहायता से शासन चलाता था। नगर राज्यों का उदय कृषि और व्यापारिक उन्नति का फल था। उनके अनुसार प्रमुख नगरों के बीच पर्याप्त दूरी है और इस बात की संभावना कम ही है कि उन सभी पर एक ही राजा का प्रभुत्व था। शायद प्रत्येक नगर–राज्य स्वतंत्र था। ऐतिहासिक काल में शाक्य, लिच्छवि, मल्ल आदि छोटे–छोटे गण राज्य थे और शायद सिंधु सभ्यता में, कम से कम कुछ क्षेत्रों में, इसी तरह की शासन प्रथा रही हो। इतना

स्पष्ट है कि शासन तंत्र का जो भी स्वरूप रहा हो विकसित सिंधु सभ्यता के जीवन काल लगभग 700 साल तक पर्याप्त शांति रही और विभिन्न मानकों में निरंतरता बनी रही। वंशानुगत राजा होने की संभावना कम है। कुशल नेतृत्व का धनी नेता राजा के रूप में उभर सकता था। लेखन कला का ज्ञान और लिपि की समानता राज्य के एकीकरण में सहायक रही होगी।

वाल्टर फेयरसर्विस विशाल हड़प्पा साम्राज्य होने की संभावना से इंकार करते हैं। उनके अनुसार सांस्कृतिक एकता प्रशासनिक एकता के आधार पर नहीं बल्कि पारंपरिक मूल्यों पर आधारित थी। कुछ जन समूह जो रक्त संबंध तथा विचारधारा से एक सूत्र में बंधे थे इसके शासन के लिए उत्तरदायी थे। विशाल साम्राज्य के विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि सिंधु सभ्यता के उत्खनित स्थलों में प्राप्त सैनिक सामग्री अत्यल्प है। इसके आधार पर कम से कम इस बात की संभावना नहीं लगती कि किसी आक्रमणकारी ने इस सभ्यता के विशाल भू–भाग पर अपना अधिकार कर लिया था।

यह सही है कि सिंधु सभ्यता के विभिन्न पुरास्थलों से प्राप्त सामग्री में अनेक समानताएं हैं कितु इनमें कुछ अंतर भी है। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो में मातृदेवी की अनेक मूर्तियां मिली हैं किंतु लोथल, धौलावीरा आदि गुजरात के क्षेत्रों में इनका लगभग अभाव है। धौलावीरा की गढ़ी की योजना अपने में अलग है। धौलावीरा को छोड़कर सौराष्ट्र तथा कच्छ में निचले नगर का अस्तित्व एकदम गौण है।

ऐतिहासिक काल में छठी शती ई. पू. के उत्तरी भारत में सोलह (षोडश) राज्यों (जनपदों) तथा उनकी राजधानियों की जानकारी मिलती है। यदि हम सिंधु सभ्यता के विभिन्न क्षेत्रों में पाये गये प्रमुख नगर स्थलों को राजधानी माने तो, जैसा ब्रजवासी लाल ने इंगित किया है, राज्यों के होने की परिकल्पना की जा सकती है। मोहेंजोदड़ो को सिंध क्षेत्र की, हड़प्पा पंजाब क्षेत्र की, गांवेरिवाला चोलिस्तान क्षेत्र की, कालीबंगां राजस्थान क्षेत्र की, राखीगढ़ी उत्तरी हरियाणा की, बणावली दक्षिणी हरियाणा की, धौलावीरा उत्तरी गुजरात की तथा लोथल दक्षिणी गुजरात की राजधानी माना जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि ऐतिहासिक कालीन जनपद राजनैतिक इकाई थे किंतु उनमें सांस्कृतिक एकता थी। उत्खनन से प्राप्त भौतिक सामग्री – यथा काले चमकीले भाण्ड तथा अन्य भाण्ड, आहत सिक्के, विशिष्ट प्रकार की मृण्मूर्तियां इत्यादि प्रायः सभी जनपदों के विभिन्न स्थलों से प्राप्त हुई हैं। एक संभावना यह हो सकती है कि सिंधु सभ्यता में अनेक राज्य थे तथापि उनमें सांस्कतिक एकता थी। ऐतिहासिक काल में देखा गया कि बलशाली राजा ने बलहीन राजाओं पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपने राज्य में मिला लिया। ऐसा ही सिंधु सभ्यता के संदर्भ में भी हो सकता है। इनमें कुछ स्वतंत्र राज्य थे और कुछ स्वतंत्र राज्यों की अधीनता में सामन्तों द्वारा शासित राज्य।

अध्याय 10
धार्मिक विश्वास और अनुष्ठान

सिंधु सभ्यता काल के धार्मिक जीवन से संबंधित कोई साहित्यिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। जानकारी के सभी स्रोत पुरातत्त्व संबंधी हैं। मुद्राओं, मृद्‌भाण्डों आदि पर जो लेख मिले हैं, वे पढ़े नहीं जा सके हैं। धार्मिक जीवन के संबंध में ज्ञान प्राप्ति के पुरातात्त्विक स्रोतों में मूर्तियां, मुद्राएं, मृद्‌भाण्ड, पत्थर तथा अन्य पदार्थों से निर्मित लिंग और चक्र की आकृतियां, ताम्र फलक, कुछ विशिष्ट भवन तथा कब्रिस्तान मुख्य हैं। सिंधु सभ्यता जैसी विकसित सभ्यता में धार्मिक कर्मकाण्डों के साथ–साथ दार्शनिक विचारधाराएं भी रही होंगी। किंतु पुरातात्त्विक स्रोतों से धर्म के गूढ़ तथा दार्शनिक पक्ष का उद्‌घाटन नहीं हो सकता, केवल तत्कालीन लोकप्रिय धार्मिक विश्वासों तथा मान्यताओं पर ही कुछ प्रकाश पड़ता है; और इस संबंध में भी जो मत विद्वानों ने व्यक्त किये हैं वे सब अनुमान पर आधारित हैं और विवादास्पद हैं। फिर साक्ष्यों का धर्म के संदर्भ में ठीक तरह समझना कठिन होता है और खास तौर से जब पुरावशेष ऐसे स्मारकों के संदर्भ में मिलते हैं जिन्हें हम देवालय न मान सकें। तत्कालीन धर्म के स्वरूप का अनुमान लगाने के लिए दो मुख्य आधार हैं – एक समकालीन अथवा लगभग समकालीन मेसोपोटामिया का साक्ष्य और दूसरा ऐतिहासिक काल का भारतीय साक्ष्य। सिंधु सभ्यता के लोगों और सुमेरी तथा तत्कालीन अन्य संस्कृतियों के लोगों में परस्पर व्यापारिक संबंध थे और उन्होंने एक दूसरे की संस्कृति तथा धर्म को प्रभावित किया होगा। चूंकि प्राचीन मेसोपोटामिया के लेखों की लिपि पढ़ लिए जाने के कारण वहां पर उस समय प्रचलित धर्म और देवी देवताओं के विषय में बहुत कुछ निश्चित जानकारी प्राप्त है, अतः लिखित साक्ष्यों के अभाव में सिंधु सभ्यता के अवशेषों का मेसोपोटामिया के अवशेषों के संदर्भ में प्राप्त जानकारी से तुलनात्मक अध्ययन सिंधु सभ्यता के लोगों के धार्मिक जीवन पर प्रकाश डालने में सहायक सिद्ध हो सकता है। परंपरा की कड़ियां मजबूत होती हैं, वे कठिनाई से मिटती हैं। अतः जब हम पुरैतिहासिक काल के आख्यानों का ऐतिहासिक काल में कुछ प्रतिरूप देखते हैं तो उनके एक ही धार्मिक परंपरा पर आधारित होने की संभावना की बात सोचना स्वाभाविक सा है। दूसरे शब्दों में ज्ञात (ऐतिहासिक काल के) साक्ष्यों से हम अज्ञात (पुरैतिहासिक काल) के बारे में अनुमान लगा सकते हैं। किंतु इस तरह के साक्ष्यों पर आधारित निष्कर्ष निश्चित नहीं कहे जा सकते और उन पर मतभेद होना स्वाभाविक है। सिंधु सभ्यता के बारे में कुछ विद्वानों की यह धारणा रही है कि वह वैदिक संस्कृति से भिन्न है जबकि कुछ का मत है कि दोनों एक हैं। जो उसे भिन्न समझते हैं उनका

कहना है कि वैदिक से उत्तर संस्कृतियों का भारतीय संस्कृति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। अतः सिंधु सभ्यता के विभिन्न उपकरणों से उस काल के धर्म का स्वरूप निर्धारण करना इस संदर्भ में और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

धार्मिक भवन

हड़प्पा संस्कृति में ऐसा कोई भवन नहीं मिला है जिसे सर्वमान्य रूप से मंदिर की संज्ञा दी जा सके। जबकि समकालीन मेसोपोटामिया के उत्खननों में मंदिर के अनेक निश्चित और महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले हैं। व्हीलर का कहना है कि मोहेंजोदड़ो के उत्खात क्षेत्र में दो या तीन ऐसे भवन हैं जो मंदिर हो सकते थे। 'एच आर' क्षेत्र में एक आयताकार घर, जो छोटा किंतु सुदृढ़ और महत्त्वपूर्ण है, में प्रवेश के लिए द्वार और दो सीढ़ियां हैं। इस भवन में दो पत्थर की मूर्तियां मिली थीं। उन्होंने उसी क्षेत्र स्थित एक भवन के पुरोहितों का 'कालेज' होने की संभावना व्यक्त की है। मोहेंजोदड़ो के गढ़ी में जिस स्थान पर परवर्ती (कुषाण) काल में स्तूप का निर्माण किया गया वह संभवतः सिंधु सभ्यता के समय से ही पवित्र स्थल रहा हो। और इस धारणा के आधार पर उसके नीचे प्राचीन धार्मिक भवन के अवशेष होने की संभावनाएं व्यक्त की गई हैं। किंतु जब तक इस स्थल पर उत्खनन द्वारा नीचे की परतों को उदघाटित नहीं किया जाता तब तक इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। यह भी सुझाव दिया गया है कि उस काल के मंदिर लकड़ी के बने थे, जो अब नष्ट हो गये हैं। लेकिन यह तर्क बहुत प्रभावशाली नहीं है। यह भी ध्यान देने की बात है कि हो सकता है उस काल में सिंधु सभ्यता के साधारण घरों तथा देवालयों में विशेष अंतर न रहा हो। बाद में ऐतिहासिक काल में जो प्रारंभिक देवालय मिले हैं वे बहुत सामान्य प्रकार के छोटे आकार के हैं। यह उल्लेखनीय है कि हड़प्पा सभ्यता के कई क्षेत्रों में परम्परा और रूढ़िवादिता का प्रभाव दिखता है। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि सिंधु सभ्यता का शासन–तंत्र भी प्राचीन मेसोपोटामिया (जहां के बारे में निश्चित अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध हैं) के समान ऐसे शासक द्वारा चलाया जाता था जो शासन के साथ ही धर्म का सर्वोच्च अधिकारी भी था। यदि यह धारणा सही है तो धार्मिक क्रिया–कलापों और अनुष्ठानों का इस सभ्यता में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान होना स्वाभाविक था। उत्खननों से कोई विशिष्ट मूर्ति ऐसी नहीं मिली है जिसकी निश्चयपूर्वक देवता के रूप में पहचान की जा सके। वैसे कुछ मूर्तियां हैं जिनके कुछ पुराविदों के अनुसार धार्मिक होने की संभावना है। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर सिन्धु सभ्यता के लोगों के बारे में जो भी अनुमान लगाये गये हैं, उनका विवरण निम्नलिखित पृष्ठों में दिया गया है।

जल की पवित्रता

भारत में पुराकाल से जल को पवित्र माना जाता रहा है। शुभ तिथियों और पुनीत अवसरों पर तीर्थ–स्नान पुण्य कर्म माना जाता रहा है। केवल दैनिक स्नान ही

नहीं अपितु दिन में दो–तीन बार स्नान करने का विधान शास्त्रों में मिलता है। साधारणतया प्रत्येक महत्त्वपूर्ण मंदिर के साथ एक तालाब भी जुड़ा रहता है। मोहेंजोदड़ो के उत्खननों से मोटी दीवालों से बनी विशाल सुदृढ़ इमारत मिली जिसे 'विशाल स्नानागार' नाम दिया गया है (चित्र 8)। इसके आंगन में जो कुण्ड है उसका प्रयोग कदाचित् धार्मिक पर्व में विशिष्ट व्यक्तियों के स्नान–कार्य के लिए होता था। इस भवन के चारों ओर कुछ अन्य इमारतें और स्नानागारों के ऊपर भी एक मंजिल थी। कुछ पुराविदों का अनुमान है कि यहां पुजारी लोग निवास करते थे और विशेष अवसरों पर ही स्नान के लिए नीचे उतरते थे। मार्शल के अनुसार 'स्नान का जितना प्रबन्ध सिन्धु सभ्यता में किया गया था उतना शायद ही विश्व की किसी प्राचीन सभ्यता में रहा हो'। यह सही है कि अधिकांश मेसोपोटामिया के मन्दिरों के पास कुआं पाया गया है जो इस बात का द्योतक है कि लोग हाथ पांव धोकर मन्दिर में प्रवेश करते थे, लेकिन सिन्धु सभ्यता में तो स्नानकक्ष लगभग हर घर का आवश्यक अंग था। विद्वानों का मत है कि घरों में स्नानकक्ष का निर्माण केवल स्वच्छता के कारण ही नहीं किया गया था बल्कि इसके पीछे धार्मिक भावना भी अन्तर्विष्ट रही होगी।

मातृदेवी की उपासना

शिवांगना अत्रे का मत है कि सिंधु सभ्यता के देवी देवताओं में मातृदेवी ही सबसे प्रमुख थी। वे तो नीचे वर्णित 'शिवपशुपति' मुद्रा पर मुख्य आकृति को शिव न मानकर देवी की आकृति मानते हैं। हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो, चन्हुदड़ो इत्यादि स्थलों की खुदाइयों में मिट्टी की अनेक नारी आकृतियां उपलब्ध हुई हैं (चित्र 39)। वे प्रायः पंखाकार शिरो–भूषा, कई लड़ी वाले हार, चूड़ियां, मेखला तथा कर्णाभरण पहने हैं। पंखाकार शिरोभूषा के दोनों ओर दायें बायें दीपक जैसी आकृतियां बनी हैं जिनमें कालिख लगी मिली है। कालिख इस बात का द्योतक लगती है कि इनमें दीप–बाती या धूप जलाई गई होगी। मकाइ का मत है कि सम्भवतः इनमें तेल बाती डालकर इनका प्रयोग दिये की तरह किया गया होगा। यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि आधुनिक काल में मूर्ति के ही दिये की तरह प्रयोग की प्रथा नहीं मिलती। यह धारणा कि ये धब्बे मूर्ति पर घी जैसी किसी चीज के लगाने से पड़े हैं इसलिए ठीक नहीं मालूम देती कि ऐसे धब्बों का लम्बे समय तक मूर्ति के भूमि में दबे रहने के कारण बने रहना कठिन था। किसी–किसी मूर्ति में नारी के साथ शिशु भी दिखलाया गया है। मकाइ का कहना है कि ये मूर्तियां दीवारों में आलों में रख कर पूजी जाती थीं। उनका पृष्ठ भाग सफाई के साथ न बना होना इस बात का द्योतक है कि वह भाग दिखलायी नहीं देता था, और यह भी मकाइ के उपर्युक्त मत की पुष्टि करता है। मकाइ ने मत व्यक्त किया है कि जन साधारण के लिए मातृदेवी की पूजा पुरुष देवताओं की पूजा की अपेक्षा अधिक सहज है, क्योंकि मां के रूप में वह, अन्य देवताओं की अपेक्षा, भक्त के अधिक निकट हो सकती है। प्रायः सभी विद्वान् सिंधु सभ्यता के काल की अधिकांश

नारी–मृण्मूर्तियों को मातृ–देवी की मूर्तियां मानते हैं।

जिन मृण्मूर्तियों में गर्भिणी नारी का रूपांकन है, उन्हें पुत्र–प्राप्ति हेतु चढ़ाई गई उद्देशिक भेंट माना जा सकता है जिसके पीछे यह भावना थी कि इन्हें चढ़ाने वाली स्त्रियां गर्भवती होवें। चन्हुदड़ो से प्राप्त इस वर्ग की मूर्तियां विशेष आकर्षक हैं। इनमें से कुछ मृण्मूर्तियां मात्र खिलौने के लिए भी अभिप्रेत हो सकतीं थीं।

बलूचिस्तान स्थित कुल्ली नामक पुरास्थल में पायी गयी नारी मृण्मूर्तियों में सौम्य रूप मिलता है लेकिन उसी क्षेत्र की ही झोब संस्कृति की नारी मृण्मूर्तियों में रौद्र रूप व्यक्त हुआ है। ये मृण्मूर्तियां मातृ–देवी के क्रमशः सौम्य तथा रौद्र रूप की परिचायक लगती है। अफगानिस्तान के मुण्डीगाक से प्राप्त मूर्तियों तथा हड़प्पा संस्कृति की मृण्मूर्तियों में पर्याप्त साम्य है। ये विशेष सुन्दर नहीं हैं और सौम्य रूप की परिचायक लगती है। भारत के बाहर प्राचीन एलम, मेसोपोटामिया, ट्रान्स–काकेशिया, एशिया–माइनर, सीरिया, फिलिस्तीन, क्रीट, बाल्कन और मिस्र में विशाल संख्या में प्राप्त हुई नारी आकृतियां इस बात के प्रमाण हैं कि पुराकाल में इन सभी देशों में मातृ देवी की उपासना प्रचलित थी। कुछ विद्वानों की धारणा है कि एशिया–माइनर के अनातोलिया क्षेत्र से ही मातृदेवी की पूजा का प्रारंभ हुआ और वहीं से यह दूसरे लोगों ने सीखी।

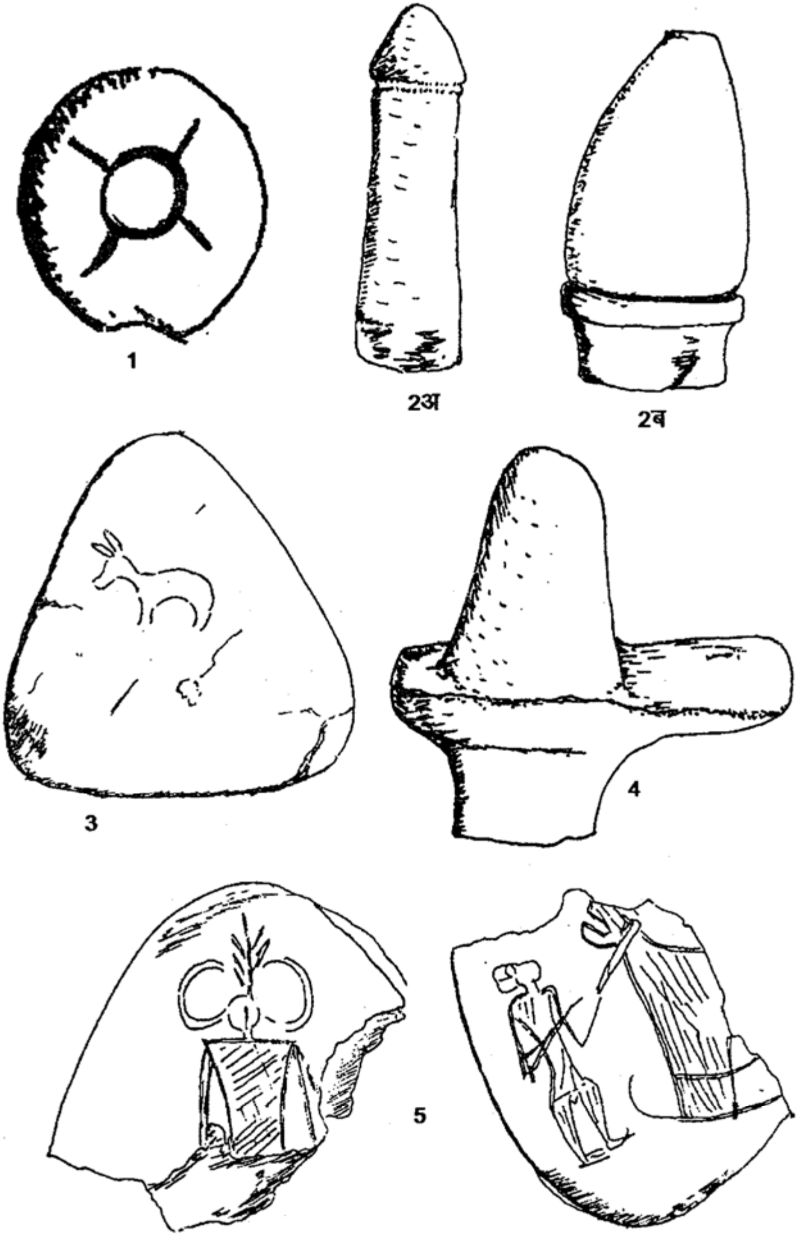
जैसा कि पुराविद् मार्शल का मत है, भारत में मातृदेवी की मान्यता की जड़ें बहुत गहरी हैं। आज भी ग्राम देवता के रूप में अधिकांशतः मातृदेवी ही प्रतिष्ठित मिलती हैं। आदिम भारतीय जातियों और अधिकांश ग्रामीणों के धर्म में मातृदेवी की उपासना सर्वोपरि है और उनमें उनकी पूजा के लिए पुजारी का काम ज्यादातर पिछड़ी जाति के लोग करते हैं, ब्राह्मण नहीं। उसे प्रकृति और सृष्टि की अनादि शक्ति और पुरुष की सहचारिणी के रूप में मान्यता प्राप्त है। वैदिक साहित्य में 'पृथ्वी', 'अदिति' आदि देवियों का उल्लेख है लेकिन उसमें मातृदेवियों की संख्या और उनका महत्त्व इतना नहीं था जितना कि इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं का। बाद में शाक्त धर्म में देवी को सृष्टिकर्त्री तथा विनाशकर्त्री कहा गया है और यह धारणा दृढ़ होती गयी कि वही पुरुष के सहचर्य से विश्व की सृष्टि करती है। वह अत्यन्त अतीत युग से 'शक्ति' के रूप में पूजनीय है। दुर्गा, गौरी, पार्वती, काली तथा चामुण्डा उसी के विभिन्न रूप हैं। भक्तों के अनुसार वह प्राण–शक्ति है, जिसके बिना जीवन संभव नहीं। शिव भी बिना देवी की शक्ति के शव मात्र हैं। सिंधु सभ्यता में भी इस तरह की कोई धारणा थी, यह कहना अत्यन्त कठिन है। लेकिन यह उल्लेखनीय है कि मिस्र, फिनीशिया, एशिया–माइनर और अन्य देशों की प्राचीन संस्कृतियों में देवी के सहचर की कल्पना की गयी है जिसकी सृष्टि देवी स्वयं करती हैं। क्या पता सिंधु सभ्यता में ऐसे ही देवी के सहचर की धारणा रही हो।

यह कहना कठिन है कि उस काल में मातृदेवी की पूजा स्वतंत्र रूप से होती थी अथवा किसी देवता की शक्ति के रूप में। वैसे कई आकृतियों के वक्ष स्थल के निरूपण के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि अधिकांशतः कुमारी के रूप में ही उसकी पूजा की जाती थी। अन्य समाकालीन सभ्यताओं में देवी की पूजा पुरुष देवता की सह–धर्मिणी या माता के रूप में प्रचलित थी। कुछ पुराविदों का विचार है कि वैदिक संस्कृति के धारकों ने भी (जिनके देवशास्त्र में देवियों का स्थान पुरुष देवताओं की अपेक्षा गौण है) प्राग् वैदिक कालीन (जैसा वह सिंधु सभ्यता को मानते हैं) लोगों से सांस्कृतिक आदान–प्रादान के फलस्वरूप मातृदेवी को एक महान् देवता के रूप में अपना लिया।

मृण्मूर्तियों के अतिरिक्त कुछ मुद्राओं के अध्ययन से भी पृथ्वी या मातृदेवी की उपासना पर प्रकाश पड़ता है। हड़प्पा से प्राप्त एक अभिलेख युक्त मुद्रा पर दाहिनी ओर एक स्त्री सिर के बल खड़ी है। उसकी योनि से एक पौधा प्रस्फुटित होता दिखलाया गया है। बायें ओर दो बाघ हैं (चित्र 53. 8)। इस चित्रण में संभवतः मातृदेवी की प्रजनन शक्ति वाले स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। यह आकृति पृथ्वी देवी की हो सकती है जो कि सम्पूर्ण वनस्पति जगत की उत्पत्ति का आधार हैं। ऐसी धारण से प्रेरित मातृ देवी के उदाहरण मेसोपोटामिया से भी उपलब्ध है। भीटा के एक कुषाणकालीन गोल चपटे फलक पर जिसमें नारी के शरीर से पुष्प निकलता दिखलाया गया है, इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई लगती है। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त विवेच्य मुद्रा के दूसरी ओर एक नारी और पुरुष दिखाए गए हैं। पुरुष के हाथ में हंसिया जैसी कोई वस्तु है। स्त्री बैठी है और उसके हाथ ऊपर की ओर उठे हैं तथा बाल बिखरे हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुष बैठी हुई स्त्री का वध करने वाला है। मार्शल का सुझाव है कि कदाचित् यह मुद्रा के दूसरी ओर दिखाई गई पृथ्वी देवी को बलि दिये जाने का अंकन है। धौलावीरा से जो नारी मृण्मूर्तियां मिली हैं उनमें से कुछ पर सींग दिखाए गये हैं। बणावली से प्राप्त नारी मृण्मूर्तियां आभूषणों से जड़ित हैं और एक उदाहरण में उसे स्तनपान कराते दिखाया गया है।

पाषाण चक्र

मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा से पत्थर के चक्र (चित्र 61.1) विशाल संख्या में पाये गये हैं। इनका व्यास 1.27 सेमी. से 1.21 मीटर तक है। बड़े चक्र पत्थर के हैं तथा छोटे पत्थर, कांचली मिट्टी, शंख तथा कार्नीलियन के। कुछ चक्रों का निचला हिस्सा चपटा है, ऊपर चतुर्पन्नी है, और कुछ के ऊपर और नीचे की सतह नतोन्नत है। हेनरी काजिन्स के अनुसार इनका उपयोग संभवतः स्तंभों के शीर्ष भाग को अलंकृत करने में किया जाता था। बड़े चक्रों के लिए तो ऐसा सोचा जा सकता है किन्तु कुछ चक्र तो इतने छोटे हैं कि उनका स्तम्भ के शीर्ष के रूप में उपयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। कुछ विद्वान् इस तरह के चक्रों के पाषाण मुद्रा होने का सुझाव देते हैं।



चित्र 61 : 1 चक्र, 2अ तथा 2ब लिंग, 3 मिट्टी का 'केक'
4 योनि पीठ पर लिंग, 5 शृंगी देवता और बलि का दृश्य

पाषाण–मुद्रा के प्रचलन के साक्ष्य कुछ आदिम सभ्यताओं में अवश्य मिलते हैं किन्तु सिंधु जैसी विकसित नगर सभ्यता में जिसका व्यापारिक तथा सांस्कृतिक संबंध सुदूर देशों के साथ था और जिसके निवासी सोना, चांदी, तांबा आदि अनेक धातुओं का विभिन्न वस्तुओं के निर्माण के लिए प्रयोग करते थे, विनिमय के लिए पाषाण–मुद्रा अपनाये जाने की संभावना नहीं लगती।

पाषाण एवं अन्य पदार्थों से निर्मित बीच में छेद वाले चक्र भारत में अति प्राचीन काल से दैवी शक्ति से संपन्न माने जाते हैं। मौर्य और शुंग काल के पाषाण–चक्र तक्षशिला, रोपड़, अहिच्छत्रा, मथुरा, पाटलिपुत्र आदि अनेक ऐतिहासिक स्थानों से पाये गये हैं। इनमें से कुछ चक्रों पर वृक्षों या पशुओं के साथ–साथ नग्न नारी आकृतियां दिखाई गई हैं। संभवतः इनका संबंध भी मातृ देवी की उपासना से था। यह चक्र योनि के प्रतीक भी हो सकते हैं। यहां यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि ऑरेल स्टाइन को बलूचिस्तान के पेरियानों घुंडई नामक स्थल में योनि का यथार्थ अंकन मिला है जो इस बात का द्योतक है कि पुरैतिहासिक काल में योनि का यथार्थ तथा प्रतीक दोनों ही रूप में अंकन होता था। हो सकता है कि सिंधु सभ्यता के कुछ चक्र स्तम्भ–शीर्ष की तरह प्रयुक्त होते रहें हों किंतु जिन चक्रों का इस तरह का कोई उपयोग नहीं सुझाया जा सकता उनका धार्मिक महत्त्व स्वीकार करना ही समीचीन लगता है और इन्हें प्रजनन शक्ति का प्रतीक मानना गलत न होगा। आज शैव मंदिरों में लिंग–योनि की संयुक्त आकृतियां स्थापित की जाती हैं, किंतु यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि कालीबंगां के एक अपवाद को छोड़कर (चित्र 61. 4) हड़प्पा सभ्यता के संदर्भ में लिंग और योनि एक दूसरे से संबद्ध नहीं मिलते।

'शिव–पशुपति'

मोहेंजोदड़ो के उत्खननों से एक महत्त्वपूर्ण मुद्रा (मार्शल, सं. 420) को उपलब्ध हुई (चित्र 50. 1) जिससे सिंधु संस्कृति के लोगों के धार्मिक विश्वास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ा है। इस मुद्रा पर मार्शल के अनुसार एक पुरुष आकृति अंकित है जो त्रिमुखी लगती है। वह योगासन में एक चौकी पर बैठी है। उसके सिर पर सींग की सी आकृति बनी है। कलाई से कंधे तक उसकी भुजाएं चूड़ियों से लदी हैं। मार्शल के अनुसार उसका वक्ष कवच से आवृत्त है। आकृति की दायीं ओर हाथी और बाघ तथा बायीं ओर गैंडा और महिष हैं। आसन के नीचे दो हरिण दिखलाये गये थे जिनमें से एक की आकृति खंडित है। मुद्रा पर सिंधु लिपि में लेख भी है। मार्शल इस मुद्रा पर अंकित आकृति को 'शिव पशुपति' का प्राग् रूप मानते हैं।

साहित्य में शिव को 'त्रिवक्त्र' एवं 'त्रिशीर्ष' कहा गया है। ऐतिहासिक काल में शिव की मूर्तियां तीन, चार अथवा पांच मुख वाली बनायी जातीं थी। उनको त्रिनेत्र भी दिखाया जाता है। वे 'त्रयम्बक' भी कहलाते हैं। 'त्रिक्' की कल्पना मेसोपोटामिया और भारत में प्राचीन काल से प्रचलित थीं। मेसोपोटामिया के देव समूह में सिन, शमेश और

इश्तर तथा अनु, इनिल और इअ की तिकड़ियां थीं।

आकृति को योगासन में दिखलाया जाना महत्त्वपूर्ण है। ऐतिहासिक काल में देवताओं में मुख्यतया शिव ही योगी के रूप में विशेष विख्यात हैं। वह 'महातप', 'महायोगी', 'योगीश्वर', 'योगाध्यक्ष' कहे गये हैं। भारत में दैवी शक्ति प्राप्त करने के अनेक माध्यम माने गये हैं जिनमें मानसिक अनुशासन तथा ध्यान समाधि का विशेष महत्त्व है। शैव धर्म तथा योग दोनों ही भारतीय धर्म एवं दर्शन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

शिव योगीश्वर होने के साथ–साथ पशुपति भी कहे जाते हैं। वैदिक साहित्य में रुद्र–शिव, वन्य तथा पालतू पशुओं के स्वामी हैं। मिनोआन–क्रीट की कलाकृति में एक देवी और एक देवता को जिसकी पहचान ठीक से नहीं हो सकी है, सिंह अथवा चीते के साथ अनेकशः दिखलाया गया है। अनातोलिया में सिबेल (Cybele) देवी को भी सिंहों के साथ दिखाया गया है। कुछ के अनुसार मोहेंजोदड़ो की मुद्रा पर प्राप्त चार पशु चार दिशाओं के द्योतक हो सकते हैं, और प्रतीकात्मक रूप से देवता को चारों दिशाओं का स्वामी दिखाना अभीष्ट हो सकता है। इस संदर्भ में मौर्य राजा अशोक के सारनाथ स्तंभ के शीर्ष की चौकी पर अंकित चार पशुओं – हाथी, घोड़ा, बैल और सिंह के प्रतीकवाद से तुलना की गई है और यह भी संभावना व्यक्त की गई है कि संभवतः उपर्युक्त सिंधु सभ्यता की मुद्रा पर शिव को भी चार मुख वाला दिखाने की चेष्टा की गई है; तीन मुख तो लगते ही हैं, और चतुर्थ मुख के पीछे की ओर होने की कल्पना करनी पड़ेगी। बाघ को अक्रामक मुद्रा में शिव की ओर झपटते हुए अंकित किया गया है। हरिणों को छोड़कर बाकी पशुओं के अंकन में भी यही हिंसा भावना दिखाना अभिप्रेत लगता है। महायोगी समाधिस्थ आसीन हैं। इस पुस्तक के प्रथम लेखक ने कुछ वर्ष पूर्व सुझाया था कि बाद में पेरियपुराण में शिव का पशुओं पर विजय प्राप्त करने की बात कही गयी है। सिंधु सभ्यता के काल में, बाद के काल की भांति, शिव से संबंधित कोई ऐसा आख्यान रहा हो जिसमें शिव की आक्रामक पशुओं पर विजय की बात हो जिसके उपलक्ष्य में उन्हें 'पशुपति' ('पशुओं का स्वामी') कहा गया हो, और बाद में शिव भक्तों ने पशुपति का दार्शनिक अर्थ किया जिसके अनुसार सभी मानव पशु हैं और शिव उनके पति अर्थात् स्वामी हैं।

शृंग का भी शिव के साथ संबंध है। महाभारत में शिव को 'त्रिशृंग शीर्ष' कहा गया है। बंगाल में शिव की कुछ मूर्तियों में शिव के हाथ में सींग का एक वाद्य यंत्र दिखाया जाता है। मोहेंजोदड़ो की कुछ मानव मृण्मूर्तियों में भी शृंग दिखलाया गया है। हड़प्पा सभ्यता की कुछ अन्य मुद्राओं पर शृंगयुक्त आकृतियों का अंकन है। कोटदीजी, रहमानढेरी, सराय खोला और बुर्जहोम से विकसित सिंधु सभ्यता के पहले के काल में महिष–शृंगी देवता का अंकन मिलता है और यहीं विकसित सिंधु सभ्यता के इस तरह के अंकन के मूल स्रोत है। सुमेर तथा बेबीलोन में शृंग देवत्व का सूचक माना जाता था। मानव रूप में जन्म लेने के पहले देवता पशु रूप में होते हैं, ऐसी धारण

पुराकाल में कुछ देशों में प्रचलित थी। शायद इसी परम्परा की अभिव्यक्ति उनकी मूर्तियों में भी हुई है। मार्शल का अनुमान है कि संभवतः इसी दो सींग के अभिप्राय को परवर्ती काल में शिव के त्रिशूल का रूप दे दिया गया। (अगर दोनों सीगों के बीच में एक नोक और हो तो त्रिशूल की आकृति बन जाती है)। ऐसा भी मत है कि कालांतर में बौद्धों ने त्रिक् के भाव को त्रिरत्न के रूप में व्यक्त किया।

इस मुद्रा पर आसन के नीचे हरिण युग्म का होना कम महत्त्व का नहीं है। मध्यकालीन योगदक्षिणा मूर्तियों में शिव हरिण पकड़े दिखलाये गये हैं। हरिण युग्म को बुद्ध की धर्मचक्रप्रर्वतन मूर्तियों में भी दिखलाया गया है।

इस प्रकार मोहेंजोदड़ो की इस मुद्रा पर शिव की ऐतिहासिक कालीन कुछ विशेषताओं का अंकन हुआ लगता है, और इसीलिए मार्शल ने इसे ऐतिहासिक शिव पशुपति के प्राग् रूप की संज्ञा दी। उस युग में यह देवता किस नाम से जाना जाता था, यह ज्ञात नहीं।

यद्यपि अधिकांश विद्वानों ने मार्शल की धारणाओं से सहमति प्रकट की है तथापि कुछ ने इससे भिन्न मत भी प्रकट किये हैं। सैलेतोरे ने इस आकृति को अग्नि पहचाना है। रायचौधुरी का कहना है कि पशुओं में शिव के वाहन वृषभ की अनुपस्थिति के कारण इस आकृति की पहचान शिव (पशुपति) से करना समुचित नहीं है। उनके अनुसार शिव–पशुपति का प्राग् रूप हिताइत देव–मंडली में प्राप्त है। हिताइत लोगों के प्रमुख देवता तेशुब वैदिक रुद्र की भांति ही हैं; वह आंधी से संबंधित हैं, वृषभारूढ़ और त्रिशूल–धारी है। उनकी पत्नी हेयत, शिव–पत्नी दुर्गा की भांति त्रिशूलधारिणी और सिंहवाहिनी हैं।

इस आकृति की पहचान के संबंध में केदारनाथ शास्त्री का मत सर्वथा भिन्न है। उनके अनुसार मुद्रा पर जो आकृति उभारी गई है वह तीन मुखी तो है ही नहीं, मानवमुखी भी नहीं है। उनके अनुसार यह महिष–सिर वाला देवता है। इसके अंग अलग–अलग पशुओं के हैं। इसकी भुजाएं कनखजूरे और पैर सर्प से बने हैं। इसका धड़ बाघ का और सिर महिष का है। उनके अनुसार इस देवता को विभिन्न पशुओं के अंगों से बनाने की कल्पना का आधार यह था कि भक्त लोग देवता को इन सभी पशुओं की विशेषताओं से युक्त देखना चाहते थे और उससे उन गुणों की प्राप्ति हेतु प्रार्थना करते थे। वे इस संदर्भ में यह भी उल्लेख करते हैं कि ऐतरेय ब्राह्मण में रुद्र को अत्यन्त भयानक तत्त्वों से बना हुआ बताया गया है। टी0 एन0 रामचन्द्रन ऋग्वेद के एक मंत्र के आधार पर इसे सोम की आकृति के रूप में पहचानते हैं। ऋग्वेद में सोम के विषय में लिखा है कि वह देवताओं में ब्रह्मा है, कवियों में श्रेष्ठ, ऋषियों में उत्तम, पशुओं में महिष और पक्षियों में बाज है। रामचन्द्रन के अनुसार मोहेंजोदड़ो की इस मुद्रा पर पशुओं के अंकित होने के कारण देवता को ऋग्वेद में पशुपति, अधिक मुख वाले होने के कारण ब्रह्मा, और भैंस के सींग होने के कारण महिष कहा है।

हर्बर्ट सुल्लिवान का कहना है कि संभवतः आकृति पुरुष की नहीं, नारी की है। उनके अनुसार इस मुद्रा पर नारी आकृति को पशुओं से घिरे दिखाने का उद्देश्य संभवतः मातृदेवी को पशु–जगत की स्वामिनी दिखाना था। धवलीकर और अत्रे भी इस आकृति को नारी आकृति मानते हैं, और उनके अनुसार यह पशुपति न होकर पशुओं की स्वामिनी है। इनकी पहिचान का मुख्य आधार है आकृति की लम्बी बालों वाली वेणी का होना। उनका यह भी कहना है कि सिंधु सभ्यता के अंकनों में पुरुषों को सदैव नग्न और नारियों को वस्त्र पहने दिखाया गया है। पर जैसे ब्रजवासी लाल ने इंगित किया है सर्वदा ऐसा नहीं है। कम से कम मोहेंजोदड़ो की 'पुरोहित' आकृति निश्चय रूपेण पुरुष की है, किंतु वस्त्र पहने है, दूसरी ओर कांस्य नर्तकी को नग्न दिखाया गया है। यह तर्क मान भी लिया जाय कि विवेच्य मुद्रा पर आकृति ऊर्ध्वलिंग नहीं दिखायी गयी है, तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि नारी के विशिष्ट अंग भी इसमें स्पष्ट रूप से नहीं दिखलाये गये हैं। कुछ विद्वानों ने इसकी पहिचान विश्वरूप त्वष्ट्रि से की है जिसका विवरण ऋग्वेद (10. 99. 6) में है और जिसमें उसे तीन शिर और छह आंख वाला बताया गया है। दीनबन्धु पाण्डेय ने इस आकृति को ऋग्वेद में संदर्भित शृंग शिरोभूषण धारण करने वाले विषाणिनों का देवता मानने का सुझाव दिया है। कृष्णराव मुद्रा पर अंकित आकृति की पहिचान इंद्र से करते हैं। वाल्टर फेयरसर्विस इसकी पहिचान सार्वभौम प्रमुख (Chief) जो अण–इल–पिरन (अर्थात उच्चपद आसीन स्वामी) के नाम से जाना जाता है, से करते हैं। डी. कैस्पयर्स के अनुसार यह द्विमुखी मानव आकृति मनुष्य और नाग का मुखौटा लगाये शिकारी का अंकन है और वह अपने शिकार सम्बन्धी नृत्य के संदर्भ में अंकित है। वह हाथ के कड़े को बजाता था। जिस मोड़े पर बैठा है उसके पैर डमरू जैसे हैं। जिन पशुओं के वह शिकार की आकांक्षा करता है, उन्हें मुद्रा पर दिखाया गया है।

'शिव–पशुपति' से मिलती जुलती आकृतियां

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त दो अन्य मुद्राओं पर भी इससे मिलती–जुलती आकृतियां हैं। इनमें से एक (चित्र 52. 8) में देवता चौकी पर योगासन मुद्रा में बैठा है, हाथ दोनों ओर फैलाये हैं और हाथों में कई चूड़ियां पहने हैं। आकृति शृंगयुक्त हैं। मकाइ के अनुसार ये सींग (?) सिर से जुड़े नहीं हैं। शिरोभूषा के रूप में एक टहनी है जिसमें पीपल की जैसी पत्तियां निकलती दिखाई गई हैं। आकृति त्रिमुखी है, एक मध्यवर्ती और दो पार्श्ववर्ती मुख हैं। दूसरी (मकाइ न0 235) मुद्रा पर की आकृति भी शृंगयुक्त है तथा उसके सिर से वनस्पति निकलती दिखाई गयी है लेकिन वह एकमुखी है और भूमि पर बैठी है। इन आकृतियों की वनस्पति के देवता होने की संभावना है, और शिव का भी वनस्पति जगत से बहुत कुछ संबंध रहा है, जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में आया है। यों उपर्युक्त इन दोनों आकृतियों और 'शिव पशुपति' की आकृति में पर्याप्त समानता है, यथा तीनों लंगोट जैसे वस्त्र पहने हैं और शेष शरीर नग्न है, तीनों

हाथों में कई कंगन पहने हैं और तीनों शृंगयुक्त हैं। किंतु केवल दो के ही सिर से वनस्पति निकलती दिखाई गई है। दो त्रिमुखी हैं और एक एकमुखी। कालीबंगां के एक मृत्पिंड पर एक ओर सींग वाले देवता का अंकन है; दूसरी ओर मानव द्वारा बलि के लिए लाई बकरी (?) को दिखाया है। यह भी शिव जैसे किसी देवता का अंकन लगता है। सांकलिया इस सिलसिले में यह संभावना व्यक्त करते हैं कि हिसार (ईरान) में सोने के शृंग--युक्त सिर और कोटदीजी, गुमला ओर बुर्जाहोम के बर्तनों पर वृषभ के सिर का अंकन कालीबंगां के इस शृंगयुक्त शीर्ष वाली आकृति के पूर्व रूप हो सकते हैं। हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा (वत्स नं. 307) में एक देवता जैसी आकृति के शिरोभूषा में तीन पंख जैसी आकृति दिखाई गई है। यह भी कई भुजबंध पहने है। यहीं से प्राप्त एक अन्य मुद्रा (नं0 318) में भी देवता की इसी तरह की शिरोभूषा है। मोंहेंजोदड़ो की एक मुद्रा (मकाइ नं0 347) पर एक आकृति है जो आधा मानव आधा बाघ है। इसके सींग हैं जिनके बीच से फल और पत्ती निकल रही हैं। चोटी भी है। अगर यह आकृति पुरुष की है तो यह भी 'शिव' का प्राग्रूप हो सकता है।

वृषभ, त्रिशूल सहित देवता

हड़प्पा की एक मुद्रा पर मध्य में कोई आकृति बैठी हुई अंकित है जो किसी देवता की लगती है। कुछ जानवर भी दिखाये गये हैं जिनकी पहचान करना कठिन है। एक पेड़ भी दिखाया गया है जिस पर बने मचान पर एक आदमी बैठा है। पेड़ के नीचे बाघ है। इस मुद्रा की दूसरी ओर एक बैल त्रिशूल के सम्मुख खड़ा है। फिर एक खड़ी आकृति एक काष्ठ (?) की इमारत सामने दिखाई गई है। बैठी आकृति की पहचान शिव से की गई है। बैल उसका वाहन है, त्रिशूल उसका आयुध तथा इमारत उसका पूजा–गृह है। खड़ी आकृति भी शायद उसी देवता का अंकन है।

किरात–शिव (?)

एक ताम्र फलक पर पत्ते के बने वस्त्र पहने पुरुष हाथ में धनुष–बाण लिए अंकित है (चित्र 52. 6)। यह वनस्पति या उत्पादिका शक्ति से संबंधित देवता हो सकता है। ऐतिहासिक काल में शिव के किरात रूप की भी कल्पना की गई है। हो सकता है कि ऐतिहासिक काल की इस धारणा के पीछे प्रागैतिहासिक काल की कोई परंपरा रही हो। वैसे मार्शल ने इस आकृति के बारे में कहा है कि यह मेसोपोटामिया के आख्यानों के गिल्गामेश का भी अंकन हो सकता है। लेकिन वे इसके बारे में निश्चित नहीं हैं।

एक मुद्रा पर एक व्यक्ति बर्छे से भैंसे पर वार कर रहा है। मकाइ के अनुसार यह बाद के शिव द्वारा दुंदभी राक्षस को मारने के आख्यान से मिलते–जुलते आख्यान का द्योतक हो सकता है। जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने तुलना के लिए इस संदर्भ में मार्कण्डेय पुराण में बर्णित दुर्गा महिषासुर वध का वर्णन उद्घृत किया है। कुछ विकृत

आकृतियां हैं जो बाद के काल के भूत पिशाच जैसी दुरात्माओं का अंकन हो सकती है।

नाग देवता

भारत में नाग पूजा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। सिंधु सभ्यता के कुछ भाण्डों पर सर्प का चित्रण उनके धार्मिक महत्त्व के कारण हो सकता है। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त मिट्टी की एक मुद्रा पर योगासीन मानवाकृति के दोनों ओर एक–एक पुरुष खड़े अंकित हैं। पुरुष हाथ जोड़े है, उनके शरीर के पीछे सर्प के फन दिखाए गये हैं। ये पुरुष नाग देवता हो सकते हैं। ऐतिहासिक काल में शिव का संबंध सर्पों के साथ अनिवार्य रूप में मिलता है। नागोपासना भी संभवतः स्वतंत्र रूप से भारत में प्रचलित थी जिसे कालान्तर में सांस्कृतिक आदान–प्रदान के फलस्वरुप शैव धर्म में भी स्थान मिल गया। यही नहीं बौद्ध कला में नागों का बुद्ध के साथ अंकन मिलता है। बौद्ध साहित्य के अनुसार नाग मुचलिंद ने तपस्वी बुद्ध की अपने फणों से रक्षा की थी।

लिंग पूजा

लिंग के समान आकृतियां हड़प्पा संस्कृति के मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा, लोथल इत्यादि स्थानों से पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हुई हैं (चित्र 61. 2, 3, 4)। ये पत्थर, सीप, कांचली मिट्टी और पेस्ट की बनी हैं। ये विभिन्न आकार की हैं जिनकी ऊंचाई लगभग 1. 27 सेमी से लेकर लगभग 1 मीटर तक हैं। बड़े आकार के लिंग पत्थर के बने हैं। कुछ में तो पुरुष लिंग को यथार्थ ढंग से दिखाया गया है। ये इस बात के प्रमाण हैं कि भारत में प्रगैतिहासिक काल में लिंग पूजा प्रचलित थी। बहुत से परंपरागत ढंग से बने लिंग लगते हैं। आज अधिकांश लिंग परंपरागत शैली में ही बनते हैं जो वास्तविक लिंग की आकृति से काफी भिन्न होते हैं। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि ऑरल स्टाइन को बलूचिस्तान के मोगल घुंडई नामक पुरैतिहासिक स्थल से लिंग का यर्थाथ रूपांकन मिला है। सिंधु सभ्यता के कुछ लिंगों के नीचे के हिस्से में छेद दिखता है और मार्शल का सुझाव है कि शायद नीचे की ओर के इस छिद्र की सहायता से लिंग को योनि से जोड़ा गया होगा। आजकल तो लिंग को योनि के ऊपर ही बनाने की प्रथा है। कालीबंगां से मिट्टी का इस तरह का एकमात्र उदाहरण विशिष्ट है (चित्र 61 .4)। विद्वानों का यह भी मत है कि कुछ छोटे आकार के लिंगों को ताबीज की तरह शरीर पर बांधा जाता रहा होगा। लेकिन पारंपरिक लिंग की तरह के छोटे–छोटे उपकरणों में से कुछ शतरंज की तरह के किसी खेल की गोटियां भी हो सकती हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह निर्धारित करना कठिन है कि लिंग पूजा शिव पूजा का ही अंग थी या स्वतंत्र रूप से प्रचलित थी। वैसे पाषाण पूजा की परंपरा भारत तथा इतर देशों में अति प्राचीन हैं। कुछ पाषाणों को उनके विशिष्ट आकार–प्रकार के कारण आदि काल से ही लोगों द्वारा धार्मिक महत्त्व दिया जाने लगा

था। बाद में उन पर देवी–देवताओं और मृतकों की आत्माओं का निवास मान लिया गया और उन्हें जीवन्त भी समझा गया। यह धारणा प्रचलित रही है कि मानव द्वारा पूजे जाने पर ये उनके खेतों में फसल की रखवाली करते हैं तथा पशुओं के स्वास्थ्य की रक्षा करते हैं। आज भी पत्थर शालिग्राम के रूप में विष्णु, लिंग के रूप में शिव, और योनि के रूप में देवी को प्रतीकात्मक ढंग से दिखाया जाता है। ऐतिहासिक काल में लिंगों का वर्गीकरण अनेक धार्मिक ग्रंथों में मिलता है और प्राकृतिक रूप में प्राप्त लिंग की सी आकृति वाला पत्थर स्वयंभू लिंग कहा जाता है।

योगी अथवा देवता

सफेद सेलखड़ी का एक धड़ (चित्र 31) जिसका विस्तृत विवरण 'पाषाण', धातु तथा मिट्टी की 'मूर्तियां' अध्याय में दिया गया है, धार्मिक महत्त्व का लगता है। उसके नेत्रों का अधखुला होना और दृष्टि नासिका पर केन्द्रित होना उसके योगी होने का परिचायक है और शाल पर तिपतियां अलंकरण (जो धार्मिक अभिप्राय लगता है) भी उसे धर्म से संबद्ध करता है। कुछ विद्वान इसे योगी की मूर्ति मानते हैं, कुछ देवता की और कुछ पुजारी की। टी0 एन0 रामचन्द्रन की पहचान इन सबसे भिन्न हैं। उनके अनुसार यह वैदिक यज्ञ करने वाले राजा की आकृति है जिसमें वह यज्ञ के अवसर के उपयुक्त वस्त्र एवं आभूषण पहने हुए है। यहां यह भी उल्लेख करना समीचीन होगा कि कुछ मूर्तियों को हाथ जोड़े नमस्कार की मुद्रा में दिखाया गया है।

वृक्ष–पूजा

मार्शल ने विभिन्न मुद्राओं पर चित्रित वृक्षों से अनुमान लगाया है कि ऐतिहासिक कालीन लोगों के समान सिंधु सभ्यता के लोग वृक्षों को दो तरह से पूजते थे – एक तो उसकी जीवन्त रूप में कल्पना कर और दूसरे प्राकृतिक रूप में। ऐतिहासिक काल में भरहुत और साँची की कला में भी इन दोनों ही रूपों में वृक्षों को दिखाया गया है। सिंधु सभ्यता के अवशेष ऐसे प्रमाण प्रस्तुत करते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इस सभ्यता में भी वृक्ष पूजा प्रचलित थी। एक मुद्रा (चित्र 52 .2) पर एक देवता को एक वृक्ष की शाखाओं के मध्य अंकित किया गया है। देवता नग्न है, उसके बाल लम्बे हैं, उसके सींग त्रिशूल की आकृति के हैं और वह भुजबंध पहने हैं। उसके सामने एक व्यक्ति (उपासक या लघु देवता) हाथ जोड़े बैठा है। उसके बाल लंबे और सिर पर सींग है। पर्पोला के अनुसार यह देवता को मानव खोपड़ी अर्पित कर रहा है जिसे चौकी पर रखा है। यह मानव बलि का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। इसके पीछे एक मिश्र पशु है जिसकी मुखाकृति पुरुष की, शरीर का कुछ भाग बकरी का तथा बाकी का भाग बैल का है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि यह बलि का पशु है और पूरा दृश्य ही धार्मिक और बलि से संबंधित है। इसके बाद सात मानव आकृतियों की एक कतार है। धवलीकर और अत्रे इनकी विशिष्ट केश–सज्जा के कारण इन्हें नारी पहचानते हैं। आकृतियां घुटनों तक वस्त्र पहने हैं। उनके केश लंबे हैं और सिर के पीछे लटक रहे

हैं। सिर पर वृक्ष की टहनियां हैं, जो पीपल की लगती हैं। पीपल अति प्राचीन काल से पवित्र वृक्ष माना जाता रहा है। ये सात नारी आकृतियां ऐतिहासिक काल की सप्तमातृका की याद दिलाती हैं। यों मकाइ ने इस मुद्रा के अंकन के सन्दर्भ में शीतला देवी और उनकी छह बहनों का उल्लेख किया है। पशु सिर वाली मानव आकृति देवता और भक्त के मध्यस्थ के रूप में हो सकती है। लेकिन टी0 एन0 रामचन्द्रन इसे अग्नि देवता की पूजा से संबद्ध मानते हैं। यहां यह कहना समीचीन होगा कि वाल्टर फेयरसर्विस इस मुद्रा पर अंकित दृश्य को विवाह संस्कार का अंकन मानते हैं। उनके अनुसार होने वाली वधु पति के आगे झुकी है। बकरा जैसा पशु या तो दान में दिया गया है या बलि के लिए मिला है। नारियां विवाह समारोह में भाग लेने आयी हैं। मकाइ का मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक अन्य मुद्रा का विवरण इस प्रकार है – दायें एक शृंगयुक्त आकृति है जो हाथ में कंगन पहने है। यह आकृति दो पीपल के वृक्षों के मध्य हैं। बायीं ओर मालाओं से अलंकृत बकरा है। इसके पीछे एक दूसरी शृंगयुक्त देवता (देवी ?) की आकृति है। शायद इस अंकन में वृक्ष देवता का ही निरूपण है। मेसोपोटामिया की संस्कृति में पशुओं के देवता और उपासक के मध्यस्थ होने की धारणा प्रचलित थी। कुछ का यह भी मत है कि उसे पशु की बलि दिये जाने के संदर्भ में पहचानना चाहिए; लेकिन जैसा वत्स ने कहा है, यदि पशु को बलि के निमित्त दिखाना होता तो उसे बंधा हुआ दिखाया गया होता।

ऊपर सात नारी आकृतियों के संदर्भ में पीपल वृक्ष का उल्लेख आ चुका है। अन्य मुद्राओं तथा मृद्भाण्डों पर भी पीपल वृक्ष दिखाया गया है। एक मुद्रा पर एक वृक्ष है जो उस अंकन के साथ संबद्ध है, जिसके सिरे पर पशु का सिर है और सींगों के बीच से वनस्पति निकलती दिखायी गयी है। वृक्ष को ऊंचे चबूतरे पर दिखाया गया है। यहां पर एक भैंसे द्वारा एक मनुष्य उछाला जाता दिखाया गया है। शायद यह भैंसा इस वृक्ष का रक्षक था। एक दूसरी मुद्रा पर भी उसी तरह का पूजा पदार्थ है जो वृक्ष और नुकीले स्तंभ से संबद्ध है। इसके साथ ही दो बकरे और दो व्यक्ति भी दिखाये गये हैं। हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा–छाप पर पीपल की टहनी को मेहराब जैसी आकृति में झुका दिखाया गया है और इस मेहराब के भीतर देवता दिखाया गया है जो जांघिया जैसा वस्त्र पहने है और जिसके सिर से मोर की कलगी की तरह तीन नुकीली वस्तुएं निकली दिखाई गई हैं। चन्हुदड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर नारी आकृति की योनि दिखाई गई है और उसके सिर से वनस्पति निकल रही है। उसके ऊपर एक जंगली बैल संभोग की मुद्रा में है। एक विद्वान् ने वैदिक साहित्य में द्यौस् और पृथ्वी के मिलन से इसकी तुलना की है।

एक अन्य मुद्रा पर दो व्यक्ति अंकित हैं जिसमें से प्रत्येक के हाथ में एक–एक पेड़ है। ऐसी संभावना व्यक्त की गई है कि मुद्रा पर इस अंकन के पीछे महाभारत में उल्लिखित कृष्ण द्वारा यमलार्जुन वृक्ष को उखाड़कर उनकी आत्मा मुक्त करने जैसी

कहानी रही हो। यह भी हो सकता है कि वृक्षों को देवता की पूजा में रोपा जा रहा हो। वृक्षों की पूजा प्राकृतिक रूप में भी की जाती थी। इस मुद्रा के दूसरी ओर एक झुका व्यक्ति एक पेड़ (जो नीम–सा लगता है) की पूजा कर रहा है। कुछ वृक्षों (जैसे पीपल) को वेदिका से वेष्टित दिखलाया गया है। ऐतिहासिक काल में सिक्कों पर वेदिका–वेष्टित वृक्ष का अंकन अत्यंत लोकप्रिय रहा है। पीपल की पवित्रता आज भी विद्यमान है। इसकी परिक्रमा की जाती है। बहरीन द्वीप की खुदाई में प्राचीन संस्कृतियों के संदर्भ में प्राप्त पत्थर के वृत्ताकर अवशेषों को कुछ विद्वानों ने खजूर वृक्ष के लिए बनाया गया घेरा माना है। उनका मत है कि मध्य पूर्व और कुछ अन्य क्षेत्रों में भी खजूर के वृक्ष का पर्याप्त धार्मिक महत्त्व था। मोहेंजोदड़ो के 'एच आर' क्षेत्र के एक भवन के पास 1. 22 मीटर व्यास का घेरा मिला। अन्यत्र भी इस सभ्यता में इस तरह के घेरे मिले हैं जो वृक्षों की पवित्रता के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। पुत्र–प्राप्ति हेतु इसकी पूजा आज भी की जाती हैं। पितरों के तर्पण के लिए इन पर मिट्टी के बर्तनों में पानी रखा जाता है।

पीपल के नीचे सिद्धार्थ को ज्ञान प्राप्त हुआ था और वह बुद्ध कहलाये। प्राचीन मेसोपोटामिया में ज्ञान–तरु और जीवन–तरु की धारणा विद्यमान थी। आज वृक्षों को जीवन्त मानने का सबसे बड़ा साक्ष्य यह है कि लोग प्रतीक रूप में उनका विवाह भी करते हैं, और कभी तो इसी रूप में कुछ जातियां कन्या का विवाह किसी पुरुष से करने से पहले उसका वृक्ष से विवाह रचाते हैं। यह कहना कठिन है कि इस तरह की **धारणा सिंधु सभ्यता के काल में भी थी। जिस पारंपरिक शैली में पीपल का चित्रण** सिंधु सभ्यता के काल में हुआ है वह बेबीलोन में प्राप्त 'जीवन–तरु' के चित्रण की शैली से मिलती जुलती है। इस संदर्भ में एक मुद्रा (मार्शल, संख्या 387) में किये गये अंकन का उल्लेख समीचीन होगा जिसमें पीपल के वृक्ष की टहनी को दो एक–शृंगी पशुओं के संयुक्त सिर से निकलता हुआ दिखलाया गया है (चित्र 52. 1)। मार्शल ने सुझाव दिया है कि शायद एक–शृंगी पशु उस समय पीपल देवता का वाहन माना जाता था। मृद्भाण्डों पर पीपल की पत्तियों का चित्रण मिला है। जिन अन्य वृक्षों के चित्रण बर्तनों और मुद्राओं पर मिले हैं उनमें नीम और बबूल उल्लेखनीय हैं। केन्योर का मत है कि सिंधु सभ्यता में देवालयों के अभाव से इस बात की संभावना है कि नगर के विशिष्ट क्षेत्र में पवित्र वृक्ष ही सामूहिक पूजा का स्थल रहा होगा।

पशु पूजा

वृक्ष पूजा की अपेक्षा सिंधु सभ्यता में पशु पूजा के अधिक साक्ष्य उपलब्ध लगते हैं। यह साक्ष्य मुद्राओं और उनकी छापों, मिट्टी, कांचली मिट्टी और पत्थर के उपकरणों के माध्यम से हम तक पहुंचे हैं। पशु दो तरह के दिखाये गये हैं – वास्तविक और काल्पनिक। केवल एक–शृंगी पशु का चित्रण ही ऐसा है जिसके बारे में विद्वानों में मतभेद है कि यह वास्तविक पशु का अंकन है या काल्पनिक पशु का।

मेसोपोटामिया की प्राचीन संस्कृति में मानव मुखी सिंहों को देवता का रूप माना जाता था। कीलाकर अभिलेखों में इन्हें देवता कहा गया है। सिंधु सभ्यता की कुछ मुद्राओं पर मिश्र जीवों का अंकन है (चित्र 50. 2, 3; चित्र 51. 5)। जिन पशुओं के अंगों के समाकलन से मिश्र पशु आकृतियां बनायी गयीं हैं उनमें मेढ़ा, बकरा, बैल, बाघ और हाथी प्रमुख हैं। इनमें से कुछ मिश्र–जीवों की मुखाकृति मानवीय लगती है। इस संदर्भ में ऐतिहासिक काल के साहित्य एवं कला में शिव के प्रमथों और गणों का उल्लेख करना समीचीन होगा जिन्हें कभी मानवमुखी और पशु शरीर वाला दिखाया जाता है। इसी तरह गरुड़, गंधर्व, किन्नर, कुम्भाण्ड आदि को भी मानव और पशु के समकालित रूप में साहित्य में वर्णित और कला में अंकित किया गया है। हो सकता है कि इनमें दो या अधिक शक्तियों का समन्वित रूप दिखाने का आशय रहा हो। ऊपर उस मुद्रा के संबंध में, जिसे मार्शल ने 'शिव–पशुपति' की संज्ञा दी है, केदारनाथ शास्त्री की इस धरणा का उल्लेख किया जा चुका है कि इस मुद्रा पर अंकित आकृति एक ऐसी मिश्र आकृति है जिसके अवयवों को भिन्न–भिन्न पशुओं अथवा उनके अवयवों जैसा बनाया गया है। यह भी संभव है कि जिन मुद्राओं पर इस तरह के जानवर रूपांकित हैं वे ताबीज की तरह भी प्रयोग में लायी जाती रही होगी। शायद मिश्र पशुओं की मूर्तियों को पूजा–ठौर पर रख कर उनकी पूजा की जाती रही होगी। संभवतः मिश्र पशु आकृतियां पहले अलग–अलग रूप में पूजे जाने वाले पशुओं का धार्मिक सहिष्णुता एवं धार्मिक एकता के फलस्वरूप बाद में सम्मिलित रूप से पूजे जाने के प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। मुखाकृति को मानवीय दिखाना इस बात को इंगित करता है कि देवताओं को पशु रूप में दिखाने की परंपरा से उन्हें मानव रूप में दिखाने का विकास होने लगा था।

एक मुद्रा (मार्शल सं0 382) में एक–शृंगी पशु के तीन सिर दिखाये गये हैं। इसमें नीचे के सींग भैंसे के और बीच और ऊपर के सिर और सींग बकरे के हैं। एक दूसरे उदाहरण में एक–शृंगी पशु के शरीर से निकले तीन सिरों में सबसे नीचे वाला भैसें का, उसके ऊपर वाला एक–शृंगी पशु का और उसके ऊपर बकरे का है। एक अन्य मुद्रा में तीन बाघों के शरीर एक दूसरे में गुंथे हुए दिखाए गए हैं (चित्र 51. 4)।

मोहेंजोदड़ो से मकाई को एक ऐसी मुद्रा मिली है जिस पर एक–शृंगी पशु और गैंडे के शरीर के अवयवों का समाकलित रूप है। इसका शरीर तो एक–शृंगी पशु का है किंतु कान, सींग और पैर गैंडे के हैं। इनके आगे उसी तरह का अभिप्राय दिखाया गया है जैसे एक–शृंगी पशु के आगे मिलता है।

मोहेंजोदड़ो की कुछ मुद्राओं पर अर्ध–मानव अर्ध–पशु आकृति को शृंग युक्त बाघ पर आक्रमण करते अंकित किया गया है (चित्र 50. 3)। यह दृश्य हड़प्पा की एक मुद्रा तथा राखीगढ़ी से मृण्मय पट्टी पर कुछ परिवर्तन के साथ अंकित है। सुमेरी धर्म–गाथा में एक ऐसा आख्यान मिलता है जिसके अनुसार गिल्गामेश को पराजित

करने के लिए देवता ने आधा–मानव, आधा–दैत्य शरीर धारी इंकिडू उत्पन्न किया, किंतु उसने गिल्गामेश को पराजित करने के बजाय उससे मित्रता कर ली और वह उसके साथ मिलकर जंगली पशुओं के साथ लड़ा। मेसोपोटामिया में गिल्गामेश और इंकिडू को जंगली जानवरों से लड़ते दिखाये जाने की परंपरा सिंधु सभ्यता से पहले से प्रचलित थी। कुछ विद्वान् इसे मेसोपोटामिया की संस्कृति का धर्म के क्षेत्र में सिंधु सभ्यता पर प्रभाव का सूचक मानते हैं। कुछ इसे स्वतंत्र रूप से विकसित धार्मिक परम्परा का द्योतक मानते हैं जो संयोगवश ही मेसोपोटामिया की परंपरा से मेल रखता है।

कालीबंगां की एक कलात्मक मुद्रा (चित्र 50. 3) पर एक स्त्री के दोनों ओर एक एक व्यक्ति एक हाथ से स्त्री को पकड़े हुये हैं और उस पर अधिकार करने के लिए एक हाथ में बरछी लिये वार करने को उद्यत हैं। पृष्ठभाग में एक देव आकृति है जिसका धड़ बाघ का, सिर मानव का और सींग बकरी के हैं और उसके हाथ में चूड़ियां हैं। इस देवता के आगे और पीछे वृक्ष हैं। ये प्रतिद्वन्दी पुरुष एक ही तरह के वेशभूषा में हैं और एक ही वर्ग के लगते हैं।

एक–शृंगी पशु की आकृति (चित्र 51. 1) सिंधु सभ्यता की सबसे अधिक मुद्राओं पर मिली है। इसके बारे में यह निश्चय करना कठिन है कि वे वास्तविक है या काल्पनिक। इसकी पीठ पर काठी दिखायी गयी है और गले में छल्ले। यों तो ऐसा सोचा जा सकता है कि चूंकि कलाकार ने पशु का पार्श्व चित्र बनाया है अतः पशु के दूसरे सींग को उसके पहले सींग से ढका हुआ मान कर उसे एक ही सींगवाला दिखाया हो। किंतु इसकी संभावना कम है क्योंकि मुद्राओं पर वृषभ की आकृति पार्श्ववर्ती दिखाये जाने पर भी उसके दोनों शृंग स्पष्टतया प्रदर्शित किये गये हैं। अधिक संभावना यही है कि कलाकार के द्वारा एक सींग वाले पशु का ही चित्रण अभिप्रेत था। यह असंभव तो नहीं कि हड़प्पा काल में इस तरह का कोई पशु रहा हो जिसकी नस्ल पूर्णतया विनष्ट हो गयी हो, तथापि इस संबंध में पुष्ट साक्ष्यों के अभाव में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर प्राप्त अंकनों में इस पशु के सामने एक विशिष्ट पात्र रखा मिलता है जो एक छोटे से डंडे के ऊपर बनाया गया है। वास्तव में यह एक के ऊपर एक दो पात्र का समन्वित रूप सा है। मार्शल का कहना है कि यह धूपदानी का अंकन लगता है और इससे इस पशु की पूजा में धूप का उपयोग किये जाने के बारे में जानकारी मिलती है। सहूलियत के लिए हमने भी इसे धूपदानी ही लिखा है। एक मुद्रा में एक व्यक्ति उसके पीछे ध्वज लिए है। ऐसा प्रतीत होता है कि पशु रूपी देवता को प्रसन्न करने के लिए उसे खाद्य सामग्री भेंट की जाती थी। इसके अतिरिक्त उसकी पीठ पर काठी कसी होना और गले पर मालाओं का होना भी उसके धार्मिक महत्त्व का सूचक प्रतीत होता है। राव का कहना है कि बाद के साहित्य में विष्णु को 'एक शृंग' कहा गया है, जो एक–शृंगी

पशु से इस देवता का संबंध जोड़ता है। दो मुद्राओं पर एकशृंगी पशु की आकृति को चौकी पर रख कर ले जाते दिखाया गया है। मिस्र में भी धार्मिक उत्सवों में पशु आकृतियों को ध्वज के रूप में ले जाने की परंपरा थी। इस बात के साक्ष्य हैं कि ऊपर वर्णित धूपदानी की अलग से पूजा होती थी और शायद बाद में इसे एक–शृंगी पशु के साथ जोड़ दिया गया। बालाकोट (सिंध) में मिली पांच मोहरों में से चार पर एक–शृंगी पशु स्पष्ट है और संभवतः पांचवे पर भी वह था। संभवतः एक–शृंगी–पशु बालाकोट के सिंधु सभ्यता के धारकों का विशिष्ट प्रतीक था और उसका धार्मिक महत्त्व था।

सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर कुछ जानवरों का देव की तरह दिखाया जाना लगता है। देवता की पशु रूप में पूजा मेसोपोटामिया, भारत और यूनान में प्रचलित थी। इनका उद्‌भव भारत अथवा किसी अन्य देश में हुआ, यह विवादास्पद विषय है। भारतीय भैंस, कूबड़वाला बैल (चित्र 51. 2), गैंडा (चित्र 50. 4), छोटे सींग वाला बैल, बाघ, हाथी (चित्र 51. 3), और घड़ियाल शायद महान शक्ति संपन्न होने के कारण पूजे जाते थे। रामचन्द्रन ने गैंडे को वैदिक–वराह या यज्ञ–वराह माना है। मुद्राओं के अंकन में इनके सामने प्रायः एक पात्र रखा हुआ मिलता है। चूंकि यह पात्र जंगली और पालतू दोनों प्रकार के जानवरों के सामने रखा अंकित है अतः इसे उनका पालतू होना जताने के लिए नहीं दिखाया गया बल्कि यह उनके धार्मिक महत्त्व के कारण उन्हें भोग लगाने का प्रतीक लगता है। मुद्राओं पर सिंह की आकृति नहीं मिलती लेकिन एक उदाहरण में मिश्र–पशु के अंकन में सिंह की अयाल पहचानी गयी है। वत्स के अनुसार हड़प्पा की एक तिकोन मुद्राछाप पर पशु का शरीर तो खंडित हो गया है लेकिन पंजों से पशु के सिंह होने की संभावना लगती है।

ऐतिहासिक काल में वास्तविक पशुओं में बैल धार्मिक महत्त्व का पशु रहा है। मध्य तथा मध्य–पूर्व की संस्कृतियों में इसे सौम्य और रौद्र दोनों ही रूपों में पूजनीय माना जाता था। उसे रक्षक और आंधी का दैत्य माना जाता था। हड़प्पा संस्कृति में बैल 'शिव–पशुपति' के प्राग् रूप वाले देवता से संबंधित था, यह निश्चय पूर्वक ज्ञात नहीं है। रामचन्द्रन के मतानुसार बैल को वैदिक परंपरा में धर्म विजय की घोषणा करने वाला कहा गया है। ऐतिहासिक काल में बैल का शैव धर्म के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। कभी–कभी तो शिव की ही वृषभ के रूप में कल्पना की गयी। एक मुद्रा पर एक भैंसा कुछ लोगों के समूह पर आक्रमण करने के पश्चात् विजेता की तरह खड़ा दिख रहा है। मकाइ का अनुमान है कि यह किसी देवता द्वारा शत्रुओं पर विजय प्राप्ति का प्रतीक है। आज पशुओं में बलि के लिए बकरा विशेष रूप से चढ़ाया जाता है। कुछ प्राचीन सभ्यताओं में बकरा प्रजनन शक्ति के रूप में देवी के साथ संबद्ध मिलता है।

छोटे सींग वाले बैल को क्रुद्ध मुद्रा में दिखाने का कारण यह हो सकता है कि

उसकी कल्पना एक संहारकारी देवता के वाहन अथवा किसी अन्य रूप में की गई हो। प्राचीन सुमेर में कभी–कभी जल देवता इअ (Ea) और एंकि (Enki) को कछुए की आकृति के द्वारा दिखाया जाता था। यह कहना कठिन है कि सिंधु सभ्यता में भी कछुए की आकृति से किसी देवता का रूपांकन किया जाता था। यों ऐतिहासिक काल में कछुए की यमुना नदी के वाहन के रूप में कल्पना की गई है, और विष्णु का एक अवतार भी कछुआ (कच्छप) है। चूना पत्थर से बनी कुछ जानवरों यथा मेढ़ा, बैल इत्यादि की आकृतियां आयताकार पीठिका पर स्थित है। मकाइ के अनुसार ये पशुओं के रूप में देवताओं को दर्शाते हैं और इन मूर्तियों को मंदिरों में स्थापित किया गया होगा। कुछ पशु आकृतियां तथा मानवाकृतियां क्षतिग्रस्त हैं और इस बात की संभावना व्यक्त की गयी हैं कि किसी आक्रांता या आक्रांताओं ने धार्मिक भेदभाव के कारण जानबूझ कर इन्हें क्षतिग्रस्त किया हो।

हड़प्पा में बैल, भेड़ आदि पशुओं की हड्डियों का ढेर मिला जो सामूहिक पशुबलि दिये जाने का द्योतक हो सकता है। कालीबंगां में भी पशु–बलि के साक्ष्य मिले हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि मिट्टी की पशुओं की आकृतियां बलि के लिए प्रयुक्त थीं। ऐसा लगता है कि कुछ लोग वास्तविक पशुओं की बलि देने के स्थान पर मिट्टी की बनी पशु आकृतियों का उपयोग करते थे। मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की मुद्राओं की कुछ आकृतियां सुमेरी कथानक से साम्य रखती हैं। इनमें से तीन पर एक मनुष्य को दो बाघों से लड़ता दिखाया गया है (चित्र 52. 7)। मनुष्य की आकृति गिल्गामेश (जो सुमेरिया के आख्यानों के अनुसार इंकिडू का मित्र था) की आकृति से कुछ मिलती है। इतना अन्तर अवश्य है कि सुमेरी अंकनों में गिल्गामेश को दो बाघों से नहीं, दो सिंहों के साथ लड़ते दिखाया गया है। इस तरह के कथानक मेसोपोटामिया में बहुत पहले से मिलते हैं। यदि हम इस सिंधु सभ्यता के अंकन पर सुमेरी प्रभाव को स्वीकार कर लें तो इस अभिप्राय का उद्‌भव स्थान होने का श्रेय मेसोपोटामिया को ही दिया जा सकता है। ये अभिप्राय परस्पर संबंधों के फलस्वरूप हड़प्पा संस्कृति तक पहुंचे होंगे, और सिंधु सभ्यता के लोगों ने संभवतः सिंहों से विशेष परिचय न होने के कारण उन के स्थान पर बाघों को अंकित किया होगा।

फाख्तों की मिट्टी की बनी अनेक आकृतियां मिली हैं। ये मेसोपोटामिया में प्राप्त इस तरह की आकृतियों से मिलती–जुलती हैं। मेसोपोटामिया में इस पक्षी को धार्मिक महत्त्व का माना जाता था। शायद कुछ पशु देवता कुछ विशिष्ट दैवी गुणों से युक्त, कुछ देवताओं के वाहन और कुछ देवताओं के दूत या माध्यम माने जाते रहे होंगे। आज के हिंदू धर्म में कुछ पशु–पक्षी देव–वाहन के रूप में ख्यात हैं, जैसे भैंसा यम का, बैल शिव का, गरुड़ विष्णु का, हाथी इन्द्र का और मकर गंगा का। हो सकता है कि उस युग में भी ऐसी ही कोई धारणा रही हो और मुद्राओं पर चित्रित कुछ पशु तत्कालीन देवताओं के वाहन के रूप में जाने जाते रहे हों।

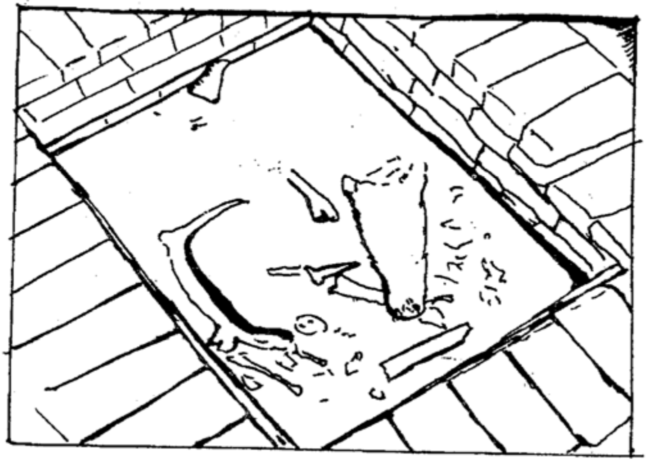
पुराविदों का विचार है कि यदि यह मान लिया जाये कि सिंधु सभ्यता के काल में प्रचलित धर्म में मेसोपोटामिया की भांति मंदिर थे तो यह सोचना गलत न होगा कि नृत्य भी धार्मिक अनुष्ठानों का एक अंग रहा होगा। पूर्व विवेचित मोहेंजोदड़ो की कांस्य नर्तकी और स्लेटी पत्थर की नृत्य मुद्रा में निर्मित मूर्ति इस संबंध में उल्लेखनीय हैं। भारत में परवर्ती काल में देवता को नृत्य द्वारा प्रसन्न करने के उद्देश्य से मंदिरों में देव–दासियां रखी जाती थी। एक कांचली मिट्टी की मुद्रा पर एक व्यक्ति ढोल बजाते हुए दिखाया गया है और कुछ को नाचते हुए। दूसरी मुद्रा पर एक व्यक्ति बाघ के सामने ढोल बजा रहा है। मनोरंजन के अतिरिक्त धार्मिक क्रिया–कलाप से भी इसका संबंध हो सकता है। संभवतः सिंधु सभ्यता में आज की ही भांति मानव और पशुओं की मूर्तियों का देवता के लिए चढ़ावे के रूप में भी प्रयोग होता था। गर्भवती स्त्रियों और गोद में बच्चा लिए स्त्रियों की मूर्तियां संभवतः उस काल की नारियों द्वारा क्रमशः पुत्रवती बनने के पश्चात् धन्यवाद के रूप में मंदिरों अथवा धार्मिक स्थानों में चढ़ाई जाती थीं।

बलि हेतु प्रयुक्त गर्त और अग्निवेदियां

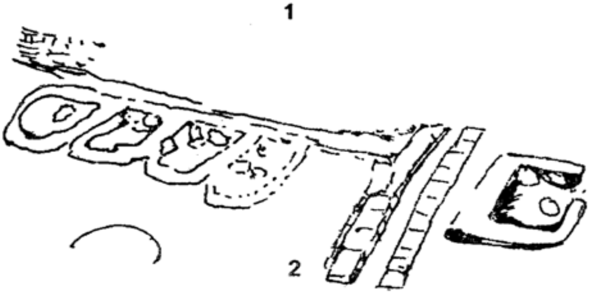
हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो से अग्निकुण्डों या वेदी के निश्चित प्रमाण नहीं प्राप्त हुए हैं। सांकलिया और कुछ विद्वानों का मत है कि इन स्थलों पर उत्खनन में विशाल संख्या में मजदूरों के काम करने में उत्खनन कार्य की पूरी निगरानी कठिन थी और हो सकता है कि अग्निवेदिकाएं बिना पहचाने ही खोद दी गयीं हों। वैसे मार्शल ने मोहेंजोदड़ो के 'एच आर' क्षेत्र में एक गड्ढा पाये जाने का उल्लेख किया है, किंतु उन्होंने अग्निकुण्ड के लिये इस साक्ष्य को संदिग्ध प्रमाण माना है। बालू से सामूहिक अग्नि स्थल की जानकारी मिली है। लेकिन कालीबंगां, लोथल तथा कुछ अन्य स्थलों के उत्खनन इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण और स्पष्ट साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, जो सिंधु सभ्यता के युग में हवन तथा यज्ञ–बलि जैसी प्रथा प्रचलित होने का संकेत करते हैं।

कालीबंगां में गढ़ी के दक्षिणी भाग में एक दूसरे से अलग और सुरक्षा दीवार से भी हटकर कुछ चबूतरे थे। एक चबूतरे पर एक कुआं, अग्निवेदी और एक आयताकार गर्त मिला है जिसके भीतर चारों ओर पालतू पशु की हड्डी और हिरन के सींग मिले हैं (चित्र 62. 1)। अनुमानतः इनका धार्मिक अनुष्ठान में पशुबलि दिये जाने से संबंध था। कुएं की उपस्थिति इस बात का द्योतक है कि लोग अनुष्ठान करने से पहले कुएं के जल से स्नान करते थे। जो विद्वान् सिंधु सभ्यता और आर्य सभ्यता को एक ही मानते हैं, उन्होंने इस साक्ष्य को वैदिक बलि–प्रथा से जोड़ने का प्रयास किया है।

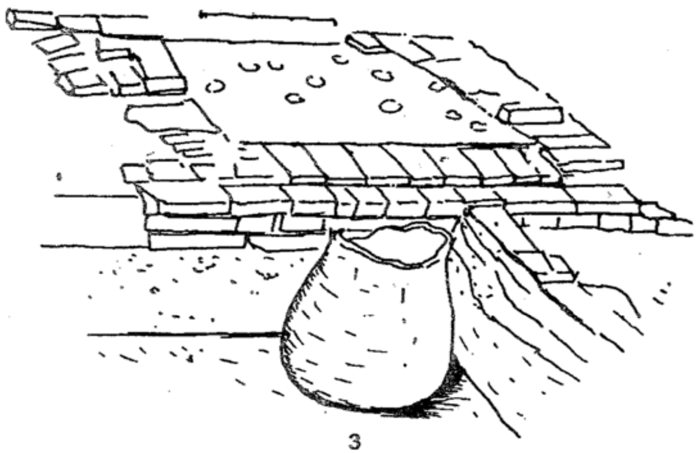
कालीबंगां में गढ़ी के दक्षिणी भाग में चबूतरे के ऊपर कुएं के पास सात आयताकार अग्निवेदियां एक कतार में मिलीं। इन वेदिकाओं में राख, कोयला, मिट्टी का बेलनाकार खंभा, और मिट्टी के 'केक' मिले (चित्र 62. 2)। पास में चबूतरा था



1



2



3

चित्र 62 अग्निवेदिकाएं : 1, 2 कालीबंगां तथा 3 लोथल

जिसके कुएं से पानी लाकर स्नान करते थे। गढ़ी के दक्षिणी भाग को उत्तरी भाग से एक दीवाल से अलग किया गया था। उत्तरी भाग में पुरोहितों के भवन लगते हैं, जो वहां रहते और यहां आकर अनुष्ठान करते थे। संभवतः उनका प्रशासन में भी महत्त्वपूर्ण भाग था। निचले नगर के अनेक घरों में भी अग्निवेदिकाएं प्राप्त हुई हैं, जो परिवार विशेष के लोगों के प्रयोग के लिए थीं। नौशारो तथा बणावली में भी कमरे के भीतर अग्निवेदिकाएं मिलीं। अग्नि–वेदिकाओं का धार्मिक महत्त्व लगता है। ये अग्नि–वेदिकाएं गर्त के रूप में थीं। गर्त करीब चौथाई मीटर गहरा था। इसको मिट्टी से लीपा गया था। गर्तों में प्राप्त सामग्री के आधार पर ब्रजवासी लाल और बालकृष्ण थापर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इन उथले गड्ढों में आग जलाई जाती थी, फिर उसे बुझा दिया जाता था। यह इनमें प्राप्त कोयले के साक्ष्य से स्पष्ट है। मध्य में बेलनाकार या आयताकार धूप में सुखाया मिट्टी का एक खण्ड खड़ा कर दिया जाता था। और फिर किसी धार्मिक अनुष्ठान की पूर्ति हेतु उनमें पक्की मिट्टी के तिकोने पिण्ड रख दिये जाते थे। इनका धार्मिक महत्त्व इससे और अधिक स्पष्ट हो जाता है जब हम देखते हैं कि एक मृत्पिण्ड पर ऐसा दृश्य अंकित है (चित्र 61. 5) जिसे विद्वानों ने मानव द्वारा बकरी की बलि दिये जाने का चित्रण माना है। दूसरी ओर एक देवता का अंकन है जिसके सिर पर सींग है। सींग के कारण उस आकृति की मोहेंजोदड़ो की मुद्रा पर अंकित 'शिव–पशुपति', जैसे देवता से पहचान समीचीन लगती है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि कालीबंगां के चबूतरों का धार्मिक महत्त्व था। हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो ओर लोथल के संदर्भ में विद्वानों ने चबूतरों के निर्माण को बाढ़ से सुरक्षा के लिए माना है, किंतु कालीबंगां में बाढ़ आने का कोई साक्ष्य नहीं हैं। या तो हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो में प्राप्त चबूतरों का भी धार्मिक महत्त्व स्वीकार करना होगा या फिर यह मानना होगा कि कालीबंगां के लोगों ने हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के नगर निर्माण शैली का अंधानुकरण किया।

कालीबंगां में निचले नगर के बाहर पूर्व में एक छोटे से टीले के उत्खनन से घेरे के भीतर अनेक अग्निवेदिकाओं का समूह मिला। वहां पर आवासीय स्तरों का कोई साक्ष्य न था। क्या गढ़ी की अग्निवेदिकाएं उच्चवर्गीय लोगों के लिए थीं और निचले नगर की अग्निवेदिकाएं गढ़ी के बाहर के साधारण जनों के लिये थे।

शि. रंगनाथराव के विवरण के अनुसार लोथल में सार्वजनिक स्थानों तथा घरों में अग्निवेदिकाएं मिली हैं। लोथल में एक चबूतरे पर ईंटों की बनी वेदी मिली। इससे बैल (या गाय) की जली हड्डियां और उसके साथ सोने का लटकन, कार्नीलियन का मनका, चित्रित मृद्भाण्ड के खण्ड और राख मिली। यह लोथल वासियों द्वारा पशुबलि दिये जाने का साक्ष्य लगता है। वैदिक काल में भी बैल की बलि दिये जाने के साक्ष्य मिलते हैं।

लोथल के निचले नगर में कई घरों में फर्श के नीचे, या कच्ची ईंटों के चबूतरे

के ऊपर आयताकार या वृत्ताकार मिट्टी के घेरे बने थे। इनमें से कुछ में पशुओं की जली हड्डियां, राख, पक्की मिट्टी के तिकोने, मृत्पिण्ड और कुछ में मिट्टी के बर्तन भी मिले। इनके आकार–प्रकार से स्पष्ट है कि इनका प्रयोग चूल्हे की तरह नहीं होता था, और ये इतने बड़े हैं कि भाण्ड के रखने के लिए भी इनका उपयोग किया जाना नहीं लगता। इनका धार्मिक महत्त्व लगता है। चबूतरों, बलि की वेदी और घेरा बलि के लिए गर्त की तरह प्रयोग होता था। एक स्थान पर वेदी के साथ पक्की मिट्टी का चम्मच भी मिला है जिस पर धुएँ के धब्बे थे। रंगनाथ राव का अनुमान है कि इसका प्रयोग आग में घी जैसे तरल पदार्थ डालने के लिए किया जाता था। गढ़ी में इस तरह के अग्निकुण्ड बनाने का कार्य निचले नगर से बाद में प्रारंभ हुआ। एक अग्नि–स्थल के समीप तो कलात्मक चित्रित बर्तन भी मिला जिसका संबंध भी अग्निपूजा से संबंधित अनुष्ठान से लगता है (चित्र 62. 3)। सांकलिया परवर्ती भारतीय साक्ष्य के आधार पर इन अग्निवेदियों को सार्वजनिक धार्मिक अनुष्ठान स्थल मानने के पक्ष में नहीं हैं, और इन्हें पारिवारिक अनुष्ठानों के लिए प्रयुक्त मानते हैं। बणावली में अग्निवेदिकाएं एक दीवाल से वेष्टित थी, जो विन्यास में एक तरफ वृत्त बनाती हैं। कुछ का मत है कि आवासीय क्षेत्र में मंदिर था।

ताबीज, प्रतीक एवं शव–सामग्री

कुछ विद्वानों का कहना है कि कुछ मुद्राछापें और मुद्राएं भी ताबीज की तरह इस्तेमाल की जाती थीं। इनमें से कुछ ताबीज प्रजनन शक्ति के प्रतीक के रूप में पहने जाते रहे होंगे। सिंधु घाटी के लोग कई प्रतीकों को पवित्र एवं शुभ मानते थे। सीप के एक उपकरण में अंतहीन गांठदार अभिप्राय चित्रित है। गांठ का पूर्वी और पश्चिमी देशों में धार्मिक महत्त्व रहा है और भारत में आज भी घर को सुरक्षित एवं पवित्र रखने के उद्देश्य से इसका चित्रण होता है। इस गांठ पर दो छेद हैं जो संभवतः इस बात के द्योतक लगते हैं कि उसे कपड़े पर सिया गया होगा। कदाचित कुछ मनके भी, विशेषतः वे जिन पर त्रिपत्र अलंकरण है, ताबीज की तरह प्रयोग में लाये जाते रहे थे। त्रिपत्र डिजाइन का धर्मिक महत्त्व था और कुछ के अनुसार शायद वह तारे का द्योतक था। मुद्भाण्डों पर वृत्त का अंकन बहुलता से मिलता है, केन्योर इसे रक्षात्मक प्रतीक मानते हैं। मिट्टी के कुछ मुखौटे मिले हैं जिनका प्रयोग धार्मिक उत्सवों पर नाटक मंचन के अवसर पर पात्रों द्वारा किया जाता रहा होगा। मुद्राओं पर एक–शृंगी पशु के सामने जो वस्तु दिखाई गई है उसकी पहचान कुछ लोगों ने धूपदानी से की है। इस अभिप्राय का एक–शृंगी पशु के संदर्भ से अलग भी धार्मिक महत्त्व था, जैसा कि कुछ मुद्राछापों पर उसके स्वतंत्र रूप से अंकित होने से स्पष्ट है। दो कांचली मिट्टी की मुद्राछापों पर एक ही तरह की छाप में और पांच अन्य कांचली मिट्टी की मुद्राछापों पर अलग ढंग से धूपदानी (?) दिखाई गई है।

स्वस्तिक (चित्र 52. 3) और 'यूनानी सलीब' (क्रास) का अंकन बहुलतः मिलता

है। एलम की कलाकृतियों में भी इस अभिप्राय का अंकन काफी संख्या में मिलता है। ट्राय, केपेडोशिया आदि क्षेत्रों की कलाकृतियों पर और सूसा के मृद्भाण्डों पर भी मिलता है। मोहेंजोदड़ो में वामवर्ती और दक्षिणवर्ती दोनों ही प्रकार के स्वस्तिक पर्याप्त संख्या में मिलते हैं, लेकिन हड़प्पा में कुछ अपवादों को छोड़कर ऐतिहासिक काल के समान ही स्वस्तिक दक्षिणवर्ती हैं। स्वास्तिक का संबंध सूर्यपूजा से हो सकता है। कुछ विद्वान् तो इसे निश्चित रूप से सूर्य का प्रतीक मानते हैं। चक्र की तरह के कुछ उपकरण भी सूर्य के प्रतीक हो सकते हैं। एक मुद्रा पर एक–शृंगी पशु के आगे सूर्य सा बना है जिससे बहुत–सी किरणें फूट रही है। ऐसा लगता है मानों स्वयं एक–शृंगी पशु का सूर्य से संबंध था। केन्योर का मत है कि मत्स्य–शल्क मत्स्य का ही प्रतीक हो सकता है और इसका बड़े बड़े घड़ों जिन्हें शायद दहेज में दिया जाता था पर चित्रण प्रजनन के प्रतीक के रूप में किया जाता रहा होगा। कई पुरुषों की आकृतियों को नग्न दिखाना, नारीमूर्तियों को विशेष उभरे वक्ष और चौड़े कूल्हे वाली दिखाना और मिट्टी के कुछ पट्टों पर संभोग के दृश्य भी प्रजनन के प्रतीक हैं। शंख के बने कलछुलियां (बड़े चम्मच) संभवतः यज्ञ जैसे अनुष्ठानों में घृत डालने के लिये प्रयुक्त हो सकते थे। एक शंख भी मिला है जिसका प्रयोग धार्मिक अनुष्ठानों में किया जाता रहा होगा। यों ऐतिहासिक काल में शंख–ध्वनि देवताओं को आहूत करने के अलावा युद्ध की घोषणा का संदेश पहुंचाने का माध्यम था और प्रायः बड़े योद्धाओं के अपने अलग शंख होते थे।

मरणोपरान्त जीवन में विश्वास

शवों के साथ मिट्टी के बर्तन एवं अन्य सामग्री रखी मिली है। इससे सिंधु सभ्यता के लोगों में मृत्यु के पश्चात् के जीवन की धारणा होने के बारे में जानकारी मिलती है। शवों को साधारणतः उत्तर–दक्षिण दिशा में लिटाया गया है, जो धार्मिक विश्वास का ही फल हो सकता है। लोथल की तीन कब्रों में दो–दो शवों को गाड़ा गया है। यदि इनमें एक स्त्री और एक पुरुष साथ–साथ गाड़े गये हों तो ये धार्मिक परम्परा के आधार पर पति के मरण के साथ पत्नी के भी जीवन–त्याग का साक्ष्य हो सकती है। यह प्रथा, ऐतिहासिक काल में किंचित परिवर्तन के साथ, सती प्रथा के रूप में देखी जा सकती है जिसमें स्त्री पति की चिता में जलकर प्राण त्यागती थी।

धार्मिक विशेषताओं का संक्षिप्त सर्वेक्षण

सिंधु सभ्यता के लोगों के धार्मिक जीवन के संबंध में लिखित साक्ष्य प्राप्त न होने से यह कहना कठिन है कि किस देवता का उनके जीवन में सर्वाधिक महत्त्व एवं मान्यता थी। मार्शल, मकाइ, व्हीलर आदि विद्वानों का मत है कि संभवतः उस अतीत युग में मातृदेवी की उपासना सबसे अधिक प्रचलित थी और देवताओं में उसका स्थान सर्वोपरि था। केदारनाथ शास्त्री ने वैदिक धर्म की भांति ही हड़प्पा–वासियों के धर्म में भी पुरुष देवताओं का अधिक महत्त्व माना है। उसके अनुसार सिंधु सभ्यता काल में

मातृदेवी की अपेक्षा पीपल देवता की अधिक महत्ता थी जिसका अंकन मुद्राओं पर सर्वाधिक लोकप्रिय रहा। कालीबंगां, लोथल, बणावली की खुदाइयों से प्राप्त कुछ अग्निकुण्ड और अग्निवेदिकाएं सिंधु सभ्यता के धर्म के विषय के कौतूहलवर्धक साक्ष्य उपस्थित करते हैं। इनमें प्राप्त पशुओं की हड्डियों और मिट्टी के पिण्ड, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, पशु–बलि के सूचक लगते हैं। हड़प्पा तथा मोहेंजादड़ो में अग्निवेदिकाओं और अग्निकुंडों का अभाव है। या तो वहां पर उन्हें पहचाना नहीं गया या फिर यह किसी क्षेत्र के धर्म की विशेषता हैं।

सिंधु सभ्यता एक विस्तृत क्षेत्र में फैली थी और सभी क्षेत्र के धार्मिक विश्वास में एकरूपता नहीं मिलती। लोथल, धौलावीरा, बणावली आदि कुछ स्थलों से नारी मृण्मूर्तियां बहुत कम मिली हैं। रंगनाथ राव तो इन थोड़ी सी आकृतियों में से केवल एक मृण्मूर्ति को ही मातृदेवी की मूर्ति मानते हैं। कोटदीजी में मातृदेवी की मूर्तियां तो मिली हैं किंतु लिंग और योनि नहीं मिले। आमरी, कालीबंगां, रंगपुर, रोपड़, आलमगीरपुर में भी मातृदेवी की उपासना लोकप्रिय नहीं लगती, बल्कि यह भी संभव है कि इन स्थलों में इसका प्रचलन ही नहीं था। कालीबंगां में 'लिंग' और 'योनि' को एक साथ दिखाया गया है जैसा कि ऐतिहासिक काल में अक्सर मिलता है। वहां पर न पत्थर की ही कोई ऐसी मूर्ति मिली है जिसकी देवता की मूर्ति होने की संभावना हो और न मुद्राओं पर ही किसी देवता का अंकन है। अन्य क्षेत्रों के सिंधु सभ्यता के स्थलों की मुद्राओं पर मोहेंजोदड़ो की मुद्रा पर प्राप्त 'शिव–पशुपति' की तरह पशुओं के साथ देवता की आकृति नहीं मिलती। इसका अर्थ यह हुआ कि भौगोलिक तथा अन्य भिन्नताओं के संदर्भ में सिंधु सभ्यता के उपकरणों में भी परिवर्तन व परिवर्धन हुए। परिवर्तन का कारण दूसरी संस्कृतियों के लोगों के साथ संपर्क हो सकता है। इस संबंध में साक्ष्य इतने पुष्ट नहीं हैं कि कोई सर्वमान्य और निश्चित अभिमत व्यक्त किया जा सके। यह कहना भी कठिन है कि धर्म के क्षेत्र में सिंधु सभ्यता ने अन्य संस्कृतियों से कब और कितना ग्रहण किया। अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि परवर्ती धार्मिक विश्वासों में अनेक तत्त्व ऐसे हैं जिनका मूल सिंधु सभ्यता में ढूंढ़ा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन उस युग के धर्म के बारे में एकांगी और अपर्याप्त सूचना देते हैं। वास्तव में उपलब्ध साक्ष्य धर्म की जीवन्त रूपरेखा प्रस्तुत करने की बात तो दूर रही उसका पूरा ढांचा भी नहीं प्रस्तुत करते हैं। भौतिक प्रतीकों की धार्मिक धारणाओं और विश्वासों को अभिव्यक्त करने की अपनी सीमा है। फिर अनेकशः एक ही वस्तु एक संदर्भ में धार्मिक हो सकती है और दसरे संदर्भ में लौकिक; मानिये तो देवता, न मानिये तो पत्थर वाली बात सिंधु सभ्यता के कई संदर्भों में लागू हो सकती है। ऐतिहासिक काल में भी अक्सर धार्मिक और लौकिक का भेद करना कठिन हो जाता है; फिर साहित्यिक साक्ष्य के अभाव में प्रागैतिहासिक काल के संदर्भ में तो यह और भी कठिन है। जैसे व्हीलर लिखते हैं कि माता–पुत्र के अंकन में नारी का लौकिक

अंकन हो सकता है, और दूसरे संदर्भों में धार्मिक देवी का। कुछ प्राचीन संस्कृतियों में राजत्व और पुरोहित का अभिन्न संबंध था। जो व्यक्ति शासक था उसे देवताओं का विशेष कृपापात्र, दैवी शक्ति से संपन्न, अथवा देवता का अवतार मानकर पूजा भी जाता था। आज के शासक के बारे में जनता की जो धारणा है वह प्राचीन काल के लोगों की राजा के बारे में धारणा से पूरी तरह से मेल नहीं खाती। विभिन्न साक्ष्यों से जो भी जानकारी मिलती है उससे सिंधु सभ्यता के धर्म के संबंध में कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं और निकाले गये हैं जो सर्वमान्य भले ही न हों, बहुमान्य अवश्य हैं।

ऐसा लगता है कि सिंधु सभ्यता के धर्म में देवी देवताओं की मानव, पशु और प्रतीक तीनों रूपों में कल्पना की गई है, और उनके स्वरूप के बारे में इन तीनों धारणाओं का प्रचलन साथ–साथ था। नागों को अर्धमानव अर्धसर्प दिखाने की जो परंपरा एंतिहासिक काल में मिलती है उसका मूल सिंधु सभ्यता में प्राप्त होता है। ऐतिहासिक काल में हिंदू धर्म में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो सिंधु सभ्यता में मिलते हैं। इनमें शिव, मातृदेवी, नाग, वृक्ष, पशु, लिंग आदि की पूजा और योग क्रिया उल्लेखनीय हैं। यह भी असंभव नहीं है कि हिंदू धर्म के कुछ दार्शनिक सिद्धांत भी इसी संस्कृति की देन हों, यद्यपि इस तरह के सिद्धातों को निश्चित रूप से पहिचान सकना कठिन है। 'शिव–पशुपति' मुद्रा पर देवता को कूर्मासन में दिखाया गया है। अन्य कुछ मुद्राओं पर इसी से मिलती जुलती मुद्रा अंकित है। कुछ मृण्मूर्तियों को विभिन्न यौगिक मुद्राओं में दिखाया गया है।

सिंधु सभ्यता के धर्म से मिलते जुलते अनेक तत्त्व मेसोपोटामिया के धर्म में मिलते हैं। इस संदर्भ में गिल्गामेश और इंकिडू की तरह की आकृतियां, जानवरों को देवता का माध्यम मानना, सींगों को देवत्व का चिन्ह मानना, और तिपतिया अलंकरण विशेष उल्लेखनीय हैं। किंतु इस निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन है कि मेसोपोटामिया और सिंधु संस्कृति के मध्य भावना और अभिप्राय की समानता परस्पर संपर्क का फल था या ये स्वतंत्र रूप से विकसित हुए, और समानता मात्र आकस्मिक है।

ह्रोजनी (Hrozny) के मतानुसार तो कई आद्य भारतीय देवता हिताइत देवसमूह से लिये गये हैं, कुछ हुरी देवसमूह से और कुछ बेबीलोन देवसमूह से। यदि परस्पर संपर्क के ही कारण समानता है तो कुछ विद्वानों के अनुसार कालक्रम की दृष्टि से मेसोपोटामिया के देवसमूह में इस तरह के धार्मिक विश्वास और देवता सिंधु सभ्यता के काल से पहले ही मिलने लगते हैं, अतः सिंधु सभ्यता ने इन्हें मेसोपोटामिया से ग्रहण किया होगा। यह भी हो सकता है कि किसी तीसरे स्रोत से दोनों क्षेत्र की सभ्यताओं ने ये तत्त्व ग्रहण किये हों। यह भी संभव है कि सिंधु सभ्यता के कोई खास धार्मिक विश्वास समाज के किसी खास वर्ग में ही प्रचलित थे। कदाचित् आजकल के कुछ हिंदुओं की तरह उस काल में भी कुछ लोग किन्हीं खास धार्मिक विश्वासों को

विशेष रूप से मनाते हुए भी अन्य कई धार्मिक विश्वासों को भी अपने धर्म का ही अंग मानते थे। यह बात भी कुछ विचित्र है कि मातृदेवी की मिट्टी की तो अनेक मूर्तियां मिली हैं, किंतु पत्थर में उसकी एक भी मूर्ति नहीं मिली, और न मुद्राओं पर ही उसके उस रूप का अंकन मिलता है जिसे हम मृण्मूर्तियों में पाते हैं।

अध्याय 11
आर्थिक जीवन

नगरों की स्थापना ही इस बात का प्रमाण है कि कृषक अपनी आश्यकता से अधिक उत्पादन करते थे। सिंधु सभ्यता के नगरों के भवनों के आकार–प्रकार से अनुमान लगाया जा सकता है कि उनमें रहने वाले अधिकांश लोगों का जीवन सामान्य रूप से समृद्ध था। समृद्धि की प्राप्ति और उसके उपभोग के लिए लोगों ने विभिन्न साधनों का उपयोग किया था। उन्होंने कृषि के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति कर ली थी। कलात्मक वस्तुओं के प्रति उनकी अभिरुचि थी। उनके द्वारा निर्मित कुछ वस्तुओं की विदेशों में भी खपत थी। विदेशों को किये गये निर्यात से प्राप्त आय से लोगों की खुशहाली में और भी वृद्धि हुई होगी। संभवतः तांबे के खान पर और सक्कर रोहरी के चर्ट भंडार पर सिंधु सभ्यता के लोगों ने अपना नियंत्रण रक्खा था ताकि उपकरण बनाने के लिए उन्हें वांछित मात्रा में और अबाध रूप से ताम्र और पाषाण प्राप्त होते रहें। आर्थिक सम्पन्नता के लिये माल का स्रोत और संसाधनों का होना, तकनीकी ज्ञान, प्रबंधन में दक्षता ओर इरादों का पक्का होना आवश्यक है। लगता है यह सब विकसित सिंधु सभ्यता के लोगों के पास थे।

पशुपालन

सिंधु सभ्यता के काल में कौन–कौन से पशु पाले जाते थे, इसका पता हमें उस सभ्यता के संदर्भ में पाए जाने वाले पशुओं के अस्थि–अवशेषों, मृद्भाण्ड चित्रणों, मुद्रा अंकनों तथा खिलौनों और कलाकृतियों से होता है। उपलब्ध साक्ष्यों से विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि उनके द्वारा पाली हुई बकरी उसी नस्ल की थी जो आज कश्मीर में पायी जाती है और जो अपनी अच्छी ऊन के लिए सुविख्यात है। भेड़ सियाल्क प्रथम में प्राप्त भेड़ों की तरह की थी। मेहरगढ़ में नवाश्म युग (6000–5000 ई. पू.0) में भेड़ बकरी का पालन शुरू हो गया था। जहां पानी अपेक्षाकुत अधिक था वहां भेड़ ज्यादा पनपी, बकरी शुष्क क्षेत्र में भी पल सकती है। भेड़, बकरी का पालन मांस, दूध और ऊन के लिए होता रहा होगा। गाय–बैल की हड्डियां प्रभूत मात्रा में मिलीं हैं। वे लोग गाय का दूध पीते रहें होंगे। त्स्वाइनर के अनुसार कूबड़वाले बैल का विकास 'बास नोमेडिकस' से हुआ जो भारत में अभिनूतन (प्लाइस्टोसीन) काल से पाया जाता है। ऐसा प्रायः माना जाता है कि इस पशु का सबसे पहले पालन दक्षिणी एशिया से प्रारम्भ हुआ। मेहरगढ़ से नवाश्म युगीन (6000–5000ई. पू.) कूबड़ वाले बैल की हड्डियां मिलने से यह निश्चित हो गया कि इसे मध्यपूर्व से लाया गया था। बलूचिस्तान में रानाघुंडई के दूसरे काल में इस तरह के बैल की हड्डियां मिली हैं।

तांबे और मिट्टी की बनी भैंसे की मूर्तियां पायी गयीं हैं। भैंसे का उपयोग आज सामान ढोने, गाड़ी खींचने और हल चलाने में होता है। भैंस से दूध घी की प्राप्ति होती रही होगी। ऐतिहासिक काल में भैसें की बलि दी जाती रही है। हो सकता है कि सिंधु सभ्यता में भी ऐसी प्रथा रही हो। सुअर पालतू भी था और वन्य भी। और इन दोनों तरह के सूअरों का मांस लोग खाते रहे होंगे। सुअर के बाल आज ब्रश बनाने में काम आते हैं। उस समय भी उनका कोई ऐसा ही उपयोग रहा था। सुअर आजकल की भांति सफाई करने के भी काम आते रहें होंगे। ऊँट का अंकन सिंधु सभ्यता की एक भी मुद्रा पर नहीं है, परंतु उसकी हड्डियां अल्प संख्या में मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा, कालीबंगां और सुरकोटड़ा की खुदाइयों में पायी गयी हैं। मोहेंजोदड़ो में एक समूचा ऊँट दफनाया मिला है। ऊँट का प्रयोग सवारी के लिए और माल ढोने के लिए होता रहा होगा। ऊँट की हड्डियों की अल्पता और मुद्राओं पर उसके चित्रण का अभाव इस बात के द्योतक हैं कि ये अधिक संख्या में नहीं रहे होंगे। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि फारसी मकरान के खुसरो की एक कब्र में प्राप्त तांबें की गैंती पर ऊँट का चित्रण मिला है जिसकी तिथि द्वितीय सहस्राब्दी ई. पू. आंकी गई है। हाथी वैभव और सम्पन्नता का प्रतीक माना जाता है। इस पशु का अंकन कई मुद्राओं पर हुआ है। आजकल भारत में प्राप्त दोनों ही नस्लों के हाथियों के सिंधु सभ्यता के काल में होने के साक्ष्य मिले हैं।

वे लोग कुत्ता भी पालते थे। इस पशु की मूर्तियों से स्पष्ट है कि कुत्ते की कई नस्लें थीं। चन्हुदड़ो की ईंटों पर बिल्ली और उसके पीछे भागते हुए कुत्ते के पंजों के निशान है। निशान तब बने होंगे जब गीली ईंटों को सुखाने के लिए बिछाया गया होगा। मोहेंजोदड़ो की एक मृण्मूर्ति में कुत्ते के गले में पट्टा बंधा है जो उसको पालतू होने का प्रमाण है। कुत्ते रखवाली के लिए और शायद शिकार में सहायता के लिए भी पाले जाते रहे होंगे। हड़प्पा की एक मूर्ति में कुत्ते को मुंह में एक खरगोश पकड़े हुए दिखाया गया है। सिंधु सभ्यता के लोगों को अश्व की जानकारी थी या नहीं इसके बारे में प्रारंभ से ही विद्वानों में मतभेद रहा है। रानाघुंडई प्रथम काल, जो सिंधु सभ्यता से काफी पहले के काल का है, से प्राप्त हुए चंद दांतों की पहचान कुछ विद्वानों ने घोड़े के दांतों से की है। त्स्वाइनर का मत है कि ये घोड़े के न होकर एक प्रकार के गधे के हैं। मोहेंजोदड़ो में ऊपर की सतह पर प्राप्त घोड़े की हड्डियों को कुछ पुराविद् सिंधु संस्कृति काल की, और कुछ परवर्ती काल की मानते हैं। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त मिट्टी की बनी घोड़े जैसी एक आकृति के बारे में भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह घोड़ा ही है, यद्यपि कुछ विद्वानों ने उसे यही पशु पहचाना है। लोथल से भी ऐसे तीन मृण्मय खिलौने मिले हैं जिन्हें कुछ विद्वान् घोड़े की अनुकृति मानते हैं (चित्र 49)। लोथल से एकदांत को घोड़े का दांत पहचाना गया है। सुरकोटड़ा में भी सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण में घोड़े की अस्थियां मिली हैं। हंगरी के सुप्रसिद्ध

पुराविद् बोकोन्यि (Bokonyi) ने सुरकोटड़ा की हड्डियों को निश्चित रूप से घोड़े की माना है। 1959 में भोलानाथ ने हड़प्पा के बहुत पहले के उत्खनन में प्राप्त ऐसी हड्डियों का अध्ययन किया था जिनका अध्ययन अब तक नहीं हुआ था और इनमें उन्होंने घोड़े की हड्डियों को पहचाना। नौशारो में निश्चयपूर्वक घोड़े की मृण्मूर्ति मिली है। घोड़े की एक मृण्मूर्ति बणावली से मिली है जिस पर अयाल स्पष्ट रूप से दिखाई गई है। इन साक्ष्यों से इस सभ्यता को अनार्य सिद्ध करने वाले चंद प्रमुख तर्कों में से यह महत्त्वपूर्ण तर्क कम हो जाता है कि वैदिक सभ्यता में घोड़े का पर्याप्त महत्त्व था किंतु सिंधु सभ्यता में घोड़ा नहीं था। हड़प्पा में गधे की हड्डियां मिली हैं। इस पशु का प्रयोग बोझा ढोने और शायद रथ चलाने में होता रहा होगा। खच्चर के उपयोग के साक्ष्य नहीं मिलते।

बत्तख का चित्रण लोथल के भाण्डों पर बहुत मिलता है। मोर का चित्रण तो प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण सिंधु –संस्कृति के स्थलों से प्राप्त बरतनों पर किया गया हे। इन पक्षियों का चित्रण के लिये चयन सुंदरता के कारण हुआ होगा। बत्तख और शायद मोर का मांस भी लोग खाते रहे होंगे। आज तो लोग आम तौर से मोर का मांस खाना अच्छा नहीं मानते, किंतु कम से कम अशोक के समय (तृतीय शती ई. पू.) में इसका मांस राजा की रसोई के व्यंजनों का महत्त्वपूर्ण अंग था। अतः आश्चर्य नहीं कि सिंधु सभ्यता के काल में इसका उपयोग भोज्य सामग्री के रूप में होता रहा हो।

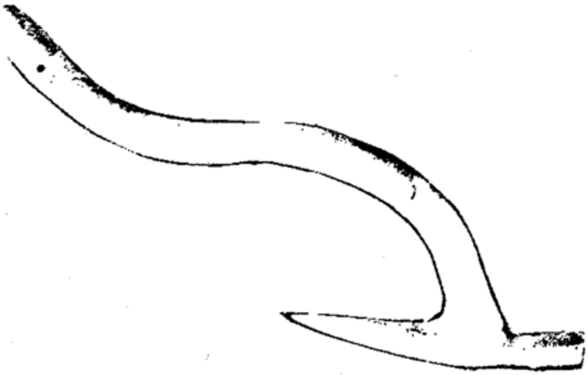
वन्य पशु एवं मछली

मुद्राओं पर अंकित पशुओं में गैंडे का सर्वप्रथम अंकन आमरी के मृत्पात्रों पर मिलता है। सिंधु संस्कृति की मुद्राओं पर इसका पर्याप्त रूप से अंकन है और गैंडे की मृण्मूर्तियां मिली भी हैं। यह उल्लेखनीय है कि 16वीं शती में बाबर ने उत्तरी पश्चिमी भारत में गैंडा देखा था। सिंधु नदी की घाटी में यह 18वीं शती तक पाया जाता रहा। ऐतिहासिक काल में इसके चर्म से ढाल बनायी जाती थी। बारहसिंघा, सांभर, हरिण, नीलगाय (जिसका साक्ष्य गुजरात के सिंधु स्थलों में मिलता है) इत्यादि का मांस खाते रहे होंगे तथा उनसे खाल भी प्राप्त करते रहे होंगे। तांबें के बने मछली पकड़ने के कांटे उपलब्ध हुए हैं। मछली पकड़ना यहां के निवासियों का प्रमुख उद्योग रहा होगा। मछलियां नदियों से तो पकड़ते ही थे, समुद्र–तटीय स्थलों में समुद्र से भी मछलियां पकड़ते रहे होंगे। खुदाई में मछलियों की हड्डियों के कई ढेर मिले हैं जिससे स्पष्ट है कि मछली भोजन का महत्त्वपूर्ण अंग रही होगी। कुछ कांटे ऐसे हैं जिनसे 50 किलो तक की मछली पकड़ी जा सकती थी। मछली के अतिरिक्त लोगों के भोजन में कछुए का मांस भी सम्मिलित रहा होगा। हड़प्पा, लोथल और मोहेंजोदड़ो इत्यादि सिंधु सभ्यता के स्थलों पर खुदाइयों से तरह–तरह के कछुओं की हड्डियां मिली हैं।

कृषि

सिंध और पंजाब में प्रतिवर्ष नदियों द्वारा लाई उपजाऊ मिट्टी में कृषि कार्य अधिक श्रमसाध्य नहीं रहा होगा और खाद और सिंचाई के बिना भी काफी उपज होती रही होगी। इस नरम मिट्टी में कृषि के लिए शायद तांबें की पतली कुल्हाड़ियों को लकड़ी के हत्थे पर बांध कर तत्कालीन किसान भूमि खोदते रहे होंगे। चर्ट के फलकों का लकड़ी के हत्थे पर हंसिये की तरह प्रयोग किया गया होगा। इस तरह का प्रमाण मेहरगढ़ के नवाश्म युग के संदर्भ में मिला है जो दक्षिण एशिया में इस तरह का प्राचीनतम साक्ष्य है। ऐसा भी सुझाव दिया गया है कि पत्थर की कुछ छुरियों का उपयोग उन्हें लकड़ी के हत्थे पर लगाकर भूमि खोदने के लिए होता रहा हो। मोहेंजोदड़ो से पत्थर के तीन ऐसे उपकरण मिले हैं जिनके आकार–प्रकार और भारी होने से इनके शस्त्र के रूप में प्रयुक्त होने की संभावना कम लगती है। इन्हें कुछ लापरवाही के साथ बनाया गया है। एक 25. 91 सेमी लम्बा, 8. 13 सेमी से लेकर 10. 92 सेमी तक चौड़ा और 5. 33 सेमी मोटा है। दूसरा 25. 15 सेमी लम्बा, 7. 62 सेमी से 10. 52 सेमी चौड़ा और 3. 55 सेमी मोटा है। तीसरा कुछ टूट गया है। ये तीनों पर्याप्त भारी हैं। ऐसा सुझाव दिया गया है कि ये हल के फाल थे। नदियों द्वारा लाई गई बिना कंकड़ पत्थर की मिट्टी वाली जमीन को जोतने के लिए इसका प्रयोग किया जा सकता था। हल लकड़ी के रहे होंगे जो अब नष्ट हो गये हैं। लोथल की एक पकाई मिट्टी की प्लेट पर बीज–वपित्र जैसे यंत्र का अंकन है जो राव के मतानुसार कृषि का महत्त्वपूर्ण उपकरण था।

कालीबंगां में विकसित सिंधु संस्कृति से पूर्व की संस्कृति के संदर्भ में नगर की सुरक्षा दीवार के बाहर जुते हुए खेत के चिह्न मिले हैं। इस खेत में सीते दो दिशाओं में हैं पूर्व–पश्चिम और उत्तर–दक्षिण। ये सीते पूर्व–पश्चिम में 30 सेमी की दूरी पर और उत्तर–दक्षिण की दिशा में 1. 90 मीटर की दूरी पर हैं जैसे ब्रजवासी लाल ने बताया है, जुताई की यह विधि आज तक हरयाणा, राजस्थान, पश्चिम उत्तर प्रदेश में प्रचलन में है। इसमें दो तरह के अनाज को एक साथ बोया जाता है, जैसे एक दूसरे से कम दूरी वाले सीतों में चना और अधिक दूरी वालों में सरसों, ताकि सरसों के पौधों की छाया चने के पौधों पर न पड़े। हड़प्पा सभ्यता में जो, उससे भी अधिक विकसित थी, निश्चय ही हल का प्रयोग होता रहा होगा। मोहेंजोदड़ो से एक संदिग्ध टूट माडल मिला। बणावली से हल का मिट्टी से बना एक सुरक्षित माडल मिला है जो आज के हल से बहुत भिन्न नहीं है (चित्र 63)। सिंचाई के लिए बांध और नहरों का निश्चित साक्ष्य नहीं मिलता। पर संभावना है कि कम से कम छोटे पैमाने पर ही सही नहरें रहीं होंगी जो बाढ़ द्वारा लाई मिट्टी के नीचे दब गई हैं। कृषि मुख्यतः बाढ़ से लाई गई उपजाऊ मिट्टी पर होती रही होगी। नगर के आस पास के गांवों की भूमि में इतना अनाज पैदा होता रहा होगा कि वहां के लोग अपनी जरूरत के लिए अनाज



चित्र 63 बणावली : मिट्टी का हल का माडल

रख लेने के बाद शेष अनाज इन नगरों के लोगों के उपयोग के लिए भेज सकते थे।

सिंधु जैसी समृद्ध सभ्यता के पर्याप्त जनसंख्या वाले महानगरों की स्थिति और विकास एक अत्यंत उपजाऊ प्रदेश की पृष्ठभूमि में ही संभव था। नागरिक सभ्यता के पनपने के लिए लोगों को धातु से विभिन्न प्रकार के उपकरण बनाने का ज्ञान अत्यन्त सहायक है। विभिन्न धातुओं और अन्य प्रकार की सामग्री से निर्मित उपकरणों के निर्माण में दक्षता तभी प्राप्त हो सकती है जब कुछ लोग पेशे के तौर पर एक मात्र उन्हीं के निर्माण का कार्य करें, और पेशेवर शिल्पी बनना तभी संभव है जब किसान लोग उस अन्न से न केवल अपना ही अपितु शिल्पियों का भी भरण–पोषण करने में समर्थ हों। सिंधु सभ्यता के विकसित तकनीक से बने विभिन्न उपकरणों से स्पष्ट है कि वे पेशेवर शिल्पियों की कृतियां हैं, और उससे यह अनुमान लगाया जा सकता हे कि उस समय के कृषक निश्चय ही पर्याप्त मात्रा में अतिरिक्त अन्न पैदा करते थे।

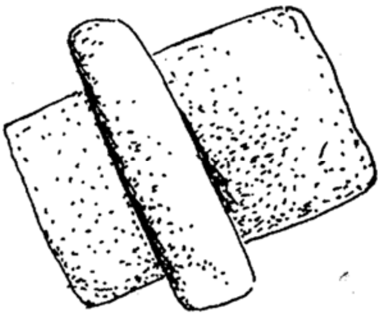
रवीन्द्र सिंह बिष्ट ने हरयाणा की सरस्वती घाटी में ताम्रश्म युगीन नहरों तथा तालाबों से सिंचाई के साक्ष्य पाये गये हैं। सिंधु सभ्यता के लोग गेहूं उपजाते थे जो रोटी बनाने के लिए उपयुक्त था। गेहूं की दो प्रजातियां थीं जिन्हें आज की वैज्ञानिक भाषा में *ट्रिटीकम कम्पेक्टम* और *स्फरोकोकम* कहा जाता है। जौ की तीन प्रजातियां उगाई जाती थीं। मेसोपोटामिया और मिस्र के साक्ष्य से स्पष्ट है कि वहां पर जौ की खेती सिंधु सभ्यता से पहले से होती थी। जिस जंगली जौ के प्रकार से यह खेती द्वारा उपजाया जौ का प्रकार विकसित हुआ है वह अब भी तुर्किस्तान, ईरान और उत्तरी अफगानिस्तान में मिलता है। वेविलोव (Vavilov) ने सुझाया है कि मानव द्वारा प्रयुक्त गेहूं का मूल स्थान हिमालय के पश्चिमी छोर पर अफगानिस्तान में रहा होगा, जबकि कुछ विद्वान् जगरोस (Zagros) पर्वत और कैस्पियन सागर के बीच वाले क्षेत्र को इसका मूल स्थान मानते हैं।

हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो, चन्हुदड़ो, नौशारो, धौलावीरा, लोथल, कालीबंगां आदि स्थलों से अनाज के दाने मिले हैं। गेहूं और जौ तो सिंधु सभ्यता के लोगों के मुख्य खाद्यान्न थे। ये अधिकांश सिंधु सभ्यता के स्थलों से प्राप्त हुये हैं और इनकी कई किस्में मिली हैं। सरसों, तिल, मटर और कुछ अन्य दालें भी उगाते थे। वे सरसों तथा तिल की खेती मुख्य रूप से तेल के लिए करते रहे होगे। वे राई भी उपजाते थे। कुछ स्थलों से तरबूज, खजूर तथा बेर के बीज मिले हैं। केले के पत्तियों का चित्रण मृद्भाण्ड पर मिलता है। सेलखड़ी की बनी नीबू की पत्ती से स्पष्ट है कि वे लोग नीबू से परिचित थे। हड़प्पा से एक विचित्र बर्तन की आकृति अनार जैसी है और दूसरे चित्रित बर्तन की नारियल की तरह है जो सिंधु सभ्यता के लोगों का इन दोनों फलों से परिचित होने का सूचक है। लोथल, रंगपुर, बालू तथा हुलास से धान (चावल) की उपज के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिली है। लोथल से प्राप्त मुद्रा–छापों के पीछे धान की भूसी लगी पायी गयी है। परीक्षण से पता चला है कि धान निम्न कोटि का था। हुलास के एक मृद्भाण्ड पर चावल के निशान मिले हैं। यह उल्लेखनीय है कि सिंधु सभ्यता के प्रमुख नगरों, यथा हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो से धान की जानकारी होने का साक्ष्य नहीं प्राप्त हुआ है। सौराष्ट्र में बाजरे की खेती होती थी। लोथल के उत्खनन में बाजरे के दाने मिले हैं। रोजड़ि तथा सौराष्ट्र के अन्य स्थलों में मोटे अनाज की रागी, कोदों, सवा, ज्वार इत्यादि प्रजातियां मिली हें। निश्चय ही ये अनाज यहां की भूमि और जलवायु के अनुरूप हैं। नौशारो से मसूर के दाने मिले हैं।

राजकीय स्तर पर अनाज के संरक्षण के लिए हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो और लोथल में विशाल अन्नागारों में अन्न का आगमन और निर्गमन शासन द्वारा नियंत्रित रहा होगा। वे अनाज को चूहों से बचाने के लिए बिल्ली पालते रहे होंगे। अन्नागार के लिए शासन की ओर से उच्च अधिकारी, लिपिक, लेखाकार, मजदूर आदि नियुक्त रहे होंगे। कर के रूप में वसूल किया गया अनाज इन अन्नागारों में संग्रहीत होता रहा होगा और एक तरह से ये अन्नागार उस समय के बैंक या खजाने का कार्य करते रहे होंगे। उस युग में सिक्कों के प्रचलन का कोई निश्चित साक्ष्य नहीं मिलता, कदाचित् अनाज के रूप में ही राजकर्मचारियों को वेतन भी दिया जाता रहा होगा। यही नहीं अनाज विनिमय का एक सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम भी रहा होगा। अन्नागारों का परिपूर्ण होना या खाली होना तत्कालीन शासक की समृद्धि अथवा विपन्नता का द्योतक रहा होगा। समकालीन दजला–फरात की घाटी में प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण नगरों में अन्नागार थे जिनमें कुछ तो अत्यन्त विशाल थे। उर के एक लेख में इस बात का उल्लेख है कि एक अन्नागार इतना बड़ा था कि उसमें 4020 दिवस की मजदूरी में देय अन्न संग्रहीत था। दूसरे लेख में अन्नागार के अधीक्षक का उल्लेख है जिसके अन्नागार में 10,930 दिवस की मजदूरी देने के लिए पर्याप्त अन्न था। एक तीसरे लेख में राजकीय

अन्नागारों से उधार लिए अन्न को ब्याज सहित लौटाने का उल्लेख हे। इन उपर्युक्त लेखों की तिथि 2130–2000 ई. पू. के लगभग है और वे हड़प्पा सभ्यता के समकालीन है। (देखिए, व्हीलर, *'इंडस सिविलिजेशन'*, तृतीय संस्करण, पृ0 35)। इनमें से कुछ मंदिरों से संबंद्ध थे और कुछ नहरों के किनारे स्थित थे। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय हैं कि हड़प्पा का विशाल अन्नागार नदी–तट पर स्थित था। मिस्र के प्राचीन लेखों में भी राजकीय अन्नागारों का और राजा के निजी अन्नागारों का विशद उल्लेख है। यह उल्लेखनीय है कि हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो और लोथल में जो अन्नागार मिले हैं वे निर्माण की दृष्टि से ऐतिहासिक काल से पूर्व अपनी सानी नहीं रखते, लेकिन इनके स्वामित्व, उपयोग आदि के बारे में कुछ भी लिखित सामग्री उपलब्ध नहीं है, केवल अनुमान से ही कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। दूसरी ओर मेसोपोटामिया और मिस्र में वहां के प्राचीन अन्नागारों के बारे में तत्कालीन लेखों में विस्तृत उल्लेख हैं, किंतु अभी तक उत्खनन से भवनों के ऐसे अवशेष वहां नहीं मिले हैं जिन्हें उनकी विशिष्टता के कारण निश्चित रूप से अन्नागार के रूप में पहचाना जा सके। सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्थलों में बड़े–बड़े घड़े मिले हैं। उनमें से कुछ का उपयोग अन्न रखने के लिए किया जाता रहा होगा। कालीबंगां के एक कमरे में मिले अनेक मटकों का इसी तरह उपयोग रहा होगा।

हड़प्पा में अन्नागार के समीप ही अनाज कूटने के लिए चबूतरे (चित्र 4) और मजदूरों के निवास भी मिले हैं जो इस बात के द्योतक हैं कि शासन द्वारा अन्नागारों को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। लोग बड़े–बड़े घड़ों में अनाज संग्रह करके रखते थे। यह भी संभव है कि अनाज गड्ढों में रखा जाता रहा हो। हड़प्पा में भूमिगत तीन बड़े–बड़े बर्तन पाये गये जिनके किनारे पर ईंटों का घेरा था। शायद इनका उपयोग अन्न संग्रह के लिए होता था। अनाज और अन्य वस्तुओं को चूहों से बचाने के लिए लोगों ने चूहेदानियों का प्रयोग किया था। मिट्टी की बनी चूहेदानियां उत्खनन से मिली हैं। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो में आटा पीसने की चक्की नहीं मिली। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अनाज का ओखली में (राजकीय स्तर पर कई विशाल ओखलियों की व्यवस्था किये जाने के प्रमाण मिले हैं) कूट कर या सिल–बट्टे (चित्र 64) द्वारा पीस कर आटा बनाया जाता था। सिंधु सभ्यता के प्रायः सभी स्थलों से सिल–बट्टे प्राप्त हुए हैं। कई सिल लंबे समय तक प्रयोग किये जाने के कारण काफी गहरे भी हो गये हैं। मोहेंजोदड़ो के सिल औसतन 53. 34 सेमी



चित्र 64 सिंधु सभ्यता का सिलबट्टा

लंबे और 22. 86 सेमी चौड़े हैं। ये अधिकतर अलाबास्टर के हैं, लेकिन अन्य प्रकार के पत्थरों के बने सिल भी मिले हैं। बट्टे औसतन ग्यारह इंच लंबे और चार इंच व्यास वाले हैं। सिल पर अनाज पीसने से आटे के साथ कुछ पत्थर के टुकड़े मिल जाते थे और इस तरह के आटे की रोटी खाने से दांतों पर दुष्प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इस सिलसिले में यह उल्लेखनीय है कि उत्खनन से प्राप्त कुछ मानव दांतों के अत्यधिक घिसे होने के लिए मार्शल ने पत्थर मिश्रित आटे के निरंतर प्रयोग को कारण बताया है।

लोथल में एक वृत्ताकार चक्की के दो पाट मिले हैं। ऊपर वाले पाट में अनाज डालने के लिए छेद है। इस तरह की चक्की के प्रयोग से अनाज के महीन और शीघ्र पीसने में सिल पर पीसने की तुलना में काफी सहूलियत होती है। सांकलिया ने लोथल के इन चक्की के पाटों को सिंधु सभ्यता के काल के होने में संदेह व्यक्त किया है। उनका कहना है कि यह न केवल लोथल अपितु पूरी सिंधु सभ्यता में इस तरह का एकमात्र उदाहरण है; यदि लोग इस तरह की चक्की के प्रयोग से अवगत होते तो उन्होंने तकनीकी दृष्टि से अत्यधिक सुविधाजनक होने के कारण ऐसी चक्कियां पर्याप्त संख्या में बनायी होती। साथ ही सिंधु सभ्यता के अन्य स्थलों से, विशेषतया लोथल की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित एवं समृद्ध नगरों –हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो से भी, जिनसे लोथल का संपर्क था, इसके अवशेष मिलते। यह भी ध्यान देने योग्य है कि मध्य भारत तथा महाराष्ट्र की ताम्राश्मयुगीन संस्कृतियों में भी इस तरह की चक्की के अवशेष नहीं मिलते। ईरान, ईराक और अनातोलिया में भी इतनी प्राचीन संस्कृतियों के सदंर्भ में चक्की नहीं मिलती। सांकलिया का कहना है कि प्रकार–विज्ञान (Typology) से तो यह लोथल की चक्की ईसवी सन् की पहली शताब्दियों की कृति लगती है। यह उल्लेखनीय है कि लोथल में चक्की टीले की सतह पर मिली; उत्खनन के दौरान नहीं। यद्यपि लोथल में प्रारंभ से अंत तक सिंधु सभ्यता तथा उपसिंधु सभ्यता के ही अवशेष मिले हैं तथापि यह असंभव नहीं कि प्रथम शती या उसके बाद यहां पर छोटी–मोटी बस्ती रही हो जिसके अवशेष बह गए या नष्ट हो गये। लेकिन चक्की का पाट भारी होने से बचा रह गया हो। भोजन को मीठा बनाने के लिए शहद, खजूर और ताड़ की शर्करा का प्रयोग करते रहे होंगे। मेसोपोटामिया के अभिलेखों में मेलुह्ह जिसकी पहचान सिंधु सभ्यता के स्थल से की गयी है, से कपास के आयात का उल्लेख है।

उद्योग–धन्धे

सिंधु सभ्यता के लोग कपास की खेती करते थे। वस्त्र निर्माण उनका एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय रहा होगा। मोहेंजोदड़ो से एक चांदी के बर्तन में कपड़े के अवशेष पाये गये हैं। यह मजीठ के लाल रंग में रंगा हुआ था। बाद में वहीं से दो उदाहरण

में तांबे के उपकरणों को लपेटे सूत का कपड़ा और धागा मिला है। यह साधारण किस्म की कपास का बना है जो भारत में आज भी उगायी जाती है। हड़प्पा के शवाधान में एक स्त्री कंकाल के साथ मिले कांसे के दर्पण के हत्थे पर सूती तागा लिपटा मिला। कालीबंगां से एक बर्तन का टुकड़ा मिला है जिस पर सूती कपड़े के निशान हैं। यहीं एक उस्तरे पर भी कपास का वस्त्र लिपटा हुआ मिला। लोथल में मुद्राछापों के पृष्ठ भाग पर कपास के बने कपड़े के निशान हैं। लोथल और रंगपुर के आसपास के क्षेत्र की मिट्टी कपास उपजाने के लिए बहुत ही उपयुक्त थी। शायद कपास की खेती करने के उद्देश्य से ही इस क्षेत्र में सिंधु सभ्यता के लोगों को अपनी बस्ती बसाने की प्रेरणा मिली हो। आलमगीरपुर में एक मिट्टी की नांद पर बुने कपड़े के निशान हैं। मेसोपोटामिया में लगश के समीप स्थित उम्मा (Umma) से मिली सिंधु सभ्यता की मुद्रा पर कपास से बना कपड़ा लगा था। सिंधु सभ्यता में कपास की खेती के साक्ष्य प्राचीनतम साक्ष्यों में है। मेहरगढ़ में नवाश्म युग में कपास से परिचित होने के साक्ष्य मिले है जो अब तक इसका प्राचीनतम साक्ष्य हैं। उल्लेखनीय है कि मिस्र, जो कपास उत्पादन के लिये प्रसिद्ध है, के प्राचीन स्थलों की खुदाइयों में कपास के साक्ष्य नहीं मिले।

कताई–बुनाई के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले तकुए सिंधु सभ्यता के छोटे बड़े सभी तरह के घरों में पाये गये हैं। ये साधारणतया मिट्टी, कांचली मिट्टी, शंख, पेस्ट आदि के बने हैं जो इस बात के द्योतक हैं कि संपन्न और गरीब दोनों ही कताई–बुनाई करते थे। इनमें से कुछ पर दो और कुछ पर तीन छेद हैं। अधिकांश पर बारीक छेद हैं जो मकाइ के अनुसार इस बात के द्योतक हैं कि इन पर लगी डंडी लकड़ी की न होकर धातु की रही होगी। इनमें से अधिकांश काफी हल्के हैं जो इस बात के द्योतक हैं कि इन पर अपेक्षाकृत पतला सूत काता जाता था। कुछ चरखियां भी मिली हैं। सिंधु सभ्यता के मेसोपोटामिया के साथ व्यापार में, सूती वस्त्रों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा होगा। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि ऐतिहासिक काल में मेसोपोटामिया में कपास के लिए "सिंधु" शब्द का प्रयोग हुआ है जिसे ग्रीक भाषा में सिन्डोन (Sindon) रूप दिया गया। यद्यपि सूती वस्त्र कितनी मात्रा में निर्यात किये जाते थे इसका अनुमान लगाना कठिन है। समकालीन मिस्र में वस्त्र निर्माण के लिए अतसी (फ्लैक्स) का प्रयोग होता था। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त पुरोहित (?) की शिल्प मूर्ति में शाल पर तिपतिया अलंकरण दिखाया गया है (चित्र 31)। इससे स्पष्ट होता है कि वस्त्रों पर कढ़ाई भी होती रही होगी। स्वाभाविक है कि वस्त्र उद्योग एक महत्त्वपूर्ण उद्योग रहा होगा और कुछ लोग जुलाहे का काम पेशे के तौर पर करते रहे होंगे।

हड़प्पा संस्कृति में कला–कौशल का पर्याप्त विकास हुआ था। संभवतः ईंटों का उद्योग भी राज नियंत्रित था। धुएं के दुष्प्रभाव और अग्निकांड से बचने के हेतु भट्ठे नगर के बाहर लगाये गये थे। हड़प्पा में 1986–89 में किये उत्खनन के दौरान

इस बात के साक्ष्य मिले। प्रारंभिक सिंधु सभ्यता के काल के भट्ठे के स्थल पर ही विकसित काल में भी भट्ठा बना रहा जिससे कुम्हार के धंधे के पैतृक होने का साक्ष्य मिला।

यह ध्यान देने योग्य है कि मोहेंजोदड़ो में अंतिम प्रकाल (जबकि नागरिक स्तर में अत्यधिक ह्रास हो चुका था) को छोड़कर नगर के भीतर मृद्भाण्ड बनाने के भट्ठे नहीं मिलते। बर्तन बनाने वालों (कुम्हारों) का एक अलग वर्ग रहा होगा। विद्वानों का अनुमान है कि अंतिम प्रकाल में तो इनका नगर में ही एक अलग मुहल्ला रहा होगा। यहां के कुम्हारों ने कुछ विशेष आकार–प्रकार के बर्तनों का ही निर्माण किया, जो अन्य सभ्यता के बर्तनों से अलग पहचाने जाते हैं। कुछ कुम्हार मिट्टी के खिलौने भी बनाते थे।

सोने, चांदी तथा तांबे के आभूषण बनाने वाले कारीगर थे। पत्थर, धातु और मिट्टी की मूर्तियों का निर्माण भी महत्त्वपूर्ण उद्योग रहे होंगे। मनके बनाने वालों की दुकानों और कारखानों के बारे में चन्हुदड़ो और लोथल के उत्खननों से जानकारी मिली है। मिट्टी के मनके बनाने वाले भी रहे होंगे। मुद्राओं को तैयार करने वालों का एक विशेष वर्ग रहा होगा। शंख का काम करने वालों की भी पर्याप्त संख्या रही होगी। कुछ लोग हाथीदांत का काम करते थे। गुजरात क्षेत्र में उस काल में पर्याप्त संख्या में हाथी रहे होंगे और फलतः इस क्षेत्र में हाथीदांत सुलभ रहा होगा। हाथीदांत की वस्तुओं के निर्माण और व्यापार में लोथल का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा होगा। सिंधु सभ्यता से कीमती पत्थरों के मनके और हाथीदांत की वस्तुएं पश्चिमी एशिया में निर्यात की जाती थीं। मछुवारों की संख्या भी कम नहीं रही होगी। शिकारी वन्य पशुओं का शिकार कर मांस नगरों में बेचते रहे होंगे। कुछ वन्य लोग फल, मूल, औषधीय वनस्पति, शहद आदि भी बस्तियों में पहुंचाते रहे होंगे। व्यापारियों का संपन्न वर्ग रहा होगा। पुरोहितों, वैद्यों, ज्योतिषियों के भी वर्ग रहे होंगे और संभवतः उनका समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा होगा। टोकरी बनाने, बढ़ई, कुएं खोदने, बैलगाड़ी बनाने, नाव बनाने वाले भी रहे होंगे। चर्मकार, मालाकार, सुगंधित पदार्थ निर्माता, नर्तक, गायक भी रहे होंगे।

वाणिज्य–व्यापार

व्यापार में कई लोगों का योगदान था – वे लोग जो कच्चा माल उपलब्ध कराते थे, वे कर्मी जो कच्चे माल से उपकरण बनाते थे, वे धनी व्यापारी जो इन उपकरणों को बड़ी मात्रा में खरीदते थे, और फुटकर व्यापारी जो इन बड़े व्यापारियों से खरीद कर माल बेचते थे। कुछ व्यापारी विदेशी व्यापार में बिचौलिये का काम भी करते थे। सिंधु सभ्यता के हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो, लोथल आदि नगरों की समृद्धि का मुख्य स्रोत व्यापार और वाणिज्य था जो भारत के अन्य क्षेत्रों तथा विदेशों से

जल–स्थल दोनों मार्गों द्वारा हुआ करता था। वास्तव में व्यापार के बिना न तो सुमेरिया की सभ्यता और न ही सिंधु सभ्यता के नगरों में ही विकास की संभावना थी क्योंकि दोनों ही क्षेत्रों में, विशेषतः सुमेरिया में, कई तरह के कच्चे माल और प्राकृतिक संपदा का अभाव है। उपलब्ध साक्ष्यों से पता चलता हे कि सिंधु सभ्यता के कुछ स्थल किसी खास तरह के उपकरण के निर्माण के लिए प्रसिद्ध थे – यथा चन्हुदड़ो और लोथल मनका बनाने के लिए, चन्हुदड़ो सेलखड़ी की मुद्रा और चर्ट के बाट के निर्माण के लिये बालाकोट, शंख और सीप के काम के लिये। अन्य स्थलों से भी शंख की वस्तुएं, चूड़ियां, मनके और खचन सामग्री बनने के साक्ष्य मिले। निश्चय ही इतने दूर के देशों से बड़े पैमाने पर व्यापार के लिए अच्छा व्यापारिक संगठन रहा होगा और व्यापार में पर्याप्त लाभ इस विदेशी व्यापार के लिए प्रेरणा स्रोत रहा होगा। सिक्कों का प्रचलन नहीं था, व्यापार बस विनिमय से होता था। राजकीय प्रशासन का भी इसमें योगदान हो सकता था। कुशल एवं प्रबुद्ध शासक अपनी शक्ति और समृद्धि बढ़ाने हेतु व्यापार को बढ़ावा दे सकता था। नगरों में कच्चा माल पास–पड़ोस ही नहीं सुदूर स्थानों से उपलब्ध किया जाता था। सिंधु सभ्यता के कई प्रकार के उपकरण मेसोपोटामिया तथा अन्य विदेशी क्षेत्रों को निर्यात किये जाते थे और कुछ उपकरण विदेशों से इस संस्कृति के लोग करते थे। निर्यात की वस्तुओं की संख्या और प्रकार की तुलना में आयातित वस्तुएं काफी कम हैं। जिन–जिन स्थानों से कच्चे माल का मोहेंजोदड़ो में आयात किया जाता था इनके सम्बन्ध में विद्वानों ने अनुमान लगाया है। इसका संक्षिप्त उल्लेख निम्न है –

डामर (बिटूमिन) – मार्शल के अनुसार सिंधु नदी के दाहिनी तीर पर स्थित इसाखेल या बलूचिस्तान, या फरात नदी के तीर पर स्थित हिट से बिटूमिन लाया जाता रहा होगा।

ऐलाबास्टर – यह संभवतः बलूचिस्तान से प्राप्त होता था।

सेलखड़ी – अधिकांश सेलखड़ी बलूचिस्तान ओर राजस्थान से लायी जाती थी। राव का कहना है कि धूसर और कुछ पाण्डु रंग की सेलखड़ी शायद दक्कन से आती थी। लेकिन सांकलिया ऐसा नहीं मानते। वे इस बात की संभावना मानते हैं कि लोथल में सेलखड़ी उत्तरी गुजरात के देवनीमोरी या किसी अन्य स्थल से लाई गयी होगी।

चांदी – चांदी के उपकरण सिंधु सभ्यता के कई स्थलों से मिले। कुणाल में विकसित सिंधु सभ्यता के पूर्व के संदर्भ में पर्याप्त चांदी के प्रयोग के साक्ष्य हैं। चांदी मुख्यतः अफगानिस्तान अथवा ईरान से आयातित होती थी। आभूषणों के अतिरिक्त इस धातु से निर्मित अल्प संख्या में बर्तन भी मिले हैं। राव का कहना है कि यदि कोलार खदान से सोना निकालने वाले चांदी व सोना अलग कर सकते थे तो लोथल

में, जहां पर चांदी का प्रयोग बहुत कम मिलता है (केवल एक चूड़ी और एक अन्य वस्तु जिसकी पहचान कठिन है, ही मिली है), चांदी कोलार की खान से लायी होगी। वे दूसरा संभावित स्रोत राजस्थान में उदयपुर के समीप जवार खान को मानते हैं।

सोना – सोने के विभिन्न आकार के मनके, फीते, चूड़ियां और अन्य आभूषण मिले हैं। इडविन पास्को ने सुझाया है, सोना अधिकतर दक्षिण भारत से आयात किया गया होगा। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो से प्राप्त सोने में चांदी का मिश्रण है जो दक्षिण के कोलार की स्वर्ण खानों की विशेषता है। मास्की, पिक्लिहल, तेक्कलकोटा जैसे कोलार स्वर्ण–क्षेत्र के निकटवर्ती स्थलों में नवपाषाण युगीन संस्कृति के संदर्भ में सिंधु सभ्यता प्रकार के सेलखड़ी के चक्राकार मनके मिले हैं और तेक्कलकोटा से तांबे की कुल्हाड़ी। इससे दक्षिणी क्षेत्र से सिंधु सभ्यता का संपर्क होना लगता है। दाइमाबाद तक तो सिंधु सभ्यता के अवशेष मिले ही हैं और कोलार स्वर्ण खदान उससे बहुत दूर नहीं है। यों कुछ सोना ईरान और अफगानिस्तान से और कुछ नदियों की बालू छान कर भी प्राप्त किया जाता रहा होगा। छठी शती ई. पू. में सिंधु और गंधार हखामनी राज्य की दो क्षत्रपियां थीं और वहां के प्रशासक स्वर्ण चूर्ण के रूप में कर देते थे, जो नदियों का बालू छान कर प्राप्त किया जाता था। विभिन्न प्रकार के आभूषणों, मुख्यतः मनके और फीतों, के निर्माण हेतु इसका प्रयोग किया जाता था।

तांबा – सिंधु घाटी और राजस्थान के हड़प्पा स्थलों में तांबा मुख्यतः राजस्थान के खेतड़ी क्षेत्र से आता रहा होगा। सिंधु सभ्यता के तांबे और खेतड़ी क्षेत्र के तांबे में जो मिश्रण मिलते हैं वे एक जैसे हैं। तांबे का प्रयोग अस्त्र–शस्त्र, दैनिक जीवन में उपयोग के उपकरण, यथा उस्तरा, कील, दर्पण, चाकू, बर्तन और आभूषण बनाने में होता था। रासायनिक विश्लेषणों से खेतड़ी के ताम्र अयस्क और हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो के ताम्र उपकरणों में पर्याप्त समानता है। खेतड़ी से प्राप्त तांबे में आर्सेनिक और निकल पर्याप्त मात्रा में मिलता है और हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो के ताम्र उपकरणों के विश्लेषण से उनमें भी यही बात पायी गई। लोथल में प्राप्त तांबा ऐसी खानों से आता था जिसमें आर्सेनिक नहीं है। राव का अनुमान है कि शायद दक्षिणी अरब के ओमन से लोथल में तांबा आयात किया जाता था। लोथल में प्राप्त तांबे की सिल का आकार और तौल सूसा में प्राप्त तांबे की सिलों के समान हैं। लेकिन सांकलिया का मत है कि संभवतः लोथल का तांबा, कम से कम उसका कुछ भाग, स्थानीय खान या खानों से प्राप्त हुआ होगा। दाइमाबाद में एक टमटे की कार्यशाला मिली, और तांबे की बड़े चार वस्तुएं मिली हैं जिसका उल्लेख इसी पुस्तक में अन्यत्र किया गया है और जो कुछ के अनुसार सिंधु सभ्यता के काल की हो सकती हैं।

टीन – यह धातु शायद अफगानिस्तान या इरान से आयातित होती थी। कुछ

का कहना है कि हजारीबाग (बिहार) से भी कुछ टीन आता रहा होगा। लेकिन उस काल में हजारीबाग से सीधा व्यापारिक मार्ग था और वहां से पर्याप्त मात्रा में यह धातु प्राप्त हो सकती थी, इस पर कुछ विद्वानों ने संदेह व्यक्त किया है। दूसरी ओर ईरान से तो सिंधु सभ्यता के लोगों का संपर्क था ही, अतः वहां से इसका आयातित होना अधिक आसान था। टीन का स्वतंत्र रूप से उपयोग न करके इसे तांबे में मिलाकर कांसा बनाया जाता था। इस मिश्रित धातु से निर्मित उपकरण शुद्ध तांबे के बने उपकरणों से कहीं अधिक मजबूत हैं और उनकी धार भी अधिक प्रखर है।

सीसा – सीसे के भाण्ड और पिंड मिले हैं। यह ईरान, अफगानिस्तान और मुख्यतः राजस्थान से लाया गया होगा। इसका प्रयोग अपेक्षाकृत कम था।

फीरोजा (टर्क्वाईज) – यह खोरासन (उत्तर–पूर्वी फारस), अफगानिस्तान और तुर्कमेनिया से प्राप्त होता था। मोहेंजोदड़ो में इससे बनी थोड़ी सी ही मुद्राएं मिली हैं। इसे प्राप्त करने में उत्तरी अफगानिस्तान के शोर्तुघई नामक सिंधु–स्थल ने भूमिका निभाई होगी।

जेडाइट– यह पामीर और पूर्वी तुर्किस्तान से आया होगा। यों तिब्बत और उत्तरी बर्मा में भी यह उपलब्ध है। इसके भी मनके मिले हैं जो अत्यल्प संख्या में हैं।

लाजवर्द – बदख्शां (अफगानिस्तान के उत्तरी क्षेत्र) से यह लाया गया होगा। बदख्शां स्थित सिन्धु सभ्यता के स्थल नौशारो वासियों ने इसे प्राप्त कर अन्य सिंधु सभ्यता के स्थलों को इसे उपलब्ध करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। इसका प्रयोग अत्यल्प मात्रा में हुआ है। लाजवर्द के बने मोहेंजोदड़ो से दो मनके और एक गोटी, हड़प्पा से तीन मनके और खचित करने के लिए प्रयुक्त एक टुकड़ा, चन्हुदड़ो से दो अधबने मनके और लोथल से दो मनके मिले हैं। लाजवर्द के मनके मेसोपोटामिया में पर्याप्त संख्या में मिले हैं, अतः यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि सिंधु सभ्यता की लाजवर्द की वस्तुएं मेसोपोटामिया से आयीं होंगी। किंतु इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि चन्हुदड़ो के अधूरे बने मनके इस बात के द्योतक हैं कि उनका निर्माण वहीं पर हुआ था। यहां पर यह भी उल्लेख करना समीचीन होगा कि नाल में सिंधु सभ्यता के विकसित चरण से पूर्व की तिथि वाले स्तरों में लाजवर्द के मनकों से बनी कई लड़ियों के हार मिले हैं। कुन्तसी में लाजवर्द के मनके मिले। धवलीकर उन्हें मेसोपोटामिया में निर्यात हेतु बनाया गया मानते हैं।

लाल रंग– यों तो यह कच्छ और मध्य भारत में भी मिलता है, किंतु फारस की खाड़ी के द्वीप होरमुज में बहुत चमकदार लाल रंग मिलता है, अतः इसके वहीं से लाये जाने की अधिक संभावना है।

हीमाटाइट – यह राजपूताना से आता था।

शंख, घोंघे – ये भारत के पश्चिमी समुद्र तट से और फारस की खाड़ी से प्राप्त किये जाते थे।

गोमेद, कार्नीलियन (तमड़ा) सुलेमानी, कैल्सीडोनी, तथा स्फटिक	: ये राजपूताना, पंजाब, मध्य भारत और काठियावाड़ में मिलते हैं। काठियावाड़ में सिंधु सभ्यता के महत्त्वपूर्ण स्थल लोथल, रंगपुर आदि के होने से इस क्षेत्र से उनके प्राप्त किये जाने की संभावना अधिक है।

स्लेटी पत्थर – यह राजस्थान से लाया गया होगा।

सूर्यकान्त (जैस्पर)– अधिकांश विद्वानों के अनुसार यह राजस्थान से आयात होता था, लेकिन राव का कहना है कि रंगपुर के समीप भादर नदी के तल में जैस्पर मिलता है।

संगमरमर – 1950 में व्हीलर द्वारा की गई खुदाइयों में मोहेंजोदड़ो में संगमरमर के कुछ टुकड़े मिले जो किसी भवन में प्रयुक्त रहे होंगे। यह राजस्थान से लाया गया होगा।

चर्ट – यह सक्कर और रोहरी से प्राप्त होता था।

ब्लड स्टोन – राजस्थान से लाया गया होगा।

फुक्साइट – मोहेंजोदड़ो से एक साढ़े चार इंच ऊँचा जेड की तरह के रंग का प्याला मिला है जिसकी निर्माण–वस्तु की पहिचान फुक्साइट से की गई है। इस पत्थर को मैसूर से प्राप्त किया गया होगा।

जमुनिया – यह दक्कन की पहाड़ियों (ट्रैप) से लाया जाता रहा होगा।

अमेजोनाइट – पहले यह धारणा थी कि संभवतः सिंधु सभ्यता के लोगों द्वारा यह पत्थर दक्षिणी नीलगिरि पहाड़ी या कश्मीर से प्राप्त किया गया होगा, लेकिन आज यह मान्य है कि वह अहमदाबाद के उत्तर में हीरापुर पठार से लाया गया होगा जो कि सौराष्ट्र के सिंधु सभ्यता के स्थलों के अत्यंत समीप है।

शंख–सीप– यह समुद्र तटीय क्षेत्रों से प्राप्त होता था। सिंधु सभ्यता के दो स्थल लोथल तथा बालाकोट शंख के उपकरण निर्माण में अग्रणी थे। इससे अंगूठी, हार के लोलक, करछुल और जड़ाऊ काम के लिए खचन विशेष रूप से बनाये जाते थे। शंख का धार्मिक महत्त्व रहा होगा। ऐतिहासिक काल में योद्धाओं के अपने शंख होते थे और शंख संगीत का भी माध्यम था और सूचना प्रसारण का भी।

देवदार – यह लकड़ी हिमालय से लायी जाती थी। हड़प्पा की एक शवपेटी देवदार की बनी थी। यह नदी के माध्यम से लाया जाता था।

शिलाजीत – यह पर्वतीय क्षेत्र से प्राप्त होता था।

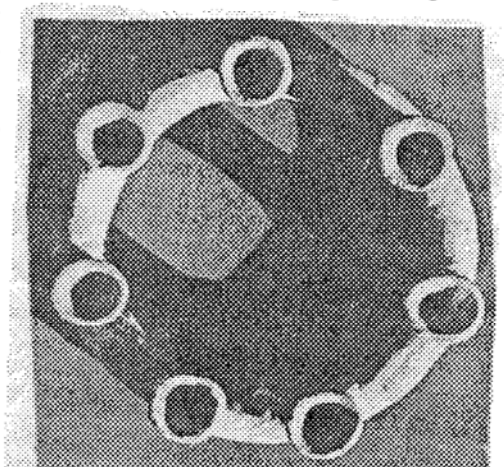
'पुए' के आकार की तांबे की सिल – ये लोथल में मिली है। ये फारस की खाड़ी के द्वीपों से लायी जाती थी।

सिंधु सभ्यता के नगरों का व्यापारिक संबंध मेसोपोटामिया तथा फारस की खाड़ी से होने के बारे में पर्याप्त पुरातात्त्विक साक्ष्य प्राप्त हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य सिंधु सभ्यता की वे मुद्राएं हैं (देखिये अध्याय–काल–निर्धारण) जो मेसोपोटामिया के विभिन्न नगरों से पायी गयी हैं। ये वस्तुतः व्यापार के माध्यम से वहां पहुंची थीं। कुछ विद्वानों का मत है कि मेसोपोटामिया में सिंधु सभ्यता के व्यापारियों की एक बस्ती थी। ऊपरी तौर पर तो यह मत पर्याप्त तर्क संगत लगता है। ऐतिहासिक काल में इस बात के साक्ष्य हैं कि रोमवासियों ने व्यापारिक लाभ की दृष्टि से अरिकमेडु (दक्षिणी भारत) में अपनी बस्ती बसायी थी। लेकिन लैम्बर्ग कार्लोव्सकी का मत है कि सिंधु सभ्यता में निर्मित जिस तरह की वस्तुयें मेसोपोटामिया में मिली हैं वे इस बात के लिये पर्याप्त साक्ष्य नहीं प्रस्तुत करतीं कि मेसोपोटामिया में व्यापारिक लाभ के लिए सिंधु सभ्यता के लोगों ने बस्ती बसायी थी; वे वस्तुएं तो सीधे संपर्क के बिना, बिचौलिये द्वारा भी वहां पहुंचायी जा सकती थीं। सीधे संपर्क के मत के विरोध में और बिचौलिये वाले मत के पक्ष में उन्होंने तर्क दिये हैं :– (1) सिंधु सभ्यता के स्थलों से मेसोपोटामिया की मुद्रा तथा लेख का अभाव है। (2) मेसोपोटामिया में केवल एक ही ऐसी मुद्रा उम्मा नामक स्थल से मिली है जिसे निश्चयपूर्वक सिंधु सभ्यता का माना जा सकता है। (3) सिंधु सभ्यता के स्थलों के उत्खननों से एक भी मेसोपोटामिया शैली का भवन नहीं मिला। (4) मेसोपोटामिया के किसी भी एक स्थल से पर्याप्त संख्या में विभिन्न प्रकार के सिंधु सभ्यता के उपकरण नहीं मिलते। लेकिन अनेक पुराविद् उनके मत से सहमत नहीं हैं।

मेसोपोटामिया के लोग भी सिंधु सभ्यता के नगरों में आते थे। इसकी जानकारी हमें उन शवाधानों से होती है जिसमें शव को मेसोपोटामिया की परंपरा में सरकंडो से ढक कर लकड़ी के ताबूत में रख कर दफनाया गया था (देखिये अध्याय 'शव–विर्सजन')। सिंधु सभ्यता की मुद्राएं एवं अन्य कई उपकरण मेसोपोटामिया के विभिन्न स्थलों से प्राप्त हुये हैं किंतु सिंधु सभ्यता के स्थलों से मेसोपोटामिया में निर्मित उपकरण बहुत कम मिले हैं। ऐसा लगता है कि चूंकि मेसोपोटामिया में कच्चे माल और खनिज पदार्थों का नितांत अभाव था अतः वहां से ऐसी वस्तुएं ही निर्यात की जाती थीं जो लम्बी अवधि तक सुरक्षित नहीं रह सकीं। लोथल में सेलखड़ी की वृत्ताकार बटन जैसी मुद्रा मिली है। इसके पुरोभाग पर दो हिरनों को दो सिर वाले राक्षस (ड्रैगन) के दोनों ओर दिखाया गया है, मुद्रा के पृष्ठ भाग में घुंडी है (चित्र 51. 6)। ऐसी ही मुद्राएं बहरीन द्वीप और फारस की खाड़ी के अन्य स्थलों में विशेष रूप से

मिली हैं। (विस्तार के लिए देखिए अध्याय 'मुद्राएं, मुद्राछापें तथा ताम्रपट्ट')। इसी तरह की कुछ मोहरें मेसोपोटामिया से भी मिली हैं। ऐसा लगता है कि बहरीन के व्यापारी भारत और मेसोपोटामिया के व्यापारियों के बीच बिचौलिया का काम करते थे। व्यापार के लिए आवागमन के संदर्भ में ये मुद्राएं लोथल पहुंची होंगी। लैम्बर्ग कार्लोव्सकी के मतानुसार टेपे याह्या ने भी सिंधु सभ्यता और मेसोपोटामिया के मध्य व्यापार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी होगी। इसके अतिरिक्त और भी कई वस्तुएं पायी गयी हैं जो अपने निर्माण–क्षेत्र से दूर किसी दूसरे देश या क्षेत्र के अवशेषों के साथ मिली हैं जिनका इसी पुस्तक में अन्यत्र उल्लेख किया गया है। फायल्का में सिंधु सभ्यता की मुद्राओं के साथ इसी सभ्यता के बाट का मिलना इस बात का द्योतक है कि इस क्षेत्र से व्यापार में भी सिंधु सभ्यता के बाटों को ही मानक माना गया। उत्तरी सीरिया में रास शम्रा (Ras Shamra) की खुदाइयों से हाथी दांत की छड़ें मिली हैं जिन्हें सिंधु सभ्यता से लाया माना गया है। सूसा (ईरान) से सिंधु सभ्यता निर्मित एक मुद्रा, एक घनाकार बाट, हाथीदांत की एक गोटी व रेखांकित मनके मिले हैं। तांबे की सिल, बैल के आकृति का ताबीज एवं स्वस्तिक चिन्ह अंकित मिट्टी के बर्तनों के ढक्कन लोथल तथा सूसा दोनों ही स्थलों में पाये गये हैं। हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो तथा कालीबंगां (चित्र 64अ) से मिट्टी के खोखले वलय के ऊपर दीपक बनाये गये हैं। दीपक के नीचे छेद हैं जो वलय के खोखले भाग से जुड़े हैं। इस तरह का उपकरण, जैसे बृजमोहन पाण्डेय ने बताया है, पश्चिमी एशिया के प्रभाव के द्योतक है, जहां उनका प्रचलन विकसित सिंधु सभ्यता के पहले से लेकर बाद तक रहा।

मेसोपोटामिया से प्राप्त एक प्राचीन लिखित साक्ष्य में मेलुह्ह, दिल्मुन तथा मगन से मेसोपोटामिया में विभिन्न आयात की जाने वाली वस्तुओं की सूची दी हुई है। उसमें कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जिन्हें सुलभता से निर्यात करने वाला सिंधु सभ्यता का कोई क्षेत्र ही हो सकता है। यह सही है कि दिल्मुन, मेलुह्ह और मगन की पहचान के बारे में मतभेद हैं और विद्वानों ने अलग–अलग स्थलों से इनकी पहचान सुझाई है जिसका कुछ विस्तार से उल्लेख इसी पुस्तक में अलग परिशिष्ट के रूप में किया गया



चित्र 64अ सिंधु सभ्यता में दीपक युक्त खोखला वलय

है, लेकिन इससे प्रायः सभी सहमत हैं कि मेसोपोटामिया की वस्तुओं के निर्यात करने के इन स्रोत–स्थलों में से कम से कम एक की पहचान सिंधु सभ्यता के क्षेत्र से करनी चाहिए और अन्य दो सिंधु और मेसोपोटामिया के बीच के ही किन्हीं दो क्षेत्रों के द्योतक हैं।

सुमेरी ताम्रपट्टिकाओं और अंकित लेखों के साक्ष्य बताते हैं कि जहाज दिल्मुन से लगश के उर–नन्शे (2450 ई. पू.) के काल में लकड़ी लेकर और अक्कद के सारगान के काल (लगभग 2350 ई. पू.) में दिल्मुन, मगन और मेलुह्ह से विभिन्न सामग्री लेकर राजधानी अगेड (बेबीलोन) में आते थे। एक अक्कादी–सुमेरी मुद्रा पर अभिप्राय के अंकन के साथ कीलाक्षर लिपि में *सु–इलिस* लेख है जिसका अर्थ है 'मेलुह्ह का दुभाषिया'। एक लेख में मेलुह्ह के लोगों का लगश में राजा गुड़ीय द्वारा बनाये मंदिर के लिये लकड़ी तथा अन्य सामान लाने का उल्लेख है। 2100 ई. पू. के लगभग उर और मेलुह्ह के बीच सीधा संपर्क टूट चुका था तथापि तांबा, हाथी दांत, कीमती पत्थर ओर कुछ खास जानवर वहां से लाये जा रहे थे। लेकिन पुनः लार्सा राजवंश (लगभग 1950 ई. पू.) के समय दिल्मुन से लौटे व्यापारियों ने निन्गल देवी को व्यापार में लाई वस्तुओं, सोना, चांदी, तांबा, हाथीदांत की कंघी, उत्खचन, लाजवर्द, कीमती पत्थरों के मनके, लकड़ी और मोती में से कुछ अंश चढ़ाए। ओपेनहाइम ने इससे निष्कर्ष निकाला कि 2350 ई. पू. में उर का मगन और मेलुह्ह के साथ सीधा संपर्क था लेकिन 2100 ई. पू. के लगभग मेलुह्ह, और 1900 ई. पू. में मगन के साथ उसका सीधा संपर्क टूट गया। इन संदर्भों से ऐसा लगता है कि उर की तरफ से दिल्मुन, मगन और मेलुह्ह एक दूसरे से क्रमशः अधिक दूरी पर स्थित थे। पुराविद् केन्योर का कहना है कि सिंधु सभ्यता का मेसोपोटामिया से व्यापार सीधा न होकर बिचौलियों से होता था।

बलूचिस्तान, राजस्थान, गुजरात आदि क्षेत्रों में सिंधु सभ्यता के कई स्थल मिले हैं और वहां से विभिन्न प्रकार की निर्मित वस्तुओं का आदान–प्रदान करना कठिन नहीं रहा होगा। मध्य–एशिया, फारस तथा अफगानितान भी सिंधु सभ्यता के क्षेत्र के निकट स्थित थे। शोर्तुघई पहुंचने का मार्ग दुर्गम था। विद्वानों का अनुभव है कि शोर्तुघुई पर सिंधु सभ्यता के लोगों ने बस्ती इसलिये बसायी क्योंकि उसके निकट ही लालवर्द का स्रोत था जिसका व्यापारिक महत्त्व था। उत्खनन के दौरान यहां पर लाजवर्द के छोटे–बड़े खंड और छेद करने के लिए तांबे के बरमा मिले जिनका उपयोग मनका बनाने के लिए होता था। मेसोपोटामिया से संपर्क स्थल और जल दोनों मार्गों से रहा होगा। सिंधु सभ्यता के स्थल और मेसोपोटामिया के मध्य थल मार्ग से व्यापार में बलूचिस्तान और ईरान ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। सिंधु सभ्यता के स्थलों का मेसोपोटामिया की अपेक्षा मिस्र से कम संपर्क था, ओर उससे संपर्क में लोथल की विशेष भूमिका रही होगी। रंगनाथ राव ने लोथल से प्राप्त एक मृण्मूर्ति को गोरिल्ला

की आकृति पहचाना है। उनके अनुसार पूर्वी अफ्रीका के क्षेत्र से संपर्क के फलस्वरूप ही लोथल के कलाकार को इस आकृति को बनाने की प्रेरणा मिली होगी। लोथल से प्राप्त मिट्टी में जो 'ममी' का माडल मिला है उसको बनाने का प्रेरणा–स्रोत भी मिस्र ही रहा होगा। राव का कथन है कि लोथल की समुद्र–देवी का नाम सिकोतरी माता है जो पूर्वी अफ्रीका के समुद्र तट के द्वीप सकोतरी (Sakotari) के नाम पर आधारित लगता है। पूर्वी अफ्रीका के समुद्र तट के स्थलों से कीमती पत्थरों से बने भारतीय मनके मिले हैं।

भारतीय और भारतेतर प्रदेशों से व्यापार के कारण सिंधु सभ्यता में समृद्ध और संभवतः सुसंगठित व्यापारी वर्ग का उदय हो गया होगा। ऐसा लगता है कि ये व्यापारी अपने माल को बांध कर बंडलों पर अपनी मुद्रा अंकित कर देते थे जिससे इसकी पहचान हो सके कि माल किसने भेजा है। मुद्रा–छाप का बंडल पर लगे रहना इस बात का भी द्योतक था कि वह बंडल किसी ने खोला नहीं हैं। ब्रिटिश संग्रहालय में ईराक के किसी स्थल से प्राप्त मिट्टी की सिंधु सभ्यता की मुद्रा की छाप पर कपड़े और डोरी के निशान है। यह सिंधु सभ्यता से ईराक में मोहर लगे कपड़े के बंडल में सामान भेजने का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। यह भी हो सकता है कि निर्यात किये जाने वाले माल पर राजकीय अधिकारी अथवा व्यापारिक संगठनों के कर्मचारी माल का निरीक्षण कर उस पर मुद्रा लगाते थे। ऐसी स्थिति में बंडल पर मुद्रा का लगा होना इस बात का भी द्योतक रहा होगा कि माल निर्धारित तौल तथा मानक के अनुरूप है। लोथल के अन्नागार या भांडागार में लगभग सत्तर मुद्रा–छापें मिलीं जिनके पीछे चटाई जैसे कपड़े के और बटी हुई रस्सी के निशान मिले हैं। स्पष्ट है कि वस्तुओं को कपड़े में लिपेट कर रस्सी से बांधा गया था और रस्सी की गांठ पर मोहर लगायी गई थी। इसी जगह कुछ मिट्टी के लोंदे पर कई मुद्रा–छापें मिली हैं, जिससे लगता हे कि कई व्यापारियों का साझा व्यापार भी चलता था और किसी साझे लेनदेन के सिलसिले में उन सभी सदस्यों ने अपनी–अपनी मुहर लगाई थी। कुछ मुद्राओं पर एक ही प्रकार के लेख और अभिप्राय हैं जो किसी व्यापारी विशेष या राजकर्मचारी के लगते हैं। लोथल में बटन प्रकार की एक मुद्रा मिली जो फारस की खाड़ी के क्षेत्रों में प्राप्त मुद्राओं के अनुरूप हैं, और घनिष्ठ व्यापारिक संपर्क की द्योतक है। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त चंद बेलनाकार मुद्राओं पर सिंधु सभ्यता का अभिप्राय इस बात का द्योतक लगता है कि मुद्रास्वामी मेसोपोटामिया से व्यापार करता था।

व्यापारियों के कारवां व्यापार के सिलसिले में तत्कालीन व्यापारिक पथों पर आते–जाते रहें होंगे। उनके इन मार्गों पर रूकने के लिए सराय इत्यादि की व्यवस्था रही होगी। इस संदर्भ में पिगट अमीलानो नामक स्थल के ऐसे ही व्यापारिक मार्ग पर स्थित एक सराय होने का उल्लेख करते हैं। व्यापार में सामान की ढुलाई के लिए ऊँट का विशेष रूप से प्रयोग होता रहा होगा। यदि विकसित सिंधु सभ्यता के लोग घोड़े

से (जैसा कुछ विद्वानों का मत है) परिचित थे तो उनका खच्चरों और गधों का भी विशेषतः पहाड़ी क्षेत्र में, इस संदर्भ में उपयोग होता रहा होगा। आजकल की प्रथा को देखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि पहाड़ी क्षेत्र में बकरियों का भी उपयोग सामान ढोने में हो रहा होगा। राजस्थान के क्षेत्र में ऊँट का भी इसके लिये प्रयोग होता रहा होगा। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि पिगट के अनुसार सिंधु नदी द्वारा निरंतर अपना मार्ग बदलते रहने के कारण उसका मुहाना दलदल बढ़ जाने के कारण समुद्री व्यापार के लिए अधिक उपयुक्त न रहा था, और मेसोपोटामिया के साथ थल मार्ग से होने वाले व्यापार में कुल्ली के व्यापारियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की होगी।

सिंधु सभ्यता में भारी परिवहन और यातायात के लिए बैलगाड़ी ही सबसे प्रमुख साधन था। इसके द्वारा आवागमन धीमी गति से होता था। इसके चक्के ठोस थे ओर वे आकार–प्रकार में, जैसा कि बैलगाड़ी के मिट्टी में माडलों से अनुमान लगाया जा सकता है, सिंध क्षेत्र में आजकल प्रयुक्त की जा रही बैलगाड़ियों से अधिक भिन्न नहीं थीं। खुदाई के दौरान हड़प्पा में पहियों के जो निशान प्राप्त हुए हैं उनमें दो पहिये के बीच की दूरी 1. 6 मी. है। यही दूरी इस क्षेत्र में आजकल की बैलगाड़ियों में भी सामान्यतया पायी जाती है। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त मिट्टी के खिलौने में दो–पहिये वाली गाड़ी के साक्ष्य ही अधिक हैं। कांसे की भी दो पहियों वाली खिलौना–गाड़ियां यहां से मिली है। चन्हुदड़ो से जो मिट्टी की खिलौना गाड़ियां मिली हैं वे चार पहिये वाली गाड़ी की नकल लगती हैं, जिनमें आगे के पहिए पीछे के पहियों से कुछ बड़े हैं। कुछ खिलौना गाड़ियां सुन्दर ढंग से बनी हैं। इनके ऊपर चंदोवा भी है। आज की इक्का गाड़ियों से इनकी सहज तुलना की जा सकती है। इसका प्रयोग लोगों के आने–जाने के लिए और सामान ढोने के लिए किया जाता रहा होगा। लोथल में कुछ मिट्टी की खिलौना गाड़ियां तो मिली ही हैं, ऐलाबास्टर का एक पहिया भी मिला है। यहीं के एक मृद्भाण्ड के टूकड़े पर एक व्यक्ति को दो पहियों पर खड़ा दिखाया है जो असीरिया के मृद्भाण्डों पर चित्रित रथ हांकने वाले की आकृति में मिलता–जुलता है। लोथल उत्खनन के निदेशक राव का मत है कि सिंधु सभ्यता काल में लोथल के लोग घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले रथों से भी परिचित थे। नगरों में समय–समय पर मेले लगते रहे होंगे जिनमें क्रय–विक्रय होता रहा होगा।

उस काल में जल मार्ग से भी पर्याप्त मात्रा में व्यापार होता था। सिंधु सभ्यता के किसी भी स्थल से नाव के अवशेष नहीं मिले। लकड़ी की बनी होने के कारण नावों का इतने समय तक सुरक्षित रह सकना कठिन था, अतः इनकी प्राप्ति की संभावना कम ही थी। लेकिन नाव के चित्रण मिले हैं। नाव का एक चित्रण मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक बर्तन (चित्र 53. 1) पर मिला है जिसमें ऊँचा पोताग्र और पोतपार्श्व, मस्तूल, लपेटी हुई पाल और एक लंबी संचालन–पतवार दिखायी गयी है। दूसरा चित्रण मोहेंजोदड़ो

की ही एक मुद्रा पर है जो अपेक्षाकृत सावधानी से बना है। इसमें भी नाव का चित्रण पक्षियों तथा जल जीवों के साथ है। नाव के बीच में घर जैसा बना है (चित्र 53. 2)। ये नाव के चित्रण इस बात के द्योतक हैं कि सिंधु सभ्यता की नावें प्राचीन क्रीट और मेसोपोटामिया की नावों से बहुत कुछ मिलती–जुलती थीं और यद्यपि उनका उपयोग अधिकतर नदियों में ही रहा होगा, तथापि समुद्र में भी उनका उपयोग हो सकता था। आज भी अरब के लोग छोटी–छोटी नौकाओं को समुद्र में भी चलाते हैं। लोथल से नावों के पांच माडल मिले हैं। इनमें से केवल एक ही समूचा बचा है, बाकी खण्डित हैं। इसकी 'कील' सुस्पष्ट और नुकीली है। पोताग्र नुकीला और पृष्ठभाग ऊँचा व चपटा है। नाव में विभिन्न उपयोगों के लिये तीन छेद हैं – एक पृष्ठभाग के पास मस्तूल स्थापित करने के लिए, दूसरा पेताग्र के सामने वाली रस्सी के लिए, और तीसरा एक खंभे की स्थापना के लिए जो पतवार को सहारा दिये था। कुछ पर पाल शिखर हैं कुछ पर नहीं। लोथल से प्राप्त मृद्भाण्ड के टुकड़े पर भी नाव के चित्रण मिले हैं।

मकाइ ने (*फ0 ए0,* पृ0 647) आधुनिक युग के साक्ष्य के आधार पर सिंधु सभ्यता के व्यापारियों द्वारा दजला–फरात तक पहुंचने के बारे में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं। कराची के बंदरगाह से बसरा की समुद्रयात्रा में लगभग 1400 मील की दूरी है। प्राचीनकाल में दजला और फरात तथा सिंधु नदियों के मुहाने आज की अपेक्षा समुद्र तट से काफी अंदर थे। सिंधु सभ्यता के काल में नावें समुद्री खतरों के कारण मध्य समुद्र के मार्ग से न होकर समुद्रतट के निकट चलती रही होंगी जिससे यात्रा की दूरी ओर बढ़ जाती रही होगी। आजकल की बड़ी (लगभग 60 टन वाली) नावों को बसरा से करांची आने में करीब दो मास लगते हैं और ये साल के हर मौसम में यात्रा कर सकती हैं, किंतु छोटी (लगभग 5 टन वाली नावें) केवल दिसंबर, जनवरी और फरवरी में ही चल पाती हैं। मकाइ का अनुमान है कि सिंधु सभ्यता के काल में भी काफी बड़ी नावें, जो वर्ष भर यात्रा के उपयुक्त थीं, प्रयुक्त होती रही होंगी। नदियों द्वारा यात्राओं के लिये नावें सरकंडे की बनी रही होंगी, किंतु समुद्री नौकाएं सागौन जैसी मजबूत लकड़ी की बनी रही होंगी।

जब तक सिंधु सभ्यता के हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो ही प्रमुख ज्ञात नगर थे, पुराविदों का मत था कि मेसोपोटामिया और सिंधु सभ्यता के मध्य व्यापारिक तथा सांस्कृतिक आदान–प्रदान में इन्हीं दो नगरों का योगदान रहा होगा। इन दो नगरों की विशालता एवं संपन्नता तो अभी भी सिंधु सभ्यता के स्थलों में अप्रतिम है और उनको तो व्यापारिक एवं सांस्कृतिक आदान–प्रदान का मुख्य श्रेय देना ही होगा। लेकिन कुछ श्रेय हमको उनके बाद सर्वेक्षणों और उत्खननों से ज्ञात नये स्थलों को भी देना होगा। इस सिलसिले में लोथल का अपना विशिष्ट महत्त्व है। यहां पर उत्खनन से एक विशाल, लगभग आयताकार, पकाई ईंटों का घेरा मिला है जिसका वर्णन हमने विस्तार

से 'गोदी–बाड़ा' नामक परिशिष्ट में किया है। रंगनाथ राव ने इसकी पहिचान गोदी–बाड़ा (चित्र 15) से की है और यह मत व्यक्त किया है कि आज तो समुद्र लोथल से काफी दूरी पर है, लेकिन पहले समुद्र तट उसके निकट ही था और ज्वार के समय गोदी में जहाज आते–जाते थे। यद्यपि कुछ लोगों ने इसे गोदी–बाड़ा स्वीकारने में हिचकिचाहट और कुछ ने असहमति भी व्यक्त की है, तथापि अधिकांश पुरातत्त्ववेत्ताओं ने अपनी कृतियों में इसका उल्लेख गोदी–बाड़ा के रूप में किया है।

समुद्री व्यापार के सिलसिले में सिंधु सभ्यता वासियों ने समुद्र तट पर कई व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये थे जहां पर वे सामान की अदला–बदली कर सकते थे, रात का पड़ाव डाल सकते थे, और आवश्यक खाद्य–सामग्री प्राप्त कर सकते थे। संभवतः सौराष्ट्र के तट पर और उसके समीप किम नदी के तट पर भगत्राव, नर्मदा तट पर मेघम, हिरण्य नदी के तट पर प्रभास, साबरमती के तट पर लोथल और मकरान के समुद्र तट पर सुत्कागेन्डोर, सोत्काकोह, बालाकोट, इत्यादि समुद्रतटीय स्थल व्यापारिक पड़ाव की भूमिका निभाते थे। उस काल में समुद्रयात्रा बड़ा जोखिम का कार्य था। लेकिन वे लोग निश्चय ही सामुद्रिक हवाओं और अन्य समस्याओं से निपटने के लिए उनके बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर चुके थे।

जब मानसून चरम सीमा पर हो उन दिनों में सिन्धु सभ्यता काल की नावों से समुद्री यात्रा करना अत्यंत कठिन रहा होगा। अतः उन लोगों ने समुद्री यात्रा के लिये साल में उपयुक्त कुछ महीने चुने होंगे। जैसा ब्रजवासी लाल ने बताया हैं, पश्चिम की ओर समुद्री यात्रा पर निकलने के लिये उपयुक्त समय था उत्तरी–पूर्वी मानसून के शुरू होने से पहले या उसके अंत होने के तुरंत बाद। तब पश्चिम की ओर बहती हवाएं नावों को उस ओर ले जाने में सहायक रही होंगी। फारस की खाड़ी से भारत की ओर आने के लिए उपयुक्त समय या तो दक्षिणी–पूर्वी मानसून शुरू होने से पहले या उसके अंत होने के तुरंत बाद था। उस समय पूर्व की ओर बहती हवाएं नौकाओं को इस ओर लाने में सहायक होती।

लोथल से नावें समुद्र तट के निकट चलती रही होंगी। कंजेतर, सोमनाथ, केदार खेड़ा आदि सिंधु सभ्यता के स्थल नावों के लंगर डालने के लिये उपयुक्त थे। नावें बेठ द्वारका (जहां से परवर्ती सिंधु सभ्यता के अवशेष मिले हैं) कच्छ की खाड़ी (जो अब रेतीली है पर तब नौकावाहन के लिये उपयुक्त थी) से जाती थी। तत्पश्चात् नावें सोनमियामी खाड़ी पर स्थित बालाकोट और पश्चिम की ओर क्रमशः शादी कौर नदी के मुहाने पर सोत्काकोह, और दश्त नदी के मुहाने पर सुत्कगेंडोर पहुंचती थी जहां से अंततः वे फारस की खाड़ी में पहुंचती थी।

मेसोपोटामिया के लेखों में दिल्मुन, मगन और मेलुह्ह से आयातित वस्तुओं का उल्लेख है। फैयल्का और बहरीन के द्वीप जिन्हें कुछ ने दिल्मुन पहचाना है, खजूर

और मोती के लिये प्रसिद्ध थे, लेकिन यह हाथी दांत और कार्नीलियन का स्रोत नहीं। यदि मगन को ओमन पहचानें तो आयात के संदर्भ में उल्लिखित लकड़ी का इस क्षेत्र में अभाव है। मगन से ऐलाबास्टर पत्थर लूट में प्राप्त करने की बात सुमेरी लेखों में कही गई है पर वहां ऐलाबास्टर नहीं मिलता। इनका आयात कर मेसोपोटामिया को निर्यात होता था। फारस की खाड़ी प्रकार की मुद्राओं का सिंधु सभ्यता के स्थल लोथल ओर मेसोपोटामिया के स्थलों में मिलना इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि फारस की खाड़ी के क्षेत्रों के स्थलों के व्यापारियों ने बिचौलिया की भूमिका निभाई थी। कुछ सिंधु सभ्यता का माल सीधे भी मेसोपोटामिया को निर्यातित होता था। मेसोपोटामिया के लेखों में आयातित वस्तुओं में 'हाजा' पक्षी का उल्लेख है जिसकी पहचान मोर से की गयी है। एक मात्र सिंधु सभ्यता के क्षेत्र से ही इस पक्षी का निर्यात संभव था। बाद के काल में जातक कथाओं में भारतीय व्यापारियों द्वारा बेबीलोन में मोर ले जाने का उल्लेख है। एक लेख में हाजा पक्षी के मेलुह्ह में होने और वहां के महल में उसकी आवाज गूंजने की बात कही गयी है।

व्यापार में कौन सी वस्तुएं आयात–निर्यात की जाती थीं इसका ठीक–ठीक अनुमान लगाना आसान नहीं। पिक्लिहल में नवपाषाण संस्कृति के संदर्भ में सेलखड़ी के मनके सिंधु सभ्यता से निर्यातित लगते हैं, शायद इनके बदले में सोना प्राप्त किया गया होगा। यह कहना कठिन है कि सिंधु सभ्यता काल में भी भारतीय क्षेत्र से मसाले और मिर्च का निर्यात होता था, जैसा कि ऐतिहासिक काल में होता रहा। शायद सुगंधित धूप भी उस समय भारत से निर्यात की जाती थी। यह लगभग निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि हाथी–दांत की वस्तुओं का निर्यात होता था। विभिन्न प्रकार के कीमती पत्थरों के भी निर्यात की संभावना है। कपास और कपास से बनी वस्तुएं भी यहां से बाहर भेजी जाती रहीं होंगी। सीप की वस्तुएं लोथल से मुख्य रूप से निर्यातित होती रही होंगी। लोथल में उत्खनन के दौरान सीप के कार्य करने वालों के कारखाने का साक्ष्य मिला। यहां पर विशाल मात्रा में सीप की निर्मित वस्तुएं और कच्चे माल के रूप में सीप मिले। सिंधु सभ्यता में प्राप्त तांबे के धातु–पिण्ड संभवतः मेसोपोटामिया से आयातित थे। सूसा में इनसे मिलते–जुलते धातु–पिण्ड मिले हैं। सिंधु सभ्यता में निर्मित कार्नीलियन के मनके सूसा में मिले हैं। पिगट का कहना है कि उस काल में शायद दासों का व्यापार भी होता रहा हो। वे मोहेंजोदड़ो में प्राप्त नर्तकी की विख्यात कांस्य मूर्ति के संबंध में यह धरणा व्यक्त करते हैं कि मोहेंजोदड़ो के व्यापारी यात्रा के दौरान बलूचिस्तान से किसी नर्तकी को अपने साथ ले आये थे, और उसकी आकृति से प्रेरणा लेकर मोहेंजोदड़ो के किसी कलाकार से नर्तकी की मूर्ति बनाई होगी। उपर्युक्त तथ्य इस मत का समर्थन नहीं करते जिसके अनुसार सिंधु सभ्यता का मेसोपोटामिया से व्यापारिक संबध बहुत कम था।

सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्थलों से कई ऐसी वस्तुएं पाई गई हैं जिनमें बहुत कुछ समरूपता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्थिक क्षेत्र में सुसंगठित शासनतंत्र का पर्याप्त नियंत्रण था। किंतु शासकीय नियंत्रण से ही ऐसी समरूपता आना संभव नहीं लगता। जैसा कि पिगट ने लिखा है, इसके साथ ही कोई वाणिज्यिक संहिता और वस्तुओं के मानकीकरण की कोई व्यवस्था भी रही होगी जिनके द्वारा ईंटों के आकार, बर्तनों के आकार–प्रकार, बाट–बटखरों की तौल का निर्धारण और उन पर नियंत्रण रखा जाता रहा होगा। शायद वणिकों और कारीगरों के अपने संगठन थे, वैसे ही जैसे कि ऐतिहासिक काल में उनके संगठन 'श्रेणी' और 'निगम' थे; और वस्तुओं के निर्माण और व्यापार में इन आर्थिक संगठनों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा होगा। इस सभ्यता में सदियों तक सड़कों को एक सीध में बनना इस बात का द्योतक है कि भूमि पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही परिवार में रहती थी।

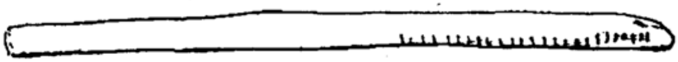
हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो दोनों ही स्थलों पर श्रमिकों (दासों ?) के लिए निर्मित आवास महत्त्वपूर्ण हैं। भारत ही नहीं अपितु एशिया के अन्य देशों के आर्थिक जीवन का एक सुविदित पक्ष है कि एक तरह के व्यवसाय–उद्योग वाले लोग साधारणतः एक ही क्षेत्र में रहते हैं। किंतु सिंधु सभ्यता के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एक ही प्रकार के कार्य करने वाले श्रमिकों के एक साथ रहने के लिए एक ही प्रकार के आवास के निर्माण की योजना स्वयं शासन द्वारा तैयार और क्रियान्वित की गई लगती है। इस बात की संभावना कम है कि ये मकान किसी आर्थिक संगठन द्वारा निर्मित किये गए थे, यद्यपि ऐसा असंभव नहीं हैं। पिगट तो इन्हें पश्चिमी एशिया में अपने ढंग का सर्वप्रथम सुसंगठित उद्योग का द्योतक मानते हैं।

पैमाना (स्केल)

मोहेंजोदड़ो से एक सीप का पैमाना मिला हे। यह खण्डित है। साबुत अवस्था में वह कितने भागों में विभाजित रहा होगा, यह कहना कठिन है। मकाइ द्वारा उसका विवरण प्रस्तुत किया गया है जो संक्षेप में इस प्रकार है। यह 16. 55 सेमी लंबा, 1. 55 सेमी चौड़ा और 0. 675 सेमी मोटा है और इसके केवल एक ही तरफ निशान अंकित हैं। इस पर बराबर–बराबर दूरी पर नौ निशान बने हैं। किन्हीं दो निशानों के बीच की दूरी 0. 66 सेमी है, और पांच ऐसी इकाइयों को दूसरे प्रकार की विभाजक रेखाओं से अलग किया गया है जिनके बीच के माप 3. 3 सेमी हैं। ऐसी संभावना है कि यह दशमलव प्रणाली के 3. 3 सेमी मापदण्ड (स्केल) का खण्डित भाग है। लगभग इसी तरह का पैमाना मिस्र, एशियामाइनर, यूनान, सीरिया इत्यादि प्राचीन संस्कृतियों में भी प्राचीन काल में प्रचलन में था। जैसे मकाइ का कहना है, पैमाने के लिए सीप का प्रयोग इसलिए विशेष उपयुक्त है कि इसमें सिलवटें अथवा दरारें पड़ने की संभावना नहीं रहती और साथ ही तापमान के परिवर्तन का भी इस पर खास प्रभाव

नहीं पड़ता। हां सीप के पैमाने बहुत बड़े आकार के नहीं बन सकते। विभिन्न टुकड़ों को धातु से जोड़ कर लंबा पैमाना बनाया तो जा सकता है पर यह श्रमसाध्य है। इस बात की संभावना अधिक है कि बड़े पैमाने कांसे या तांबें के बने थे। भाग्यवश हड़प्पा से इस तरह के पैमाने का साक्ष्य मिला है। निम्नलिखित विवरण मुख्यतः माधोसरूप वत्स के वर्णन पर आधारित है। यह 3. 75 सेमी लंबा है, इस पर 0. 93 सेमी की विभाजन रेखाएं खिंची हैं जो शायद 51. 55 सेमी के हस्त पर आधारित लगती हैं। इन दो पैमानों का 150 उत्खात भवनों के उदाहरणों पर प्रयोग किया गया और पता चला कि दो तरह के नाप के पैमाने थे – एक हस्त–मापदण्ड जिसकी लम्बाई 50. 75 सेमी से 52 सेमी तक होती थी ओर दूसरा 'फुट' की तरह का पैमाना जो 32. 5 सेमी से 33 सेमी तक का होता था। साधारणतः सिंधु सभ्यता के भवनों की माप इन्हीं के गुणांक में पाई गई है। उदाहरणार्थ मोहेंजोदड़ो का विशाल स्नानागार 32. 75 सेमी पैमाने की इकाई से 36 X 21 था, और हड़प्पा में अन्न कूटने के लिये निर्मित वृत्ताकार चबूतरों का व्यास 33 सेमी की इकाई के आधार पर 10 इकाई था। फ्लिंडर्स पीट्री ने अपने गहन अनुभव के आधार पर यह बताया कि पश्चिमी एशिया में भी प्राचीन काल में 33 सेमी का माप ही अधिकांशतः प्रयुक्त होता था।

लोथल से एक हाथी–दांत का पैमाना मिला है (चित्र 65)। राव का कहना है कि इस पैमाने पर अंकित विभाजन की इकाइयां मोहेंजोदड़ो के पैमाने पर अंकित



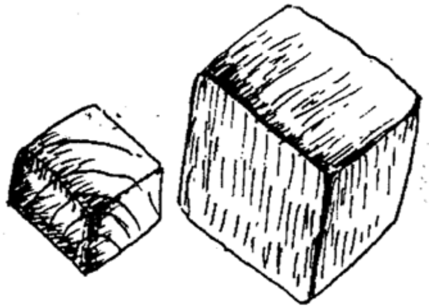
चित्र 65 लोथल : हाथी दांत का पैमाना

इकाइयों से छोटी हैं, और यह पैमाना मोहेंजोदड़ो के पैमाने से अधिक सही लगता है। इसकी चौड़ाई पंद्रह मिलीमीटर और मोटाई छह मिलीमीटर है। इसका कुछ भाग टूट गया है। जो बचा हुआ भाग मिला है उसकी लम्बाई 128 मिलीमीटर है। इस पर 46 मिलीमीटर की लंबाई में 27 विभाजक रेखाएं ही बची हैं। दो रेखाओं के बीच की दूरी 1. 7 मिलीमीटर है। कालीबगां से भी एक पैमाना मिला है पर अभी उसके बारे में विस्तृत विवरण प्रकाशित नहीं हुआ है।

बाट–बटखरे

शायद ही विश्व की किसी प्राचीन सभ्यता के संदर्भ में इतने बाट मिले हों जितने कि सिंधु सभ्यता के संदर्भ में। सिंधु सभ्यता के प्रमुख स्थलों के उत्खनन के दौरान विशाल संख्या में बाट (चित्र 66) मिले हैं। ऐसा नहीं कि ये बाट नगर के कुछ ही स्थानों में (जिन्हें व्यापारिक केन्द्र या कारखाने का स्थल माना जा सकता है) काफी संख्या में मिले हों; ये नगर के विभिन्न क्षेत्रों में कहीं कम कहीं अधिक संख्या में मिले हैं। ये छोटे और बड़े दोनों ही तरह के घरों में पाये गये हैं। सामान्य घरों में इनके

मिलने से यह अनुमान लगाया गया है कि गृहणियां इन्हें अपने घरों में रखती थीं और इनसे इसकी जांच किया करती थीं कि जो सामान बाजार से खरीदा उसे दुकानदार ने सही तौला है या नहीं। इनका उपयोग घर की पुरानी टूटी–फूटी चीजों को कबाड़ी के हाथ बेचने में भी होता रहा होगा। सिंधु सभ्यता के मोहेंजोदड़ो जैसे समृद्ध नगरों में आबादी का एक बड़ा भाग व्यापारियों का था। उनकी दुकानों में तो बाट रहे ही होंगे, साथ ही वे अपने घरों में भी, जिनका कुछ भाग गोदाम की तरह भी उपयोग हो सकता था, बाट रखते रहे होंगे।



चित्र 66 सिंधु सभ्यता के बाट

चन्हुदड़ो में एक भवन से 22 चर्ट के बाट मिले। यह बाट बनाने वाले का घर था। वहीं पर बाट बनाने की कार्यशाला भी थी। ऐसा लगता है कि बाटों का निर्माण कुछ खास सिंधु सभ्यता के केन्द्रों में कड़ी निगरानी में होता था और यहां से उन्हें सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्थलों को निर्यात किया जाता था। काफी सख्त पत्थर से बने पालिश किये ये बाट दीर्घकाल तक प्रयोग के बाद भी मुश्किल से घिसते रहे होंगे।

क्रय–विक्रय हेतु नाप तौल में एकरूपता रहे, इसका सिंधु सभ्यता के लोगों ने पूरा प्रयास किया था, और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली थी। हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो, चन्हुदड़ो और सिंधु सभ्यता के अन्य स्थलों से संस्कृति के विभिन्न चरणों में प्राप्त बाट लगभग एक ही तौल प्रणाली पर आधारित थे। ये बाट कई प्रकार के पत्थरों के बने हैं, किंतु भूरे चर्ट पत्थर से बने बाट सबसे अधिक संख्या में मिले हैं। अन्य पत्थरों में चूनापत्थर, सेलखड़ी, स्लेट पत्थर, कैल्सीडोनी इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इनके बनाने के लिए काफी कठोर पत्थर का चुनाव करना और इनके निर्माण में अत्यंत सावधानी व सतर्कता बरतना इस बात का द्योतक है कि निर्माण कार्य शासकीय नियंत्रण में किया गया था। नीचे मकाइ के वर्गीकरण के आधार पर बाटों का विवरण दिया गया है :–

1. घनाकार – इस आकार के बाट सर्वाधिक संख्या में मिले हैं (चित्र 63. 4)। अधिकांशतः इनके छहों फलक लगभग बराबर हैं। मोहेंजोदड़ो में प्राप्त इस तरह के सबसे छोटे बाट का आकार 0. 75 X 0. 75 X 0. 625 सेमी और सबसे बड़े का 17 X 15 X 9. 5 सेमी हैं। ये चर्ट पत्थर के बने हैं जिनमें से कुछ पर धारियां हैं। इनको पहले छील–तराश कर समतल बनाया गया है और बाद में पालिश कर दी गयी है।

2. ऊपर और नीचे की ओर चपटे वर्तुलाकार बाट – ऐसे बाटों की संख्या अधिक नहीं है। ये कैल्सीडोनी, चूना–पत्थर, चकमक, गोमेद आदि पत्थरों के हैं। मोहेंजोदड़ो में इस प्रकार के केवल छह बाट मिले हैं। ये छोटे और बड़े दोनों आकार के हैं। उपलब्ध बाटों में से अधिकांश भलीभांति बनाए गये हैं। इनकी संख्या कम होने से अनुमान लगाया जाता है कि इनका उपयोग सामान्य क्रय–विक्रय में नहीं था बल्कि इन्हें किसी खास उद्देश्य से बनाया गया था। प्राचीन मिस्र ओर मेसोपोटामिया की संस्कृतियों के संदर्भ में इस तरह के बाट नहीं मिलते।

3. ऊपर और नीचे की ओर चपटे बेलनाकार बाट – मोहेंजोदड़ो में इस तरह के मात्र दो उदहरण हैं। इनकी ऊंचाई 3. 5 सेमी ओर व्यास 4. 5 सेमी है।

4. छेद वाले शंक्वाकार बाट – मोहेंजोदड़ो में इस तरह के बांटों के चार उदाहरण मिले हैं। ये ऊपर की ओर शंक्वाकार हैं। ये भलीभांति तराश कर बनाये गये हैं। इनमें से एक 10. 262 किलोग्राम वजन का है। यह 24. 75 सेमी ऊँचा है और इसके चपटे पेंदे का व्यास 34. 37 सेमी है। भारी होने के कारण प्रयोग करने के लिए और प्रयोग के बाद हटाने में इसे घसीट कर ले जाया जाता था, जिससे इस पर टूटने–फूटने के चिह्न हैं। हड़प्पा में भी इस तरह के बाट मिले हैं और इस तरह का एक बाट नाल (बलूचिस्तान) में भी मिला है। मेसोपोटामिया और मिस्र में इस तरह के बाट नहीं मिलते।

5. ढोलाकार – मोहेंजोदड़ो में पहले मार्शल के निर्देशन में किए गये उत्खनन से इस तरह के आठ और बाद में मकाइ के निर्देशन में किये गये उत्खनन से तीन बाट मिले। हड़प्पा में ऐसे बाट अपेक्षाकृत अधिक संख्या में पाये गये हैं। मोहेंजोदड़ो के अधिकांश ढोलाकार बाट एक किलो से कम वजन के हैं। मिस्र और मेसोपोटामिया की समकालीन और पूर्ववर्ती संस्कृतियों के लोग ऐसे बाटों का प्रयोग करते थे। मकाइ ने सुझाया है कि मोहेंजोदड़ो में शायद इस तरह के बाट किसी ऐसे समुद्रतटीय स्थल से, जिसका सुमेर और एलम से संपर्क था, लाये गये होंगे, क्योंकि सुमेर और एलम में इस तरह के बाटों का अधिक प्रचलन था।

इसके अतिरिक्त कुछ पत्थर की शंक्वाकार वस्तुएं भी मकाइ के अनुसार बाट हो सकते हैं। ये अपेक्षाकृत बहुत कम (कुछ ग्राम) ही वजन के हैं। मोहेंजोदड़ो से चूना–पत्थर की चपटी पेंदे वाली एक वस्तु मिली है, जो 21. 25 सेमी ऊचाई, 2. 62 सेमी व्यास और 26. 5 ग्राम वजन वाली हैं। मकाइ इसके भी बाट होने की संभावना मानते हैं। निर्धन लोग कदाचित् बिना तराशे पत्थर की गिट्टियों का बाट के तौर पर प्रयोग करते रहे होंगे, जैसा कि आजकल भी देहात में कुछ लोग करते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि सिंधु सभ्यता के बाट की तौल गुंजा बीज पर

आधारित थी। यह लगभग 0. 10 ग्राम वजन का होता है और आठ गुंजा बीज की तौल सिंधु सभ्यता के बाट की 0. 871 ग्राम तौल वाली इकाई के बराबर थी। इन बाटों का क्रम–विन्यास विश्व की अन्य प्रचलित तौल प्रणालियों से भिन्न और विशिष्टता लिए है, और इसे यत्नपूर्वक हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न स्थलों पर लागू किया गया था। विभिन्न बाटों की तौल का अनुपात इस तरह है :– 1, 2, 8/3, 4, 8, 16, 32, 64, 160, 200, 320, 640, 1600, 3200, 8000, 12800। सबसे अधिक प्रचलित बाट 16 मान का था, जो वजन में 13. 625 ग्राम था। छोटे तौल वाले माप दून–प्रणाली और बड़े तौल वाले दशमलव प्रणाली पर आधारित थे। प्रभाजित तौल में तिहाई की तौल के बाट भी थे। पिगट ने 16 के गुणक की तौल के आधार को इसलिए भी विशिष्ट बताया है कि आधुनिक काल में भी मीट्रिक प्रणाली के प्रचलन से पूर्व, रूपये में सोलह आने होते थे। किंतु तौल के संदर्भ में (मीट्रिक प्रणाली से पूर्व) भारत में प्रचलित सोलह छटांक का एक सेर का उदाहरण देना अधिक उपयुक्त होगा। मोहेंजोदड़ो से सात ऐसे बाट मिले हैं जो उपर्युक्त तौल प्रणाली में ठीक नहीं बैठते और किसी दूसरी तौल प्रणाली पर आधारित थे। रंगनाथ राव का कहना है कि लोथल के विकसित प्रकाल में जब उसका बेबीलोन के साथ व्यापार चरम विकास पर था, लोथल के व्यापारियों ने सामान्य सिंधु प्रकार के बाटों के अतिरिक्त बेबीलोन के तौल पर भी बाट बनवा कर प्रयोग किये।

बहुत छोटे तौल के बाटों का प्रयोग मुख्यतः गहने बनाने वाले करते रहे होंगे। कीमती सुगंधित पदार्थों एवं बहुमूल्य औषधियों की तौल के लिये भी इनका प्रयोग होता रहा होगा। चन्हुदड़ो के मनके बनाने वाले की दुकान पर इस तरह के कई बाट मिले हैं। बाटों पर कोई तौल के द्योतक लेख या चिह्न अंकित नहीं मिले हैं। इससे यह अर्थ लगाया गया है कि जो व्यापारी–दुकानदार इनका प्रयोग करते थे वे पढ़े–लिखे नहीं थे। किंतु, जैसा कि पिगट का कहना है यह निष्कर्ष समीचीन नहीं लगता। वे अनुभवी रहे होंगे, और उन्हें इनका आकार–प्रकार देखकर पता लग जाता रहा होगा कि कौन बाट किस तौल का है और इसलिए बाटों पर तौल के अंकन के बिना भी काम चल सकता था। ऐसा लगता है कि बेचने और खरीदने वालों में परस्पर विश्वास था जिसके आधार पर इन बाटों की तौल से क्रय–विक्रय होता रहता था। 1986–89 के दौरान की गयी हड़प्पा की खुदाइयों में नगर द्वार पर अनेक बाट मिले जो नगर में आयातित अथवा नगर से निर्यातित माल के तौलने के लिये प्रयुक्त होते रहे होंगे। यह भी मत व्यक्त किया गया है कि इन बाटों, विशेषतः बड़े बाटों, का मुख्य प्रयोग सरकार को कर के रूप में दी गयी वस्तुओं को तौलने के लिये किया जाता था। कर की वसूली नगर द्वार पर की जाती थी और इसलिये वहां पर बड़ी संख्या में बाट मिले हैं।

मिट्टी और धातु के बने तराजू के पलड़े अल्प संख्या में मिले हैं। एक तांबे या कांसे की छड़ भी मिली है जिस पर संभवतः पलड़े लगाए गए थे। इसके किनारे पर पलड़ों को टांगने के लिए बांधी गई रस्सी के चिह्न स्पष्ट थे। तराजुओं का बाटों की तुलना में अत्यंत कम संख्या में पाया जाना यह स्पष्ट करता है कि लोग अधिकांशतः पलड़े और डंडी लकड़ी के बनाते रहे होंगे, जो क्षय होने के कारण सुरक्षित नहीं रह सके।

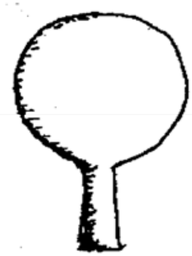
अध्याय 12

प्रसाधन, परिधान तथा आभूषण

परिधान तथा आभूषणों के संबंध में जानकारी के स्रोत हैं – पाषाण प्रतिमाएं (चित्र 31, 32, 33, 34), कांस्य प्रतिमाएं (चित्र 35), मृण्मूर्तियां (चित्र 39) जिन्हें वस्त्र और आभूषण पहने दिखाया गया है, कपड़े के टुकड़े जो नष्ट होने से बच गये हैं और विभिन्न प्रकार के आभूषण। जिस क्षेत्र में हड़प्पा संस्कृति पनपी है वह प्राचीन काल से कपास की अच्छी खेती के लिए प्रसिद्ध रहा है। सिंधु सभ्यता के लोग भी कपास के सूती वस्त्रों का प्रयोग करते थे। कपास की जानकारी मेहरगढ़ में वहां के नवाश्म काल (6000–5000 ई. पू.) में मिलती है। दयाराम साहनी को 1926 में सूत से लिपटा एक बर्तन मिला था जिसके अन्दर गहने थे। मकाइ को मोहेंजोदड़ो में तांबे की वस्तुएं सूत के धागे और कपड़े में लिपटी मिलीं। मोहेंजोदड़ो से ही एक मछली पकड़ने का कांटा धागे से लिपटा उपलब्ध हुआ। आलमगीरपुर की खुदाई से सिंधु सभ्यता के संदर्भ में वस्त्र का जो टुकड़ा प्राप्त हुआ है वह अच्छे किस्म की कपास से बनाये गये सूत का नहीं है। सूती वस्त्रों के अलावा ऊनी वस्त्र भी प्रचलित रहे होंगे। प्राचीन मिस्र की सभ्यता में सन (फ्लैक्स) का प्रयोग वस्त्र निर्माण के लिए होता था। या तो सिंधु सभ्यता के लोगों को सन के उपयोग के बारे में ज्ञान नहीं था अथवा सन से वस्त्र भूमिगत लवणों के प्रभाव से नष्ट होने के कारण खुदाई से इस विषय में कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं हो सका है। सन सूत से अधिक मजबूत होता है, किंतु वस्त्र बनाने के लिए इसे तैयार करना अपेक्षाकृत कठिन होता है। हो सकता है कि इसी कारण सन का उपयोग न किया गया हो। उच्च वर्ग और निम्नवर्ग के लोगों के वस्त्रों में अन्तर रहा होगा, यद्यपि उपलब्ध साक्ष्यों से इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है।

प्रसाधन

सिंधु सभ्यता काल के लोग प्रसाधन प्रेमी थे। उत्खननों से तांबे के दर्पण (चित्र 67), उस्तरे, कंघे, अंजन–शलाकाएं, शृंगारदान इत्यादि प्राप्त हुए हैं। तांबे के दर्पणों को भलीभांति पालिश कर चमकाया गया होगा जिससे प्रतिबिंब स्पष्ट दिखाई देता रहा होगा। ये हत्थेदार थे। कंघे हाथीदांत के पाये गये हैं जिनमें अधिकतर अंग्रेजी अक्षर V की आकृति के हैं। कुछ उदाहरणों में दांत एक ही ओर हैं और कुछ में दोनों ओर। इन पर एक दूसरे को घेरे वृत्तों का भी अलंकरण है। कुछ शलाकायें मिली हैं जिनका ऊपरी भाग बतख के सिर के



चित्र 67 सिंधु सभ्यता का तांबे का दर्पण

समान है, इसके भीतर अंजन या सुरमा रखा जाता रहा होगा।

कांचली मिट्टी के छोटे पात्र हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो और चन्हुदड़ो की खुदाइयों से विभिन्न स्तरों से उपलब्ध हुए हैं। इनके अंदर, यह अनुमान किया जाता है कि कोई शृंगार से संबंधित पदार्थ रखा जाता होगा। हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो और कुछ अन्य स्थलों से प्राप्त अंजन रखने के पात्र और सलाइयों की प्राप्ति इस बात का साक्ष्य है कि स्त्रियां (और शायद पुरुष भी) काजल का प्रयोग करती थीं। मोहेंजोदड़ो के उत्खननों से एक हरे रंग का पदार्थ काफी मात्रा में पाया गया है। अनुमान है कि यह आंखों की सुदंरता बढ़ाने के लिए प्रयोग किया जाने वाला कोई पदार्थ था।

स्त्रियां आभूषण पहनने के साथ–साथ अपने को आकर्षक तरीके से सजाती भी रही होंगी। तांबे की नर्तकी के बाल पीछे संवार कर दाहिनी ओर लटकते दिखाएं हैं। वे अच्छी तरह सुलझे हुए हैं। कुछ नारी मृण्मूर्तियों में पंखाकार वेशभूषा मिलती है। केश सज्जा की विभिन्नता विभिन्न कबीलों या जातियों के द्योतक हो सकते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ उदाहरणों में पुरुषों के भी लंबे बाल हैं। नारी मृण्मूर्तियां विपुल शिरोभूषणों से मण्डित हैं। एकाध उदाहरण में पुष्पों का शिरोलंकरण भी है।

वस्त्र

उत्खननों से प्राप्त पुरुष मूर्तियों की संख्या अधिक नहीं है और जो प्राप्त हुई भी हैं वे अधिकांशतः मस्तक या अधोभाग से खण्डित हैं। अतः उस काल के पुरुषों द्वारा धारण किये जाने वाले वस्त्र तथा आभूषणों के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त करना कठिन है। मोहेंजोदड़ो की प्रसिद्ध योगी अथवा पुरोहित की मूर्ति (चित्र 31) को शाल ओढ़े दिखाया गया है जो सिंधु सभ्यता के लोगों के सुन्दर अलंकृत वस्त्र निर्माण के ज्ञान का उत्तम उदाहरण है। इसमें शाल को बाएं कंधे को ढकते हुए ओढ़ रखा है तथा दायां कंधा खुला छोड़ रखा है। मेसोपोटामिया की कई कब्रों में शवों के पास पिनें पायी गयी हैं। अनुमान है कि पिनें वस्त्र को शरीर पर बांधने के लिए प्रयुक्त होती थीं। हो सकता है कि सिंधु सभ्यता के लोग भी शाल को पिन से बांधते रहे हों। शाल के नीचे अधोवस्त्र पहना जाता रहा होगा, किंतु इस संबध में कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। जिस तरह पुरोहित मूर्ति को शाल ओढ़े दिखाया गया है, उस तरह शाल ओढ़ने की प्रथा आज भी प्रचलित है। इस शाल पर तिंपतिया अभिप्राय है जिसे काढ़ा गया दिखाना अभिप्रेत लगता है। यह अभिप्राय, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, कई प्राचीन संस्कृतियों के संदर्भ में अलंकरण के रूप में मिलता है। पुरुषों के विषय में इतना ही ज्ञात है कि वे मस्तक पर बालों को केश–पाश से बांधते थे और कुछ लोग बांह भुजबंद से विभूषित करते थे। पुरुषों द्वारा वर्गाकार दाढ़ी रखने के साक्ष्य भी सिंधु सभ्यता की मूर्तियों में प्राप्त हैं। दाढ़ी को कंघी किये रहते थे जैसे कि पुरोहित (अथवा योगी) की आकृति में दिखाई देती है। इस तरह से दाढ़ी रखने की परम्परा सुमेर में भी प्रचलित थी। तांबे और कांसे के बने उस्तरे मिले हैं

जिनसे हजामत बनायी जाती रही होगी। इस कार्य में प्रवीण लोगों (नाइयों) का एक अलग वर्ग भी रहा होगा।

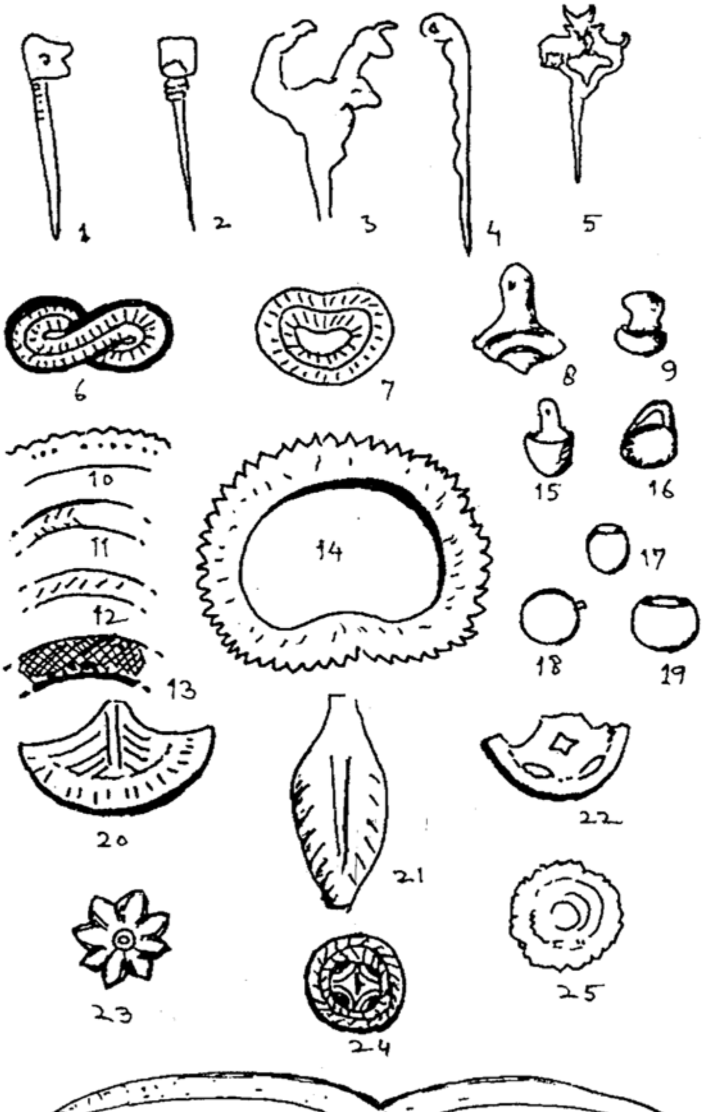
उन नारी मृण्मूर्तियों (चित्र 39) में, जिन्हें मातृदेवी पहचाना गया है, प्रायः विपुल आभूषण एवं अन्य वस्त्रों के धारण करने के साक्ष्य पाये जाते हैं। वे सिर, कान, कण्ठ, भुजा, कटि और पांवों के आभूषण पहने दिखाई गई हैं, जो आकार और आकृति में रोचक विविधता लिए हैं। कुछ नारी आकृतियों को घुटने तक या घुटनों से कुछ ऊपर तक लम्बाई वाला स्कर्ट की तरह का वस्त्र पहने दिखलाया गया है, यह निश्चय कर सकना कठिन है कि यह वस्त्र सिला हुआ होता था अथवा यूं ही शरीर पर चारों ओर लपेटा जाता था। ऐतिहासिक काल में हमें इसी तरह के अधोवस्त्र के दर्शन गुप्त–कालीन मृण्मूर्तियों और अजंता की चित्रकला में मिलते हैं। चंद मूर्तियों में आजकल की सकच्छ धोती की तरह वस्त्र पहने दिखाया गया हैं। कुछ नारी मूर्तियां पंखे की तरह का शिरोवस्त्र पहने दिखाई गई हैं। कटि से ऊपर भाग में वस्त्र नहीं दिखाये गये हैं। लेकिन केवल इसी साक्ष्य से यह निश्चित निष्कर्ष निकालना कि नारियां ऊपर के वस्त्र पहनती ही नहीं थी, समीचीन नहीं होगा। वैसे आज भी कुछ जनजातियां ऐसी हैं जिनमें स्त्रियां कटि के ऊपर नग्न रहती हैं। कुछ पुरुषों को नग्न दिखाया गया है। ऐसा संभवतः धार्मिक कारणों से किया गया था।

आभूषण

विभिन्न पदार्थों से बने आभूषण (चित्र 68, 69, 70) पहनने वाले के ओहदे की जानकारी देते हैं। इसका धार्मिक महत्त्व था और यह धारणा थी कि पहनने वाले की रक्षा भी करते थे और यह धन संचय का भी एक तरीका था। आज सिखों में कंगन पहनना धर्म का अंग है। सिंधु सभ्यता के स्थलों से समूचे और खण्डित आभूषण मिले हैं (चित्र 68)। कुछ स्थलों से विभिन्न आभूषणों के निधान मिले हैं, यथा मोहेंजोदड़ो के 'एच आर' क्षेत्र से और कराची के निकट अलादीनों से। इनसे इस सभ्यता के लोगों की आभूषणों के विषय में रुचि एवं कारीगरों की कार्य कुशलता का परिचय प्राप्त होता है। बड़े चकाचौंध करने वाले आभूषणों के स्थान पर उच्च्य तकनीक के प्रयोग से छोटे आभूषणों को बनाने पर जोर दिया गया। ये आभूषण सोना, चांदी और अर्ध–बहुमूल्य पत्थरों, कांचली मिट्टी तथा मिट्टी से बने हैं। आज कीमती पत्थर के आभूषण मुख्यतः अंगूठियां, ग्रहों की शांति के लिए धारण किये जाते हैं। साथ ही धातुओं से बनी कुछ वस्तुओं का भी कुछ ऐसा महत्त्व रहा है। उस काल में भी कुछ आभूषण धारण करने के संबंध में ऐसी ही धारणा थी या नहीं कुछ कहा नहीं जा सकता। लेकिन मिस्र और बेबीलोन में लोग आभूषणों को उसमें जादुई शक्ति होने की धारणा से भी पहनते थे। कुछ आभूषणों पर धार्मिक चिह्न भी मिलते हैं।

सिर से लेकर पैर तक कई आकार–प्रकार के आभूषण कारीगर गढ़ते थे, जिससे स्पष्ट है कि सिंधु सभ्यता में स्त्रियों का आभूषण प्रेम आजकल की स्त्रियों,

विशेषतः ग्रामीण स्त्रियों से कम नहीं था। स्त्रियां बालों को पिनों और शंक्वाकार आभूषणों से सजाती थीं। खुदाइयों से प्राप्त पिन (चित्र 68. 1—5), मिट्टी, तांबा, कांसा,



चित्र 68 सिंधु सभ्यता के आभूषण

और शंख के बने हैं। मोहेंजोदड़ो से वत्स को एक तांबे की बालपिन का ऊपरी भाग मिला; उस पर हिरन के कान को काटते हुए कुत्ते का अंकन है। वहीं से प्राप्त एक हाथी दांत के पिन का ऊपरी भाग कुत्ते के सिर के समान बना है। कांचली मिट्टी के बने ऐसे ही बालपिन पर ताली बजाते हुए तीन बंदर अंकित हैं। कुछ बालपिन सादे भी हैं। राखीगढ़ी से एक सोने का फीता मिला है।

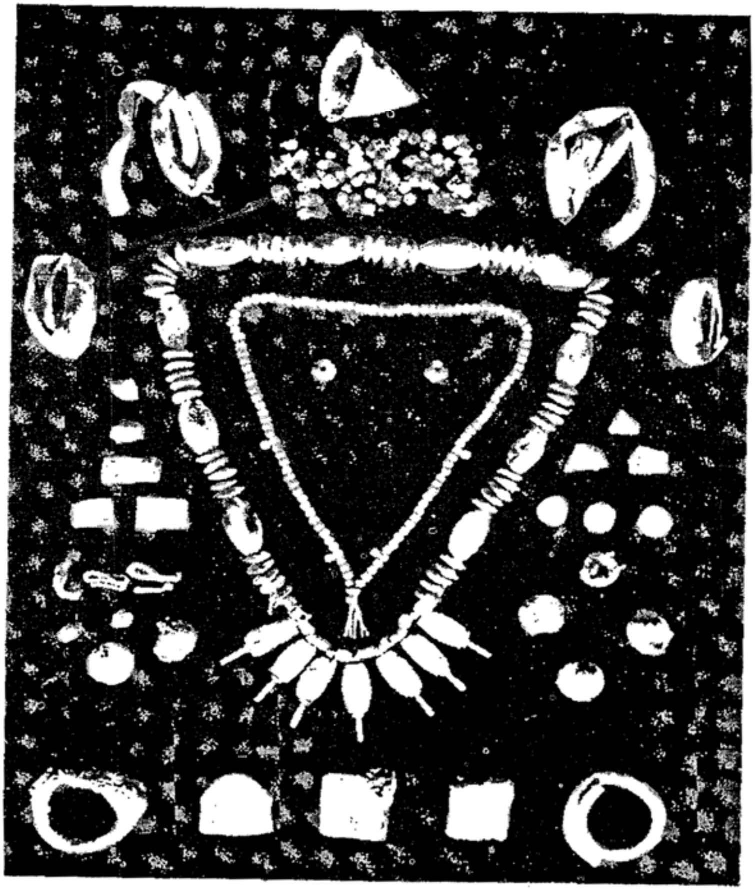
कर्णाभरण (चित्र 68. 8, 9, 24, 25) भी कई तरह के थे। वैसे सामान्यतया दोनों कानों में एक ही तरह का आभूषण पहना जाता था, किंतु मोहेंजोदड़ो की कुछ नारी मृण्मूर्तियों को दोनों कानों में अलग–अलग तरह का आभूषण पहने दिखाया गया हैं। कुछ कर्णफूल में पत्ती का सा किनारा है। कांचली मिट्टी के बने कान की कील और झाले पाये गये हैं। मोहेंजोदड़ो के एक बुंदे पर चार कोने वाला तारा है। मकाइ के अनुसार इसका कुछ जादुई महत्त्व रहा होगा। मेसोपोटामिया की एक मृण्मूर्ति में भी ऐसा ही आभूषण दिखलाया गया है। कांचली मिट्टी के कुछ कान के छोटे बुंदे उपलब्ध हुए हैं। कानों में बाली पहनी जाती थी। बालियां तांबे, कांसे और चांदी की मिली हैं। मोहेंजोदड़ो से एक बच्चे की तांबे की बाली मिली है।

कुछ आभूषणों की पहचान जड़ाऊ टीका से की गई है। ये मिट्टी, हाथी दांत, कांचली मिट्टी और शंख के बने हैं। ये आकृति में कुछ पंखे जैसी, कुछ अर्धचन्द्राकार, कुछ तिपतिया जैसी तथा कुछ ऊँची टोपी के समान हैं, और कुछ पर तीन बूटे अंकित हैं। केश संभाले रखने के लिए फीते (चित्र 68. 26) का उपयोग स्त्री पुरुष दोनों ही करते थे। इस तरह के प्रयोग के लिए सोने की पत्ती के फीते मिले हैं। एक उदाहरण में पत्ती के मध्य भाग में छिद्र है, एक अन्य उदाहरण में मध्य भाग अंग्रेजी के V अक्षर के समान कटाव लिए है। स्त्रियां कानों में विभिन्न प्रकार के कर्णाभरण धारण करती थीं। मातृदेवी की प्रायः सभी मृण्मूर्तियों को कर्णाभरण धारण किये हुए दिखलाया गया है। इनमें से कुछ कर्णफूल जैसी और कुछ ठोस डाट जैसी आकृति के हैं।

साधारणतया भारत में नाक में आभूषण पहनने का रिवाज मुसलमानों के आने से माना जाता है। प्राचीन काल की मूर्ति, चित्र अथवा साहित्य में इस संबंध में कोई निश्चित साक्ष्य नहीं मिलता। सिंधु सभ्यता के अवशेषों में कुछ इस तरह की शंख, सेलखड़ी या कांचली मिट्टी की वस्तुएं मिली हैं जिनकी कतिपय पुराविदों के द्वारा नाक के आभूषण के रूप में पहचान की गई है।

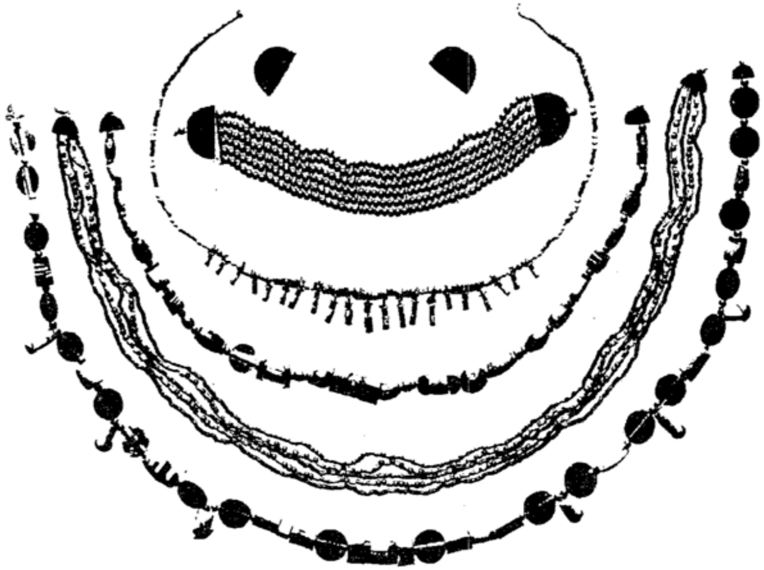
खुदाइयों से कुछ आभूषणों के निधान मिले हैं जिनमें तरह–तरह के आभूषण पाये गये हैं। इस तरह के निधान पहले हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो और हाल ही में (1975) कराची के पास अलादीनों से प्राप्त हुये जिनमें अनेक बहुमूल्य आभूषण मिले। कुछ तो ऐसे हो सकते हैं जो लोगों ने संभवतः चोरों के भय से भूमि में छिपा कर रखे होंगे। गांवों में आज भी लोग सुरक्षा के लिए आभूषण जमीन में गाड़ कर रखते हैं और महिलाएं विशेष उत्सव के अवसर पर ही उन्हें निकाल कर धारण करती हैं। प्राप्त

निधानों में हारों के मनके यथास्थान मिले हैं। उनसे पूरे हार की रूपरेखा पुनर्निर्मित की जा सकी हैं (चित्र 69, 70)। हारों में रोचक विविधता पाई जाती हैं। इनमें विभिन्न संख्या 17, 20, 48 और 53 में मनकों का प्रयोग के उदाहरण मिले हैं। मनके हरे जैस्पर, जेड, नीली कांचली मिट्टी, पकाई सेलखड़ी, हैमाटाइट इत्यादि के बने हैं। जिस हार में 48 मनके हैं उनमें 13 हरे जेड के, 9 कांचली मिट्टी के, और 26 सेलखड़ी के हैं। सेलखड़ी के मनकों के किनारे सोने के हैं। और जिस हार में 53 मनके हैं उसमें 7 लोलक हैं, 26 वर्तुलाकार सोने के किनारों वाले सेलखड़ी के मनके, 2 कांचली मिट्टी के और 18 गोमेद तथा हैमाटाइट के मनके हैं।



चित्र 69 मोहेंजोदड़ो : आभूषण

हड़प्पा से सोने के मनकों वाला एक सुन्दर 6 लड़ी का हार मिला है। इसमें छह छेद वाले अंतरक हैं। छोटे–छोटे सोने तथा सेलखड़ी के बने मनकों और लोलकों वाला हार भी पर्याप्त आकर्षक है। मोहेंजोदड़ो से मार्शल को एक काफी बड़े आकार वाला हार प्राप्त हुआ है। हार के बीच में नलीदार ढोलाकार गोमेद के मनके हैं। ये मनके एक दूसरे से पांच चपटे गोल सोने के मनकों द्वारा अलग–अलग गुंथे थे। सात



चित्र 70 मोहेंजोदड़ो : आभूषण

गोमेद के मनकों के बीच सोने के मढ़े किनारों वाले सेलखड़ी के मनके गुंथे थे। मोहेंजोदड़ो से ही एक कार्नीलियन के मनकों से बना पर्याप्त लम्बा हार उपलब्ध हुआ है। इसकी डोरियां तो नष्ट हो गई हैं किंतु मनके हार में जिस तरह गुंथे हुये थे उसी रूप में मिले हैं। इसमें दोनों किनारों पर छः छः तांबे के अंतरक हैं। हर कार्नीलियन मनके के बाद एक तांबे का मनका गुंथा है। हार के एक सिरे पर ताम्र–निर्मित अर्धचन्द्राकार और दूसरे सिरे पर नली जैसा अंतक है।

हारों के लोलक, अंतक और अंतरक अलग–अलग आकार तथा पदार्थों के बनाये गये थे। इनमें से कुछ लोलक तो बड़े आकर्षक हैं जैसे गोमेद का अर्धचन्द्राकार, कांचली मिट्टी का पंखाकार, नीली कांचली मिट्टी का पत्राकार, साधारण कांचली मिट्टी का हृदयाकार, सेलखड़ी का पुष्पाकार। हड़प्पा से एक ऐसा अंतक मिला है, जिसमें तीन छिद्र हैं जो अन्ततः एक ही छिद्र में मिल जाते हैं। अंतरक दो तरह के हैं – लंबी

चपटी पट्टी की तरह जिसमें इच्छानुसार कम या अधिक छिद्र किये गये हैं, और वे जो साधारण मनकों की तरह के हैं।

मोहेंजोदड़ो से कांचली मिट्टी, शंख, मिट्टी और सेलखड़ी से बनी चूड़ियां मिली हैं। स्त्रियां कई चूड़ियां पहनती थीं। आज चूड़ियां सुहाग (पति के जीवित होने) का सूचक मानी जाती हैं। शायद इनका ऐसा ही कुछ महत्त्व उस काल में भी रहा हो। नर्तकी की कांस्य मूर्ति में उसकी बांयी भुजा चूड़ियों से बोझिल दिखायी गयी है। नर्तकी के दायें हाथ की कलाई में केवल तीन–चार चूड़ियां मिलती हैं और भुजबन्ध के रूप में तीन। मृण्मूर्तियों के हाथों में तीन, चार या पांच चूड़ियां मिलती हैं। हड़प्पा के कब्रिस्तान में एक नारी कंकाल सात चूड़ियां युक्त मिला। असमान या समान संख्या में चूड़ियों को पहने दिखाने के पीछे कोई विशेष आशय था या नहीं यह कहना कठिन है। यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ पुरुष आकृति को भी कई कंगन पहने दिखाया गया है।

काशीनाथ दीक्षित को मोहेंजोदड़ो से सोने के पतले पत्र मिले जो मूलतः चूड़ियां रही होंगी। कंगन और चूड़ियां अनेक पदार्थों की बनी थी। हड़प्पा के एक निधान से सोने का बना एक कंगन प्राप्त हुआ है। इसके दोनों किनारे अंदर की ओर मुड़े हैं। इसका व्यास 4. 41 सेमी है। वत्स को यहां से एक अंडाकार चूड़ी मिली थी। कुछ मृतकों को आभूषण पहने ही दफनाया गया था। मोहेंजोदड़ो से सोने की चूड़ियां मिली हैं ये अन्दर से पोली हैं। मकाइ को एक निधान में चार चूड़ियां मिली थीं जिनमें से एक चूड़ी में अंदर लाख होने के भी प्रमाण हैं। चांदी की चूड़ियां भी बनायी जाती थीं। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त चांदी की एक अण्डाकार चूड़ी को मार्शल ने प्रकाशित किया है। इसके दोनों कोने अंदर की ओर झुके हैं। इससे मिलती–जुलती चूड़ियां सीरिया में भी मिली हैं जिन्हें अमेनम्हत (1938–1904 ई. पू.) की चूड़ियों पहचाना गया है।

कांसे की बनी चूड़ियां चपटे या गोल तार से बनाई गई हैं। अधिकांश उदाहरणों में तार को गोलाई देकर चूड़ी तैयार कर ली गई है। इस तरह की बनी हुई कांसे की चूड़ियां किश, हिसार, और शाह टेप से भी पायी गयी हैं। कांचली मिट्टी की बनी कुछ चूड़ियां सादी हैं और कुछ पर अभिप्राय उत्कीर्ण हैं। कुछ पर V अक्षर जैसा अलंकरण है। हृदय जैसे आकार वाली चूड़ियां भी प्राप्त हुई हैं। त्रि–अरीय डिजाइन वाली चूड़ियां मोहेंजोदड़ो, लोहुंजोदड़ो और कोटला निहंग से पायी गयी हैं। सफेद पेस्ट की बनी चूड़ियां खूब अलंकृत हैं। इस तरह की चूड़ियां मेसोपोटामिया में भी लोकप्रिय थीं। सेलखड़ी की चूड़ियों पर रेखांकन मिलता है। इन पर V के आकार का तिरछी रेखाओं का अलंकरण है। सर्वाधिक संख्या में चूड़ियां मिट्टी की हैं। यह सादी और अलंकृत दोनों तरह की पायी गयी हैं। भूरी, काली और लाल रंग की चूड़ियां मिली हैं। वत्स के अनुसार मिट्टी की चूड़ियों में जो लाल रंग मिलता है उसका मुख्य कारण फेरस आक्साइड, मैंगनीज तथा टिन आक्साइड का मिश्रण है। हृदय की

आकृति से मिलती जुलती मिट्टी की चूड़ियां बहुतायत से पायी गयी हैं। मिट्टी की चूड़ियां कुम्हारों ने बनाई होगी। शंख की चूड़ियां दो तरह की हैं। उन्हें या तो दो भागों में बनाया गया है, अथवा शंख से पूरी चूड़ी की आकृति काट कर बनायी गयी है। पत्थर की चूड़ियां बहुत ही विकसित तकनीक से बनीं थीं। इनके निर्माण में अत्यंत उच्चताप का प्रयोग हुआ है।

मिट्टी और तांबे की अंगूठियां (चित्र 68. 17, 19) भी उत्खनन में मिली हैं। ये या तो साधारण तौर पर तार को मोड़ कर तैयार की गयी हैं या चपटा करके बनायी गयी हैं। अंगूठियां तार के दो, तीन, चार, पांच या सात बल देकर बनी हैं। चांदी के एक दो ही उदाहरण हैं, सोने की एक भी अंगूठी नहीं मिली। कुछ कांचली मिट्टी के भी उदाहरण हैं। शंख की अंगूठियों के बहुत से उदाहरण मोहेंजोदड़ो में प्राप्त हैं। इन पर कोई डिजाइन नहीं हैं।

स्त्रियां कर्धनी और पाद–भूषण भी पहनती थीं जैसा कि मृण्मूर्तियों के अंकन से स्पष्ट है। मोहेंजोदड़ो से सिर की आकृति वाली एक कांच की ढली हुई चकती मिली है। इसका व्यास 5. 08 सेमी है। इसमें ऊपर से नीचे दो छिद्र हैं। इसके बारे में यह अनुमान किया जाता है कि यह चकती किसी कर्धनी का भाग रही होगी। पैरों में प्रायः मोटे कड़े पहने दिखलाये गये हैं। ये कड़े किस धातु के बनाये जाते थे यह ज्ञात नहीं है, क्योंकि उत्खननों में कोई कड़ा प्राप्त नहीं हुआ है। लखियो पीर से मजुमदार को एक ताम्र मूर्ति का पैर मिला जिसमें एक ही खंड से निर्मित पाद–कटक दिखलाया गया है। क्नोसास के भित्ति चित्रों में भी इस तरह के पाद–कटक का चित्रण है। मोहेंजोदड़ो की कांस्य नर्तकी की मूर्ति को कई कटक पहने दिखलाया गया है। बेबीलोन में स्त्रियां तीन से पांच तक कटक धारण करती थीं, जैसा कि खुदाई से प्राप्त अस्थिपंजरों के साथ मिले आभूषणों से स्पष्ट है। बेबीलोन में हड़प्पा संस्कृति की कुछ मिट्टी की बड़े आकार (लगभग 3. 8 व्यास) की चूड़ियां उपलब्ध हुई हैं। लखियोपीर से भी एक इसी व्यास का खण्डित मृण्मय छल्ला मिला। इन्हें शायद पैरों में पहना जाता रहा होगा।

आभूषणों में ताबीज की भी गणना की जा सकती है। सिंधु सभ्यता के ताबीजों में आकार–प्रकार में रोचक विभिन्नता मिलती है। ये या तो त्रिभुजाकार या चतुर्भुजाकार हैं अथवा पशु आकृति के है। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो दोनों स्थानों से त्रिभुजाकार शंख के बने ताबीज मिले हैं। चूना–पत्थर का एक चतुर्भुजाकार पदक की आकृति का उदाहरण मोहेंजोदड़ो से मिला है। इस पर स्वस्तिक और अनंत सर्पिल रेखा है। हड़प्पा से एक पक्षी की आकृति का टूटा हुआ कांचली मिट्टी का ताबीज पाया गया। पक्षियों की शक्ल के ताबीज अन्य स्थानों से भी मिले हैं। उर और किश में फाख्ता पक्षी बहुत लोकप्रिय था। कार्नीलियन से बने पक्षी की आकृति के आभूषणों के उदाहरण पिप्राहवा और तक्षशिला में ऐतिहासिक युग के स्तरों में मिले हैं। इसके अतिरिक्त

कांचली मिट्टी और मछली, गिलहरी और भेड़, मिट्टी का बैल, शंख से निर्मित बैल का सिर, मिट्टी के बंदर की आकृति के ताबीज हड़प्पा से उपलब्ध हुए हैं। अन्य पशुपक्षियों में कछुआ, सर्प, सुअर, हाथी, चीता और उलूक हैं जो अधिकांशतः कांचली मिट्टी के हैं। इनमें से भेड़ का धार्मिक महत्त्व मिस्र में था। गार्डन चाइल्ड का विचार है कि हो सकता है सिंधु सभ्यता के लोगों की भी ऐसी धारणा रही हो। मिस्र में ताबीजों के ऐसे उदाहरण चतुर्थ सहस्राब्दी ई. पू. के हैं। कुछ क्रीट के मिनिओन 2 कालीन भी हैं। कीमती पत्थरों के बने पशुओं की आकृति के ताबीज पहनने की प्रथा आज भी हमारे देश में है।

अध्याय 13
आमोद–प्रमोद

आमोद–प्रमोद भी जीवन का आवश्यक अंग है। यह स्वाभाविक है कि सिंधु सभ्यता के लोग भी जीवन को मधुर बनाने के लिए नाना प्रकार के मनोविनोद करते रहे होंगे। उनके साहित्यिक मनोविनोद, गोष्ठियाँ, कथा–कहानियां, नाटक इत्यादि के बारे में प्रमाण के अभाव में कुछ भी कहना कठिन है। मनोविनोद से सम्बन्धित काठ और अन्य ऐसे पदार्थों की बनी वस्तुएं जो शीघ्र नष्ट हो जाती हैं, उपलब्ध नहीं हैं, यद्यपि यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि आजकल की तरह लकड़ी के खिलौने और अन्य मनोरंजन की सामग्री उस समय भी बनते रहे होंगे। सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्थलों से जो पुरावशेष प्राप्त हुए हैं उन्हीं के आधार पर तत्कालीन लोगों के आमोद–प्रमोद के साधनों के बारे में अनुमान लगाये जा सकते हैं।

मिट्टी के खिलौने

कुछ स्त्रियों तथा पुरुषों की मृण्मयी आकृतियों का तो धार्मिक महत्त्व लगता है, किंतु कुछ ऐसी भी है जो खिलौने के रूप में प्रयुक्त होती रही होंगी। उनमें कुछ तो इतने साधारण है कि उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि वे बच्चों की ही कृति रही होंगी। इस सिलसिले में बौनों की आकृतियों का मुख्य रूप से उल्लेख किया जा सकता है। जानवरों की मूर्तियां, कुछ अपवादों को छोड़कर, निश्चय ही बच्चों के खिलौने थे। मिट्टी की बनी बैलों की कुछ आकृतियां मिली हैं जिनके कूबड़ और पीछे के भाग में छेद हैं जिनमें रस्सी डालकर सिर को (जो अलग से बनाकर लगाया गया था) हिलाया–डुलाया जा सकता है (चित्र 42. 11)। यह बच्चों के मनोरंजन का साधन रहा होगा। मिट्टी की बनी बंदर की एक ऐसी आकृति मिली है जिनमें झुकाव लिए छेद था। इस छेद में रस्सी डालकर इसे खिसकाया जा सकता था। इसे देखकर बच्चों में कौतूहल होता रहा होगा और वे प्रसन्न होते रहे होंगे।

मिट्टी की खिलौना–गाड़ियों के पहिये बड़ी संख्या में मिले हैं जिन्हें सिंधु सभ्यता के बच्चे गाड़ी से जोड़कर मनोरंजन किया करते थे। पहियों में एक ओर का धुरा कुछ उठा हुआ है। सुमेरी संस्कृति में भी सिंधु सभ्यता से मिलते–जुलते पहिये प्राप्त हुये हैं, पर उनमें दोनों ओर धुरे दिखाये गये हैं। खिलौना–गाड़ियों के कई ढांचे भी मिले हैं (चित्र 42. 1, 2)। इन पर छिद्र बने हैं जिनमें डंडे लगाये जाते थे। ये उस समय प्रचलित बैलगाड़ियों की अनुकृतियां होंगी। सिंध में चलने वाली वर्तमान काल की बैलगाड़ियों से वे बहुत कुछ मिलती–जुलती हैं। कुछ गाड़ियों में अंग्रेजी के अक्षर 'वी' (V) के आकार का उठान है। कुछ की आकृति अवतल तथा दीवार अपेक्षाकृत

कुछ छोटी है। हड़प्पा से प्राप्त एक मिट्टी और कांसे की गाड़ी का माडल आज के इक्के से कुछ मिलता–जुलता है। हड़प्पा की ही एक खिलौना गाड़ी की आकृति उल्टी काठी, और दूसरी की नौका के समान है। चन्हुदड़ो के उत्खनन में मिट्टी की गाड़ी का प्रतिरूप मिला है। इनमें से एक में गाड़ी हांकने वाले को हाथ में कोड़ा पकड़े दिखाया गया है।

मिट्टी की बनी एक आकृति में सिर और सींग तो मेढ़े के हैं किंतु शरीर तथा पूंछ चिड़ियां की है। यह लंबाई में साढ़े चार इंच है और अंदर खोखली है। इस आकृति के दोनों पार्श्व में छेद हैं जिसमें अनुमानतः एक डंडी लगी रही होगी। या तो उस डण्डी पर पहिये लगाकर इसे गाड़ी बनाया गया होगा या डंडी पर पशु को झुलाया जाता रहा होगा। इसकी गर्दन में भी छेद हैं जिसमें रस्सी डालकर बच्चे इस आकृति को आगे खींच कर चलाते रहे होंगे। इसका प्रयोजन बच्चों का मनोरंजन ही था। पक्षी जुते गाड़ियों का प्रचलन यूरोप में 1300 ई. पू. और चीन में ऐतिहासिक काल में विद्यमान था। भारत में सिंधु सभ्यता में ही नहीं, ऐतिहासिक काल में भी इस तरह के खिलौने मिले हैं (उदाहरण के लिए वैशाली की पुरातात्त्विक खुदाई से)। नन्नी गोपाल मजुमदार ने यह सुझाया है कि चीनवासियों ने इस प्रकार के खिलौने बनाना भारत से सीखा होगा। ऐतिहासिक काल में भारत और चीन के मध्य संबंध थे और यही नहीं, बल्कि इस बात की भी संभावना है कि यूरोपीय उदाहरणों के प्रेरणा स्रोत भी शायद भारतीय खिलौने ही रहे हों।

लोग पक्षियों को पिंजरों में रखकर पालते थे (चित्र 42. 10)। चोंच खोलकर चहचहाती सी एक चिड़िया को पिंजरे के भीतर दिखाया गया है। इसमें किसी गाने वाली चिड़िया को दिखाना अभिप्रेत लगता है। यह चिड़िया बुलबुल की तरह लगती है। संस्कृत साहित्य में पालतू पक्षियों के बड़े रोचक उल्लेख मिलते हैं और ऐतिहासिक काल की कई मूर्तियों में नारी के साथ उनके अंकन मिलते है। पिंजरे नाशपाती की आकृति के हैं। शायद ये लोग मुर्गा, तीतर इत्यादि पक्षियों को भी लड़ाते थे। इन्हें भी पिंजरों में रखा जाता रहा होगा।

मिट्टी के झुनझुने पर्याप्त संख्या में पाये गये हैं। ये गेंद की तरह गोल हैं। कुछ तो इनमें बिना चित्रण के हैं किंतु कुछ पर लाल रंग का कुछ डिजाइन बना हुआ है। ये पोले हैं और इनके भीतर कंकड़ भरे हैं। फाख्ता की आकृति के जो खिलौने मिले हैं, वे खोखले हैं और उनमें पूंछ के पास पीठ पर छेद बना है (चित्र 42. 4)। छेद पर मुंह लगाकर फूंकने से सीटी की तरह की आवाज निकलती है। बच्चे इनसे सीटी बजाते रहे होंगे और फाख्ता की आवाज की भी नकल करते रहे होंगे। जैसा वत्स ने उल्लेख किया है, आज पंजाबी में 'घुग्गू' शब्द का अर्थ ही फाख्ता की शक्ल की सीटी है। यह संभव है कि सिंधु सभ्यता में भी इसी परंपरा के अनुसार सीटियों को फाख्ता की आकृति दी गई हो। एक डंडे पर एक छोटा–सा जानवर स्थित है जिसकी

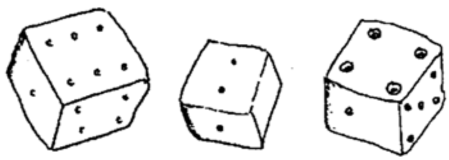
पहिचान कठिन है। यह भी एक प्रकार का खिलौना लगता है। अन्य प्राचीन सभ्यताओं में जानवरों की आकृति वाले झुनझुने मिलते हैं पर सिंधु सभ्यता में इस तरह के झुनझुनों का सर्वथा अभाव है।

हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो से मिट्टी के तराजू मिले हैं जिनसे बच्चे खेलते रहे होंगे। तराजू का मिट्टी का बना एक पलड़ा सुरकोटड़ा में पाया गया है। मिट्टी के सांचे भी मिले हैं जिनके आकार–प्रकार से लगता है कि उनका उपयोग बच्चों द्वारा खेल के दौरान मिट्टी की खिलौना–रोटियां या खिलौना–मिठाई बनाने के लिए किया जाता रहा होगा। मिट्टी की बनी सिलें और उनसे जुड़े हुए मिट्टी के बट्टे भी मिले हैं; ये भी बच्चों के खिलौने रहे होंगे। मिट्टी की बनी कुर्सी के छोटे–छोटे माडल मिले हैं। ये असावधानी से बने हैं और बच्चों की कृतियां लगती हैं। गुड़ियों के खेल में गुड़ियों को वे लोग कुर्सी पर बिठाते रह होंगे। मिट्टी की बनी हुई एक टोकरी हड़प्पा के विशाल अन्नागार के पूर्वी भाग के समीप पायी गयी है। यह सिंधु सभ्यता में इस तरह का एकमात्र उदाहरण है। यह भी बच्चों के खेल की वस्तु रही होगी।

कुछ सेलखड़ी तथा लाजवर्द की बनी आकृतियां मिली हैं जिनके ऊपरी भाग में एक खांचा बना है। ये समतलोत्तल हैं। आज भी बच्चे सिंधु सभ्यता में प्राप्त उपर्युक्त वस्तुओं से मिलते जुलते उपकरणों से खेलते हैं, और यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि उस काल में भी वे खेल में प्रयोग की जाती रही हों।

पांसे का खेल

सिंधु सभ्यता के लोग पांसे का खेल भी खेलते थे। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि उस काल में पांसे का खेल अत्यन्त लोकप्रिय था, और ऐतिहासिक काल के साहित्य में भी इस खेल के अनेक महत्त्वपूर्ण संदर्भ मिलते हैं। राजाओं के लिए तो यह एक प्रकार से अनिवार्य व्यसन था। हड़प्पा में सात पांसे – चार मिट्टी के, दो पत्थर के और एक कांचली मिट्टी के मिले हैं। मोहेंजोदड़ो में भी मिट्टी और पत्थर के बने घनाकार पांसे (चित्र 71) मिले हैं। ये पांसे आजकल के पांसो से मिलते–जुलते हैं। इनका आकार लगभग 3 सेमी X 3 सेमी X 3 सेमी से लेकर 3. 81 सेमी X 3. 81 सेमी तक है। मोहेंजोदड़ो के पांसों का परीक्षण करने पर मकाइ ने यह पाया कि इन पांसों के कुछ पक्ष समतल नहीं हैं और इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यह संभवतः ऐसा जानबूझकर इस उद्देश्य से बनाया गया था कि पांसा फेंकने पर ज्यादातर अधिक नंबर वाला हिस्सा ही ऊपर की ओर दिखे जिससे पांसा फेंकने वाले को अधिक अंक मिले। लगता है कि लोग जुआ खेलने के लिए अपने–अपने पांसे लाते थे और इस तरह उन्हें बनाते थे कि



चित्र 71 सिंधु सभ्यता के पांसे

दांव अच्छा लगे और वे विजयी बने। इनमें से कुछ पांसे पर्याप्त कलात्मक हैं। इन पांसों के छहों नम्बर पड़े हैं जो उथले छेदों के रूप में हैं। इनकी संख्या एक से छः तक है। मोहेंजोदड़ो के अधिकांश पांसे इसी तरह के बने हैं। अधिकांश पांसे का वह पक्ष जिस पर एक छिद्र खुदा है उसके उस पक्ष के ठीक पीछे पड़ता है जिस पर दो छेद बने हैं। और इस तरह तीन छेद वाले पक्ष की उल्टी ओर चार और पांच के विपरीत छः पड़ता है। यह उल्लेखनीय है कि इस तरह का पांसा टेप गावरा (Tape Gawra) में मिला है जो उस क्षेत्र की सिंधु सभ्यता से संपर्क का द्योतक लगता है। आधुनिक पांसों में इस तरह के नंबर होते हैं कि विपरीत दो पक्षों पर अंकित छिद्रों का योग सात हो, यथा छः छिद्र वाले पक्ष के उल्टी ओर एक, पांच छिद्र वाले के उल्टी ओर दो, और चार छिद्र वाले पक्ष के उल्टी ओर तीन। हड़प्पा के चार पांसों में तो उपर्युक्त मोहेंजोदड़ो के पांसों की तरह ही निशान बने हैं, लेकिन दो में एक के उल्टी ओर दो, तीन के उल्टी ओर पांच और चार के उल्टी ओर छः हैं, और एक उदाहरण में तो आधुनिक पांसों की तरह एक छः के विपरीत, दो पांच के उल्टी ओर, तथा तीन चार के उल्टी ओर मिला है। अंतिम प्रकार का एक पांसा बेल्लासिस (Bellasis) को ब्राह्मणाबाद में 1854 में मिला था। पीट्री ने इस अंतिम प्रकार के पांसे का मिस्र की प्राचीन संस्कृतियों के संदर्भ में भी प्राप्त होने का उल्लेख किया है। लेकिन मिस्र के पांसों पर अन्य प्रकार से भी नंबर दिया गया था, इसके लिए कोई निश्चित नियम नहीं मालूम पड़ता। मोहेंजोदड़ो में दो पांसे एक दूसरे से कुछ ही दूरी पर मिले। हड़प्पा में पाये गये तीन पांसे, दो पकाई मिट्टी के और एक पत्थर का, समान आकार के थे, लेकिन ये तीनों एक दूसरे से काफी दूरी पर मिले थे। यह कहना कठिन है कि सिंधु सभ्यता के लोग खेल में एक बार के दांव में एक से अधिक पांसों का प्रयोग करते थे या नहीं।

मोहेंजोदड़ो के पांसों में ज्यादा टूट–फूट नहीं हुई है। इन्हें, विशेषतः मिट्टी के पांसों को, मुलायम सतह वाली वस्तु, शायद कपड़े, के ऊपर फेंकते रहे होंगे। लेकिन हड़प्पा के न केवल मिट्टी के बल्कि पत्थर के भी पांसों पर टूट–फूट के स्पष्ट चिन्ह हैं, जिससे लगता है कि इन्हें किसी सख्त सतह या जमीन पर फेंक कर खेलते थे। वे लोग इन पांसों से ही पूरा खेल खेलते थे अथवा इनकी सहायता से चौपड़ जैसा कोई खेल, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। हाथी दांत या हड्डी के बने कुछ आयताकार, कुछ वर्गाकार, कुछ गोल काट वाले और कुछ तिकोने उपकरण पर्याप्त संख्या में मिले हैं। ये सावधानी से बनाये गये हैं और कई पर पालिश भी है। इनके भी जुआ खेलने में प्रयोग किये जाने की संभावना लगती है। उनके तीन पक्षों पर क्रमशः एक, दो और तीन निशान हैं। बाकी पक्ष लंबी रेखाओं से अलंकृत हैं। कुछ पर खास तरह के चिन्ह हैं जो अधिकतर सभी तरफ एक से हैं। इन चिह्नों का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है।

चौसर

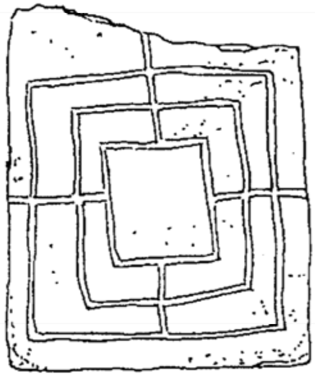
सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्थलों के उत्खननों से मिट्टी, कांचली मिट्टी, शंख, संगमरमर, स्लेट, सेलखड़ी आदि की बनी गोटी की तरह वस्तुएं पायी गयी हैं। कभी–कभी इन्हें अलंकृत भी किया गया है। ये विभिन्न आकार–प्रकार की हैं। चतुष्कोण गोटियाँ मोहेंजोदड़ो मे पर्याप्त संख्या में मिली हैं। इस आकार में एक गोटी कांसे की और अनेक पेस्ट की बनीं मिली हैं। सुमेरी संस्कृति में भी इस तरह की गोटियां मिली हैं। इस तरह के आकार की गोटियों को उठाकर दूसरे खाने में रखना सुविधाजनक नहीं होता इसलिए कदाचित् उन्हें सरकाकर चलाते रह होंगे। एक चार भुजा वाले गोटी मिली है, और एक तिकोन पार्श्व वाली जिसका सिरा और तल चपटा है। कुछ घनाकार हाथीदांत के पांसे भी मिले हैं जिनके सभी ओर एक ही तरह के निशान हैं। इनमें से कुछ तो विशिष्ट आकृति के हैं और परंपरागत शैली में निर्मित लिंगों से मिलते–जुलते हैं। ये सम्भवतः लिंग ही थे और उनका धार्मिक महत्त्व भी रहा होगा, लेकिन बाकी गोटियां ही रही होंगी। लोथल के उत्खनन से विभिन्न पशुओं (चित्र 72) यथा घोड़ा (?), मेढ़ा, कुत्ता और बैल के सिर वाली गोटियां भी मिली हैं जो अपने आप में बहुत कौतूहलपूर्ण हैं, और आज के शतरंज की गोटियों के अधिक निकट हैं। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त थोड़ी सी मानव मृण्मूर्तियों को भी उनके आकार–प्रकार के आधार पर मकाइ ने गोटियां ही माना है। इनको खेलने के लिए लकड़ी के बोर्ड बनाये गये होंगे जो नष्ट हो गये हैं। वूली को उर में लगभग सिंधु सभ्यता के समकालीन सभ्यता के संदर्भ में लकड़ी के दो बोर्ड मिले। एक में बीस खाने थे और दूसरे में केवल बारह। इनमें शंख से भराई की गई थी। इस तरह के खेल में आज के शतरंज के खेल में प्रयोग की जाने वाली गोटियों से कहीं कम गोटियां प्रयुक्त होती रही होगी।



चित्र 72 सिंधु सभ्यता की पशु–शीर्ष वाली गोटियां

सिंधु सभ्यता के संदर्भ में पर्याप्त संख्या में प्राप्त हुई इन गोटियों में एक ही आकार–प्रकार की गोटियां तीन या चार ही मिली हैं। इससे भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यहां खेल थोड़ी ही गोटियों से खेला जाता था। मोहेंजोदड़ो में दो ईंटें मिली हैं जिन्हें खेल के बोर्ड की तरह इस्तेमाल किया जाता रहा होगा। ये खण्डित हैं। एक ईंट में चार कतारों में उथले गड्ढे हैं और एक किनारे पर चार (शायद मूलतः पांच) वर्गाकार छेद हैं। यह कहना कठिन है कि इस बोर्ड पर कितने छेद थे, किंतु सर्वाधिक छेद वाली कतार में कुल पन्द्रह छेद हैं। इनमें गोटी की तरह प्रयोग के लिए संभवतः गुठलियों का प्रयोग करते रहे होंगे। गड्ढों की संख्या से मकाइ ने अनुमान लगाया कि शायद चार या पांच लोग इस खेल में भाग लेते थे। मकाइ के अनुसार मेम्फिस में प्राप्त एक बोर्ड समानता में इसके निकट है जिसमें चौदह छेदों वाली तीन

कतारें हैं। इसी विद्वान् ने युगाण्डा (अफ्रीका) के आजकल के आठ छेद वाली चार कतारों वाले बोर्ड का भी तुलना के लिए उल्लेख किया है। इसे दो ही लोग खेलते हैं। मोहेंजोदड़ो में प्राप्त दूसरी खंडित ईंट पर मकाइ के अनुसार मूलतः तीन कतारें थीं जिनमें से प्रत्येक में चार–चार खाने थे। किंतु उन्होंने यह भी संभावना व्यक्त की है कि हो सकता है कि पूरा बोर्ड कई ईंटों को साथ जोड़कर बनाया गया हो और ईंट उसका ही एक भाग हो। इस ईंट के आयत में गुणा का चिह्न था जो खेल में 'घर' का परिचायक लगता है। मकाइ ने ठीक ही कहा है कि घर की फर्श की ईंट पर इस तरह का चौसर बना मिलना इस बात का द्योतक है कि घर के नौकर लोग विशेष रूप से उसका प्रयोग करते थे। एक ईंट पर चार कतारों में उथले गड्ढे बनाये गये हैं जिनमें गोलियों की सहायता से आजकल के बच्चों की तरह खेल खेलते थे। लोथल से भी खेलने के बोर्ड के दो नमूने मिले हैं – एक मिट्टी का (चित्र 73) और एक ईंट का।



चित्र 73 लोथल : खेल का बोर्ड

गोलियों से खेल

विभिन्न प्रकार के पत्थर, सीप, पेस्ट आदि की छोटी बड़ी गोलियां भी मिली हैं। कुछ पर अलंकरण भी है। मिट्टी की गोलियों पर या तो कुछ उथले से छेद बनें हैं या उनकी सतह पर मिट्टी के छोटे–छोटे टुकड़े लगे हैं। सीप की गोलियों पर वृत्त के भीतर वृत्त के डिजाइन हैं। कांचली मिट्टी (चित्र 42. 9) के कंचो पर या तो इसी तरह का अलंकरण है या फिर कुछ रेखाएं साया के तौर पर हैं। इस तरह की गोलियां अनेक प्राचीन सभ्यताओं के उत्खननों में पायी गयी हैं। वे मिस्र में प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक काल की संस्कृतियों के संदर्भ में पर्याप्त संख्या में मिली हैं और सिंधु सभ्यता में प्राप्त गोलियों से मिलती–जुलती हैं। शंख की गोलियों पर उभरा हुआ अलंकरण है जो बीच में अभिप्राय के लिये जगह छोड़कर शेष भाग को रगड़ने से बनाया गया था। यह विधि निश्चय ही श्रमसाध्य थी। कुछ गोलियां एकदम चिकनी सतह की हैं। मकाइ ने सुझाया है कि कंचे खेलने के लिए बनी गोलियों को इतनी सावधानी से बनाने की आवश्यकता नहीं थी। वे अमेरिका की मय सभ्यता का उल्लेख करते हैं जिनमें गोलियों का प्रयोग दैवी क्रियाओं के लिए किया जाता था। मिट्टी, सीप और पत्थर की बनी छोटी नुकीली कुछ शंक्वाकार वस्तुएं उपलब्ध हुई हैं जिनका कदाचित् आजकल के 'नौ पिनों' (नाइन पिंस) की सहायता से खेले जाने वाले किसी

खेल में पिनों के स्थान पर प्रयोग किया जाता था। इनको कंचों से निशाना मार कर गिराया जाता रहा होगा।

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त कुछ मूर्तियों में बालकों को खेल खेलने की मुद्रा में दिखाया गया है। एक उदाहरण में बालक को चकती लिये दिखाया गया है। टूटे मृद्भाण्डों से बनी चकतियां सिंधु सभ्यता के अनेक स्थलों से मिली हैं। राखीगढ़ी में तो एक ही जगह से कई मिली हैं। जमीन पर बने खानों में पैर की सहायता से चकती को ठोकर मारकर खेलते रहे होंगे। मिट्टी तथा शंख के लट्टू मिले हैं। ये मकानों के फर्श अथवा रसोई घरों में मुख्यतः मिले हैं। केन्योर का मत है कि बच्चे इनसे घर के भीतर मां की देखरेख में खेलते रहे होंगे।

नृत्य

नृत्य भी मनोरंजन का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। अनुमानतः सिंधु सभ्यता में यह कला लोकप्रिय थी। मोहेंजोदड़ो की कांसे की नर्तकी की दो आकृतियां और पत्थर की नृत्य करती हुयी आकृति (जिसे जैसे ऊपर वर्णित किया गया है, मार्शल ने नटराज का पूर्व रूप बताया था और वासुदेवशरण अग्रवाल ने नर्तकी के रूप में पहचाना) तो सुप्रसिद्ध है ही। मोहेंजोदड़ो की एक मुद्रा पर एक व्यक्ति ढोल की सी आकृति वाली वस्तु बजा रहा है। एक दूसरी पुरुष मूर्ति के कंधे से भी ढोल जैसी कोई वस्तु लटक रही है। इससे स्पष्ट है कि उस काल के लोग ढोल जैसे वाद्य–यंत्र से परिचित थे। इसमें कुछ व्यक्ति नृत्य करते भी दिखाये गये हैं (मकाइ, *फ0 ए0* 356)। कुछ विद्वानों ने सिंधु लिपि के कुछ चिह्नों को वीणा की तरह के किसी यंत्र का अंकन माना है। राव ने लोथल से प्राप्त सीप के एक उपकरण को किसी वाद्य–यंत्र का अंग माना है। गायन भी मनोरंजन का एक साधन रहा होगा, लेकिन इसके बारे में केवल कल्पना ही की जा सकती है। तत्कालीन साहित्य के अभाव में इसके साक्ष्य प्राप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। मिट्टी के बने कुछ मुखौटे मिले हैं जिनके कुछ विद्वानों ने नाटक के पात्रों द्वारा प्रयोग किये जाने की संभावना व्यक्त की है। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर एक आकृति है जो नृत्य की मुद्रा में है। इसका चेहरा तो आदमी की तरह है किंतु दुम बंदर की सी। कान काफी बड़े हैं और बंदर के जैसे नहीं हैं। मकाइ ने सुझाया है कि इसमें मुखौटा और नकली दुम लगाये हुए व्यक्ति का चित्रण अभीप्सित था। धौलावीरा के दो चबूतरों की पहचान स्टेडियम के अवशेषों से की गई है जिसे दर्शकों के बैठने के लिए सीढ़ीनुमा बनाया गया था। स्टेडियम का प्रयोग सामाजिक तथा धार्मिक उत्सवों एवं अन्य आयोजनों के लिए किया जाता रहा होगा।

उत्सव, आखेट एवं मनोरंजन के अन्य साधन

पशु–मांस संभवतः त्योहारों और अनुष्ठानों के अवसरों पर या विशिष्ट अतिथियों के सम्मान में आयोजित भोज में ही विशेष रूप से प्रयुक्त होता रहा होगा। कुछ धार्मिक अनुष्ठानों के संपादन में पशुबलि का भी आयोजन होता रहा होगा और इस

संदर्भ में उत्सव आयोजित होते रहे होंगे जिनमें प्रीतिभोज भी शामिल रहे होंगे। विवाह तथा अन्य संस्कारों के सम्पन्न करने के संदर्भ में भी इस तरह का आयोजन किया जाता रहा होगा। कुछ मुद्राओं के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि कुछ उत्सवों में पशुओं को शोभायात्रा में ले जाया जाता था। ये मनोरंजन के भी साधन रहे होंगे। शिकार खेलना (चित्र 53. 3) और मछली पकड़ना भी मनोरंजन का साधन रहा होगा। मछली नदियों और समुद्र में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी। वैसे मुख्यतः इनका आर्थिक महत्त्व था। मछली पकड़ने के कई कांटे खुदाई में प्राप्त हुए हैं। एक मुद्रा पर तीर से हिरन को मारते दिखाया गया है। एक अन्य मुद्रा पर एक मनुष्य पेड़ पर चढ़ा है। नीचे जमीन पर बाघ है। यह आखेट से संबंधित दृश्य लगता है। तांबे के बने बाणाग्र मिले हैं जिनसे धनुष बाण का प्रयोग स्पष्ट है। मिट्टी की छोटी–छोटी गोलियां मिली हैं जो गुलेल में लगाकर पक्षी और छोटे जानवर मारने के लिए प्रयुक्त की जा सकती थीं। कुत्ते की कई नस्लों का रूपांकन मिलता है किंतु यह कहना कठिन है कि सिंधु सभ्यता के लोग शिकार के लिए कुत्तों का भी प्रयोग करते थे या नहीं। बांद में सिंध में कुत्तों की सहायता से सूअर का शिकार करने की प्रथा रही, एलम में ऐसी प्रथा थी। हो सकता है कि सिंधु सभ्यता में भी ऐसी ही प्रथा रही हो।

कुछ मुद्राओं पर बैल की आकृति के समीप मनुष्य भी अंकित है। मोडे ने इन दृश्यों को मनुष्य–वृषभ युद्ध से संबंधित दृश्य का द्योतक माना है। मनोरंजन की यह प्रथा प्राचीन क्रीट की सभ्यता में बहुत लोकप्रिय थी। एक मुद्रा पर मनुष्य का दो व्याघ्रों के साथ युद्ध (?) के दृश्य का अंकन संभवतः धार्मिक महत्त्व का परिचायक है। यह कहना कठिन है कि आधुनिक सर्कस की भांति वे लोग हिंस्र पशुओं से इस तरह मल्ल–युद्ध रचकर लोक रंजन करते थे। एक मुद्रा (चित्र 53. 7) पर दो बैलों को लड़ते दिखाया गया है।

कुओं के पास बैठने के लिए बेंचें बनी मिली हैं। नारियां उनपर अपनी बारी की प्रतीक्षा में वहां बैठती रही होंगी और गपशप करके या गीत गाकर मन बहलाती रही होंगी। मिट्टी के बर्तन के टुकड़ों और कुछ मुद्राओं पर नाव का चित्रण है (चित्र 53. 1, 2)। कोई आश्चर्य नहीं कि यातायात के अलावा इनका प्रयोग नौका–विहार के लिए भी होता रहा हो। मोहेंजोदड़ो के विशाल स्नानागार का धार्मिक महत्त्व हो सकता है, किंतु जल विहार के लिए उसके प्रयोग की संभावना को नकारा नहीं जा सकता।

अध्याय 14

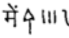
सिंधु सभ्यता की लिपि

सिंधु सभ्यता के लेख मुख्यतः सेलखड़ी की मुद्राओं, मिट्टी की मुद्राछापों, मृद्भाण्डों और ताम्रपट्टों पर मिले हैं। विकसित सिंधु सभ्यता में विभिन्न स्थल के लेखों को देखकर लगता है कि लिपि–चिह्नों का मानकीकरण हो चुका था। सिंधु सभ्यता की लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है और विद्वानों के लिए चुनौती बनी हुई है। कुछ समय पहले महादेवन और विश्वनाथन द्वारा किये शोध–कार्य के अनुसार सभ्यता की कुल मिलाकर 2467 अभिलिखित वस्तुएं प्राप्त हुई हैं। इनमें से मोहेंजोदड़ो से 1398 तथा हड़प्पा से 891 प्राप्त हुई हैं, जो कुल का क्रमशः 56.67 और 36.12 प्रतिशत है। इस तरह अभिलिखित वस्तुओं का लगभग 93 प्रतिशत अकेले इन दो ही स्थलों से प्राप्त हुआ है। इसमें केवल मुद्राएं और मुद्रा–छापें, जिनकी संख्या 2228 है, संपूर्ण अभिलिखित सामग्री (2467) का 90.32 प्रतिशत हैं। अभिलिखित ताम्रपट्टों की संख्या 113 और लेख वाले ठप्पों से अंकित मृद्भाण्डों की संख्या 83 है। उपर्युक्त गणना के पश्चात् सुरकोटड़ा, बणावली, धौलावीरा आदि स्थलों पर उत्खनन से और भी सामग्री प्राप्त हुई है। ब्रजवासी लाल ने अपने 1997 में प्रकाशित ग्रंथ *'द अर्लीअस्ट सिविलिजेशन आफ साउथ एशिया'* में अभिलिखित वस्तुओं की संख्या लगभग 3500 बताई है। और एक विद्वान् के अनुसार कम से कम 3765 अभिलिखित वस्तुएं ज्ञात हैं। यह उल्लेखनीय है कि कुल अभिलिखित वस्तुओं का 90% मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा से ही मिला है। हाल ही में अस्को पार्पोला ने भारत तथा पाकिस्तान स्थित सिंधु सभ्यता की मुद्राओं और अभिलेखों को प्रकाशित किया है। अनेक भारतीय और विदेशी विद्वानों ने सिंधु सभ्यता के लेखों को पढ़ने का प्रयास किया। पोस्सेहल ने 35 इस तरह के प्रयासों का उल्लेख किया है। कुछ ने तो उन्हें सही पढ़ लेने का दावा भी किया है। इनमें से कुछ प्रयास तो वैज्ञानिक विधि पर आधारित हैं, लेकिन कुछ केवल लेखक के पूर्वाग्रहों को सिद्ध करने का प्रयास मात्र लगते हैं। जहां तक पढ़ लेने के दावों का प्रश्न है अधिक से अधिक एक ही दावा सही हो सकता है, परंतु अधिक संभावना यही है कि इनमें से एक भी सही नहीं है। जो भी इनको पढ़ने का प्रयास करे उसे चिह्नों के उद्वाचन के लिये कोई ध्वनि बहुत सोचविचार कर देनी चाहिए और जो ध्वनि उन्हें प्रदान करें उनका लगातार अनुसरण करना चाहिए। उद्वाचित लेख का कुछ अर्थ होना चाहिए और जिस भाषा के प्रयोग को मानकर चले हैं उसके व्याकरण के नियम लागू होने चाहिए।

लिपि पढ़ने के प्रयास

अधिकांश विद्वानों ने सिंधु लिपि के चिह्नों की अन्य संस्कृतियों के लिपि–चिह्नों के साथ तुलना कर उसे किसी संस्कृति विशेष के साथ जोड़ने का प्रयास किया। सिंधु सभ्यता में जिस तरह की लिपि मिली है वह एक पर्याप्त विकसित लिपि है, किंतु कुछ सिंधु लिपि से मिलते–जुलते कुछ चिह्न भारत–पाकिस्तान उपमहाद्वीप में ही सिंधु सभ्यता से पहले की संस्कृतियों यथा आमरी, बालाकोट, जलालपुर, कालीबंगां, किलेगुलमोहम्मद, मेहरगढ़, पेरियानो घुंडई, सराइ खोला, रहमान ढेरी आदि स्थलों के संदर्भ में मिले हैं। पर इससे भी उद्‌वाचन की समस्या नहीं सुलझती। कुछ चिह्न जैसे मानव–आकृति, शरीर के अवयव, पशु, वनस्पति, अस्त्र–शस्त्र इत्यादि का तो विभिन्न लिपियों में स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त किया जाना पूर्णतः संभव लगता है। जहां तक भाषा का प्रश्न है कुछ ने इसे द्रविड़ माना है, कुछ ने संस्कृत; पर द्रविड़ भाषा मानकर लेख पढ़ने वाले विभिन्न विद्वानों के निष्कर्ष, एक दूसरे से भिन्न हैं और यही बात संस्कृत भाषा का प्रयोग मानकर लेख पढ़ने वाले विद्वानों द्वारा प्रस्तुत उद्‌वाचन के बारे में भी लागू होती है।

1925 में वैडेल नामक विद्वान् ने सिंधु लिपि के उद्‌वाचन का प्रयास किया। वे सुमेरी सभ्यता के लोगों को भी आर्य मानकर चले और उन्हें ही सिंधु सभ्यता का निर्माता माना। इस तरह उनके अनुसार सिंधु सभ्यता आर्य लोगों की सभ्यता हुई। उन्होंने सिंधु लिपि का सुमेरी लिपि से तुलना कर उद्‌वाचन प्रस्तुत किया, और लेखों में वेद, रामायण और महाभारत में उल्लिखित महापुरुषों के नाम पढ़ डाले। पशुओं की आकृतियों को भी उन्होंने लेख का ही अंग माना। निश्चय ही उद्‌वाचन का यह प्रयास वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

1931 में लैग्डन ने और बाद में सी0 जे0 गैड्ड और सिडनी स्मिथ ने भी इन लेखों के बारे में यह धारणा व्यक्त की कि ये संस्कृत भाषा में लिखे हैं। मोहेंजोदड़ो की एक मुद्रा पर अंकित तीन पंक्तियों वाले लेख की पहली पंक्ति के सिरे पर  चिह्न है। यह स्मिथ के अनुसार किसी शब्द का अन्त करने के लिए प्रयुक्त किया लगता है और इस संदर्भ में यह शब्द किसी नाम का वाचक है। तीसरी पंक्ति में जो लेख है वह भी नाम लगता है। बीच की पंक्ति में  तीन चिह्न हैं जो पुत्र के द्योतक लगते हैं। संक्षेप में उनके अनुसार तीन पंक्तियों में से प्रथम में नाम, मध्य में पुत्रार्थक शब्द, और अंतिम पंक्ति में नाम है। नाम क्या थे यह तो वह नहीं बता सके, लेकिन बीच के अक्षरों को उन्होंने संस्कृत 'पुत्र' का द्योतक मानने के लिए निम्न सुझाव प्रस्तुत किया। बीच की तीन लकीरों को उन्होंने 'त्रि' (तीन) के द्योतक होने की संभावना मानी और वर्णमाला के संदर्भ में 'त्रि' को त्र् का द्योतक माना और अंतिम अक्षर को अ का द्योतक। उन्होंने इन तीन अक्षरों को मिलाकर पु+त्र्+अ = पुत्र पढ़ा। स्मिथ का यह प्रयास रोचक अवश्य है, किंतु मध्य के चिह्न पुत्र के द्योतक हैं यह निश्चित नहीं। इन चिह्नों

को यदि पुत्र अर्थ का द्योतक मान भी लिया जाय तो भी उसके लिए संस्कृत भाषा का शब्द 'पुत्र' ही प्रयुक्त हुआ है यह कहना कठिन है। पुनश्च तीन लकीरों को 'त्रि', फिर 'त्रि' से 'त्र्' और फिर उसमें अलग से 'अ' का जोड़ना यह एक क्लिष्ट प्रक्रिया लगती है। इसे बिना अन्य पुष्ट साक्ष्य के स्वीकार करना कठिन ही नहीं असंभव है।

प्राणनाथ ने 1931–32 में ब्राह्मी लिपि के साथ सिंधु लिपि का तुलनात्मक अध्ययन कर ब्राह्मी लिपि से सिंधु लिपि–चिह्नों की ध्वनि निर्धारण करने की चेष्टा की है। उनका अनुमान है कि अक्षर व्यंजन हैं और उनमें से कुछ पर स्वर मात्राएं लगी हैं। उनके अनुसार भाषा संस्कृत या प्राकृत थी। फ्लिण्डर्स पीट्री, जो मिस्र सभ्यता के अधिकारी विद्वान् रहे हैं, ने यह मत व्यक्त किया है कि ये मुद्राएं राजकर्मचारियों की हैं और मिस्र की प्राचीन लिपि के तुलनात्मक अध्ययन से इसे पढ़े जाने की संभावना है। उन्होंने अपने ढंग से कुछ राजपदों के नाम भी पढ़ डाले। लेकिन पीट्री के इस प्रयास को सही नहीं माना जा सकता। पहले तो मुद्राओं की संख्या इतनी है और उनमें इतनी विविधता है कि इतने सरकारी पदाधिकारियों के होने की संभावना कम है। फिर एक ही घर से कई मुद्राएं मिली हैं; ऐसा मानना ठीक नहीं होगा कि एक ही घर में कई पदाधिकारी थे। मेरिग्गि (Meriggi) के अनुसार लेख केवल पदवाचक नहीं हो सकते। उनके मत से यह लिपि भाव–ध्वनि लेखन शैली पर आधारित लगती है और इसके कुछ चिह्न भावचित्र और कुछ ध्वनिमूलक थे। इससे चिह्नों को पहचानने के लिए उन्होंने अधिकांशतः हिताइत लेख–चिह्नों का सहारा लिया जो उनके अनुसार सिंधु लिपि से बहुत मिलते–जुलते हैं। लेकिन मेरिग्गि ने यह नहीं प्रतिपादित किया कि लेखों की भाषा भी हिताइत है। हेवेजी (Hevesy) ने सिंधु लिपि और ईस्टर द्वीप की लिपि में समानता बतायी, और यह मत व्यक्त किया कि ईस्टर द्वीप की लिपि से सिंधु लिपि का विकास हुआ था। पर इन दो लिपियों की समानता ऊपरी लगती है और इस मत को स्वीकार करने में सबसे कठिनाई यह है कि ईस्टर द्वीप की लिपि की तिथि ज्ञात नहीं है। अधिकांश विद्वान् इसे कुछ शताब्दी पूर्व का ही मानते हैं और कई विद्वानों के अनुसार तो ईस्टर द्वीप के फलकों पर प्राप्त चिह्नों को लेख कहा ही नहीं जा सकता।

1934 में हण्टर ने इस लिपि को पढ़ने का प्रयास करते हुए उसका वैज्ञानिक विधि से विश्लेषण किया। इन्होंने कहा कि सिंधु लिपि एक विशिष्ट लिपि है, पर सुमेर और एलम की लिपियों से मिलती–जुलती है। लेखों को उन्होंने नाम और पद का सूचक माना और अपना यह मत व्यक्त किया कि इस सभ्यता के लोग द्रविड़ थे या वे नदी अथवा समुद्र तट वासी थे। हिताइत सभ्यता के फ्रांसीसी विद्वान् ह्रोजनी के अनुसार ये लोग आदि हिताइत थे जो भा–यूरोपीय जाति की एक शाखा थी। हिताइत भाषा के आधार पर उन्होंने सिंधु लिपि को पढ़ने का प्रयास किया। मेसोपोटामिया के प्राचीन नगर उर की एक प्रसिद्ध मुद्रा (जिसे अधिकांश विद्वान् सिंधु सभ्यता के किसी

स्थल में निर्मित मानते हैं) पर सुमेरी लिपि में अंकित लेख को वे 'सक्कुसि' पढ़ते हैं और इसे 'सग्कुसि' के लिए प्रयुक्त मानते हैं। 'कुसि' को वे क्षेत्र का नाम मानते हैं जिसमें सिंधु सभ्यता के नगर स्थित थे और उन्होंने सिंधु सभ्यता की उनसठ मुद्राओं पर 'कुसि' शब्द पढ़ डाला, जबकि इन सभी उनसठ मुद्राओं पर अंकित चिह्न पूर्णतः समान नहीं हैं। कालक्रम की दृष्टि से सिंधु सभ्यता हिताइत लेखों से पुरानी है अतः ह्रोजनी के मत का आधार सही नहीं है।

फादर हेरास ने यह मत व्यक्त किया है कि हड़प्पा वासी द्रविड़ थे, आर्य नहीं। ये लोग भूमध्यसागरीय जाति की शाखा के थे और द्रविड़ भाषा से संबद्ध भाषा का प्रयोग करते थे। हेरास इस भाषा को प्राक्–द्रविड़ी नाम देते हैं, जो उनके अनुसार आज की द्रविड़ भाषाओं के मूल में थी। उनका मत है कि प्रत्येक चिह्न एक पूर्ण शब्द का द्योतक है, अक्षर या सिलेबल का नहीं। हेरास ने इन लेखों में, अपने ढंग से, कुछ नाम ही नहीं, अपितु कविताओं के अंश भी पढ़ डाले। लेकिन हेरास के वाचन में त्रुटियां हैं। एक तो वह 'प्राक्द्रविड़' भाषा का स्वरूप निर्धारित नहीं करते हैं, दूसरे वह इसके लिये बहुत बाद के तमिल लेखों का सहारा लेते हैं, और तीसरे इनके एक चिह्न के अनेक संदर्भ में किये वाचनों में समरूपता नहीं है।

स्वामी शंकरानन्द (1955) सिंधु सभ्यता के लोगों को आर्य मानकर चले और उन्होंने तांत्रिक प्रतीकों के आधार पर लिपि को पढ़ने का प्रयास किया। बेनीमाधव बरुआ ने भी इन चिह्नों को तांत्रिक चिह्न माना है। कृष्णराव लेखों की भाषा संस्कृत मानते हैं। सुधांशु कुमार राय सिंधु लिपि को आदि ब्राह्मी का मूल मानते हैं। टी0 एन0 रामचन्द्रन मुद्रा लेखों को वैदिक कर्मकाण्ड से संबंधित मानते हैं।

फतेह सिंह का कहना है कि सिंधु सभ्यता की मुद्राओं का प्रयोग धार्मिक पुस्तकों की छपाई के लिए ब्लाक की तरह होता था। उनके अनुसार भाषा वैदिक संस्कृत के निकट है तथा प्रतीकात्मक है। उन्होंने इन मुद्रा लेखों में ब्राह्मणों व उपनिषदों के मंत्र और वैदिक देवी–देवताओं के नाम पढ़े हैं। वे हड़प्पा सभ्यता में एक नहीं अनेक (कम से कम चार) लिपियों के प्रयोग की बात कहते हैं। मुद्राओं पर अंकित एक–शृंगी पशु को विशिष्ट प्रकार का अज मानते हैं और उसके लिए वैदिक साहित्य से प्रमाण देते हैं।

रूसी विद्वानों के एक दल ने, जिसके सदस्य क्नोंरोजोव वोल्कोक और अलेक्सेयेव थे, कम्प्यूटर की सहायता से यह जानने का प्रयास किया कि सिंधु लिपि के कुछ चिह्न विभक्ति, 'लिंग', काल, रूपिम (morphemes) इत्यादि के द्योतक हो सकते हैं। अपने निष्कर्षों की विभिन्न ज्ञात भाषाओं के साथ तुलना करने पर वे इस परिणाम पर पहुंचे कि इस दृष्टि से सिंधु सभ्यता के लेख द्रविड़ भाषा के अधिक निकट हैं। उन्होंने यह भी मत व्यक्त किया कि कुछ अपवादों को छोड़कर, लेख दाएं से बाएं पढ़े जाने चाहिए।

1969 में फिनलैंड के चार विद्वानों की एक टोली ने इस लिपि के उद्‌वाचन का प्रयास किया। इस टोली के सदस्य थे– भारतीय विद्या–विशारद अस्को पार्पोला , भाषाविद् पी० आल्तो, आसीरीय–विद्याविद् सिमो पार्पोला और गणितज्ञ एस० कोस्केन्नेमि। लिपि पढ़ लेने के इस टोली के दावे की काफी धूम रही और एक प्रमुख अंग्रेजी दैनिक (स्टेट्‌समैन) ने तो उद्‌वाचन की सराहना कर उस पर संपादकीय ही लिख डाला। इस प्रयास का कुछ विस्तार से उल्लेख करना समीचीन होगा। उपर्युक्त विद्वान् हड़प्पा संस्कृति के मूल को द्रविड़ मानते हैं। उन्होंने भी कौन सा चिह्न आदि, मध्य या अंत में कितनी बार आया है और कौन चिह्न जोड़े या समूह में कितनी बार आते हैं, इसका वैज्ञानिक विधि से विश्लेषण किया और इनके लिंग, कारक आदि होने की संभावना का अर्थ लगाने की चेष्टा की। वे लिपि के चिह्न को पूरे शब्द का वाचक (लोगोग्राफिक) मानते हैं। उन्होंने शिवपशुपति मुद्रा पर लेख का अर्थ किया है 'तारों का मानव (शिव), ...का स्वामी'। इन विद्वानों ने सुमेर के कुछ चिह्नों का नाव के अर्थ में लेने से प्रेरणा लेकर को नाव माना और द्रविड़ भाषा में नाव के लिये 'ओट' शब्द होने के कारण इसे ओट्टु माना। लेकिन लाल ने स्पष्ट किया है कि यह चिह्न मेसोपोटामिया के नाव के चिह्न से काफी भिन्न हैं। इस संबंध में फिनलैंड के विद्वानों ने तमिल साहित्य में वर्णित संगमों का उल्लेख किया है किंतु यदि हम इस साहित्य में वर्णित वर्षों का हिसाब लगायें तो प्रथम संगम की तिथि नवीं सहस्राब्दी ई. पू. होगी, जो पाषाण काल का समय है।

सिंधु लिपि में कंघी के आकार का एक चिह्न है। द्रविड़ भाषा में कंघी को पेंटिका कहते हैं, और पेंटि का अर्थ इसी भाषा में 'स्त्री' भी है। अतः इन विद्वानों ने कंघी जैसे चिह्न को पेण्टि अर्थात स्त्री माना और लेख–संदर्भ में उसे स्त्रीलिंग का द्योतक बताया। उन्होंने दूसरे चिह्न को पुरुष और पुलिंगवाचक बताया। पर जैसे लाल ने बताया है एक लेख में ये दोनों चिह्न एक साथ मिलते हैं। ये विद्वान् पहले के वैज्ञाानिक प्रयासों के विश्लेषणों से भलीभांति परिचित थे। और उनके प्रयास का आधार वैज्ञानिक है। किंतु ब्रजवासी लाल और टी० बर्रो ने दर्शाया है कि ये प्रयास सराहनीय होते हुए भी विसंगतिपूर्ण हैं। यह भाषा द्रविड़ ही है और लिपि के चिह्नों की पहचान सही की गई है, इसका कोई ठोस आधार नहीं है। कुछ चिह्न ऐसे भी हैं जिनकी पहिचान एक से अधिक वस्तुओं से की जा सकती है और की भी गई है। यथा फिन विद्वान् एक चिह्न को 'हाथ' मानते हें और इसका अर्थ व्यापार से करते हैं, जबकि उपर्युक्त रूसी विद्वान इसे 'मुट्‌ठी–भर' का सूचक मान कर इसे माप का पैमाना कहते हैं। इस संदर्भ में हमें एक कहानी याद आती है जिसमें फ्रांसीसी भाषा से अनभिज्ञ एक भूखे जर्मन ने वर्षा के दिन फ्रांस के एक होटल में बैठकर कुकुरमुत्ता से बनी खाद्य–सामग्री खाने की इच्छा से उसका चित्र बना कर होटल के परिचारक को दिया, और बेबसी से वांछित भोज्य–सामग्री की प्रतीक्षा करता रहा। कुछ समय के बाद वह

परिचारक आया और उसने कुकुरमुत्ते से बनी खाद्य–सामग्री न लाकर उस जर्मन के हाथ में एक छाता थमा दिया।

अगर सिंधु सभ्यता की भाषा को द्रविड़ मान लिया जाय तो आशा यही की जानी चाहिए कि उसका व्याकरण और प्राचीन तमिल का व्याकरण एक जैसा होगा। फिन विद्वानों (जिन्होंने इस लिपि को द्रविड़ो की कृति माना है) के निष्कर्ष इस दृष्टि से खरे नहीं उतरते। फिन विद्वानों ने कंघी और बर्तन के चिह्नों को क्रमशः लिंग और कारक का द्योतक माना है। किंतु द्रविड़ भाषाओं के विशेषज्ञों का कथन है कि वह द्रविड़ भाषाओं के व्याकरण के विपरीत है, जिसके अनुसार अंत के चिह्न को कारकवाची चिह्न होना चाहिए, लिंगवाचक नहीं।

शि0 रंगनाथ राव का कहना है कि परवर्ती सिंधु लिपि, जैसा कि लोथल और काठियावाड़ के कुछ अन्य क्षेत्रों में मिलती है, के लगभग 75 प्रतिशत वर्ण समकालीन सेमेटिक वर्णो से मिलते हैं और उनका भी वही उच्चारण करना ठीक होगा जो सेमेटिक वर्णो का है। सिंधु सभ्यता के लोगों का पश्चिमी एशिया से घनिष्ठ संबंध था ही। वे उच्चारण की दृष्टि से हिताइत और सिंधु सभ्यता की भाषा में पर्याप्त समानता मानते हैं। उनका कहना है कि लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि इन मुद्राओं का प्रयोग मुख्यतः शासकों ने ही किया था और इनमें कुछ नाम वैदिक साहित्य में वर्णित ऋषियों के हैं तथा कुछ भौगोलिक। उनकी भाषा भारोपीय थी। एक लेख में वह मलि पढ़ते हैं। उन्होंने इसे मेसोपोटामिया के लेखों में प्राप्त मेलुह्ह का द्योतक माना है, जिसे अधिकांश विद्वान् हड़प्पा सभ्यता के किसी स्थल का द्योतक मानते हैं। लेकिन राव के मत की कुछ विद्वानों ने आलोचना की है और उसे अस्वीकार किया है। राव सेमेटिक लिपि के जिन लेखों से सिंधु सभ्यता के अक्षरों की तुलना करते हैं वे सिंधु सभ्यता से बहुत बाद के हैं अतः उनसे सिंधु सभ्यता का कुछ ग्रहण करना संभव नहीं। यदि यह माने कि सेमेटिक लिपि सिंधु सभ्यता से ली गयी है तो, जैसा लाल ने बताया, इसके संपर्क स्रोत स्पष्ट नहीं है।

यों तो अगर लिपि पढ़ भी ली जाय पर लेख की भाषा का ज्ञान न हो तो पढ़ लेने पर भी लेख का अर्थ निकालना कठिन है। दूसरी ओर, भाषा की निश्चित रूप से जानकारी होने पर भी यदि जिस लिपि में वह लिखा है उसका ज्ञान नहीं हो तो भी लेख पढ़ना अति कठिन होता है। फिर भी इन दोनों प्रकार के उदाहरणों में लिपि के उद्वाचन की संभावना कुछ बढ़ जाती है। लेकिन ऐसे लेखों को पढ़ना जिसके न भाषा के बारे में ही जानकारी है और न लिपि के बारे में[1] कितना दुष्कर है, इसका

1. कई पुराविद् साधारणतया यह मानते हैं कि लेखन कला का प्रारंभ सर्वप्रथम मेसोपोटामिया में हुआ और वहीं से फिर मिस्र वालों ने इस कला के विकास की प्रेरणा ली। जो विद्वान् इस बात की संभावना मानते हैं कि सिंधु सभ्यता ने भी प्रेरणा मेसोपोटामिया से ली, वे भी यह

सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, और सिंधु सभ्यता के लेख इसी अतिम श्रेणी में आते हैं।

लिपि की सामान्य विशेषताएं

लिपि पढ़ने के लिए विभिन्न प्रयासों की जानकारी कराने के पश्चात् लिपि के संबंध में निम्नलिखित कुछ ऐसी तर्क संगत बातों का उल्लेख करना समीचीन होगा जो सामान्य विशेषताओं के रूप में स्वीकार की जा सकती है:–

1. हड़प्पा में हाल ही में किये उत्खननों से विकसित सिंधु सभ्यता (2600–1900 ई. पू.) से पूर्व (2800–2600 ई. पू.) के संदर्भ में मृद्भाण्ड पर कई चिह्न अंकित मिलते हैं जिनमें से कुछ विकसित लिपि से मिलते–जुलते हैं और यह संभव है कि इसी से क्रमशः सिंधु लिपि विकसित हुई।

2. यह लिपि अपनी अलग विशिष्टता लिए है और अन्य प्राचीन अर्वाचीन देशी और विदेशी लिपियों से उसकी तुलना करने पर कुछ समानता तो दिखती है पर उसकी अपेक्षा भिन्नता ही अधिक दखिाई देती है। इसके कुछ अक्षरों की तुलना कुछ ने प्राचीन मेसोपोटामिया, मिस्र आदि की लिपि के अक्षरों से की है, कुछ ने इसे सुमेरीय, पूर्व–एलेमाइट (प्रोटोएलेमाइट) से, कुछ ने मिनोअन से, कुछ ने हिताइत से और कुछ ने ईस्टर द्वीप की लिपि से जोड़ा हे। ऐसी भी संभावना व्यक्त की गई है कि नव पाषाणकाल की कोई लिपि रही होगी जिससे इन विभिन्न संस्कृतियों के लोगों ने अपने–अपने ढंग से विभिन्न लिपियों का विकास किया हो, फलस्वरूप उन लिपियों का अपना अलग–अलग स्वरूप स्थिर हुआ हो। लेकिन अभी तक स्थिति यह है कि इनमें से कोई भी मत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

3. जहां तक लिपि के स्वरूप का प्रश्न है संसार की विभिन्न लिपियों का अध्ययन करने के पश्चात् विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि सिंधु लिपि का स्वरूप निम्नलिखित में से ही एक होना चाहिए – चित्रात्मक (Pictographic) जिसमें बात को तस्वीरों के माध्यम से बताया जाता था, शब्द चिह्न (Logographic) जिसमें प्रत्येक चिह्न एक शब्द का द्योतक होता है, अक्षर सूचक (syllabic) जिसमें एक चिह्न एक अथवा एक से अधिक व्यंजन या स्वर का द्योतक होता है, और वर्णानुक्रमिक (alphabetic) जिसमें एक चिह्न एक ध्वनि वाले वर्ण का द्योतक होता है। शब्द चिह्न वाली लिपि में चिह्नों की संख्या लगभग 50 हजार तक पाई गई है। चिह्न सबसे कम वर्णानुक्रम लिपि में होते हैं । लिपि के कुछ चिह्नों की पहचान विभिन्न वस्तुओं से की जा सकती है, यथा,

मानते हैं कि केवल भाव ही ग्रहण किया और जिस विकसित रूप में हम सिंधु लिपि को पाते हैं वह मेसोपोटामिया से पर्याप्त भिन्न है। विभिन्न विद्वानों ने अलग अलग सिंधु लेखों की भाषा को बलूचिस्तान में द्रविड़ प्रकार की ब्राहुई भाषा की तरह की भाषा, मुण्डा वर्ग की भाषा, द्रविड़ भाषा और भारोपीय भाषा माना है।

मनुष्य, मछली, पशु–पक्षी, कीड़े मकोड़े, वनस्पति (जैसे पीपल की पत्ती), मानव हाथ पांव और शरीर के अन्य अंग, सींग, पहिया, घड़ा, छत्र, कुर्सी, मेज, धनुषबाण इत्यादि। कुछ को पर्वत के रूप में पहचाना गया है। कुछ ज्यामितीय चिह्न वृत्त, त्रिभुज की तरह है। अक्षर–चिह्न की किसी वस्तु से ठीक पहचान कर भी ली जाय तब भी यह कहना कठिन है कि उसका प्रयोग किस संदर्भ में हुआ है। सीधी लकीरों की अंको के द्योतक होने की संभावना है, पर अंको का प्रयोग किस संदर्भ में हुआ है कहना कठिन है; ऐसा भी संभव है कि किसी संदर्भ में उनका प्रयोग बहुबचन दिखाने के लिए हुआ हो।

4. यह मान लिया जाय कि मिस्र और मेसोपोटामिया में लेखन सिंधु सभ्यता से पहले प्रारंभ हो गया था किंतु आवश्यक नहीं कि सिंधुवासियों ने उनसे सीखा। जिस रूप में लिपि प्राप्त है आदिम लिपि से वहां तक पहुंचने के लिए शताब्दियों का समय अपेक्षित है। साधारणतः यह देखा गया है कि लिपि आदिम रूप से जैसे–जैसे विकसित होती जाती है वैसे ही उसके वर्णमाला के अक्षर कुछ सरल और उनकी संख्या कुछ कम होती जाती है। इस संदर्भ में यह बताना समीचीन होगा कि मेसोपोटामिया में हड़प्पा सभ्यता के लगभग समकालीन पूर्व–राजवंश काल की लिपि में लगभग 900 अक्षर चिह्नों का प्रयोग होता था, वहां यदि हम अक्षरों के परिवर्तित रूपों को हटा दें तो हड़प्पा सभ्यता के लेखों में प्रयुक्त चिह्नों की संख्या लगभग तीन सौ ही रह जाती है। सिंधु लिपि में प्रयुक्त कुल चिह्नों की संख्या के बारे में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। दानी ने इनकी संख्या 537 बतायी है, महादेवन ने 417, लैंग्डन ने 288, स्मिथ और गैड्ड ने 396, हण्टर ने 250, मेरिग्गि ने 270, सोवियत और फिन विद्वानों ने लगभग 300, हेरास ने 241, और फेयरसर्विस ने 350 और 425 के बीच चिह्नों की संख्या मानी है। चिह्नों की संख्या के संबंध में सबसे छोटी संख्या शि० रंगनाथ राव ने सुझाई है। उनका कहना है कि पूर्ववर्ती विद्वानों ने चिह्नों की संख्या अधिक आंकने के कारण उनके संयुक्ताक्षरों को नहीं पहचाना था। उनके अनुसार शुरू में लगभग 52 ही मूल चिह्न थे और बाद में हड़प्पा सभ्यता के अंतिम चरण में इनकी संख्या केवल 20 ही रह गई। विभिन्न संयुक्ताक्षरों के कारण चिह्न भिन्न–भिन्न लगते हैं। दूसरी बात यह है कि व्यंजनों पर स्वर की मात्राएं लगाई गई हैं जिससे भी अक्षर चिह्नों में अंतर आ गया है जिन्हें विद्वानों ने भिन्न चिह्न मान लिया है। सिंधु सभ्यता के लिपि चिह्न वाक्यों के रूप में अलग अलग समूह में नहीं मिलते।

5. मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में सभ्यता का जीवनकाल विभिन्न विद्वानों ने 500 वर्ष से 1000 वर्ष तक आंका था और शायद 750 वर्ष सत्य के अधिक निकट होगा। इस दीर्घ काल में इस सभ्यता की लिपि में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं दिखाई देता। साथ ही विस्तृत क्षेत्र में फैली इस सभ्यता के विभिन्न स्थलों से प्राप्त अभिलिखित सामग्री में भी विशेष अंतर नहीं दिखता। कलामय मुद्राओं पर सावधानी से अंकित अक्षर सरसरी तौर पर मृद्भाण्ड पर खुदे अक्षरों की अपेक्षा सुडौल हैं। तथापि लोथल

और काठियावाड़ के हड़प्पा संस्कृति के अन्य स्थलों से प्राप्त कुछ लेखों के आधार पर शि0 रंगनाथ राव ने यह मत व्यक्त किया है कि इस क्षेत्र में समय के साथ लिपि में भी कुछ परिवर्तन हुए थे।

6. एक औसत अभिलेख में चार या पांच लिपि चिह्न मिलते हैं, लेकिन कुछ में एक ही चिह्न भी मिलता है। श्री लाल का कहना है कि सबसे बड़े लेख में भी लिपि–चिह्नों की संख्या अधिक नहीं, धौलावीरा से किसी क्रिस्टली वस्तु पर दस लिपि चिह्न एक पंक्ति में मिले (चित्र 74)। अक्षरों की ऊंचाई 35 से 37 सेमी और चौड़ाई



चित्र 74 धौलावीरा : नामपट्ट लेख

चिह्नों की चौड़ाई के आधार पर 25 से 27 सेमी है। अनुमानतः यह नामपट्ट है। यह एक विशिष्ट साक्ष्य है और यदि लिपि पढ़ ली गई तो इससे और भी महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होगी। अन्य लेख तो छोटे हैं कि उनमें कोई विशाल सार्वजनिक दस्तावेज, कोई व्यक्तिगत या व्यापार संबंधी पत्र, ऐतिहासिक लेख, प्रशस्ति अथवा साहित्यिक कृति होने की संभावना नहीं है। लेख जो मिले हैं वे प्रायः सभी खुदे हुए हैं। थोड़े से लेख बर्तनों पर ठप्पे के रूप में हैं, और बेलोच हैं। स्याही से भोजपत्र या कपड़े पर लिखा हुआ या गीली मिट्टी पर कलम से लिखा हुआ, जिसमें प्रवाह के साथ लिखने की संभावना होती है, एक भी लेख नहीं मिला। सुरकोटड़ा और बणावली से थोड़े से बर्तनों के टुकड़े मिले हैं जिन पर स्याही से अक्षर चिह्नित हैं। यों तांबे या पत्थर पर बड़े लेख का न मिलना इस बात का द्योतक हो सकता है कि उस काल में लेख कपड़ा, लकड़ी या भूर्जपत्र जैसी अपेक्षाकृत शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं पर लिखे जाते रहे होंगे। इसके विपरीत फेयरसर्विस का कहना है कि प्रवाहमय ढंग से लिखे बड़े लेखों का न मिलना इस बात का द्योतक है कि लेखन का प्रयोग सीमित उद्देश्य के लिए था। चूंकि लेख अधिकांशतः मुद्राओं पर मिलते हैं अतः यह लिपि मुख्यतः मुद्रा–लेखों के लिए प्रयुक्त लगती है। यों मकाइ ने मोहेंजोदड़ो से प्राप्त पक्की मिट्टी की दो पट्टिकाओं की पहचान लिखने की पट्टिका से की है, जिन पर उनके अनुसार स्याही से अक्षर लिखते थे तथा उन्हें मिटा कर पुनः लिखते थे। एक पट्टिका 17. 5 सेमी लम्बी, 7. 5 सेमी चौड़ी और 1 सेमी मोटी है; दूसरी 8 सेमी लम्बी, 7. 97 सेमी चौड़ी और 1. 8 सेमी मोटी है। पर इनकी लेखन पट्टिकाओं के रूप में पहचान संदेह से परे नहीं है।

7. लेखों के अध्ययन से इतना स्पष्ट है कि कुछ उदाहरणों में चन्द अक्षर एक ही क्रम में आते हैं। इनके अंतिम चिह्न विराम का द्योतक हो सकता है। ब्रजवासी लाल ने उदाहरण देकर सुझाया है कि इनमें से कुछ को एक वाक्य का द्योतक माना जा सकता है, और उसके बाद फिर दूसरा वाक्य शुरु होता है (चित्र 75)। ऐसा देखा गया

है कि एक चिह्न ऐसा है जो 800 से अधिक बार, 6 चिह्न ऐसे हैं जो 200 से अधिक बार, 24 चिह्न ऐसे हैं जो 100 से अधिक बार प्रयुक्त हुये हैं।

लिपि लिखने की दिशा

इस लिपि में क्या लिखा है यह तो दूर की बात, इसके लिखने की दिशा के बारे में भी विद्वान एकमत नहीं है। कोई उसे ब्राह्मी की तरह बायें से दायें लिखी गयी बताता है, और कोई खरोष्ठी की तरह दायें से बायें। कोई उसे बूस्त्रोफेदन लिपि मानता है जिसमें विभिन्न पंक्तियों में लेखन की दिशा क्रमशः बायें से दायें और दायें से बायें बदलती रहती है। विद्वानों ने मुद्राओं तथा अन्य उपकरणों पर अंकित लेखों के कुछ चिह्नों को प्रारम्भ का, कुछ को अंत का, और कुछ को संख्यावाचक निर्धारित करने का प्रयास किया है। उनके स्वरूप और लेख में उनकी स्थिति से इस तरह का कुछ अनुमान लगाया जा सके तो इससे लिपि के लिखने के रुख का पता चल सकता है। अनेक लेखों में एक ही प्रकार के क्रम में आने वाले अक्षरों का भी विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। ये प्रयास निश्चय ही वैज्ञानिक विधि पर आधारित हैं।



चित्र 75 सिंधु लिपि में वाक्य योजना
(बी. बी. लाल के आधार पर)

लगभग 99 प्रतिशत ऐसी मुद्राओं में, जिन पर अभिप्राय और लेख दोनों ही अंकित हैं, पशु को दायीं ओर मुख किये दिखाया गया है। चूंकि साधारणतः पशुओं का अंकन सिर के भाग से ही प्रारंभ किया जाता है, अतः दक्षिणाभिमुख सिर इस बात का द्योतक लगता है कि अक्षरों को दायीं ओर से बायें ओर लिखा जाता रहा होगा। इस संदर्भ में यह बताना समीचीन होगा कि परवर्ती एंतिहासिक काल की मुद्राओं पर, जिनमें ब्राह्मी लिपि में लेख और पशुओं की आकृतियां हैं, पशु बाई ओर सिर किये दिखाये गये हैं, जो कि सिर से प्रारम्भ कर चित्र बनाने की विधा, बायें से दायें ओर को लिखी जाने वाली ब्राह्मी लिपि के अनुरूप है। यह निष्कर्ष फतेह सिंह की उस धारणा से अधिक तर्कसंगत लगता है जिसके अनुसार हड़प्पा सभ्यता की मुद्राओं पर दाई ओर मुख वाले (दक्षिणाभिमुख) पशु देवत्व के प्रतीक हैं और बाई ओर मुख वाले (वामाभिमुख) पशु दैत्यत्व के; विशेष रूप से इसलिए कि वे हड़प्पा संस्कृति और वैदिक संस्कृति में अन्तर नहीं करते और उनकी इस धारणा को मानने से तो ऐतिहासिक काल की ब्राह्मी लिपि वाली मुद्राओं पर वामाभिमुख पशुओं से दैत्यत्व दिखाने का अभिप्राय मानना होगा जो ठीक नहीं। मकाइ ने अपनी पुस्तक *'फर्दर एक्सवेंशंस ऐट*

मोहेंजोदड़ो' में दस या ग्यारह ऐसी मुद्राओं का उल्लेख किया है जिनकी छापों में पशु वामाभिमुख दिखेंगे, बाकी (जिनकी संख्या सैकड़ों में है) सब में दक्षिणाभिमुख। उनका सुझाव है कि थोड़े से अपवाद इसलिए हैं कि शायद कलाकार ने इन मुद्राओं पर पशुओं की आकृति का आलेखन करने में किसी अन्य मुद्रा की छाप की नकल कर दी। हमें मकाइ का यह सुझाव काफी सही लगता है।

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर दो पंक्तियों का लेख है। एक पंक्ति तो पूरी भरी है। दूसरी पंक्ति में पहली पंक्ति के बायीं ओर के अंतिम अक्षर के नीचे ʊ का चिह्न है। यह चिह्न अन्य कई मुद्राओं के लेख–पंक्तियों में एक छोर पर मिलता है। स्पष्टतः जगह की कमी के कारण ही इस अक्षर को दूसरी पंक्ति में लिखना पड़ा। निश्चय ही अंत में आने वाला यह चिह्न प्रारंभिक चिह्न नहीं हो सकता क्योंकि यदि वह प्रारंभिक चिह्न होता तो उसको पहली पंक्ति में किनारे से पहला अक्षर होना चाहिए था। मोहेंजोदड़ो की ही एक अन्य मुद्रा पर लेख लिखने वाले को जगह की कमी महसूस हुई तो उसने बायीं ओर के चिह्नों को एक दूसरे के काफी निकट लिखा, किंतु जब फिर भी जगह पूरी नहीं हुई तो एक अक्षर नीचे की पंक्ति में लिख दिया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि लेख दायें से बायें लिखा गया, और दूसरी पंक्ति में जो चिह्न है वह लेख के अंत के चिह्न के द्योतक है। अगर इस तरह का चिह्न, अन्य लेखों के संदर्भ में, लेख के बीच में आता है तो इसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि वहां पर वह वाक्य के अंत का द्योतक है।

गैड्ड ने मोहेंजोदड़ो की एक ऐसी मुद्रा का उदाहरण दिया है जिस पर केवल लेख ही है, पशु की आकृति नहीं (चित्र 52. 9) लेख अपेक्षाकृत कुछ बड़ा है और मुद्रा के वर्गाकार क्षेत्र में तीन ओर है। ऊपरी ओर बाएं तरफ के किनारों पर तो पूरे भाग में और नीचे के किनारे के बड़े हिस्से पर है। इसके अक्षरों के सिर को देखते हुए 90 अंश के कोण पर मुद्रा घुमाने पर ही लेख को पढ़ने की सही स्थिति मिलती है। स्पष्ट है कि मुद्रा को हाथ से घुमा कर लेख पढ़ा जाना अभिप्रेत था और दूसरे तथा तीसरे वर्ग (सेक्शन) की स्थिति इस बात की द्योतक है कि उसे दायीं ओर घुमाया गया था। दूसरे शब्दों में, पढ़ने वाले ने ऊपर दिये क्रम में पहले और सबसे लम्बे भाग के लिखे लेख को दायीं से बायीं ओर पढ़ना शुरु किया, फिर मुद्रा को 90 अंश पर घुमाया और दूसरे वर्ग को फिर दायें से बायें पढ़ा और फिर इसी तरह तीसरे वर्ग को भी पढ़ा। यह मुद्रा लेख लिपि के दायें से बायें पढ़े जाने का महत्त्वपूर्ण प्रमाण प्रस्तुत करता है।

लिपि की दिशा के निर्धारण में ब्रजवासी लाल के प्रयास महत्त्वपूर्ण हैं। कालीबंगां की खुदाई से प्राप्त एक मिट्टी के भाण्ड के खण्ड पर उत्कीर्ण चिह्नों में बायीं ओर स्थित चिह्न अपने पार्श्ववर्ती दाएं चिह्नों को काटता है (चित्र 76)। ध्यानपूर्वक निरीक्षण से स्पष्ट दिखेगा कि जो रेखा पहले अक्षर को काटेगी वह लगातार एकसार चलती दिखेगी जबकि जिस रेखा को काटा गया है वह काटे हुए स्थान पर एक सार

न दिख कर कटी दिखेगी। अणुवीक्षण यंत्र से और भी स्पष्ट दिखेगा। इससे लाल ने निष्कर्ष निकाला कि चिह्नों के लिखने के पूर्वापर संबंध को निश्चित किया जा सकता



चित्र 76 कालीबंगां : मृद्भाण्ड पर उत्कीर्ण सिंधु लिपि का लेख

है। इस संदर्भ में उन्होंने खरोष्ठी लिपि (जिसका दाएं से बाएं लिखा जाना निश्चित रूप से ज्ञात है) के ऐसे लेख का उदाहरण दिया है जिसमें कालीबंगां के समान बाएं अक्षर की रेखा दाएं अक्षर की रेखा को काटती है। निश्चय ही लाल का लिपि की दिशा के निर्धारण में यह वैज्ञानिक प्रयास अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं सराहनीय है और स्पष्ट करता है कि संदर्भित लेख दायीं ओर से बायीं ओर को लिखा गया है।

लेखों का अनुमानित स्वरूप

अभिलिखित वस्तुएं घरों, सड़कों इत्यादि विभिन्न स्थलों में पाये गये हैं। कुछ घरों में कई मुद्राएं मिलीं, कुछ में एक भी नहीं। एक प्रकार के जानवर की आकृति अनेक मुद्राओं पर मिली है, पर उन पर अंकित लेख एक जैसे नहीं है। ऐसा देखा गया है कि अनेकशः विभिन्न प्रकार के लेखों पर एक ही अभिप्राय मिलता है और समान लेख वाली मुद्राओं पर विभिन्न अभिप्राय। निश्चय ही एक ही तरह के अभिप्राय वाली मुद्राओं के लेख की विभिन्नताओं का कारण पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग नहीं माना जा सकता। इससे कम से कम इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि मुद्राओं पर अंकित लेख और अभिप्राय में परस्पर सामंजस्य नहीं है। अथक प्रयास के बाद अगर कभी विद्वान् इस लिपि को पढ़ने में सफल हो भी गये तो हमें इतिहास निर्माण के लिए कोई बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्री शायद ही मिल सके, क्योंकि इन छोटे लेखों में अधिक अभिव्यक्ति की गुंजाइश नहीं हो सकती। शायद व्यक्तियों के नाम, और कुछ में इनके साथ पद, पिता, संस्था या फर्म का नाम, या धार्मिक तंत्र–मंत्र बस ऐसा ही कुछ होने की संभावना लगती है। इस सिलसिले में कालीबंगां के गढ़ी वाले टीले में (जिसके दक्षिण में अग्निवेदी युक्त चबूतरा है) एक जैसे लेख वाली सात मुद्रा–छापों का पाया जाना उल्लेखनीय हैं। चूंकि इनके पृष्ठ भाग पर रस्सी के निशान नहीं हैं जो उनके मुहरबंद करने के संदर्भ में मिलने चाहिए, अतः इस बात की अधिक संभावना है कि इनमें धर्म संबंधी कुछ फार्मूले अंकित हैं। बड़े घड़े पर लेख उसके स्वामी का नाम हो सकता है अथवा उसके निर्माता कुम्हार का। छोटे मृद्भाण्डों पर अंकित लेख कुम्हार के नाम अथवा फर्म के द्योतक हो सकते हैं। यह भी संभावना व्यक्त की गई है कि मुद्राओं पर विभिन्न पशुओं की आकृतियां समाज के विभिन्न वर्ग द्वारा प्रयुक्त की गयी थी। इस संभावना के अन्तर्गत जिन जानवरों का मुद्राओं पर अल्प संख्या में चित्रण है, यथा ककुद्वान वृषभ और हाथी, वे उच्च वर्ग यथा पुरोहित वर्ग के लोगों के द्योतक हैं। यह भी संभव है कि विभिन्न व्यापारियों ने अपनी मुद्राओं पर अपनी श्रेणी के प्रतीक के रूप में विभिन्न पशुओं का अंकन किया हो। कुछ ने ऐसी धारणा व्यक्त की है कि हो सकता है कि कुछ जानवरों का अन्यों की अपेक्षा अधिक कर्मकाण्डी महत्त्व रहा हो। यदि ऐसा था तो क्या कुछ मुद्रा–लेख मंत्र हो सकते हैं ? फतेह सिंह का कहना है कि सिंधु सभ्यता में मुद्राओं का प्रयोग धार्मिक पुस्तकों की छपाई के लिए होता था। यों तो वैसे भी इतने प्राचीन काल में छापेखाने के होने की संभावना कम ही लगती है, और यदि

छपाई के लिये इनका प्रयोग हुआ तो जहां पर छापेखाने रहे होंगे वहां पर बड़ी संख्या में मुद्राएं मिलनी चाहिए।, पर ऐसा नहीं है। उत्खनन के दौरान मुद्राएं यत्र–तत्र कम अधिक संख्या में मिली। कपड़े पर हड़प्पा सभ्यता की मुद्रा छाप का मिलना इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि इनका प्रयोग मुद्रा–छाप लगाने के लिये होता था। यों प्राचीन ऐतिहासिक काल के भारतीय एवं विदेशी साक्ष्यों से भी इनके मुद्रा के रूप में ही प्रयुक्त होने की संभावना लगती है। शायद मुद्रा बनाने वाले विभिन्न अभिप्राय वाली मुद्राएं बना कर रखते थे और ग्राहक उनमें से किसी को पसंद कर उन पर मुद्रा–निर्माता से अपना नाम व पद आदि खुदवा लेते थे। यही कारण है कि कभी–कभी जगह की कमी के कारण लेख बराबर अक्षरों में ठीक तरह नहीं लिखे जा सके, और कभी लेखों के शेषांश के एक या दो अक्षरों को दूसरी पंक्ति में लिखना पड़ा। यदि ऐसी बात नहीं होती ओर मुद्रा बनाने वाले को पहले से ही मालूम होता कि लेख कितना बड़ा है तो वह अक्षरों को ठीक तरह लिखता और उसी हिसाब से जानवर की आकृति छोटी या बड़ी बना देता। ऐसा लगता है कि जब व्यापारियों तथा पुरोहितों का वर्चस्व कम हो गया तो लिपि का चलन भी बंद हो गया। यह लगभग 1900 ई. पू. में हुआ। लेखन का साधारण ग्रामीण जनों से कोई वास्ता नहीं था।

क्या सिंधु ब्राह्मी लिपि की मूल है ?

सिंधु सभ्यता की लिपि के उद्‌भव के कुछ साक्ष्य हैं। विकसित सिंधु सभ्यता से पहले की संस्कृति के मिट्टी के भाण्डों पर उत्कीर्ण सिंधु सभ्यता के समान चिह्न हैं। इतना प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि इस लिपि की अपनी विशिष्टता है और जिस रूप में मिली है, इसका निर्धारण भारतीय भूमि पर हुआ; लेकिन क्या यह लिपि ब्राह्मी का मूल है, इसका उत्तर कठिन है।

हड़प्पा सभ्यता की खोज से बहुत पहले ही कनिंघम ने यह मत व्यक्त किया था कि ब्राह्मी लिपि का उद्‌भव किसी चित्रलिपि से हुआ है। भारत में ही इस तरह की लिपि हड़प्पा सभ्यता के अंतर्गत मिलने से कनिंघम के मत को बल मिला। इस मत के मानने वाले अन्य विद्वानों – मकाइ, स्मिथ, लैंग्डन, गैड्‌ड, हंटर, सुधांशु कुमार राय आदि उल्लेखनीय हैं। राय का कहना है कि भारत की परंपरागत लिपियां और ब्राह्मी दोनों ही सिंधु लिपि से ली गई हैं। परंपरागत लिपियां सिंधु लिपि से सीधे ही ली गई हैं, जबकि ब्राह्मी मुख्य धारा से हटी हुई है। उनके अनुसार ब्राह्मी को संभवतः बुद्ध ने ही उपदेशों (जो ब्राह्मण धर्म के सिद्धान्तों से भिन्न थे) के प्रचार के लिए प्रयोग किया था। अशोक भी बौद्ध धर्म का अनुयायी था और इसलिए उसने भी ब्राह्मी लिपि का ही प्रयोग किया। किंतु चूंकि अशोक के पहले के ब्राह्मी लेख न के बराबर हैं अतः सिंधु लिपि के विकास होने के विभिन्न चरणों के लिए कोई साक्ष्य नहीं हैं, और साक्ष्यों के अभाव में इस मत को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। लेकिन जैसे ब्रजवासी लाल ने दिखाया है, सिंधु सभ्यता के लिपि के चिह्नों से मिलते–जुलते कुछ चिह्न द्वितीय

सहस्राब्दी ईसा पूर्व की मध्य भारत, गुजरात तथा उत्तरी दक्कन की ताम्र–पाषाण संस्कृतियों के संदर्भ में तथा उससे कुछ बाद की दक्षिण भारत की बृहद्–पाषाण संस्कृति के मृदभाण्डों पर ग्रेफिटी के तौर पर अंकित मिलते हैं। उन्होंने इस संदर्भ में सानूर से प्राप्त प्रथम सहस्राब्दी ई. पू. के प्रथम अर्द्ध के एक काले–लाल भाण्ड पर सिंधु सभ्यता के तीन चिह्न मिलने का साक्ष्य प्रस्तुत किया। लेकिन तृतीय शती ई. पू. की ब्राह्मी से सिंधु लिपि के जोड़ने का प्रमाण नहीं मिलता। न तो चित्रित धूसर–भाण्ड (1000–700 B.C.) में कोई ग्रेफटी मिलती है। इनसे इतना तो लगता है कि सिंधु सभ्यता की लिपि इस सभ्यता के साथ ही नष्ट नहीं हुई। कुछ विद्वान्, जिनमें सी. एल. फाब्री प्रमुख हैं, आहत सिक्कों (जिनका प्रचलन छठी शताब्दी ई. पू. से प्रारंभ हो गया था) पर अंकित चिह्नों और हड़प्पा लिपि–चिह्नों में कुछ साम्य पाते हैं। करीब 12 चिह्न पटना से प्राप्त एक ताम्रपट्टिका पर भी मिले हैं। किंतु किंचित समानता का यह साक्ष्य भी इतना पुष्ट नहीं कि इससे कोई निश्चित निष्कर्ष निकाला जा सके। अहमद हसन दानी का कहना है कि उन्होंने सिंधु लिपि के सारे अक्षर–चिह्नों (जो उनके अनुसर 537 हैं) और आहत सिक्कों पर प्राप्त सभी चिह्नों (जिनकी संख्या उनके अनुसार लगभग उतनी ही है) का तुलनात्मक अध्ययन कर यह पाया कि केवल 15 ही चिह्न ऐसे हैं जो दोनों में मिलते हैं। दानी ने इस बात पर बल दिया है कि यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि सिंधु सभ्यता के चिह्न निश्चित रूप से लेखन शैली के अंग हैं जब कि सिक्कों के चिह्न मात्र चिह्न ही हैं, वे किसी लेख के द्योतक नहीं हैं। उनका यह भी कहना है कि कुछ चिह्नों को संदर्भ से अलग कर सिंधु सभ्यता से उनकी समानता दर्शाने से ही सिंधु लिपि की ऐतिहासिक काल तक निरंतरता सिद्ध नहीं हो पाती। तांत्रिक चिह्नों के बारे में वे कहते हैं कि ऐसे तांत्रिक चिह्न बहुत बाद में उस समय प्रयुक्त हुए जिसे भारतीय इतिहास का मध्य–काल कहते हैं। दोनों के बीच निरंतरता की कड़ी न मिलने से उसे सिंधु लिपि का उत्तरजीवी या अवशिष्ट सिद्ध करना संभव नहीं।

जो लोग यह मानते हैं कि ब्राह्मी सिंधु लिपि से ही विकसित हुई और साथ ही यह भी कि सिंधु लिपि ब्राह्मी से भिन्न दिशा, अर्थात दायें से बायें ओर को लिखी जाती थी, उनका कहना है कि ऐसा भी देखा गया है कि जब किसी लिपि को दूसरे लोगों ने अपने लेखन का आधार बनाया, तो उसमें इतने परिवर्तन ला दिये कि वह एक नयी लिपि का रूप ले बैठी। लैंग्डन ने बताया है कि ग्रीक लोगों ने फिनीशिया के अक्षरों को अपनाया, थोड़े समय तक तो उनके लिखने की दिशा दाएं से बाएं को भी बनाये रखा, किंतु फिर अपनी सुविधा के अनुसार उसके रुख को बाएं से दाएं बदल दिया। कुछ लोगों ने यह भी तर्क दिया है कि एरण से प्राप्त एक प्राचीन सिक्के पर अंकित ब्राह्मी लिपि के पांच अक्षर दायीं से बायीं दिशा में लिखे गये हैं, जिससे ऐसा लगता है कि संभवतः मूलतः ब्राह्मी भी दाईं से बईं लिखी जाती थी।

लैंग्डन ने बलपूर्वक कहा है कि ब्राह्मी के मूल के लिए ब्यूहलर द्वारा प्रतिपादित

फिनीशिया मूलके सिद्धांत की अपेक्षा सिंधु सभ्यता मूल वाला सिद्धांत कहीं अधिक तर्कसंगत लगता है, क्योंकि तुलना करने पर इसके चिह्न फिनीशिया लिपि की अपेक्षा सिंधु लिपि से अधिक मिलते–जुलते हैं, बल्कि इसलिए भी कि ब्राह्मी लिपि स्वर–मात्रा और एक अक्षर–चिह्न को दूसरे चिह्न से जोड़ने की परंपरा (संयुक्ताक्षर) के लिए विशेष विख्यात है, अन्य किसी प्राचीन लिपि में इतने स्पष्ट रूप से और बड़े पैमाने पर इनका प्रयोग नहीं दिखता, और हड़प्पा लिपि के चिह्नों में भी मात्राओं और संयुक्ताक्षरों का प्रयोग हुआ लगता है; किंतु उनका यह भी कहना है कि इससे कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता क्योंकि ऐसा संयोग मात्र भी हो सकता है। फिर यह भी तो नहीं कहा ज़ा सकता कि ब्राह्मी लिपि और सिंधु लिपि के जो अक्षर समान लगते हैं उनके उच्चारण भी समान हैं। जब तक लगभग समान चिह्नों के उच्चारण भी समान होना निर्धारित नहीं किया जाता, ब्राह्मी के सिंधु लिपि से लिए जाने के विरुद्ध कुछ उसी तरह के तर्क दिये जा सकते हैं जैसे गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने ब्यूह्लर के ब्राह्मी को विदेशी मूल की मानने के विरुद्ध दिये थे। उन्होंने तर्क दिया था कि बिना उच्चारण की समानता के केवल अक्षरों की बनावट ही ब्राह्मी लिपि के फिनीशिया की लिपि से लिए जाने की द्योतक नहीं है क्योंकि ब्राह्मी के कुछ अक्षर रोमनलिपि के अक्षरों से भी मिलते हैं पर इससे न तो ब्राह्मी का रोमन लिपि से उद्भूत होना सिद्ध होता है, और न रोमन लिपि का ब्राह्मी से।

लेख पढ़े जाने की संभावनाएं

इस लिपि के पढ़े जाने की काफी संभावना होती यदि एक ऐसा लेख मिलता जिसमें वही बात दो लिपियों – हड़प्पा लिपि और एक ऐसी लिपि जो पढ़ी जा सकती हो – में लिखी होती और उसमें व्यक्तिवाचक शब्दों का प्रयोग अनेकशः हुआ होता। प्राचीन मिस्र की लिपि को इसी कारण पढ़ा जा सका कि वहां के सुप्रसिद्ध 'रोजेटा पाषाण' पर अंकित लेख प्राचीन मिस्री लिपि के साथ डेमोटिक और यूनानी लिपियों में भी था; और चूंकि यूनानी लेख में ऐण्टोनी और क्लियोपाट्रा का नाम बार–बार आता था और यही नाम मिस्री लिपि में उसी प्रकार बार–बार होने के कारण प्राचीन मिस्री लिपि में भी इन दोनों के नाम के अक्षरों को पहचान लिया गया। इसी तरह ईरान के हखामनी शासक दारयवहु का लेख भी इसलिए पढ़ा जा सका कि वह प्राचीन ईरानी, एलामी ओर बेबीलोनी भाषाओं में था। हखामनी राजाओं के नाम और वंशावली पहले से ही हेरोडोट्स के विवरणों से ज्ञात थी। यों माइकेल वेंट्रिस, जो पेशे से स्थापत्य शास्त्री थे, ने 1952 में क्रीट की मिनोअन 'रैखिक ब' (लिनियर बी) लिपि, एक से अधिक लिपियों वाले लेख के अभाव में भी पढ़ डाली। किंतु यह अब तक की प्राचीन लिपियों के पढ़े जाने के संदर्भ में इस तरह का एकमात्र सफल प्रयास है।

यह इसलिये संभव हो सका कि भाग्यवश वह यह मान्यता लेकर चले कि लेख की भाषा यूनानी भाषा का ही पूर्व रूप है, और वह सही निकली। ऐसी भी आशा व्यक्त

की गई है कि अंततः विदेशी साक्ष्य, मुख्य रूप से सुमेरी साक्ष्य, ही हड़प्पा लिपि के उद्घाटन में काम आ सकें। उर में प्राप्त सिंधु सभ्यता की मुद्रा पर सुमेरी कीलाक्षरों में लेख है। यह लेख स्पष्ट नहीं है, किंतु उसे अनुमानतः सक्–कु–षि या क–लु–षि पढ़ा गया है। ऐसी संभावना व्यक्त की गई है कि यह किसी व्यक्ति का नाम हैं। पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह हड़प्पा के ही किसी व्यक्ति का नाम है, और यदि है भी तो भी इस छोटे से लेख से न लिपि की समस्या हल होती दिखती है और न भाषा की ही, क्योंकि यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि इस तरह के नाम को सिंधु लिपि में कैसे लिखा जाता रहा होगा। द्विभाषीय लेख न सही एक बड़ा कई पंक्तियों का लेख ही मिल जाता तो भी इस लिपि के पढ़े जाने की संभावना कुछ बढ़ती। पर अभी तक जितने भी लेख मिले हैं वे तीन छोटी–छोटी पंक्तियों से अधिक के नहीं हैं।

सिंधु लिपि के उद्वाचन के संबंध में उचित यह होगा कि विभिन्न संभावनाओं को एक–एक करके तर्क की कसौटी पर कस कर देखा जाय कि उनमें से कोई इसका हल प्रस्तुत करने में सहायक है कि नहीं। लिपि के स्वरूप के विषय में पहले से ही कोई निश्चित धारणा बना कर येन–केन–प्रकारेण उसे सही सिद्ध करने के प्रयास किसी के अहं की तुष्टि भले ही कर लें, वे सर्वमान्य हल प्रस्तुत नहीं करते।

अध्याय 15
शव–विसर्जन

पुरावशेषों तथा साहित्यिक साक्ष्य से ज्ञात होता है कि प्राचीन संस्कृतियों में शव–विसर्जन की विभिन्न विधियां प्रचलित थीं। अधिकांश लेगों का विश्वास था कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा जीवित रहती है और इस तरह जीवित तथा मृतक के मध्य संबंधों की निरंतरता की कल्पना की गई। मृतकों की आत्माओं के संबंध में स्नेह एवं भय मिश्रित धारणाएं रहीं। प्राचीन काल में अधिकांश लोगों में ऐसी धारणा थी कि मरने के बाद मनुष्य को या तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है या नर्क की। शवों के साथ सामग्री रखी गयी। मुख्यतः भाण्ड मिले हैं जिनमें संभवतः भोज्य सामग्री रखी गयी थी, जो अब नष्ट हो गयी है। आभूषण तथा कुछ अन्य उपकरण भी मिले हैं। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय यह धारणा थी कि मनुष्य को मरने के बाद भी अपनी स्थिति के अनुरूप, जीवित अवस्था में उपयोग की जाने वाली वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। हड़प्पा की एक कब्र में शव के साथ दीपक भी मिला। शायद ऐसी धारणा रही थी कि यदि आत्मा को अंधियारे में यात्रा करनी पड़े तो दीपक उसे रोशनी पहुंचाएगा। विभिन्न संस्कृतियों एवं विभिन्न युगों के मृतक संस्कारों में तो अंतर मिलता ही है, कभी–कभी विभिन्न कारणों से एक ही संस्कृति में एक ही काल में भी अनेक प्रकार की शव–विसर्जन की प्रथाएं मिलती हैं। आज भी लोगों में संतों, दुश्चरित्रों, खास तरह के अपराधियों, रोगियों तथा बच्चों के लिए साधारण से भिन्न शव विसर्जन का विधान मिलता है। साधारणतः सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक दृष्टि से प्रतिष्ठित व्यक्तियों के शव–सिर्जन के तरीके व्ययसाध्य और विशिष्ट होने स्वाभाविक हैं। शव–विसर्जन की पद्धति का वैज्ञानिक विधि से अध्ययन प्राचीन संस्कृति के अनेक पहलुओं पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। कुछ संस्कृतियों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के प्रमुख अथवा एकमात्र साधन उनके कब्रिस्तान ही हैं। सिंधु सभ्यता के शवाधानों के अध्ययन से उस पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। मिस्र और मेसोपोटामिया की राजाओं और संभ्रांत व्यक्तियों की कब्रों में अत्यंत कीमती सामग्री गाड़ी गयी जिसमें से कुछ को लोगों ने बाद में खोदकर निकाल ली। सिंधु सभ्यता की कब्रों में कीमती सामग्री के अभाव के कारण उन्हें बाद के लोगों ने छेड़ा नहीं। हड़प्पा में मिली केवल दो कब्रें ऐसी हैं जिसमें कुछ मूल्यवान सामग्री थी। एक में मृद्‌भाण्डों के साथ 370 सेलखड़ी के मनकों का हार, तीन पत्थर के लोलक, और तीन सोने के मनके मिले। दूसरे में मृद्‌भाण्ड, शंख की चूड़ी, कार्नीलियन का मनका, सर के पास बालों के आभूषण, जिसे कई लड़ियों वाले अतिसूक्ष्म सेलखड़ी के मनकों से बनाया था, मिला।

मोहेंजोदड़ो

हड़प्पा संस्कृति के लोगों द्वारा प्रयुक्त शव–विसर्जन विधियों के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है। कुछ उदाहरणों के बारे में निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे शवोत्सर्ग हैं, लेकिन कुछ इस तरह के भी अवशेष मिले हैं जिनके बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि वे शव–विसर्जन से सबंधित हैं अथवा नहीं। दूसरी कोटि के अंतर्गत हम मोहेंजोदड़ो के अंतिम चरण में प्राप्त इक्कीस मानव कंकालों को रख सकते हैं (चित्र 77)। इनमें से चौदह एक घर के कमरे में, छः एक गली में और एक दूसरी गली में पाये गये। इनमें से कुछ कंकालों पर पैने शस्त्रों के घाव के निशान हैं और अधिकांश कंकाल अस्त–व्यस्त दशा में पड़े पाये गये हैं। ये आकस्मिक मृत्यु को प्राप्त लोगों के लगते हैं। इनके साथ बर्तन इत्यादि कुछ भी सामग्री नहीं मिलती। वे शव–विसर्जन की तत्कालीन परम्परा के अनुरूप गाड़े हुए नहीं लगते। कुछ विद्वानों का मत था कि ये शव जहां पर लोग मरे थे वहीं पर ऐसे ही पड़े रह गये थे, किंतु मार्शल ने ठीक ही कहा है कि यदि इन्हें खुला छोड़ा होता तो पशु और चिड़ियां इनका मांस नोचकर हड्डियों को अलग कर दिये होते। इन्हें गाड़ा तो गया था किंतु तत्कालीन परम्परा के अनुसार विधिपूर्वक नहीं। मार्शल ने कुछ विद्वानों के इस मत का, कि ये अस्थि–पंजर सिंधु सभ्यता के लोगों के नहीं बल्कि इस सभ्यता के समाप्त होने के बाद किसी जंगली जाति के हैं, तर्कपूर्ण खण्डन किया है। उनका कहना है कि मानव–विज्ञान के आधार पर कंकालों में प्रोटोआस्ट्रेलायड, भूमध्यसागरीय और अल्पाइन जातियों के लोग मिले हैं और जंगली जाति में इन सभी का पाया जाना सम्भव नहीं है। व्हीलर का मत है कि ये किसी बर्बर आक्रमण के शिकार हुए हड़प्पा सभ्यता के वासियों के हैं। उनका यह भी मत है कि ये आक्रमणकारी आर्य रहे होंगे।



चित्र 77 मोहेंजोदड़ो : समूह में नर कंकाल

मार्शल ने मोहेंजोदड़ो में सिंधु सभ्यता के काल के आंशिक शवोत्सर्ग का उल्लेख किया है। आंशिक शवोत्सर्ग का एक असंदिग्ध उदाहरण मिला है जिसे पिगट हड़प्पा सभ्यता के बाद का मानते हैं। आंशिक शवोत्सर्ग के जो अन्य उदाहरण मार्शल ने दिये हैं, वे संदिग्ध हैं, क्योंकि एक को छोड़कर उनमें से किसी में भी मानव अस्थियां नहीं मिली हैं। मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा से कुछ चौड़े मुंह के बड़े पात्र मिले हैं, जिनमें

मृण्मय पिंड, छोटे–छोटे मृद्भाण्ड, आभूषण, पशुओं, चिड़ियों तथा मछलियों की हड्डियां, कोयला और राख भी मिली है। हड़प्पा में 'ए बी' टीले में 54 पात्र एक कतार में मिले जो लगभग 33 मीटर लम्बी जगह में थे। लेकिन इनमें से किसी–किसी में मानव अस्थियां भी पायी गयी हैं। मार्शल और मकाइ के अनुसार इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आज कल की हिंदु–प्रथा के अनुसार शव को दाह करके उसकी अस्थियां विसर्जित कर दी जाती थीं, किंतु थोड़ी सी अस्थियां और राख को मिट्टी के कलश में रख कर गाड़ देते थे। उनका कहना है कि इसी कारण अधिकांश कलशों में मानव अस्थियां नहीं मिलती। लेकिन व्हीलर और पिगट के अनुसार इन पात्रों में मानव अस्थियों का न होना इस बात का द्योतक है कि इनका शवोत्सर्ग से कोई संबंध नहीं था। पिगट का तो यह मत है कि इनमें से कुछ का प्रयोग निकास नालियों के शोषक गर्त के रूप किया गया था क्योंकि इस तरह के कितने ही भाण्ड फर्श और सड़कों के नीचे दबे मिले हैं, जिस कारण इनके अंदर विभिन्न प्रकार की सामग्री कूड़ा करकट की तरह भर गयी। मार्शल ने मोहेंजोदड़ो में एक स्थान से जली मानव अस्थियां मिलने का उल्लेख किया है जिनके साथ आभूषण, मृद्भाण्ड, राख, कोयला आदि भी रखे थे। वे इसे निश्चित रूप से शवाधान की प्रथा का उदाहरण मानते हैं। मोहेंजोदड़ो में कब्रिस्तान का न मिलना और सिंधु सभ्यता के जिन अन्य स्थलों पर कब्रिस्तान मिले हैं उनमें थोड़े ही लोगों के शव गाड़े मिलने से मार्शल की इस धारणा की पुष्टि होती है कि इस काल में दाहकर्म ही शवविसर्जन की सामान्य प्रथा रही होगी।

हड़प्पा में 'जी' क्षेत्र में एक साथ ही बीस मानव खोपड़ियां और उनके साथ दस नीचे के जबड़े, रीढ़ की हड्डियां, हाथ और पांव की हड्डियां, जानवरों की हड्डियां और सिंधु सभ्यता के बर्तन भी मिले हैं। इन खोपड़ियों के अध्ययन से गुहा ने पाया कि इनमें कुछ खोपड़ियां पुरुषों की, कुछ बच्चों की, और कुछ औरतों की हैं। केवल एक ही खोपड़ी ऐसी थी जिसका धड़ भी समीप ही था। इन अस्थियों के साथ आभूषण नहीं मिले। ये सतह से 1. 28 मीटर से 1. 77 मी0 गहराई पर मिले हैं। स्पष्ट है कि पहले शवों को अन्यत्र खुला छोड़ दिया गया था और फिर उनकी कुछ अस्थियां एकत्रित करके दफनायी गयी थीं। यों यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के शव–विसर्जन के संदर्भ में कई व्यक्तियों की बलि दी गयी थी। लेकिन जैसे वत्स ने बताया है कोई भी ऐसा कंकाल नहीं मिला जिसे अन्य कंकालों से विशिष्ट माना जा सकता हो। एक खोपड़ी अन्य खोपड़ियों से कुछ अलग अवश्य मिली लेकिन केवल इसी कारण उसे विशिष्ट व्यक्ति की खोपड़ी और उसके शव–विसर्जन के संदर्भ में शेष लोगों की बलि की कल्पना करना, समीचीन नहीं लगता। शायद ये उन लोगों की अस्थियां हैं जो या तो कत्ल के शिकार हुए थे या किसी महामारी के। कुछ भी हो इन अस्थियों को निश्चय ही विधिवत् दफनाया गया

था। इनके साथ पाये गये मृद्भाण्ड इसके प्रमाण हैं। चन्हुदड़ो के उत्खनन से एक पात्र के भीतर जला हुआ एक कपाल पाया गया है। इसी पात्र में एक बड़ा शंख, तांबे और कांसे के उपकरण भी मिले हैं। शव–विसर्जन के संदर्भ में इनका महत्त्व संदेहास्पद है।

हड़प्पा

हड़प्पा नगर की गढ़ी के बाहर, दक्षिण दिशा में 'एच कब्रिस्तान' (जो कुछ के अनुसार सिंधु सभ्यता के बाद के काल का है और कुछ के अनुसार सिंधु सभ्यता के ही अंतिम चरण का) के समीप ही निश्चित रूप से सिंधु सभ्यता के काल का एक कब्रिस्तान मिला है, उसे 'कब्रिस्तान आर–37' नाम दिया गया है। यहां पर पहले वत्स के निर्देशन में खुदाई हुई और फिर कुछ सालों के बाद 1946 में व्हीलर के निर्देशन में। दोनों खुदाइयों में कुल मिलाकर सत्तावन कब्रें प्रकाश में आयी हैं। तत्पश्चात् जार्ज एफ डेल्स तथा जे मार्क केन्योर द्वारा 1986–89 में किये गये उत्खनन में 30 से अधिक शवाधानों का पता चला।

ऐसा प्रतीत होता है कि हड़प्पा में कब्रिस्तान का प्रयोग एक लम्बी अवधि तक होता रहा था। लगभग 18 कब्रें ऐसी मिली हैं जिनकी खुदाई के दौरान उस काल से पूर्वकाल की कब्रें कट गईं थीं, और बाद के चरण की 8 ऐसी कब्रें मिली हैं जो इन परवर्ती कब्रों को भी काट कर खोदी गई थीं। इस तरह स्तरीकरण के आधार पर कुछ कब्रों का सापेक्ष काल–क्रम निर्धारित किया जा सकता है। किंतु यह उल्लेखनीय है कि इन सभी कब्रों के साथ जो सामग्री मिली है वह सिंधु संस्कृति की ही है, जिससे यह स्पष्ट है कि ये सभी कब्रें उसी संस्कृति के विभिन्न चरणों की ही हैं। यह कब्रिस्तान एक सीमित समूह, कुटुम्ब अथवा वंश, द्वारा लम्बे समय तक, संभवतः परंपरा का निर्वाह करते हुए उपयोग में लाया गया था। केन्योर के अनुसार यहां पर एक वंश के लोग लम्बे समय तक अपने मृतकों को एक ही स्थान पर गाड़ना चाहते थे इसलिये बाद की कब्र खोदने के दौरान पहले की कुछ कब्रें कट गईं हैं।

कब्रों की माप में कुछ भिन्नता पाई गई है। साधारण कब्र की माप 3 X 1 से लेकर 1. 3 X 0. 75 मीटर तक की हैं। कुछ लगभग 4. 5 मीटर लम्बी, 3 मीटर चौड़ी और 1 मीटर गहरी भी मिली हैं। इन कब्रों में पूरा–पूरा शव गाड़ा गया था। कब्रें पांव की ओर की अपेक्षा सिर की ओर अधिक चौड़ी हैं। सिर की ओर पैर की अपेक्षा अधिक बर्तन रखे मिले हैं। स्पष्ट है कि सिर की ओर कब्र को अधिक चौड़ी करने का उद्देश्य अधिक भाण्डों के लिए स्थान बनाना ही था।

साधारणतः कब्रों में शव को पूरा लंबा लिटाया गया है, केवल चंद कब्रों में ही शव मुड़ा हुआ रखा गया था। कभी–कभी सिर एक तरफ को मुड़ा था। शव प्रायः उत्तर–दक्षिण दिशा में लिटाये गये थे – सिर उत्तर की ओर और पैर दक्षिण की ओर। शव दाह करते समय आज भी हिन्दुओं में सिर उत्तर की ओर रखने की प्रथा है। केवल

एक उदाहरण ही ऐसा मिला है जिसमें शव के सिर को दक्षिण की ओर रख कर दफनाया गया था। चंद कब्रों के पास चबूतरा सा बना है। अनुमानतः उस पर रखकर, दफनाने से पहले, शव को स्नान कराया जाता था।

कुछ ही कब्रें ऐसी मिलीं जिनमें किनारों पर कच्ची ईंटें लगाई गई थीं या जिनमें एक या दो रद्दों की वर्गाकार या आयताकार दीवार बनी थी। बाकी सब सादी थीं। शव को गड्ढे में लिटाने के बाद आस–पास खाली जगह में बर्तन रख दिये जाते थे। अधिकांश कब्रों में 15 से 20 तक मिट्टी के बर्तन मिले। यों विभिन्न कब्रों में रखे बर्तनों की संख्या में काफी अंतर मिलता है। इन कब्रों में कम से कम दो और अधिक से अधिक चालीस बर्तन पाये गये हैं। ये बर्तन आवास क्षेत्र में प्राप्त बर्तनों से मिलते–जुलते हैं। एक उदाहरण में शव के पांव के पास हत्थेदार दीपक मिला जो कदाचित् उस काल के लोगों में प्रचलित मानव मृत्यु के उपरांत भी जीवन होने की धारणा के कारण मृतक के साथ उसे आवश्यकता पड़ने पर प्रकाश पहुंचाने के प्रयोजन से रखा गया होगा।

कुछ उदाहरणों में मृतक के साथ आभूषण भी मिले हैं। इनमें शंख की चूड़ी, हार, पांवों के कड़े, सेलखड़ी और पेस्ट के मनके, ताम्र की अंगूठी, ताम्र के कर्णवलय हैं। डेल्स और केन्योर के हड़प्पा में उत्खनन से प्राप्त शवों में चार स्त्रियां सीप की उसी तरह की चूड़ियां पहने हुई थीं जैसा कि मोहेंजोदड़ो की कांस्य नर्तकी पहने है। एक पुरुष की खोपड़ी के पास सैकड़ो सेलखड़ी के लघु मनके, बांए हाथ में सीप की चूड़ी और दायें हाथ के पास कार्नीलियन का मनका मिला। यह इस बात का द्योतक है कि पुरुष भी चूड़ियां और अन्य आभूषण पहनते थे। प्रसाधन की सामग्री में तांबें के दर्पण हैं जो बारह कब्रों में एक–एक मिले हैं। भलीभांति पालिश किये जाने के कारण ये दर्पण परावर्ती रहे होंगे और इनमें लोग अपना प्रतिबिम्ब देख सकते थे। एक कब्र में अंजन लगाने की शलाका और एक अन्य में शंख का एक बड़ा चम्मच मिला। कुछ में पक्षी की हड्डियां मिली जो मृतक के लिए रखी गयी भोजन सामग्री के द्योतक हैं। कुछ में पत्थर की छुरियां भी मिलीं। साधारणतः कब्रों में मिली वस्तुएं विशेष आकर्षक और मूल्यवान नहीं हैं, अतः ये कब्रें साधारणजनों की ही प्रतीत होती हैं। कुछ ऐसे उदाहरण भी मिले हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि कभी–कभी कब्रों को पाट कर उनके ऊपर मिट्टी ढेर कर दी जाती थी। हड़प्पा के एक उदाहरण में कच्ची ईंटों का चबूतरा बनाये जाने का भी प्रमाण है।

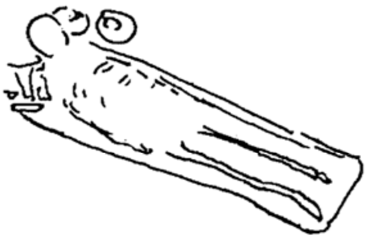
हड़प्पा के कब्रिस्तान की कुछ कब्रें विशेष महत्त्व की हैं। एक कब्र के किनारों पर चारों ओर कच्ची ईंटें लगाई गई थीं। (चित्र 78) लोथल में (चित्र 80) हड़प्पा संस्कृति के संदर्भ में और नाल (बलूचिस्तान) में नाल संस्कृति के संदर्भ में भी इस तरह की कब्रें पाई गई हैं। रोपड़ की एक कब्र में ईंट का एक रद्दा था। दाईमाबाद में भी एक शव–गर्त में किनारे ईंटों का रद्दा था और शव उत्तर–दक्षिण की ओर लिटाया गया

था। हड़प्पा की दूसरी कब्र में शव को लकड़ी की पेटी में रखकर दफनाया गया था (चित्र 79)। काठ की होने के कारण यह पेटी नष्ट हो गयी है किंतु उत्खनन में इसके



चित्र 78 हड़प्पा : ईंटों से चिह्नित शवाधान

चिह्न मिट्टी पर धब्बे के रूप में स्पष्ट दिखाई दिये जिससे उसके आकार का भी ज्ञान होता है। इस पेटी की लम्बाई 2. 13 मीटर, चौड़ाई 0. 762 मीटर और ऊंचाई 0. 457 मीटर थी। इस पेटी के ढक्कन की लकड़ी के चूरे के परीक्षण से ज्ञात हुआ कि वह देवदार का बना था। देवदार हिमालय की पहाड़ियों पर उगता है और संभवतः कश्मीर से नदी मार्ग द्वारा हड़प्पा में लाया गया होगा। शव के चारों ओर राख जैसे पाउडर की तह पायी गयी। दफनाने से पूर्व शवों को सरकंडे से लपेटने की प्रथा सुमेर के प्रारंभिक राजवंश और अक्कादी काल में प्रचलित थी। अक्कादीकाल तो सिंधु सभ्यता के विकसित काल का समकालीन है ही और प्रारंभिक राजवंश का अंतिम चरण सिंधु संस्कृति के प्रारंभिक चरण का समकालीन हो सकता था। अनुमानतः यह पाउडर इसी तरह प्रयुक्त किये गये सरकंडों का होगा। हो सकता है कि यह शव किसी सुमेर मूल के नागरिक का रहा हो जिसका दाह संस्कार उसके देश की परंपरा के अनुसार ही हड़प्पा में किया गया हो। शव विसर्जन की यह विधि दोनों संस्कृतियों के मध्य सम्पर्क का द्योतक हो सकती है। विद्वानों की धारणा है कि सम्भवतः यह शव किसी नारी का है। उसके दाहिने हाथ की बीच की उंगली में एक ताम्र–अंगूठी मिली है। सिर और कंधे के समीप शंख के तीन वलय पाये गये हैं। इस कब्र से प्राप्त मृद्भाण्डों की संख्या 37 है जो अधिकांशतः सिर के आस पास रखे गये हैं। शव पेटी के भीतर केवल एक ही बर्तन रखा गया था। इस तरह पेटी के शव दफनाने का व्हीलर के



चित्र 79 हड़प्पा : पेटिका में रखा शव

उत्खनन (1946) तक एक ही था किंतु हाल के उत्खननों से इसके कुछ और उदाहरण मिले हैं। एक पेटिका के शव में शरीर पर आभूषण नहीं था। सिर के पास 9 मृद्भाण्ड थे। दूसरी शव–पेटिका में कंकाल के हाथ में दो चूड़ियां थीं। पास में 5 कार्नीलियन के मनके थे। एक अन्य पेटिका में पुरुष के सिर के पास चंद बर्तन, बायीं कलाई पर शंख की चूड़ी और पास में एक मनका और सिर के पास तीन शंख के छल्ले मिले। एक शव–पेटिका में शव को बांध कर दफनाया गया था जिसके साथ कई मनके और मृद्भाण्ड थे। एक शव–पेटिका में माता और पुत्र को साथ गाड़ा गया था संभवतः स्त्री की मृत्यु प्रसूति के समय हुई थी।

हड़प्पा में डेल्स तथा केन्योर के उत्खनन में कुछ ऐसे बच्चों के शव पाये गये जिनका बचपन में कुछ समय के लिए शारीरिक विकास रुक गया था। ऐसा या तो पौष्टिक आहार के अभाव में हुआ था, या अत्यधिक तनाव, या लम्बी बीमारी के कारण। कुछ उदाहरणों में गर्दन पर गठिया रोग होने के साक्ष्य मिले जो शायद भारी बोझ ढोने के कारण हो सकता था।

कुछ मानव–शास्त्रियों ने इन अस्थियों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि जिन लोगों के ये नर कंकाल हैं वे शारीरिक गठन में उस क्षेत्र के वर्तमान निवासियों से विशेष भिन्न नहीं। यदि यह सही है तो इस क्षेत्र में विभिन्न जातियों के समय–समय पर आक्रमणकारी अथवा किसी अन्य रूप में आने के बावजूद हड़प्पा सभ्यता के लोगों और आज के लोगों में शारीरिक समानता काफी रोचक है। यह मानना पड़ेगा कि अभी तक हड़प्पा सभ्यता के मानव कंकालों का उनके महत्त्व के अनुरूप अध्ययन नहीं हुआ है, और इसलिए निष्कर्षों के सम्बन्ध में मत–मतांतरों की काफी गुंजाइश है।

हड़प्पा के 1987–88 के उत्खनन से 25 पूरे कंकाल मिले। ये 16 से 34 साल के बीच की आयु के स्त्रियों और पुरुषों के थे जिससे लगता है कि सामान्यतः लोग दीर्घजीवी नहीं होते थे। हड़प्पा के नर कंकालों के वैज्ञानिक परीक्षण पर आधारित अध्ययन से पता चला है कि एक स्थान पर स्त्रियों को उनकी मां के साथ गाड़ा गया था। यह संभवतः मातृसत्तात्मक परिवार का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

रोपड़

रोपड़ में कब्रिस्तान आवासित टीले के पश्चिमी छोर की ओर उससे लगभग 53 मीटर की दूरी पर है। रोपड़ का हड़प्पा कालीन कब्रिस्तान काफी क्षतिग्रस्त दशा में मिला है। यह भी हड़प्पा के कब्रिस्तान की भांति मुख्य आवास स्थल से कुछ दूरी पर स्थित है। रोपड़ में सिंधु सभ्यता के अंत के बाद से चित्रित धूसर–भाण्ड का प्रयोग करने वाले लोग आकर बसे। उनके द्वारा गड्ढे खोदने से इस कब्रिस्तान में काफी तोड़–फोड़ हुयी है, फलस्वरुप इन कब्रों में दफनाये शवों के अस्थिपंजर खण्डित हो

गये हैं। कभी तो लगभग समूचा अस्थिपंजर ही खोदकर फेंक दिया गया। यही कारण है कि पुरातात्त्विक उत्खनन में कुछ ही कब्रों में अस्थिपंजर मिले।

सबसे प्राचीन कब्रें अक्षत भूमि में खोदी गयी थीं। ये सभी एक ही आकार की नहीं हैं। अधिकांश अंडाकार हैं। केवल एक कब्र में कच्ची ईंटों के एक रद्दे से कब्र को आयताकार रूप दे दिया गया है। औसतन कब्रें 2. 54 X 0. 91 X 0 61 मी0 की हैं। प्रत्येक कब्र में केवल एक ही शव दफनाया गया था। साधारणतया सिर उत्तर की ओर रखकर दफनाया गया था। थोड़ी सी कब्रों को छोड़कर सभी में मृद्भाण्ड मिले। इन कब्रों में भी अस्थिपंजर के शीर्ष, मध्य--भाग और पैरों की ओर बर्तन पाये गये। ये बर्तन गाड़े गये शव की सतह पर ही रखे मिले। बर्तनों की संख्या 2 से 26 तक थी। मृद्भाण्ड रख दिये जाने के बाद शव को मिट्टी से ढक दिया जाता था। एक ऐसी कब्र मिली जिससे यह पता चलता है कि पहले कब्र खोद कर उसमें बर्तन रख दिये गये थे, फिर उन्हें मिट्टी से ढक दिया गया और तब फिर शव को रखकर गड्ढा पाट दिया गया था। इन कब्रों में व्यक्तिगत आभूषणों में शंख की चूड़ियां, ताम्र–वलय और मनके विशेषकर पाये गये। केवल दो उदाहरणों को छोड़कर, ये आभूषण शवों के शरीर पर नहीं मिले। इन दो में से एक में कांचली मिट्टी की चूड़ी मृतक की बायीं कलाई में तथा दूसरे में तांबें की अंगूठी दाहिने हाथ की बीच की अंगुली में पहनी हुई मिली। हड़प्पा से मिली पेटिका के अन्दर दफनाए शव के कंकाल में भी दाहिने हाथ की इसी (मध्यमा) उंगली में तांबे की अंगूठी मिलने का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। एक उदाहरण में मानव कंकाल के नीचे कुत्ते का कंकाल मिला है। या तो कुत्ता स्वामी की मृत्यु के बाद दुखी होकर मर गया और लोगों ने उसे भी उसके स्वामी के साथ गाड़ दिया, या फिर स्वामी का अतिप्रिय होने के कारण उसे भी, जीवित अवस्था में या मार कर, स्वामी की ही कब्र में गाड़ दिया गया होगा। मृतक के साथ प्रियजनों और प्रिय पशुओं को भी दफनाने की प्रथा प्राचीन मिस्र और मेसोपोटामिया में बहुत प्रचलित थी। कश्मीर के बुर्जाहोम नामक स्थल से भी नव पाषाण कालीन शवोत्सर्ग में मृतक के शव के साथ पशु के भी गाड़े जाने का उदाहरण मिलता है।

राखीगढ़ी

राखीगढ़ी के बड़े टीले के उत्तर में 200 मी. की दूरी पर सिंधु सभ्यता कालीन कब्रिस्तान मिला। यहां 10 X 10 मी. खात में 11 शवों के गाड़े जाने के साक्ष्य मिले। शवों के सिर की तरफ गर्त अंडाकार थे। सिर किंचित उत्तर–दिशा में था। प्रायः सभी शवों के साथ मृद्भाण्ड सिर के पास रखे मिले। तीन शवों के बायें हाथ की कलाई पर शंख की चूड़ियां थीं। एक नारी शव के पास सोने का बाजूबंद मिला। इस स्थल पर काल–क्रम की दृष्टि से तीन चरणों के शवाधानों के साक्ष्य मिले। कुछ उदाहरणों में बाद के शवों को दफनाने के लिये की गई खुदाई में पहले के शव क्षतिग्रस्त हो गये। ऐसी धारणा व्यक्त की गई है कि यह किसी समुदाय या परिवार विशेष का

कब्रिस्तान था जिसमें पीढ़ी दर पीढ़ी उसके सदस्यों को दफनाया गया था।

लोथल

लोथल के उत्खननों से हड़प्पा संस्कृति की शवोत्सर्ग प्रणाली पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ा है। यहां कब्रिस्तान टीले के उत्तर–पश्चिमी छोर पर है और उसमें कुल मिलाकर बीस कब्रें मिली हैं। उनमें से चार तीसरे चरण में, सात चौथे, और पांच पांचवे चरण के अंतिम समय में परवर्ती सिंधु सभ्यता के काल की हैं। इनमें से चार कब्रों में तो केवल गड्ढे ही मिले हैं, उनमें विशेष अस्थ्यवशेष नहीं मिले। शेष कब्रों में मानव कंकाल मिले, और मानव कंकाल वाली कब्रें दो प्रकार की हैं :– (1) जिनमें केवल एक शव को दफनाया गया है। (2) जिनमें दो–दो शवों को एक साथ गाड़ा गया है।

एक शव वाली कब्रें

लोथल में प्राप्त ये सभी कब्रें तृतीय से पंचम काल की हैं। प्रथम एवं द्वितीय काल की कब्रों का अभी तक पता नहीं चल पाया है। पंचम काल की कब्रें आधुनिक काल में उस क्षेत्र में कृषि किये जाने के परिणामस्वरूप कुछ टूट–फूट गई हैं। कुछ कब्रें ऐसी भी हैं जो बाद की कबों को खोदते समय खण्डित हो गई थीं। एक शव वाली कब्रों का आकार लगभग 3. 2 X 0. 75 मीटर है और ये 0. 3 से 0. 5 मीटर गहरी खुदी है। दो शवों वाली कबें कुछ अधिक चौड़ी हैं, उनकी चौड़ाई लगभग एक मीटर है। दो शव वाली कब्रें उत्तर दिशा में दक्षिण से अधिक चौड़ी हैं। लोथल की इन कब्रों में भी अधिकतर शवों को सिर उत्तर और पैर दक्षिण की ओर रखकर ही पीठ के बल लिटाया गया है, केवल एक उदाहरण में ही शव का सिर पूर्व की ओर और उसके पैर पश्चिम की ओर हैं। शरीर को करवट लिटाया गया था और हाथ शरीर से चिपके हैं। इन एक–एक शव वाली सभी कब्रों में मृद्भाण्ड मिलते हैं जो कि आवास के क्षेत्र में प्राप्त मृद्भाण्डों के समान ही हैं। एक कब्र में तांबें की अंगूठी और शंख के मनके भी मिले। दूसरी में बकरी के सींग और हड्डियां मिलीं। सम्भवतः इस बकरी का मृतक के लिए बलिदान किया गया था। एक कब्र की सतह पर कच्ची ईंटें, और कुछ कब्रों की सतह पर कंकड़ मिले। शि. रंगनाथ राव इस संदर्भ में ऋग्वेद का मंत्र उद्धृत करते हैं जिसमें मृतक के लिए बकरे की बलि दिये जाने का उल्लेख है।

दो शवों वाली कब्रें

जहां लोथल की एक शव वाली कब्रें तृतीय से पंचम काल तक की हैं वहां दो शवों वाली तीन कब्रें तृतीय काल की हैं। इनमें से एक कब्र के किनारे–किनारे कच्ची ईंटों की चिनाई की गई है। लेकिन इसमें न लकड़ी के ताबूत और न आच्छादान होने के ही साक्ष्य मिलते हैं (तुलना कीजिए हड़प्पा के ताबूत के उदाहरण से)। एक कब्र में तो दोनों शव अलग–अलग रखकर दफनाये गये थे। शेष दो उदाहरणों में शवों को

एक दूसरे से लिपटा हुआ गाड़ा गया है। (चित्र 80)। इन दोनों उदाहरणों में शवों के लिंग के बारे में मतभेद है। कुछ का मत है कि दोनों पुरुषों के शव हैं, जबकि कुछ का कहना है कि एक स्त्री और एक पुरुष का है। उदाहरणार्थ नृतत्व शास्त्री प्रोफेसर



चित्र 80 लोथल : युगल शवाधान

सरकार का कहना है कि दोनों ही शवाधानों में किसी शव की स्त्री के रूप में पहचान करना कठिन है, लेकिन इसी शास्त्र के अन्य दो विद्वानों – बी0 के0 चटर्जी और आ0 डी0 कुमार ने दो–दो शवों वाली कब्रों में एक–एक कंकाल को स्त्री का माना है। यदि यह दूसरा मत सही है तो यह पति के मरने के पश्चात् पत्नी द्वारा अपने प्राण त्याग करने की प्रथा का द्योतक हो सकता है। राव ने इसे 'सती' प्रथा का द्योतक होना सुझाया है। किंतु, जैसे सांकलिया ने कहा है, सती एक खास प्रकार की प्रथा का द्योतक है, जिसमें पत्नी अपने पति की चिता में स्वेच्छा से प्रविष्ट होकर प्राण त्यागती है। सती प्रथा में पति के साथ गाड़े जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। साथ ही सती की प्रथा वैदिक काल में प्रचलित नहीं लगती और इसका प्रचलन अपेक्षाकृत बाद के काल में हुआ। प्राचीन मेसोपोटामिया और मिस्र में मृतक के साथ उसकी पत्नी और अन्य लोगों के गाड़े जाने के अनेक उदाहरण हैं। हो सकता है कि लोथल में भी इन दो शवों वाली कब्रों के संदर्भ में इसी तरह की प्रथा का निर्वाह किया गया हो। इन दो शवों वाली कब्रों में कोई सामान – मिट्टी का बर्तन, गहना इत्यादि नहीं मिला। कब्रों में सामान का न होना या तो एक शव वाली कब्रों से भिन्न परम्परा का द्योतक है, या फिर दो शव दफनाये जाने के कारण भाण्ड रखने के लिए जगह का अभाव इसका कारण हो सकता है। युगल शवाधान के कुछ अन्य उदाहरण अन्यत्र ज्ञात है। सिंध के दम्ब बूथी में भी दो शवों को साथ–साथ गाड़ा पाया गया। मेसोपोटामिया के किश नामक

स्थल में भी युगल शवाधान के साक्ष्य मिले हैं। दक्षिणी भारत में नागार्जुनीकोण्ड में भी इस तरह से दो शवों को साथ गाड़ा गया था। लेकिन यह निष्कर्ष निकालना कठिन है कि उपर्युक्त सभी उदाहरण एक ही परम्परा के द्योतक हैं। लोथल में प्राप्त अधिकांश शवों की खोपड़ियां मध्यमशिरस्क हैं जो कि आधुनिक काल में गुजरात के लोगों में सामान्य हैं।

धौलावीरा

धौलावीरा से कई प्रकार के शवाधानों की जानकारी प्राप्त हुई है जिससे ज्ञात होता है कि वहां पर कई प्रकार से शवविसर्जन की विधियां प्रचलित थीं। पहले प्रकार के शवाधान में पत्थरों की सिलों को आयताकार क्षेत्र में इस तरह रखा गया कि वह बक्सा सा लगता है। इसके भीतर नरकंकाल नहीं मिले। दूसरे प्रकार के शवाधानों में सामान्य गर्त के भीतर मिट्टी के बर्तन रखे हुए हैं। यहां भी शवाशेष नहीं मिले। तीसरे प्रकार में पत्थरों से वृत्त बनाकर उसे पत्थर से ढका गया था, इसमें भी हड्डियां नहीं मिली। चौथे प्रकार के शवाधान में एक बड़ा वृत्त पत्थरों से बनाया गया जिसके किनारे पत्थरों के छोटे–छोटे वृत्त बनाये गये। इसमें भी शवाशेष नहीं मिले। पांचवे प्रकार के शवाधानों मे अर्धचन्द्राकार मिट्टी का टीला बनाया गया जिसे कच्ची ईंटों से ढका गया। छठे प्रकार के शवाधान में मिट्टी के टीले को पत्थर का सहारा दिया था। ये सभी स्मारक शवाधान थे। स्मरणीय है कि कालीबंगां में भी स्मारक शवाधान मिले हैं।

कालीबंगां

कालीबंगां में कब्रिस्तान गढ़ी वाले टीले के पश्चिम–दक्षिण–पश्चिम में लगभग 200 मीटर की दूरी पर स्थित है। घग्गर नदी में बाढ़ के समय उसका पानी कब्रिस्तान के क्षेत्र में आ जाने से कुछ कब्रें क्षतिग्रस्त हो गईं।

कब्रें अलग–अलग गहराई पर मिली हैं और इससे यह प्रमाणित होता है कि कब्रिस्तान का प्रयोग एक लम्बी अवधि तक चलता रहा और ये कब्रें कई प्रकालों की हैं। लेकिन इन कब्रों में जो मृद्भाण्ड एवं अन्य सामग्री मिली है उससे स्पष्ट है कि ये सभी हड़प्पा काल की हैं। दो ऐसे भी उदाहरण मिले हैं जिनमें नई कब्रें खोदने के दौरान पहले की कब्रें कट गई हैं। कब्रिस्तान में तीन प्रकार के शव–विसर्जन मिले हैं :–

(1) आयताकार या अण्डाकार गड्ढे जिसमें अस्थिपंजर एवं मृद्भाण्ड इत्यादि सामग्री है।

(2) आयताकार गड्ढे जिनमें सामग्री तो है किंतु अस्थि अवशेष नहीं है।

(3) गोल–अण्डाकार गड्ढे जिनमें केवल सामग्री है, अस्थि अवशेष नहीं।

कुल मिलाकर कालीबंगां से 37 शव–विसर्जन के उदाहरण मिले हैं, 12 प्रथम प्रकार के, 5 द्वितीय प्रकार के, और 16 तृतीय प्रकार के। उपर्युक्त सभी प्रकार के

शव–विसर्जन एक ही काल के हैं, किंतु कब्रिस्तान में उनके क्षेत्र लगभग अलग–अलग हैं। लगता है किन्हीं कारणों से जान–बूझकर ही इन तीनों प्रकारों के लिए अलग–अलग क्षेत्र निर्धारित किए गये थे। यही नहीं, पहले और तीसरे प्रकार में 6 से 7 शव–विसर्जन के अलग–अलग समूह हैं। इस तरह के भेद का निश्चित कारण तो ढूंढना कठिन है किंतु यह किसी परिवार विशेष की विशिष्टता, या किसी सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक वर्ग विशेष का द्योतक हो सकता है।

पहला प्रकार

पूर्ण शव–विसर्जन में शव को पीठ के बल लिटाकर सिर उत्तर की ओर रखा गया था। मृतक के साथ मिट्टी के बर्तन एवं अन्य वस्तुएं भी रखी गई थीं जो सिर की ओर अधिक और पैरों की ओर कम मिली हैं। एक उदाहरण में शव को पेट के बल लिटाया गया था और सिर दक्षिण की ओर रखा गया था, जो साधारण से भिन्न परम्परा का द्योतक है। इस शव के हाथ और पांव सटे हुए हैं। शव गड्ढे के उत्तरी आधे भाग में रखा गया था। एक आयताकार कब्र में गड्ढे के चारों ओर कच्ची ईंटों की चिनाई की गई थी और ईंटों के ऊपर अंदर की ओर पलस्तर लगा था। इस शव के साथ 72 बर्तन रखे थे, 37 सिर के उत्तर की ओर और 35 शव के बीच में रखे थे। इसमें शव का सिर उत्तर की ओर रख कर उसे ऊर्ध्वमुख लिटाया गया था। पैर और हाथ किंचित मुड़े हुए थे। यह कहना कठिन है कि बर्तनों की इतनी अधिक संख्या उस व्यक्ति के महत्त्व का प्रतीक है। एक कब्र में दफनाये गये शव के परीक्षण से उसके शारीरिक दोष का पता चला। उसके बाएं हाथ की कलाई की हड्डियां दाएं हाथ की हड्डियों की अपेक्षा छोटी थीं। उसके बाएं कान के समीप एक सीप का कुंडल मिला। एक बालक का सिर अनुपात से काफी बड़ा था। यह शायद खोपड़ी में अधिक पानी जमा होने से सूजन के कारण हुआ। एक शव के बाएं घुटने पर 3 सेमी0 गहरा और 9. 4 सेमी लम्बा घाव था जो भर नहीं पाया। इसके परीक्षण से पता लगा कि घाव उस तरह की कुल्हाड़ी से किया गया था जिस तरह कालीबंगां में पायी गई है। एक अन्य कब्र में शव का केवल ऊर्ध्व भाग ही प्राप्त हुआ। नीचे का भाग शायद बाद में गड्ढे खोदने के दौरान खुद गया। इस कब्र में बर्तन एवं मनके भी मिले। तीन मनके सोने के, तीन जैस्पर के, तीन गोमेद के और दो–दो कार्नीलियन और सेलखड़ी के थे। एक बच्चे की खोपड़ी में 6 गोल छेद हैं जो शल्य चिकित्सा के उदाहरण लगते हैं। एक अस्थिपंजर पर जलाये जाने के निशान हैं। चूंकि यह जले शव का एकमात्र उदाहरण है, अतः शव का जलना आकस्मिक भी हो सकता है। एक कब्र में तांबे का दर्पण भी मिला है। शंख, सेलखड़ी और कीमती पत्थरों के आभूषण अनेक कब्रों में मिले हैं।

दूसरा प्रकार

आकार–प्रकार में ये गड्ढे प्रथम प्रकार के समान हैं, किंतु उनमें अस्थि अवशेष नहीं मिले हैं। इन गड्ढों में मिट्टी के बर्तन ही मुख्यतः कब्र की सामग्री के तौर पर मिले

हैं। केवल एक ही उदाहरण में सीप की चूड़ियों के कुछ टुकड़े, सेलखड़ी के अनेक मनके और एक कार्नीलियन का मनका मिला। प्रत्येक शवाधान के मृद्भाण्डों में एक बड़ा बर्तन मिला। लेकिन उसमें कोई अस्थ्यवशेष या राख जो शवदाह के बाद अस्थि–संचय की द्योतक होती, नहीं मिली। इन गड्ढों में बालू और मिट्टी की एक के बाद दूसरी कई एकान्तरिक परतें मिलीं हैं। अनुमानतः गड्ढे को बर्तन रखने के बाद या तो भरा नहीं गया, या कुछ अंश तक ही भरा गया, और वर्षा में भी खुला रहा। बाद में शेष गड्ढा कच्ची ईंटों के टुकड़े से भर दिया गया। मानव अस्थियों के अभाव में ऐसा सुझाया गया है कि या तो मृतकों के लिये मात्र प्रतीक शवविसर्जन थे, या ये उनकी यादगार के लिये बनाये गये थे जिनकी मृत्यु घर से बहुत दूर हुई और इस कारण उनका शव दफनाने के लिए नहीं लाया जा सका था। यह भी हो सकता है कि मृतक के शव को जलाकर राख संचय की गयी हो, और फिर वह नदी में विसर्जित कर दी गयी हो। एक गर्त काफी गहरा था और उस तक पहुंचने के लिए दो सीढ़ियां काटी गयी थीं। बाद में इसी गर्त को काटकर एक और गर्त बनाया गया जिसमें शव मिला। क्या दूसरी कब्रों में भी इसी तरह से शव रखने का इरादा था जो पूरा नहीं हो सका ? कह नहीं सकते।

तीसरा प्रकार

इस प्रकार के गड्ढे पहले और दूसरे प्रकार की अपेक्षा काफी उथले थे। ये गड्ढे मुश्किल से एक मीटर गहरे थे और अधिकांश तो इससे भी काफी कम गहरे थे। उनका आकार भी अपेक्षाकृत छोटा था। इनमें से कुछ गड्ढे अण्डाकार थे। गड्ढों में साधारणतः केन्द्र में या उससे थोड़ा उत्तर या पूर्व की ओर एक बड़ा बर्तन और आस पास 2 से लेकर 29 तक बर्तन रखे मिले हैं। केवल कुछ ही गड्ढे ऐसे हैं जिनमें बर्तनों के साथ अंगूठी, तांबें का दर्पण, मनके, सीप की चूड़ियां और सेलखड़ी की बनी वस्तुएं भी मिली हैं। एक में एक बर्तन की ग्रीवा में सेलखड़ी के छोटे मनकों की तीन लड़ियां पड़ी थीं। ये भी प्रतीक शव–विर्जन के उदाहरण हो सकते हैं। शव–विसर्जन का यह प्रकार सिंधु सभ्यता के संदर्भ में प्रथम बार प्राप्त हुआ है।

शव–विसर्जन के उपर्युक्त प्रकारों का सापेक्ष कालक्रम निर्धारण कठिन है। एक सोपानित शवाधान के उदाहरण में दूसरे प्रकार का शव–विर्जन काल–क्रम की दृष्टि से पहले का है, और पहले प्रकार का बाद का। इसी तरह एक उदाहरण में दूसरे प्रकार के शवाधान के गर्त को तीसरे प्रकार के शवाधान के गर्त द्वारा काटा गया है। किंतु इन एक–एक उदाहरणों से ही हम इन तीन प्रकारों की सापेक्ष तिथि के संबंध में कोई सामान्य निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। यह भी संभव है कि पहले शव को बड़े गर्तों में रखा जाता था और फिर उन्हें दूसरी जगह गड्ढा खोदकर स्थानान्तरित कर दिया जाता था। स्वराज्य प्रकाश गुप्त के अनुसार आवास की दृष्टि से कालीबंगां के लोगों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है :–

1. गढ़ी में रहने वाले
2. गढ़ी के पार्श्व में रहने वाले, और
3. नगर के निचले भाग में रहने वाले

उनका कहना है कि शायद ये तीन अलग–अलग क्षेत्रों में रहने वाले लोग समाज के तीन भिन्न वर्गों के द्योतक हो सकते हैं, और हो सकता है कि जिन तीन प्रकार के शव–विसर्जनों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, इन्हीं तीन वर्गों से अलग–अलग रूप से संबंधित हों। यह भी हो सकता है कि ये अलग–अलग जातियों के हों। मोहेंजोदड़ो, लोथल आदि स्थलों के कंकालों के अध्ययन से सिंधु सभ्यता में विभिन्न जातियों के लोगों की उपस्थिति ज्ञात है।

चण्डीगढ़

चण्डीगढ़ नगर के क्षेत्र में फरवरी 1970 में एक भवन की नींव खोदते समय हड़प्पा संस्कृति के अवशेष मिले। चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास तथा पुरातत्त्व विभाग द्वारा की गई खुदाई में वहां पर पांच शव–कंकाल प्राप्त हुये। केवल एक ही शव ऐसा था जिसको मुड़ा हुआ रखकर दफनाया गया था। बाकी सभी पूरे के पूरे लम्बाई में गाड़े गये थे। एक कब्र में शव का सिर दक्षिण की ओर था और शेष सभी में उत्तर की ओर। कब्रों में सादे और चित्रित मृद्भाण्ड मिले।

तरखानेवाला डेरा

राजस्थान के गंगानगर जिले में तरखानेवाला डेरा नामक स्थल पर परीक्षण गर्त लगाते समय श्री अमलानन्द घोष को अन्य वस्तुओं के साथ एक चबूतरा मिला जिस पर शवदाह किये जाने के साक्ष्य मिले। इस चबूतरे पर कुछ कच्ची ईंटें चपटी बिछी थीं। उस पर कम से कम पांच बार शव–दाह किये जाने के प्रमाण थे। प्रत्येक शव–दाह के बाद राख और जली अस्थियों की सतह के ऊपर मिट्टी या कच्ची ईंट की तह बिछाई गयी थी और उस पर दूसरा शवदाह किया जाता रहा। यह सिंधु सभ्यता के अधिकांश स्थलों में कब्रिस्तान में शव गाड़ने से भिन्न प्रकार के शव–विसर्जन का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

सुरकोटड़ा

इस स्थल पर कब्रिस्तान में सीमित क्षेत्र में ही उत्खनन किया गया। इसमें केवल चार शवाधानों के उदाहरण मिले। वे लोग अण्डाकार उथला गड्ढा खोदते थे और उसमें कुछ बर्तन रखते थे। इन बर्तनों में कुछ में हड्डियां मिलीं, कुछ में नहीं। बर्तनों को मिट्टी से भर दिया जाता था, और कब्र को पाषाण शिला से ढक दिया जाता था, फिर कंकड़–पत्थर से आच्छादित कर दिया गया। पश्चिम की ओर एक शिला को लंबाकार रखा गया था। दूसरे प्रकार के शव–विसर्जन में बर्तनों से युक्त अण्डाकार गर्त को एक विशाल शिलाखण्ड से ढक दिया गया था। इस तरह के शवाधान बृहत

पाषाण संस्कृति के शवाधानों से मिलते–जुलते हैं।

सुत्कागेंडोर

सुत्कागेंडोर में रक्षा प्राचीर के उत्तरी क्षेत्र में एक बड़ा मिट्टी का बर्तन मिला जिसमें राख थी। यह राख मृतक के शवदाह के बाद रखी भस्म हो सकती है। जले हुये अस्थ्यवशेषों से युक्त तीन बर्तन पूर्वी रक्षा–प्राचीर के पास पाये गये। इनके साथ ही एक सीप या शंख की चूड़ी, एक गोल चपटा आभूषण और कुछ छोटे–छोटे मृद्भाण्ड मिले। हड़प्पा संस्कृति की विशिष्ट साधार तश्तरी मिलने के कारण इनका हड़प्पा संस्कृति के काल का होना निर्विवाद लगता है।

सिंधु सभ्यता में मेसोपोटामिया और मिस्र के समान भव्य कब्रें नहीं मिली हैं, और न ही सिंधु सभ्यता के लोगों ने प्राचीन मिस्र की तरह शव को मसाले में रखकर उसे सुरक्षित रखने का प्रयास किया है। कब्रों के साथ जो सामग्री मिली है वह मिस्र तथा मेसोपोटामिया की कुछ स्वर्ण, कीमती धातुओं और रत्नों से सम्पन्न कब्रों की अपेक्षा अत्यन्त साधारण हैं। या तो सिंधु सभ्यता में कब्र सामग्री के रूप में बहुमूल्य वस्तुओं को रखने की प्रथा ही नहीं थी, और लोग बहुमूल्य सामग्री को मृतकों के साथ रखने की अपेक्षा उसको जीवंत लोगों के प्रयोग में लाने में अधिक रुचि रखते थे। यह भी संभव है कि जो कब्रें मिली हैं वे साधारण जनों की हैं और शासकों और अन्य सम्पन्न एवं महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की कब्रें ऐसे स्थल में हैं जिस पर अभी पुरातत्त्व की कुदाली नहीं चली। उस समय बड़े नगरों की जनसंख्या काफी रही होगी और सिंधु सभ्यता लम्बी अवधि तक बनी रही, अतः यह आशा की जाती है कि कब्रें पर्याप्त संख्या में मिलेंगी। किंतु अभी तक ज्ञात कब्रों की संख्या बहुत कम है। अतः यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि इस संस्कृति में शवाधान के अतिरिक्त शव–विसर्जन की अन्य विधियां भी प्रचलित थीं।

अध्याय 16
काल निर्धारण

किसी संस्कृति की उपलब्धियों के सही मूल्यांकन के लिए उसकी पूर्ववर्ती, समकालीन तथा परवर्ती संस्कृतियों से तुलना आवश्यक है, साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि संस्कृति में समय के साथ प्रगति हुई अथवा अवनति। और इस सब के लिये उसकी तिथि निर्धारण आवश्यक है। सिंधु सभ्यता की तिथि के बारे में पुराविदों में मतभेद है। सिंधु सभ्यता के लोगों के जो लघु लेख मिले हैं, उन्हें अब तक सर्वमान्य रूप मे पढ़ा नही जा सका है। इसलिए तिथि निर्धारण के लिए साहित्यिक साक्ष्य का प्रश्न ही नहीं उठता। जब मार्शल ने हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो का उत्खनन कराया था उस समय भारतीय पुरातत्त्व में काल निर्धारण के लिए उत्खात सामग्री का अध्ययन मुख्यतः गहराई के आधार पर ही किया जाता था, अर्थात् जितनी गहराई पर वस्तु मिले उसे उतना ही प्राचीन माना जाता था। किन्तु यह तिथि दोषमुक्त नही है। अब उत्पात अवशेषों का तिथि–निर्धारण स्तरीकरण की वैज्ञानिक विधि आधार पर होता है। अनेकशः किसी संस्कृति के सदर्भ में प्राप्त सामग्री का किसी अन्य संस्कृति के संदर्भ में प्राप्त हुई उससे मिलती–जुलती सामग्री से तुलना करना भी तिथि–निर्धारण में सहायक होता है। अन्य देशों विशेषतः मेसोपोटामिया, ईरान, बहरीन द्वीप आदि से सिंधु सभ्यता के सपर्क थे। मेसोपोटामिया की प्राचीन संस्कृतियों द्वारा प्रयुक्त लिपि का पढ़ना संभव हो सका जिससे उनके संदर्भ मे महत्त्वपूर्ण अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध हुए। इनसे तिथि निर्धारित करने मे महत्त्वपूर्ण योगदान मिला। इस संदर्भ में अक्कादी सम्राट् सारगन के राज्यकाल (2330 ई.पू.–2284 ई. पू.) की तिथि महत्त्वपूर्ण काल मापी आधार सिद्ध हुई है। खुदाइयों में प्राप्त जैविक अवशेष, यथा कोयला, हड्डी या लकड़ी, का रेडियो कार्बन (कार्बन–14) विधि से हड़प्पा संस्कृति के कई स्थलों की तिथि निर्धारित की जा चुकी है।

ताम्राश्म सभ्यता

यह सर्व विदित है कि बेबीलोनी और सुमेरी सभ्यताओं की तरह सिंधु संस्कृति भी ताम्राश्म संस्कृति थी। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय अश्मयुगीन परंपरा के साथ–साथ कुछ धातुओं, यथा सोना, चांदी, तांबा और कांसा, का प्रचलन आरंभ हो गया था। किन्तु लोहे के प्रयोग से वे अपरिचित थे। अतः सिंधु संस्कृति का विकास पाषाण काल के अंतिम चरण के पश्चात् तथा लौह युग के आविर्भाव से पूर्व हुआ था। जहां तक भारत में पाषाण युग के अंतिम चरण के काल निर्धारण का प्रश्न है, इतना विशाल एवं अत्यधिक भौगोलिक भिन्नता वाले देश में पाषाण युग के अन्त का काल

विभिन्न क्षेत्रों में एक ही न होकर अलग–अलग रहा, और किसी क्षेत्र विशेष के लिए भी पाषाण युग के अन्त का कोई निश्चित काल निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है। भारत में लौह युग का प्रारंभ कब हुआ, यह भी विवादास्पद विषय है। वैसे अनेक प्राचीन स्थलों पर पिछलें कुछ वर्षों में किये गये उत्खननों से जो साक्ष्य प्राप्त हुए हैं उनके आधार पर भारत में विभिन्न उपकरणों के निर्माण के लिए लोहे के सर्वप्रथम प्रयोग की तिथि 1500 ई. पू. के आस पास निर्धारित करना समीचीन लगता है। किंतु यह तिथि भी भारत के विभिन्न क्षेत्रों के लिए लागू नही हो सकती, क्योंकि कुछ क्षेत्रों में कई शताब्दियों कें बाद ही लौह का प्रयोग प्रांरभ हुआ। सिंधु सभ्यता के अब तक हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो, चन्हुदड़ो, रोपड़, लोथल, रंगपुर, सुरकोटड़ा, बणावली, कालीबंगां, धौलावीरा इत्यादि कई स्थलो की खुदाई हो चुकी है। इन सभी स्थानों पर सिंधु सभ्यता की कालावधि एकदम एक ही हो ऐसा असंभव है। सिधु सभ्यता का समग्र प्रवर्तन काल जानने के लिए विभिन्न स्थलों में इस संस्कृति के प्रांरभ और अंत की जानकारी अपेक्षित है।

परतों का साक्ष्य

जहां तक स्तर–विन्यास का प्रश्न है यह भी कुछ स्थलों पर सभ्यता के तिथि निर्धारण में विशेष सहायक नहीं। मार्शल के निदेशन में मोहेंजोदड़ो में किये गये उत्खनन पूर्णतः परतों के आधार पर नही हुए थे। उन्होंने वहां के अवशेषों को प्रारभिक, मध्य और अतिंम तीन प्रकालों में बांटा है। मोहेंजोदड़ो के प्रारंभिक चरण में एक, और मध्य तथा अंतिम प्रकालों में – तीन मुख्य निर्माण चरणों का उल्लेख किया गया है। हड़प्पा में 6 निर्माण चरण मिले जिनमें अंतिम चरण में 'कब्रिस्तान–एच' के शवाधान और उससे संबंधित अवशेष हैं। कोटदीजी में सिंधु सभ्यता के 6 निर्माण चरण और कालींबगां में इसी सभ्यता के 9 निर्माण चरण मिले। लगभग सभी स्थलों कें अंतिम चरण में संस्कृति के ह्रास के चिन्ह मिलते है।

चन्हुदड़ों में सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण में झूकड़ प्रकार के उपकरण और भाण्ड मिलते हैं। रोपड़ और आलमगीरपुर में सिंधु सभ्यता के अंत कें कुछ काल पश्चात चित्रित धूसर–भाण्ड संस्कृति के लोग उन स्थानों पर बसे। किंतु इन परवर्ती संस्कृतियों की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं। अनुमानतः 'कब्रिस्तान–एच' के एच, और 'झूकड़' चरण लगभग द्वितीय सहस्राब्दि है के प्रथम अर्द्ध के हैं। चित्रित धूसर–भाण्ड का प्रारंभ 1000 ई. पू. के लगभग हुआ लगता है। स्तर प्रमाण इतना तो स्पष्ट करता है कि विकसित सिंधु सभ्यता 'कब्रितान एच' 'झूकड़' और चित्रित धूसर–भाण्ड से पहले की है, किंतु कितनी पहले क़ी है यह अनुमान का विषय है।

मार्शल द्वारा किये उत्खनन के विवरण के अनुसार मोहेंजोदड़ो में सात बार एक के बाद दूसरी नगरी बसी और उजड़ी। जिस गहराई तक खोदा जा सकता है वहां तक संस्कृति के अवशेष मिले हैं। उसकें नीचे के स्तर अब जल–स्तर ऊंचा होने से

भलीभंति खोदे नही जा सके और यह अनुमान नही लगााया जा सका कि अवशेंषों की कितनी मोटी तह अभी जलमग्न है। यों टीले में अवशेषो का बहुत गहराई तक मिलना और अनेक बार नगर का निर्माण, पुनर्निर्माण जिस तरह मोहेंजोदड़ो में हुआ है उसका ट्राय, एथेन्स आदि दूसरे प्राचीन नगरों के साक्ष्य से तुलना करने पर ऐसा सोचना स्वाभाविक है कि यहां पर संस्कृति दीर्घकाल तक रही। कितु मार्शल ने मत व्यक्त किया कि निरंतर बाढ़ के प्रकोप के कारण निर्माण और पुनर्निर्माण काफी जल्दी-जल्दी हुआ होगा। उनके अनुसार संस्कृति में प्रांरभ से लेकर अन्त तक जो मूलभूत एकरूपता भवनों के निर्माण, मुद्राओं, मृद्भाण्ड आदि अनेक प्रकार के उपकरणों में दृष्टव्य है वह एक अपेक्षाकृत लघु काल ही में अधिक संभव हो सकती थी। इन दो बातों को ध्यान में रखकर इसके लिए बहुत लंबी अवधि का अनुमान लगाना ठीक नही । उन्होंने यह धारणा व्यक्त की कि दूसरे स्थलो में यह सभ्यता मोहेंजोदडो के समाप्त होने के बाद भी चलती रही। मार्शल ने मोहेंजोदडो नगर की कालावधि 500 साल आंकी। इस तिथि निर्धारण में सिंधु सभ्यता बेबीलोनी सुमेरी संस्कृति के संदर्भ में प्राप्त मुद्राएं मनके आदि सामग्री के उस समय तक निर्धारित तिथि को ध्यान में रखकर उन्होने इस सभ्यता का समय 3250-2750 ई. पू. प्रस्तावित किया। यह उल्लेखनीय है कि जब मार्शल ने यह तिथि निर्धारित की उस समय मेसोपोटामिया के इतिहास के विभिन्न कालों की तिथियॉ आज की अपेक्षा पुरानी आंकी गयी थी। उदाहरण के लिए अक्काद में सम्राट सारगन का काल उस समय लगभग 2800 ई. पू. माना जाता था। चूंकि चंद सिंधु सभ्यता के अवशेंष सारगान के काल के स्तरों से पहले के स्तरों में मिले हैं अतः उन्हें 2800 ई. पू. से पहले का माना गया है। बाद में सारगान की तिथि 2370- 2284 ई. पू. मानी गयी। मार्शल द्वारा निर्धारित यह तिथि उस समय के साक्ष्यों को देखते हुए तर्कपूर्ण थी। कितु नये साक्ष्यों के संदर्भ में इसका पुनरीक्षण किया गया है। ब्रजवासी लाल ने दिलीप चक्रवर्ती के आधार पर सारगान से पहले की निम्नलिखित वस्तुओं का उल्लेख किया है – मोहर (उर से) दो पांसे (एक उर और दूसरा अलहिबा से), रेखाकिंत मनके (उर तथा किश से) ढोलाकार मनके (उर तथा किश से) सीप का बडा चम्मच और दिया (किश से) सेलखड़ी का भाण्ड (टेलअग्राव से) और एक चित्रित माण्ड (टेलअग्राव से)।

मेसोपोटामिया के उपकरणों का साक्ष्य

मकाई ने फ्रैंकफर्ट द्वारा टेल अस्मर में की गयी खोदाइयों से उद्घाटित अक्काद काल (जिसे फ्रैंकफोर्ट ने 2500 ई. पू. रखा था) और मोहेंजोदड़ो के अंतिम काल की संस्कृतियों में समानता देखी और इसलिए उन्होंने मोहेंजोदड़ो के अंतिम चरण को 2500 ई. पू. रखा। अन्य साक्ष्यों के आधार पर मकाइ ने सिंधु सभ्यता के प्रारंभ की तिथि 2800 ई. पू. आंकी। उनका कहना है कि ईंटें लवण के प्रभाव से जल्दी-जल्दी नष्ट हुई होंगी, जैसा आज भी कुछ जगहों में होता देखा गया है। अतः

मोहेंजोदड़ो में इस सभ्यता की पूरी अवधि उन्होंने लगभग 300 साल आंकी।

1921 से 1934 के बीच हड़प्पा की खुदाई के दौरान माधोसरूप वत्स को यहां पर निम्नतम स्तरों से जो सामग्री प्राप्त हुई थी वह उन्हें मोहेंजोदड़ो से प्राप्त निम्नतम स्तरों की सामग्री से भी प्राचीन लगी और उसके आधार पर यह अनुमान लगाया गया कि हड़प्पा नगर के शिलान्यास की तिथि मोहेंजोदड़ो से भी पहले की होनी चाहिए। एक टीले के मध्य प्रकाल की चौथी परत में और उससे नीचे भी कुछ ऐसी मुद्राएं मिलीं जो सामान्य सिंधु मुद्राओं से छोटी थी। मोहेंजोदड़ो में इस तरह की मुद्राओं का अभाव है। उसके नीचे भी काफी गहराई तक अवशेष थे। वत्स ने इस चौथी परत के प्रारंभ की तिथि मोहेंजोदड़ो के निम्नतम स्तरों से पूर्व की मानी। मार्शल ने मोहेंजोदड़ो में संस्कृति के प्रारंभ के लिए 3200 ई. पू. तिथि प्रस्तावित की थी, जिसे वत्स ने इसे 3500 ई. पू. का आंका और उससे पहले काल, जिसे वे प्रारंभिक प्रकाल की संज्ञा देते हैं, की तिथि चतुर्थ सहस्राब्दी का प्रथमार्द्ध मानते हैं। वह सिंधु सभ्यता के अन्तिम चरण की अन्तिम तिथि 2700 ई. पू. मानते हैं। 'एच कब्रिस्तान' की तिथि उन्होंने 2500–2000 ई. पू. मानी है। साथ ही उन्होंने यह विशेष रूप से स्पष्ट किया कि यह तिथि उन्होंने उस संस्कृति के अब तक उपलब्ध अवशेषों के लिए प्रस्तावित की है जो कि हमें विकसित रूप में मिलते हैं। उनके अनुसार विकास की इस स्थित तक पहुंचने में जो समय लगा होगा उसका ठीक अनुमान लगाना कठिन है। केदारनाथ शास्त्री भी वत्स की तरह हड़प्पा में सिंधु सभ्यता का प्रारंभ चतुर्थ सहस्राब्दी के प्रथम चरण से मानते हैं।

सिंधु सभ्यता के तिथि निर्धारण में मेसोपोटामिया का अभिलेखीय एवं पुरातातविक साक्ष्य महत्त्वपूर्ण है। व्हीलर ने, अक्काद के सम्राट् सारगान की संशोधित तिथि (लगभग 2370–2284 ई. पू.) को स्वीकार किया और इसके परिप्रेक्ष्य में मेसोपोटामिया में प्राप्त सिंधु सभ्यता की मुद्राओं के स्तर–संदर्भ की पुनर्विवेचना कर (देखिये इसी अध्याय में आगे) सिंधु सभ्यता का प्रारंभ 2500 ई. पू. के लगभग और उसका अंत 1500 ई. पू. के आस–पास माना है। वे इस सभ्यता का अंत आर्य आक्रमण के फलस्वरुप मानने के पक्ष में हैं जो उनके मतानुसार लगभग 1500 ई. पू. में हुआ था। सिंधु सभ्यता की तिथि संबंधी व्हीलर का यह मत काफी समय तक अधिकांश विद्वानों को मान्य रहा पर कुछ ने प्रारंभ से ही उनके इस मत पर संदेह व्यक्त किया था। संदेह का एक मुख्य कारण हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो में प्रारंभिक चरण से अंत तक संस्कृति की लगभग समरूपता थी। यह कुछ आसानी से स्वीकार करने वाली बात नहीं कि हजार साल तक किसी सभ्यता, विशेषतः सिंधु जैसी विकसित सभ्यता, के भौतिक उपकरणों में विशेष परिवर्तन न हुए हों। संदेह करने का दूसरा कारण यह था कि नदियों में बाढ़ों के कारण बस्तियों का उजड़ जाना और मोटी बलुई परतों का जमाव और एक ही स्थान पर बार–बार निर्माण और पुनर्निर्माण होने से अपेक्षाकृत अल्पकाल में ही टीलों

का काफी ऊंचा होना स्वाभाविक है। इसलिए टीलों की ऊंचाई के आधार पर यह अनुमान लगाना समीचीन न होगा कि सिंधु सभ्यता लंबी अवधि तक पनपती रही।

1955 में अलब्राइट (Albright) ने मत व्यक्त किया कि मेसोपोटामिया के साक्ष्यों के आधार पर इस सभ्यता का अंत ई. पू. 1750 के लगभग हुआ था। 1956 में फेयरसर्विस ने क्वेटा घाटी में महत्त्वपूर्ण उत्खनन कराये। उत्खनन में प्राप्त सामग्री के अध्ययन के बाद उन्होंने सिंधु सभ्यता की कालावधि 500 वर्ष लगभग 2000 से 1500 ई. पू. के मध्य निर्धारित की। इस सभ्यता के प्रारंभ के लिए फेयरसर्विस द्वारा प्रस्तावित तिथि (2000 ई. पू.) व्हीलर द्वारा प्रस्तावित तिथि (2500 ई. पू.) से काफी बाद में पड़ती है।

सन् 1964 में धर्मपाल अग्रवाल ने सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्तरों से प्राप्त कुछ जैविक सामग्री की कार्बन–14 पद्धति द्वारा निर्धारित की गयी तिथियों के समग्र अध्ययन के बाद इस सभ्यता का जीवन काल 2300–1750 ई. पू. स्वीकार करने का सुझाव दिया। इस मत से इस सभ्यता की कुल अवधि साढ़े पांच सौ वर्ष ठहरती है। यह एक रोचक तथ्य है कि यद्यपि इस सभ्यता के प्रारंभ और अंत की मार्शल द्वारा निर्धारित की गयी तिथि (3250 ई. पू. –2750 ई. पू.) धर्मपाल अग्रवाल द्वारा कार्बन 14 विधि से निर्धारित तिथि से पहले पड़ती है, तथापि मार्शल का यह अनुमान कि मोहेंजोदड़ो में सभ्यता की कुल अवधि लगभग 500 वर्ष है, अग्रवाल द्वारा कार्बन 14 विधि के आधार पर निर्धारित इस सभ्यता की कुल अवधि के अत्यंत निकट है।

1968 में आल्चिन और श्रीमती आल्चिन ने कोटदीजी और कालीबंगां की सिंधु सभ्यता की तिथियों का विश्लेषण कर यह निष्कर्ष निकाला कि इन स्थलों पर सिंधु सभ्यता चार शताब्दियों 2150 ई. पू. से 1750 ई. पू० तक विद्यमान रही, यद्यपि अन्य स्थलों में इसमें कुछ अंतर हो सकता है। वे कहते हैं कि सभ्यता के प्रारंभ के लिए यदि इस तिथि में 100 साल का अंतर भी मान लिया जाय तो सिंधु सभ्यता के आरंभ की तिथि 2250 ई. पू. के पहले के मेसोपोटामिया के साथ भारतीय क्षेत्र के व्यापारिक संबंधों का जो उल्लेख है उसका तात्पर्य कदाचित् आमरी संस्कृति के साथ व्यापारिक संबंधों से है न कि सिंधु सभ्यता के साथ।

बुख्नन (Buchanan) के अनुसार सिंधु सभ्यता की मेसोपोटामिया के नगरों में आयातित मुद्राओं तथा अन्य वस्तुओं का प्राचीनतम उपलब्ध साक्ष्य (देखिए इसी अध्याय में आगे) भी 23वीं शती ई. पू. से बहुत पहले के नहीं हैं। अतः विकसित सिंधु सभ्यता के मेसोपोटामिया से संपर्क के साक्ष्य (देखिए आगे) 23 वीं शती ई. पू. से पहले के नहीं हैं। उनका यह भी कहना है कि सिंधु सभ्यता के प्रौढ़ चरण की अवधि लगभग 300 वर्ष की है और इसका अंत 2000 ई. पू. में हो गया। कुतूहल का विषय है कि इवार लिसनर (Ivar Lissner) ने इस सभ्यता की कालावधि 1700–1500 ई० पू० आंकी लेकिन वे कुषाण स्तूप के नीचे के अवशेषों के लिए आज से 4000 वर्ष

पहले की तिथि होने की संभावना मानते हैं। वह इस सभ्यता के एक चरण को मिस्र के राजा अख्नातन का समकालीन मानते हैं।

तिथि के संबंध में विभिन्न मतों का उल्लेख करने के पश्चात् अब हम उस सामग्री का विवेचन करेंगे जिस पर अधिकांश मत आधारित हैं। यों वस्तुओं के आकार–प्रकार में किंचित समानता आकस्मिक हो सकती है और इसलिए प्रकार–साम्य को तिथि–निर्धारण के लिए निश्चित प्रमाण नहीं माना जा सकता। सिंधु सभ्यता और मेसोपोटामिया के सारगन और उससे पूर्व की संस्कृति के संदर्भ में कार्नीलियन के रेखांकित मनके मिले हैं। मोहेंजोदड़ो तथा लोथल से प्राप्त सोने की आक्षीय नली वाले बिम्ब मनके की तरह के मनके मेसोपोटामिया के अनेक स्थलों में प्रारंभिक राजवंश 3 तथा अक्काद संस्कृति के संदर्भ में ट्राय के 2 'जी' स्तर (जिसकी तिथि लगभग 2300 ई. पू. आंकी गयी है) में पाये गये हैं। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त चांदी की अंगूठी पर एक तिरछा सलीबनुमा डिजाइन है। यदि यह समानता केवल आकस्मिक न होकर परस्पर संबंधों का द्योतक है तो कुछ विद्वानों के अनुसार मेसोपोटामिया से प्राप्त इसी तरह के साक्ष्य के आधार पर सिंधु सभ्यता के मनकों के लिए 2300 ई. पू. से कुछ पहले की तिथि ज्ञात होती है।

यह उल्लेखनीय है कि मेसोपोटामिया से सम्पर्क के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य उन उत्खननों से उपलब्ध हैं जिनमें वस्तुओं की तिथि स्तरीकरण के वैज्ञानिक आधार पर निर्धारित नहीं की गयी है। यह स्वाभाविक ही है कि अब पुरातत्ववेत्ता इस विधि के आधार पर किये गये वस्तुओं के काल निर्धारण को संदेह की दृष्टि से देखते हैं।

हरिताभ लिए क्लोराइट का एक टुकड़ा मोहेंजोदड़ो के निम्न स्तरों में पाया गया है। उस पर बुनी चटाई का सा डिजाइन बना है। यह टुकड़ा ऐसे बर्तन का है जो द्वार तथा खिड़की सहित वृत्ताकार कुटिया की आकृति से मिलता–जुलता है। ऐसे पत्थर के बर्तन मेसोपोटामिया में प्रारंभिक राजवंश के संदर्भ में खफजे, उर (रानी की कब्र में), किश, लगश, अदब और मारी में मिलते हैं। सूसा (2) में भी इनके कुछ उदाहरण प्राप्त हुये। इनकी तिथि लगभग 2500 ई. पू. आंकी गयी है। पिगट के अनुसार ये बर्तन मकरान और सीस्तान में बनाये गये थे जहां इस तरह के बर्तन मिले हैं और वहीं से इन्हें एक ओर सिंधु सभ्यता के क्षेत्र में और दूसरी ओर मेसोपोटामिया के क्षेत्र में ले जाया गया। इनके प्रयोग के विषय में उनका मत है कि इनमें शरीर पर लेप के लिए प्रसाधन सामग्री रखी गयी होगी।

दूसरे प्रकार के पत्थर के बर्तन और उनकी अनुकृति में बने वर्गाकार या बेलनाकार मजबूत मिट्टी के बर्तन मिले हैं। इन पर खाने बने हैं। ये मेही (बलूचिस्तान) और मोहेंजोदड़ो की ऊपरी सतह पर पाये गये हैं। मेसोपोटामिया में ये बर्तन ऊपर वर्णित पत्थर के बर्तनों के समकालीन भी हैं और कुछ बाद तक भी प्रयुक्त होते रहे हैं।

टेल अस्मर से अक्कादी स्तरों में सिंधु सभ्यता के वृक्क (किडनी) के आकार के हाथी के दांत के उत्खचन मिले हैं जो शंख के अनुप्रस्थच्छेद पर आधारित हैं। हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो के कुछ बर्तनों पर उभार लिये दाने हैं जो टेल अस्मर में अक्कादी स्तरों में मिले हैं।

सिंधु सभ्यता के संदर्भ में सांड की कुछ मृण्मयी आकृतियां और चित्रों को भी कुछ विद्वानों ने परस्पर सम्पर्क का द्योतक माना है। इस तरह के साक्ष्य निम्नलिखित हैं :—

(1) दियाला घाटी में लोहित भाण्ड (Scarlet ware) पर चित्रित आकृतियां;

(2) पूर्व राजवंश I-II काल में एक सेलखड़ी के बर्तन पर चित्रित आकृति;

(3) टेल अस्मर से सारगन काल में प्राप्त मिट्टी पर उत्कीर्ण आकृति;

(4) टेल बिल्ला के सूसा 'डी' काल के संदर्भ में प्राप्त आकृति।

चूंकि सिंधु सभ्यता से कहीं पहले मेहरगढ़ तथा मुण्डीगाक (अफगानिस्तान) में सांड ज्ञात था अतः इस पशु के मेसोपोटामिया के स्थलों पर मूर्त अंकन अथवा चित्रण को सिंधु सभ्यता और प्राचीन मेसोपोटामिया की सभ्यताओं के पारस्परिक सम्पर्क का प्रमाण मानना कठिन है।

हिसार III बी में एक तांबे का चाकू मिला है जिसके फल की नोक हड़प्पा सभ्यता के संदर्भ में प्राप्त चाकुओं की तरह कुछ मुड़ी है। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त कांसे के छेदवाले कुल्हाड़ी–बसूला की तरह के उपकरण फारस में तृतीय सहस्राब्दी के अंत या द्वितीय सहस्राब्दी की तिथि वाले स्तरों में मिले हैं। मेसोपोटामिया और फारस की छेदवाली कुल्हाड़ियों से मिलती–जुलती कुल्हाड़ियां चन्हुदड़ो में सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण या झूकड़ चरण में शाही तम्प (दक्षिणी ब्लूचिस्तान) में पायी गयी हैं। मोहेंजोदड़ो में इस तरह की कुल्हाड़ियों से बने मिट्टी के दो माडल मिले हैं। व्हीलर के अनुसार इनकी तिथि 2000 ई. पू. के लगभग हो सकती है, लेकिन जैसा मैलोबन का कथन है सुमेर में इस तरह की माडल कुल्हाड़ियां अल उबेद काल में भी मिलती हैं। चन्हुदड़ो के परवर्ती हड़प्पा या झूकड़ चरण में तांबे के गदा–सिर की तुलना पिगट ने लुरिस्तान से प्राप्त हुआ गदा सिर से की है और उनका अनुमान है कि लुरिस्तान से प्राप्त हुआ गदा सिर 1400 ई. पू. या कुछ बाद का है। किंतु इस धातु के उपकरण के साम्य को भी अधिकांश विद्वान् तिथि–निर्धारण के लिये विश्वसनीय नहीं मानते क्योंकि तृतीय सहस्राब्दी ई. पू. में इस क्षेत्र में अनेक जातियों का आगमन–निर्गमन हुआ। व्हीलर ने तिथि निर्धारण के संदर्भ में व्यापारिक साक्ष्य का उल्लेख किया है। उनके अनुसार प्रारंभिक राजवंश (Early Dynastic) काल में लाजवर्द का पर्याप्त प्रयोग होता रहा है और सारगन काल में इसका प्रयोग कम हो जाता है। मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा और चन्हुदड़ो में भी इसका प्रयोग बहुतायत में नहीं किया गया है (देखिए

अध्याय 'आर्थिक जीवन')। उनका कहना है कि लाजवर्द की लोकप्रियता अथवा उसकी प्राप्ति में कमी दोनों क्षेत्रों –सिंधु एवं मेसोपोटामिया –में एक ही कारण से हो सकती थी और यह भी दोनों को सारगन काल में समकालीन सिद्ध करता है।

मोहेंजोदड़ो और चन्हुदड़ो की आवर्त शीर्ष वाली पिनों से मिलती–जुलती पिनें एक ओर सियाल्क (ईरान) में चतुर्थ सहस्राब्दी ई. पू. और दूसरी ओर इटली में लगभग 1300 ई. पू. के संदर्भ में पाई जाने के कारण उनका साक्ष्य तिथि निर्धारण में विशेष सहायक नहीं। इस तरह की पिनें मेसोपोटामिया और एलम में प्रारंभिक राजवंश के संदर्भ में, अनातोलिया में लगभग 2000 ई. पू., ईरान के लुरिस्तान में लगभग 1400 ई. पू. और कोबन कब्रिस्तानों में लगभग 1300 ई. पू. के संदर्भ में मिली हैं।

सिंधु सभ्यता के विभक्त मनकों का साक्ष्य भी निश्चित नहीं है। हड़प्पा और क्नोसास से प्राप्त एक–एक मनके का वर्णाक्रम लेखी विश्लेषण करने पर दोनों की संरचना में पूर्ण एकरूपता पाई गई, जिससे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि दोनों का निर्माण स्रोत एक ही है। व्हीलर ने क्नोसास में इस तरह के मनकों की तिथि लगभग 1600 ई. पू. सुझाई है। लेकिन यह तिथि अनुमान पर ही आधारित है निश्चित साक्ष्य पर नहीं। सेलखड़ी के विभक्त मनके टेलब्राक (उत्तरी सीरिया) में 3200 ई. पू. के संदर्भ में मिलते हैं। यों भी हड़प्पा और क्नोसास के एक–एक मनके की संरचना में समानता आकस्मिक भी हो सकती है और जब तक दोनों क्षेत्रों से प्राप्त अनेक मनकों का विश्लेषण नहीं किया जाता, इस उपर्युक्त समानता की तिथि निर्धारण के संदर्भ में विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। कम से कम क्नोसास के मनकों के लिए सुझााई 1600 ई. पू. के लगभग की तिथि सिंधु सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में बहुत बाद की लगती है।

लोथल 'बी' के संदर्भ में प्राप्त ऊँची गर्दन वाला अण्डाकार बर्तन आहाड़ 1 बी में भी मिलता है। आहाड़ 1 ए की कार्बन विधि से उपलब्ध तिथि 1727 ± 140 और आहाड़ 1 सी के मध्य परतों की तिथि 1552 ± 108 आती है। 1 बी के लिए लगभग 1600 ई. पू. मानी जा सकती है और लगभग यही तिथि लोथल बी (पांचवे चरण) की भी मानी जा सकती है।

लोथल और टेलब्राक की मुद्राओं पर प्राप्त अनेक रेखाओं से बनाया गया स्वस्तिक अभिप्राय का उल्लेख भी तिथि निर्धारण संबंधी साक्ष्य के तौर पर किया गया है। लेकिन यह एक सामान्य प्रकार का अभिप्राय है जिसका साक्ष्य तिथि निर्धारण के संदर्भ में सर्वमान्य नहीं हो सकता। फिर टेलब्राक के इस तरह के अभिप्राय के प्रयोग की तिथि लगभग 3200 ई. पू. आंकी गयी है जो अद्यतन उपलब्ध साक्ष्यों पर आधारित सिंधु सभ्यता की तिथि से पहले की है।

मुद्राओं का साक्ष्य

भारतेतर देशों में प्राप्त कुछ ऐसी मुद्रायें हैं जो अभिप्राय अथवा आकार–प्रकार के आधार पर सिंधु सभ्यता में निर्मित अथवा सिंधु शैली की नकल लगती हैं। ये मुद्रायें सिंधु सभ्यता की तिथि निर्धारण के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। यह सही है कि इन भारतेतर स्थलों में उनकी तिथि निर्धारित करने के कुछ साक्ष्य उपलब्ध हैं, किंतु यह उल्लेखनीय है कि मेसोपोटामिया की वे खुदाइयां भी जिनमें ये मुद्रायें मिली थीं आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से नहीं की गई थीं और इसलिए आधुनिक पुरातत्त्ववेत्ता उनके साक्ष्य को निस्संकोच स्वीकार नहीं करते, और तिथि के संबंध में मतभेद होना स्वाभाविक है। फिर यह समस्या भी रह जाती है कि वे मुद्राएं सिंधु सभ्यता के किस स्थल और किस स्तर (प्रारम्भिक, मध्य अथवा अन्त) की हैं क्योंकि साधारणतः सिंधु सभ्यता के अधिकांश उपकरणों में प्रारम्भिक काल से लेकर अन्त तक कोई विशेष अंतर नहीं दिखता। जहां तक शंका उठाने का प्रश्न है सिद्धान्त रूप में यह भी कहा जा सकता है कि यह भी सम्भव है कि ये मुद्रायें सिंधु सभ्यता के अब तक ज्ञात काल से भी पूर्व के काल की हों, अथवा अंतिम ज्ञात स्तरों के काल से भी बाद की हों। यों सम्भावना यही है कि ये मुद्रायें इन नगरों के विकसित काल की हैं, जब सिंधु सभ्यता का व्यापार उन्नत दशा में था। अब हम इन मुद्राओं के साक्ष्य की विवेचना करेंगे।

सी0 जे0 गैड्ड ने इन भारतेतर प्रदेशों में प्राप्त 'सिंधु' प्रकार की मुद्राओं का सर्वप्रथम गहन अध्ययन एवं विश्लेषण किया था। व्हीलर ने इनका पुनर्विवेचन किया और नीचे दिया गया विवरण उसी पर आधारित है। कुल मिलाकर इस प्रकार की 30 मुद्राएं हैं। इनमें से केवल 12 या 13 ही ऐसी हैं जिनका प्राप्ति स्थल ज्ञात है और इसमें से भी कुछ को ही ज्ञात तिथि वाले स्तरों से कुछ हद तक सम्बद्ध कर सकते हैं। लेकिन यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि इनकी तिथि के बारे में भी विद्वान् पूर्णतः एकमत नहीं हैं। यही नहीं कुछ उपर्युक्त मुद्राओं में से कतिपय मुद्राओं के सिंधु सभ्यता की होने, यहां तक कि उनकी नकल पर बनी होने के संबंध में भी संदेह व्यक्त करते हैं। जिन मुद्राओं की तिथि के बारे में कुछ जानकारी है उनका विवरण व्हीलर के दिये क्रम में नीचे प्रस्तुत है :—

1. सेलखड़ी की वर्गाकार मुद्रा जिसके किनारे गोलाई लिए है और पृष्ठभाग सिंधु सभ्यता के बटन प्रकार की मुद्रा की तरह है। इसके अग्रभाग पर सिंधु सभ्यता की शैली में बैल अंकित है किंतु कला की दृष्टि से कुछ सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर अंकित बैल से निम्न कोटि का है। इसके प्राप्ति स्तर का ज्ञान नहीं किंतु इस पर पुरा कीलाकार लेख है जिसे कुछ विद्वानों ने सारगन से पूर्व काल का माना है, किंतु लिपि के आधार पर निश्चित तिथि निर्धारण में कठिनाई स्वाभाविक है, अतः यह साक्ष्य निश्चित नहीं है (गैड्ड नं0 1)।

2. उर से प्राप्त सेलखड़ी की वृत्ताकार मुद्रा जिसकी पीठ बटन की तरह है और जिस पर वृषभ और सिंधु लिपि के कुछ चिह्न अंकित हैं। कुछ के अनुसार ये अक्काद से पूर्व के स्तरों में पाई गई किंतु कुछ के अनुसार अक्कादीय स्तर की है (गैड्ड नं0 16)।

3. उर से प्राप्त मुद्रा जिस पर वृषभ अंकित है। लेख में सिंधु सभ्यता की लिपि की तरह के कुछ चिह्न हैं। साथ में प्राप्त वस्तुएं सारगन काल की तिथि सूचित करती हैं (गैड्ड नं0 15)।

4. किश से प्राप्त सारगन कालीन सेलखड़ी की वर्गाकार मुद्रा जिस पर एक–शृंगी पशु और सिंधु लिपि के अक्षर अंकित हैं।

5. टेल अस्मर से अक्कादकालीन बिना लेख वाली बेलनाकार मुद्रा (सम्भवतः ग्लेज की हुई सेलखड़ी की) जिस पर हाथी, गैंडा और घड़ियाल अंकित है।

6. टेल अस्मर से प्राप्त सारगन काल की अलाबास्टर की वर्गाकार बटन की तरह की मुद्रा जिसके मुखभाग पर वर्ग के भीतर वर्ग का डिजाइन है और सबसे बाहरी वर्ग में मनके का डिजाइन है।

7. टेपे गावरा से प्राप्त पकी मिट्टी की वर्गाकार मुद्रा जिस पर वर्ग के भीतर वर्ग का डिजाइन बना है। यह या तो सारगन काल की है या कुछ पहले की।

8. किश से प्राप्त सारगन कालीन सैंधव प्रकार की सेलखड़ी की वर्गाकार मुद्रा जिस पर एकशृंगी पशु और सिंधु लिपि के चिह्न हैं।

9. लगश से प्राप्त लार्सा कालीन सिंधु लिपि चिह्नों वाली मुद्रा।

10. उर में प्राप्त लार्सा कालीन पत्थर की बेलनादार मुद्रा, जिस पर ताड़ वृक्ष और उसके सम्मुख कूबड़ वाला बैल अंकित है; बैल के पीछे एक बिच्छू, दो सांप ओर एक मानवाकृति दिखाई गई है।

11. उर से प्राप्त वृत्ताकार मुद्रा जिसका पृष्ठ भाग बटन की तरह है। मुद्रा पर मानवाकृति ऐसी बहँगी लिए है जिससे दो बर्तन या मछली पकड़ने का जाल लटक रहा है। कुछ इसे 1500 ई. पू. या बाद की मानते हैं, लेकिन व्हीलर ने इसे लार्सा काल (1900 ई. पू. के लगभग) की माना है।

12. हमा (सीरिया) से प्राप्त श्वेत पत्थर की बेलनाकार मुद्रा का टुकड़ा जिस पर सैंधव प्रकार के बैल का सिर बना है। इसे लगभग 2000–1750 ई. पू. का माना है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त कुछ अन्य मुद्रा साक्ष्य का उल्लेख भी समीचीन होगा। हड़प्पा और चन्हुदड़ो से एक–एक मुद्रा पर गरुड़ का अंकन है। इस तरह का अभिप्राय सूसा में लगभग 2400 ई. पू. और टेलब्राक (उत्तरी सीरिया) में भी लगभग इसी काल

में मिलता है। यह भी तिथि निर्धारण के लिए सारगन और थोड़े बाद के काल का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

लैम्बर्ग कार्लोव्सकी के टेपे याह्या (दक्षिण पूर्वी ईरान) के उत्खनन के दौरान प्राप्त एक मृद्भाण्ड के टुकड़े पर सिंधु सभ्यता की मुहर की छाप है। उसी सतह से प्राप्त कोयले की रेडियो–कार्बन तिथि 2350 ई. पू. है। यदि रेडियो कार्बन तिथि को मान्यता दी जाय तो सिंधु सभ्यता के प्रारंभ के लिए इससे कुछ पहले की तिथि स्वीकार करनी पड़ेगी।

इस संदर्भ में लोथल से प्राप्त 'फारस की खाड़ी' प्रकार की मुद्रा (चित्र 51. 6) का उल्लेख समीचीन होगा। हाल ही में डेन पुरातत्त्वविदों द्वारा बहरीन और फैयल्का में किये गये उत्खननों से महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है जिसमें विशिष्ट प्रकार की वृत्ताकार मुद्राएं उल्लेखनीय हैं। इन मुद्राओं के बारे में अब तक जो थोड़ी बहुत सामग्री प्रकाशित हुई है उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यद्यपि ये सिंधु सभ्यता की मुद्राओं के पूर्णतया अनुरूप नहीं हैं तथापि उनसे सम्बद्ध अवश्य हैं। कुछ तो सिंधु मूल की ही लगती हैं जो व्यापार के संदर्भ में वहां पहुंची होंगी। हाल ही में बुख्नन ने मेसोपोटामिया के किसी स्थल, संभवतः उर, से प्राप्त कीलाक्षर पट्टिका प्रकाशित की है जो लार्सा के राजा गुनगुनम के दसवें वर्ष अर्थात् 1923 ई. पू. की है। इस पट्टिका पर फारस की खाड़ी प्रकार (बुख्नन का तीसरा प्रकार) की मुद्रा की छाप है। इससे 'फारस की खाड़ी' प्रकार की मुद्रा की तिथि निर्धारित की जा सकती है। चूंकि लोथल में भी इसी तरह की एक मुद्रा टीले की सतह से मिली है अतः लोथल की मुद्रा की तिथि भी 1923 ई. पू. के लगभग होगी। राव का कहना है कि यह मुद्रा 1900 ई. पू. से काफी पहले की होनी चाहिए क्योंकि उनके अनुसार 1900 ई. पू. के लगभग तो लोथल का बहरीन द्वीप और अन्य विदेशी क्षेत्रों से व्यापार बहुत कम हो गया था; दूसरी ओर सारगन काल (लगभग 2300 ई. पू.) में इस तरह का व्यापार अपनी चरम सीमा पर था।

उपर्युक्त साक्ष्य इस बात के द्योतक हैं कि प्रारंभिक राजवंश 3 के अंत के बाद और अक्काद काल (अर्थात् लगभग 2400 ई. पू.) से कुछ पहले से मेसोपोटामिया और सिंधु सभ्यता के मध्य संपर्क था। ऊपर व्हीलर के वर्णन के आधार पर जिन बारह मुद्राओं का संक्षिप्त विवरण दिया गया है उनमें से तीन की तिथि के बारे मे मतभेद हैं। कुछ विद्वान् इन्हें सारगन काल से पूर्व की और कुछ सारगन काल की मानते हैं। व्हीलर ने केवल एक को ही सारगन काल से पूर्व की माना हे। उनके अनुसार शेष बारह मुद्राओं में से छः सारगन काल की, बाकी लार्सा काल और इससे भी बाद के काल की हैं।

मेसोपोटामिया के लेखों का साक्ष्य

सिंधु सभ्यता के काल–निर्धारण के संबंध में मेसोपोटामिया के उस अभिलिखित साक्ष्य का उल्लेख समीचीन होगा जिसमें दिल्मुन, मगन (या मकन) और मेलुह्ह नामक तीन देशों का उल्लेख है जिनके साथ मेसोपोटामिया का व्यापार होता था। इन तीनों की पहचान पर विद्वान् एकमत नहीं हैं। हमने विभिन्न मतों का उल्लेख 'परिशिष्ट–4' में किया है; यहां इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इन स्थलों से मेसोपोटामिया को लकड़ी, हाथीदांत, कार्नीलियन आदि के निर्यात का उल्लेख है। ये वस्तुएं सिंधु सभ्यता के क्षेत्र की ओर इंगित करती हैं, जहा वे सुलभ रही थीं। उक्त अभिलेख सामग्री विभिन्नतः अक्काद के सारगान (2350 B.C.) उर के तृतीय राजवंश कालीन (अर्थात् 2130–2030 ई. पू.) तथा लार्सा राजवंश (अर्थात 2030–1700 ई. पू.) कालीन हैं।

आवासीय निक्षेप का साक्ष्य

यद्यपि सांस्कृतिक अवशेषों की मोटाई तिथि निर्धारण का कोई निश्चित पैमाना नहीं हैं, तथापि तिथि निर्धारण के संबंध में इनके साक्ष्य की एकदम अवहेलना भी नहीं की जा सकती। स्वयं व्हीलर, जिन्होंने गहराई के आधार पर तिथि निर्धारण की कटु आलोचना की है और भारतीय पुरातत्त्व में परतों को आधार बनाकर खुदाई की विधि पर बल दिया, मोहेंजोदड़ो के निक्षेपों की गहराई को तिथि निर्धारण के लिए साक्ष्य के रूप में स्वीकार करने के लिए प्रेरित हुये हैं। 1964 में डेल्स ने मोहेंजोदड़ो में टीले की निचली सतह से बेधन द्वारा खुदाई की। इसमें सतह के नीचे 11.88 मीटर की गहराई तक इस संस्कृति के अवशेष मिले। उस तल से जहां डेल्स ने बेधन शुरु किया था टीला लगभग 9. 14 मीटर ऊंचा है। यानी टीले की ऊपरी सतह से 9. 14+11. 88 = लगभग 21 मीटर की गहराई तक की परतों में इस सभ्यता के अवशेष मिले हैं। स्वयं व्हीलर ने 1950 में मोहेंजोदड़ो के बाढ़ जनित मैदानी सतह से 7. 92 मीटर (जिसमें तीन मीटर से कुछ अधिक पानी के अंदर की खोदाई भी शामिल है) नीचे तक खोदा और उन्हें इस सतह तक अन्नागार भवन के नींव की निचली सीमा मिली। यह संभव है कि बाढ़ आदि के कारण अल्प काल में ही बालू तथा कुछ अन्य प्रकार के निक्षेप की काफी मोटी तहें जमा हो गयी हों, और ऐसी दशा में निक्षेप की मोटाई से ही लंबी अवधि निर्धारित करने के तर्क का वजन कम हो जाता है। डेल्स के बेधन से बहुत थोड़ी ही सामग्री प्राप्त हो सकी है, अतः इस संभावना को पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता कि निम्नतम स्तरों की वस्तुएं सिंधु सभ्यता से भिन्न हों। लेकिन यदि निम्नतम स्तरों के अवशेष भी सिंधु सभ्यता के ही हैं, तो इस संभ्यता के प्रारम्भ की तिथि 2400 ई. पू. से कुछ पहले निर्धारित की जा सकती है। स्वयं व्हीलर भी कहते हैं कि इससे कहीं पहले की तिथि स्वीकार करने के लिए हमें तैयार रहना चाहिए ("We have to be prepared to find that the Indus-Civilization was a going concern well before 2400 B.C.").

कार्बन–14 विधि का साक्ष्य

अब कार्बन–14 विधि का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी प्रत्येक स्थिति में इस विधि द्वारा निर्धारित तिथि के एकदम सही होने के बारे में विद्वानों ने संदेह व्यक्त किया है। (विस्तार के लिए देखिए, परिशिष्ट)। अब हम कुछ रेडियो कार्बन तिथियों के साक्ष्य की विवेचना करेंगे। ये तिथियां कार्बन–14 के अर्द्धजीवन 5568 ± 30 के आधार पर आंकी गयी हैं। अब अर्द्धजीवन 5730 वर्ष माना जाता है, अतः तिथियां इनसे पहले की होंगी।

कोटदीजी में सिंधु सभ्यता से पहले की (कोटदीजी) संस्कृति के लिए रेडियो कार्बन तिथियां 2600± 145ई0 पू0 और 2100± 140 ई. पू. के बीच है। कालीबंगा प्रथम (विकसित सिंधु सभ्यता से पूर्व की संस्कृति) के लिए ज्ञात रेडियो कार्बन तिथियां 2370 ± 120 ई. पू. से 1765 ± 115 ई. पू. के बीच हैं और इसी स्थल पर सिंधु सभ्यता के काल के लिए रेडियो कार्बन तिथियां 2230± 105 और 1665 ±110 के बीच है। अग्रवाल ने कुछ प्रतिदर्शों में दूषण की संभावना व्यक्त की है। उनके अनुसार 1665 ± 110 ई पू0 की तिथि अन्य तिथियों से एकदम अलग हैं और 1700 से 1800 ई. पू. के बीच की तिथियों वाले प्रतिदर्शों की संख्या अत्यल्प है। लाल ओर थापड़ ने कालीबंगां में सिंधु सभ्यता के लिए 2300 ई. पू. से 1800 की तिथि आंकी थी। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त रेडियो कार्बन तिथि के लिए जिन प्रतिदर्शों का परीक्षण किया गया है वे सभी डेल्स द्वारा की गयी खुदाइयों में मिले थे और सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण के स्तरों से हैं। इनकी रेडियो कार्बन तिथियां 2155 ±65 से 18645 ±65 ई. पू. के बीच है। अतः प्रारंभ के चरणों के लिए कुछ पहले की तिथि होनी चाहिए। अग्रवाल का सुझाव था कि मोहेंजोदड़ो में सिंधु सभ्यता का प्रारंभ लगभग 2300 ई. पू. मानना ठीक होगा। वे यहां पर इस सभ्यता का अंत 2000 ई पू0 के आसपास होना मानते हैं। इस सिलसिले में यह उल्लेख समीचीन होगा कि मोहेंजोदड़ो से काफी पहले के उत्खननों से प्राप्त और संग्रहालयों में संग्रहीत गेहूं के दानों के रेडियो कार्बन परीक्षण से ज्ञात तिथि 1755 को प्रतिदर्श के दूषित होने की पूरी संभावना के कारण स्वीकार नहीं किया गया।

लोथल के लिए 5568 ± 30 अर्द्धजीवन पर आधारित कार्बन –14 तिथियां 2080 ± 135 और 1800 ±148 ई. पू. के बीच के हैं। अग्रवाल ने लोथल के लिए ज्ञात विभिन्न तिथियों का विश्लेषण कर इस स्थल में सिंधु सभ्यता के लिये 2200–1700 ई. पू. तिथि प्रस्तावित की और यह माना कि विकसित सिंधु सभ्यता का काल 1900 ई. पू. तक रहा और उसके बाद उप–सिंधु–सभ्यता का काल रहा। राव ने रेडियो कार्बन के अतिरिक्त लोथल में प्राप्त कुछ सामग्री यथा अक्षीय नली वाले सोने के बिंब मनके, मृद्भाण्ड के ढक्कन पर स्वस्तिक का चिह्न, सीमित लेप वाले भाण्ड आदि की मेसोपोटामिया के साक्ष्य से समानता स्थापित करने का प्रयास किया और वहां पर

सिंधु सभ्यता के प्रारंभ के लिए 2450 ई. पू. तिथि सुझाई। वे भी इस बात से सहमत हैं कि विकसित सिंधु सभ्यता काल, जिसमें उनके अनुसार चार चरण हैं, का अंत 1900 ई. पू. के आसपास हो गया था। रोजड़ी के लिए कार्बन–14 तिथियां उपलब्ध हैं – एक 1745 ± 10 और दूसरी 1970± 115 ई0 पू0। बाड़ा की तीन कार्बन तिथियां प्राप्त हैं, एक 1890 ± 95, दूसरी 1845 ± 155 और तीसरी 1645 ± 90। निश्चय ही दोनों तिथियां विकसित सिंधु सभ्यता के अंत या बाद के काल की हैं। अब प्रायः सभी विद्वान् कार्बन–14 के अर्द्धजीवन 5730 ± 40 मानकर गणना करते हैं जिससे उपरिलिखित तिथियों में परिवर्तन आ जाएगी और वे इनसे कुछ पहले की होंगी।

कार्बन तिथियों का साक्ष्य इस बारे में स्पष्ट है कि मोहेंजोदड़ो में जब नगर निर्माण हो चुका था तब भी उससे लगभग 25 मील की दूरी पर स्थित कोटदीजी में ग्रामीण संस्कृति ही पनप रही थी जो कुछ समय तक मोहेंजोदड़ो की विकसित नागरिक संस्कृति के समकालीन रही। कालीबंगां में भी प्राग्–हड़प्पा संस्कृति और सिंधु संस्कृति के कुछ समय तक साथ–साथ पनपने के साक्ष्य हैं। ऊपर से देखने से यह कुछ अस्वाभाविक लगता है किंतु ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं दिखती। जैसे व्हीलर का कहना है कि उस युग की ग्रामीण और नागरिक तकनीकों में आज के नगर और ग्राम की तकनीकों जैसा अंतर नहीं था और कुछ क्षेत्रों (यथा भाण्ड–निर्माण) में तो दोनों संस्कृतियों के लोगों की तकनीक लगभग समान रूप से विकसित थी।

निष्कर्ष

विभिन्न साक्ष्यों का विश्लेषण करने के पश्चात् व्हीलर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उन नगरों की, जो सिंधु सभ्यता के केन्द्र–बिन्दु थे, नींव लगभग 2400 ई. पू. के कुछ पहले डाली गयी होगी और वे 18 वीं शताब्दी ई. पू. तक विद्यमान रहे। किंतु इसकी संभावना है कि कुछ स्थलों पर नगरों की नींव अपेक्षाकृत देर में पड़ी हो, कुछ नगर मोहेंजोदड़ो के निर्जन होने से पहले ही उजड़ गये हों, और कुछ मोहेंजोदड़ो के अंत के पश्चात् भी किंचित समय तक विद्यमान रहे हों। निश्चय ही सारे स्थलों के लिए एक ही तिथि निर्धारित करना पूर्णतः अवैज्ञानिक होगा। केन्द्रीय स्थलों से दूरी और परिस्थिति ने विभिन्न स्थलों के नगरों की नींव और अंत पर पर्याप्त प्रभाव डाला था। व्हीलर ने मिस्र की संस्कृतियों की कुछ कार्बन–14 तिथियों का उल्लेख किया है जिनके अनुसार एक राजा के काल के स्तरों की कार्बन तिथि उसके पौत्र के काल के कुछ शताब्दियों बाद की आती है। उन्होंने संकेत किया है कि तृतीय सहस्राब्दी ई. पू. के स्तरों की अधिकांश रेडियो कार्बन तिथियां वास्तविक तिथियों से काफी बाद की लगती हैं, जो संभवतः किन्हीं विशेष कारणों से वातावरण में कार्बन को प्रभावित किये जाने से हुआ। सांकलिया ने अपनी पुस्तक *प्रीहिस्ट्री ऐंड प्रोटोहिस्ट्री आफ इण्डिया ऐंड पाकिस्तान* के नवीन (द्वितीय) संस्करण में सिंधु सभ्यता की तिथि संबंधी दो पर्याप्त

भिन्न आधुनिक मतों का उल्लेख किया है– पहला जिसके अनुसार हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो में 2300 ई. पू. से 2000 ई. पू. और प्रान्तों में 2000–1700 ई. पू.; और दूसरा मुगल तथा लैम्बर्ग कार्लोव्सकी का मत जिनके अनुसार सिंधु सभ्यता के प्रारंभ की तिथि 3000 ई. पू. माननी चाहीए (क्योंकि इस काल की दक्षिणी ईरान के टेपे याह्या की संस्कृति से उनके संबंध थे) उन्होने स्वयं व्हीलर द्वारा प्रस्तावित 2500–1500 ई. पू. तिथि को सत्य के निकट माना है, वैसे वे इससे भी पहले की तिथि स्वीकार करने के पक्ष में हैं। पहले कार्बन–14 का अर्द्धजीवन के 5568 ± 30 माना जाता था। अब वह 5730 ± 40 वर्ष आंका गया है जिससे इस विधि से ज्ञात तिथियों में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है और सिंधु सभ्यता की तिथि को और पहले ले जाना होगा। सिंधु सभ्यता निर्मित और मेसोपोटामिया में निर्मित वस्तुओं की तिथि के संदर्भ में तथा कार्बन–14 तिथियों का विश्लेषण कर भी ब्रजवासी लाल इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, वे 2600–2000ई. पू. की तिथि के हैं और विकसित सिंधु सभ्यता की तिथि भी लगभग यही होगी। नौशारो तृतीय काल जो विकसित सिंधु सभ्यता का द्योतक है की तिथि 5730 ± 40 अर्द्धजीवन के आधार पर 2580 ई. पू. है।

लोथल में सिंधु सभ्यता लगभग 2500 ई. पू. से 2000 ई. पू. तक रही। शोर्तुघुई में सिंधु सभ्यता का प्रारंभ 2600 ई. पू. में रख सकते हैं। बालाकोट में इस युग का प्रारंभ 26वीं शती में हो चुका था। कालीबंगां की तिथि के विश्लेषण से भी लाल वहां की सिंधु सभ्यता के लिये लगभग यही तिथि पाते हैं और कहते हैं कि अधिक से अधिक 2600 ई. पू. से और देर से देर 1900 ई. पू. तक यहां विकसित सिंधु सभ्यता रही। बणावली की प्राप्त तिथियां इस बात की द्योतक हैं कि यहां संस्कृति कालीबंगां से बाद में शुरु हुई और उससे बाद तक चली। बालू की एक ही तिथि 1673 ई. पू. भी इस बात का द्योतक है कि कम से कम इस काल तक यहां सभ्यता बनी रही। सुरकोटड़ा में भी इस सभ्यता की 25वीं शती से 19वीं शती ई. पू. तिथि लगती है।

अध्याय 17
इतर संस्कृतियों से संपर्क

सिंधु सभ्यता के लोगों का अन्य संस्कृतियों के लोगों से संपर्क व्यापारिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही प्रकार का था। कुछ साक्ष्य स्पष्ट सम्पर्क के द्योतक हैं और कुछ अप्रत्यक्ष संपर्क के। कुछ ऐसी भी वस्तुएं हैं जिनके संपर्क सूचक होने के बारे में निश्चित रूप से कहना कठिन है।

'आर्थिक जीवन' अध्याय में हमने विभिन्न धातुओं, कीमती पत्थरों आदि के आयात के सिलसिले में कई क्षेत्रों, यथा मध्य एशिया, अफगानिस्तान, ईरान, दक्षिण भारत आदि का उल्लेख किया है। मेसोपोटामिया के विभिन्न स्थलों टेल अस्मर, किश, लगाश, उम्मा, निप्पुर, टेपे, गावरा आदि से सिंधु सभ्यता में निर्मित अथवा उनकी नकल वाली लगभग तीस मुद्राएं मिली हैं, जिनका उल्लेख पिछले अध्याय में दिया जा चुका है।[1] कुछ विद्वानों के अनुसार इतनी मुद्राओं का मिलना न केवल परस्पर संपर्क अपितु मेसोपोटामिया में सिंधु सभ्यता के लोगों की बस्ती का होने के द्योतक हैं।[2] दोनों क्षेत्रों की मुद्राओं में कुछ अंतर भी है। जैसे ब्रजवासी लाल ने इंगित किया है, उल्लिखित कुछ मुद्राएं बेलनाकार या वृत्ताकार हैं जो सिंधु सभ्यता की मुद्राओं के आकार से भिन्न हैं। किंतु लेख सिंधु लिपि के हैं और बैल का अंकन इसी संस्कृति से प्रेरित है। इन्हें मेसोपोटामिया और फारस की खाड़ी से प्रेरित होकर निर्मित किया गया था। सिंधु सभ्यता में प्राप्त बेलनाकार मुद्राएं मेसोपोटामिया में निर्मित अथवा उससे प्रेरित लगती हैं। बहरीन द्वीप से प्राप्त कुछ मुद्राओं पर सिंधु लिपि के चिह्न हैं। इस द्वीप में प्राप्त अन्य मुद्राओं की तरह की कुछ मुद्राएं दक्षिणी मेसोपोटामिया में और एक लोथल में मिली हें। बहरीन ने भारत और मेसोपोटामिया के मध्य व्यापार में

1. इस संदर्भ में हाथी की सूंड़ वाले बैल की आकृति युक्त वर्तुलाकार मुद्रा विशेष उल्लेखनीय है। यह अभिप्राय सिंधु सभ्यता की कई मुद्राओं पर मिलता है। इस प्रकार के मिश्र–पशु की एक पाषाण मूर्ति भी उपलब्ध है। इस तरह का अंकन सिंधु सभ्यता की अपनी विशिष्टता लगती है।

2. लैम्बर्ग कार्लोव्सकी इस मत से सहमत नहीं कि मुद्राओं का साक्ष्य मेसोपोटामिया में सिंधु व्यापारियों की बस्ती होने का प्रमाण है। उनका कहना है कि न तो वहां पर भारतीय वास्तु शैली पर आधारित कोई इमारत मिली है, और न किसी इमारत (या इमारतों) में पर्याप्त भारतीय मूल की वस्तुएं मिली हैं। उनका यह भी मत है कि सिंधु सभ्यता में उत्खनन से प्राप्त साक्ष्य भी इसके पक्ष में नहीं कि सिंधु सभ्यता के किसी स्थल में मेसोपोटामिया के लोगों की बस्ती थी।

मध्यस्थ की भूमिका अदा की होगी और लोथल जहां पर गोदी–बाड़ा के अवशेषमिले हैं, का इस व्यापार में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा होगा। सुमेरी लेखों में व्यापार के संदर्भ में उल्लिखित दिल्मुन, मगन, मेलुह्ह में से एक क्षेत्र का सिंधु सभ्यता से तात्पर्य था (देखिये परिशिष्ट 4)। लोथल से प्राप्त मिट्टी की एक 'मम्मी' मिली है जिसे उत्खननकर्ता राव मिस्र से संपर्क का द्योतक मानते हैं। हम्मा (सीरिया) से प्राप्त एक बेलनाकार मुद्रा पर छोटे सींग वाले बैल का अंकन सिंधु सभ्यता के प्रभाव का द्योतक माना गया है।

मोहेंजोदड़ो की कुछ मुद्राओं (मकाइ *फ0 ए0,* नं0 75, 86, 122 और 454) पर दो बाघों से लड़ते हुए मानव का अंकन संभवतः सुमेरी गिल्गामेश और उनके मित्र इंकिडू के सिंहों से लड़ने के कथानक पर आधारित लगता है।[1] मकाइ ने मोहेंजोदड़ो की मुद्राओं को निर्माणशैली के आधार पर मेसोपोटामिया के अनुकरण पर भारत में निर्मित माना है। जोखा (प्राचीन उम्मा, दक्षिण मेसोपोटामिया) से एक वृषभ और सिंधु लिपि अंकित मिट्टी पर मुद्रा छाप मिली है जिसके दूसरे ओर कपड़े और रस्सी की छाप है। इस तरह की मुद्रा छाप लोथल तथा कुछ अन्य हड़प्पा स्थलों में मिली है जो व्यापार के संदर्भ में बंडलो पर मुद्रा लगाये जाने का फल है।

एक मुद्रा पर अंकित सींगयुक्त बाघ से लड़ती एक सींग वाली आकृति की पहचान सुमेरी गाथा के इंकिडू से की गयी है। क्रीट की कला के समान सिंधु सभ्यता की मुद्रा पर मानव के बैलों से युद्ध का अंकन है। पशु को कई सिर वाला दिखाने की परंपरा का विकास कुछ विद्वानों के अनुसार सिंधु सभ्यता में हुआ जहां पर इस तरह के अनेक उदाहरण हैं। सीरिया और क्रीट से इस तरह के अंकन अल्प संख्या में मिले हैं। क्रीट और सिंधु सभ्यता की बंदर की मूर्तियों में भी पर्याप्त सादृश्य है।

मोहंजोदड़ो को कुछ मुद्राओं (मकाइ *फ0 ए0,* LXXXIII, 1; LXXXVI, 156) में 'ग्रीक क्रास' मिला है जो सुमेर और एलम में काफी प्राचीन संस्कृतियों के संदर्भ में कई उपकरणों पर मिलता है। मशकबीन का अभिप्राय मोहेंजोदड़ो की एक मुद्रा (मकाइ *फ0 ए0,* XCVIII, 641 (g)) पर मिला है। यही अभिप्राय शाही तम्प के बर्तनों पर भी मिलता है। मकाइ का मत है कि आधुनिक काल में भी भारत के कुछ क्षेत्रों में इस अभिप्राय को दुष्ट आत्माओं से रक्षा करने में समर्थ माना जाता है।

मकाइ (*फ0 ए0,* पृ0 362) के अनुसार मोहेंजोदड़ो की एक मुद्रा पर बैल या भैंसे द्वारा मनुष्य को उछालते दिखाने वाला दृश्य क्रीट की कला में अंकित जानवरों के खेल में भाग लेने वाले व्यक्ति द्वारा विशेषतः सांड के ऊपर से उछल कर निकलने वाले चित्रण से प्रेरित और प्रभावित हो सकता है। क्नोसास से प्राप्त एक खंडशः विभक्त कांचली मिट्टी के मनके के स्पेक्ट्रोग्राफिक विश्लेषण से उसके तथा सिंधु सभ्यता की इसी सामग्री से निर्मित मुद्राओं में पर्याप्त समानता मिली। नाल के

1. मोडे इसे सुमेरी कथानक का अंकन नहीं मानते।

कब्रिस्तान क्षेत्र से प्राप्त एक सेलखड़ी की मुद्रा पर सांप को पकड़े गरुड़ दिखाया गया है। इस तरह का अभिप्राय सूसा से प्राप्त एक मुद्रा पर भी मिला है जिनकी तिथि लगभग 2400 ई0 पू0 आंकी गयी है। मकाइ ने मोहेंजोदड़ो की एक मुद्रा (*फ0 ए0,* फलक C, चित्र b और c) को निम्न कारणों से उस स्थल पर निर्मित न मानकर, बाहर से लायी गयी माना है –(1) जानवर को उल्टी दशा में दिखाना, जो सिंधु शैली की अन्य मुद्राओं पर नहीं मिलता; (2) मुद्रा का संगमरमर का बना होना; यह पत्थर सिंधु सभ्यता में मुद्रा निर्माण के लिए प्रयुक्त नहीं होता था; (3) मुद्रा की पीठ पर सिंधु सभ्यता की मुद्राओं से भिन्न प्रकार की घुंडी का होना।

मोहेंजोदड़ो की चार मुद्राओं और दो ताबीज जैसे उपकरण पर गरुड़ का अंकन मिलता है। हड़प्पा से प्राप्त सेलखड़ी के एक लोलक पर भी गरुड़ का चित्रण है। कुछ विद्वानों के अनुसार इस अभिप्राय का मूल ईरान में हैं और बाद में सुमेर और भारत में भी इसका प्रचलन हुआ। मेसोपोटामिया के टेल अस्मर, टेपे गावरा, निप्पुर तथा उर से हाथीदांत तथा मिट्टी के घनाकार पांसे मिले हैं जिनके छहों तरफ अलग–अलग एक से लेकर छः बिन्दु बने हैं। इस तरह के पांसे मेसोपोटामिया की संस्कृति के अंग नहीं थे और उन्हीं की नकल लगते हैं। कम से कम हाथीदांत के पांसे वहीं से आयातित लगते हैं।

कुछ आभूषण भी सिंधु सभ्यता और पश्चिमी एशिया के मध्य संपर्क के द्योतक हैं। हड़प्पा संस्कृति की तरह के रेखांकित मनके किश, शाह टेपे, टेल अस्मर, हिसार आदि से मिलते हैं। इसी तरह सिंधु सभ्यता जैसे कांचली मिट्टी के विभक्त मनके निनेवह, हिसार और क्रीट से भी प्राप्त हुए हैं। उर तथा किश से सिंधु सभ्यता के जैसे लम्बे ढोलाकार मनके मिले हैं। मोहेंजोदड़ो से पकाई मिट्टी के नालीदार मनके मिस्र के पत्थर के इस तरह के मनकों के अनुरूप हैं। हड़प्पा से एक मक्खी की आकृति का मनका मिला है जिससे मिलते–जुलते मनके मिस्र और सुमेर में मिले हैं।

उर के राजकीय कब्रिस्तान में प्राप्त 'बिंब' मनकों की तरह के मनके मोहेंजोदड़ो से भी पाये गये हैं (मार्शल *मो0 इ0 सि0,* पृ0 515, फलक CXLIX, 7)। लेकिन यह प्रकार सरल और सामान्य है और इसलिए संपर्क का द्योतक हो भी सकता है और नहीं भी। उर से प्राप्त गहरे हरे रंग के लम्बे ढोल–बेलनाकार मनके इस तरह के मोहेंजोदड़ो से प्राप्त मनकों से मिलते–जुलते हैं। जिस तरह के पत्थर के ये बने हैं वह या तो ईरान या भारत में उपलब्ध हैं। मकाइ का अनुमान है कि ऐस मनकों का निर्माण एक ही स्थान पर हुआ जहां से ये अन्यत्र ले जाये गये और अधिक संभावना यही लगती है कि इनका निर्माण भारत में हुआ।

मोहेंजोदड़ो से सेलखड़ी की V आकृति का एक मनका मिला है (मकाइ *फ0 ए0,* फलक CIX, 8)। इसी से मिलते–जुलते मनके उर और मिस्र में बारहवें राजवंश

के संदर्भ में मिले हैं। मकाइ का मत है कि इस तरह के मनके बनाना भारतीयों ने पश्चिम से सीखा होगा।

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा से कुछ अंतरक और अंतक मिले हें जिनसे मिलते–जुलते उदाहरण मिस्र के प्राचीन साम्राज्य के समय के अवशेषों से प्राप्त हुए हैं। हाल ही में बहरीन में की गयी खुदाइयों में कार्नीलियन के मनके मिले हैं जो सिंधु सभ्यता के ही किसी एक स्थल या विभिन्न स्थलों से लाये गये होंगे। आकृतियों के केशपट्ट पर छोटे–छोटे छेदों का अलंकरण पश्चिमी एशिया में बहुत लोकप्रिय था। ऐसे अनेक उदाहरण किश, उर, समर्रा, सियाल्क आदि स्थानों पर मिले हैं। मोहेंजोदड़ो की खुदाइयों में भी एक इस तरह का उदाहरण उपलब्ध हुआ है। हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो से कुंडलाकार कंगन सदृश उदाहरण मिस्र, शाह टेपे, हिसार, किश तथा सूसा से भी मिले हैं।

उर तथा किश से शंख की बनी वस्तुएं मिली हैं। मेसोपोटामिया में शंख अनुपलब्ध है। यह काठियावाड़ के समुद्रतटीय क्षेत्र से आयातित किये गये होंगे। मोहेंजोदड़ो और लोथल से सीमित लेप (रिजर्व्ड स्लिप) वाले बर्तन मिले हैं। इस तकनीक से बने बर्तन उर और कार्केमिश में भी मिलते हैं। वूली के अनुसार संभवतः इस तरह के बर्तनों का बनाना अनातोलिया से प्रारंभ हुआ। सिंधु सभ्यता के कुछ मृद्भाण्डों पर प्राप्त घुंडीदार अलंकरण टेल अस्मर के मृद्भाण्ड पर भी प्राप्त हैं। प्रतिच्छेदी–वृत्त का अलंकरण सिंधु सभ्यता में अत्यंत लोकप्रिय अभिप्राय है। लेकिन यह अभिप्राय टेल हलफ में चतुर्थ सहस्राब्दी (?) की संस्कृति तथा क्रीट की कला में भी मिलता है। बलूचिस्तान में नाल संस्कृति के बर्तनों पर भी यह दिखता है और कोटदीजी में विकसित प्राग्–हड़प्पा संस्कृति से पूर्व के संदर्भ में भी। यह कहना कठिन है कि इस अलंकरण का सबसे पहले प्रयोग कहां हुआ। और यह भी कि यह एक दूसरे के प्रभाव का द्योतक है अथवा स्वतंत्र रूप से इसका प्रयोग कई संस्कृतियों में हुआ।

डेल्स का मत है कि कुल्ली संस्कृति का सिंधु संस्कृति के साथ संपर्क दक्षिणी एशिया के इतिहास की एक अत्यंत रोचक बात है और मेसोपोटामिया और भारत के मध्य व्यापार एवं संपर्क में कुल्ली ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की होगी। सिंधु सभ्यता के बर्तनों की तरह पीपल के पत्ते का डिजाइन पेरियानो–घुंडई, कुल्ली और मेही में भी मिलता है। कुल्ली में हड़प्पा प्रकार के बेलनाकार छिद्रित भाण्ड का प्रकार मिला है। आमरी में हाल ही में किये उत्खननों के साक्ष्य के अनुसार वहां पर प्रथम काल का मत्स्य–शल्क का अलंकरण हड़प्पा संस्कृति के बर्तनों पर मिले अलंकरण की तरह है। तृतीय काल के प्रारंभ तक यह स्थल पूर्णतः सिंधु सभ्यता के लोगों द्वारा आवासित था। मोहेंजोदड़ो से मेढ़े की आकृति का बर्तन मिला है जो पीछे से खोखला है। यह सिंधु सभ्यता में अपनी तरह का एक ही उदाहरण है, किंतु मिस्र, सुमेर, क्रीट और एलम की सभ्यताओं में जानवरों की आकृति वाले कई भाण्ड मिले हैं और इसलिए

सिंधु सभ्यता का यह पात्र उन्हीं के प्रभाव से प्रेरित होकर निर्मित किया गया लगता है।

सिंधु सभ्यता में कुछ मिट्टी की खिलौना–चौकी मिली है जिनके पाये बैल के पांव की तरह हैं। इस तरह के पाये वाली चौकी मिस्र औा सुमेर की संस्कृतियों में भी मिलती है। उपर्युक्त तीनों ही संस्कृतियों में खिलौना–चारपाईयां भी मिली हैं जिन पर नारी को लेटा हुआ दिखाया गया है। ये चौकियां और चारपाइयां भी परस्पर संपर्क की द्योतक लगती हैं। सिंधु सभ्यता के ताम्र–पट्ट पर अंकित रस्सी सदृश चिह्न मिस्र के तेरहवें–अट्ठारहवें राजवंश की मुद्राओं पर भी हैं। मकाइ इस अभिप्राय के अंकन को परस्पर संपर्क के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य मानते हैं। मोहेंजोदड़ो से शंख से बने हृदय की आकृति के उत्खचन पाये गये हैं (मकाइ, *फ0 ए0,* पृ0 588 फलक CVII, 5, 15)। ये टेल अस्मर में हड्डी के इसी तरह के उदाहरणों से मिलते–जुलते हैं। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त पुरोहित अथवा योगी की मूर्ति के शाल पर तिपतिया अलंकरण है (चित्र 31)। इस तरह का अलंकरण मोहेंजोदड़ो से प्राप्त कई मनकों पर भी हैं (चित्र 54. 1, 2, 4) मकाइ, *फ0 ए0,* C, 12; CVI, 65; CVII, 14)। मोहेंजोदड़ो के कुछ मनकों पर अंगेजी अंक 8 की तरह का अलंकरण है। दोनों डिजाइन धार्मिक महत्त्व के लगते हैं और मेसोपोटामिया से लिये गये लगते हैं जहां इस तरह के अलंकरण का काफी प्रचलन था।

मातृदेवी की उपासना सिंधु सभ्यता और पश्चिमी एशिया तथा मिस्र में प्रचलित थी। सिंधु सभ्यता की कुछ मातृदेवी की मूर्तियों के सिर पर फाख्ता पक्षी दिखाया गया है जो सीरियाई–क्रीट संस्कृति की मूर्तियों की विशेषता है। जार्ज डेल्स के अनुसार सिंधु सभ्यता में प्राप्त मिट्टी की तुन्दिल मूर्तियां जिन्हें मार्शल, मकाइ प्रभृति विद्वानों ने गर्भवती स्त्रियों की आकृतियां माना है, उनसे मिलती–जुलती मूर्तियां निप्पुर से मिली हैं, वहां पर इन मूर्तियों को ऊर्ध्व लिंग दिखाया गया है। ये मेसोपोटामिया की कला परंपरा से भिन्न हैं और सिंधु सभ्यता की शैली के अनुकरण में बनी हैं और वास्तव में सिंधु सभ्यता की आकृतियां भी पुरुष आकृतियां ही हैं। पुरुषों को ऊर्ध्वलिंग में दिखाने की परंपरा सिंधु सभ्यता में थी।

मोहेंजोदड़ो में घिया पत्थर के छोटे–छोटे किंतु आकर्षक खानेदार बर्तन मिले हैं। इस तरह के बर्तन किश, लगश, अदब, उर, खफजे और मारी में काफी संख्या में तृतीय सहस्राब्दी ई. पू. के संदर्भ में पाये गये हें। कुछ ऐसे बर्तन बलूचिस्तान तथा फारस में भी पाये गये हैं जिनके अनुकरण में कुछ मिट्टी के बर्तन भी बनें। पिगट का सुझाव है कि इस तरह के बर्तन मकरान (पूर्वी ईरान) में निर्मित हुए थे। मोडे के अनुसार इस तरह के बर्तनों का प्रेरणा स्रोत मेसोपोटामिया हो सकता है जहां पर इस तरह के समूचे पात्र मिले हैं।

मोहेंजोदड़ो के सेलखड़ी के बर्तन (मकाइ, *फ० ए०,* फलक CXLII, 45) पर चटाई का डिजाइन है। मोहेंजोदड़ो से एक क्लोराइट कटोरे पर रिम के नीचे वृत्त के अंदर बिन्दु डिजाइन है जो इस तरह के ओमन से प्राप्त क्लोराइट के बर्तनों के समान हैं। इस तरह के अलंकरण वाले बर्तन सुमेर तथा एलम में मिले हैं। मोहेंजोदड़ो के शौचालय टेल अस्मर में अक्कादी स्तरों में प्राप्त शौचालयों से मिलते हैं। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त कुल्हाड़ा–बसूला सिंधु सभ्यता में अपनी तरह का एकमात्र उपकरण है। टेपे हिसार में भी इसी तरह का उपकरण मिला है। हाल में भारत और फारस की खाड़ी के क्षेत्र के व्यापारिक संबध के साक्ष्य मिले जो मार्शल, पिगट और व्हीलर के समय तक उपलब्ध नहीं थे।

बहरीन द्वीप के रस–अल–कला (जो संभवतः लगभग अक्कादी काल के मेसोपोटामिया के लेखों में उल्लिखित दिल्मुन की राजधानी थी) से सिंधु सभ्यता में निर्मित पालिश किये फिलंट पत्थर के बाट मिले हैं (चित्र 66)। बाटों के साथ ही फारस की खाड़ी प्रकार की मुद्राएं मिलीं। लाल के अनुसार इससे पता लगता है कि सिंधु सभ्यता और फारस की खाड़ी के व्यापारी साझे में व्यापार करते थे। वहां से एक ओर सिंधु सभ्यता और दूसरी ओर मेसोपोटामिया से माल का आयात–निर्यात करते थे। बहरीन में इन बाटों के होने के निम्न कारण हो सकते हैं– (1) व्यापार के संबंध में बहरीन को प्रारंभिक प्रेरणा सिंधु सभ्यता से मिली, न कि मेसोपोटामिया से, और (2) बहरीन के लोगों का भारत के साथ मेसोपोटामिया से कहीं अधिक घनिष्ठ व्यापारिक संपर्क था। सिंधु सभ्यता के बाटों की साख थी जिस कारण मेसोपोटामिया से व्यापार में इनके प्रयोग से सहूलियत थी। लोथल से 'फारस की खाड़ी' प्रकार की एक मुद्रा (चित्र 51. 6) का पाया जाना इस बात का द्योतक है कि इस नगर का बहरीन और अन्य फारस की खाड़ी के क्षेत्रों से पर्याप्त संपर्क रहा था। फारस की खाड़ी में ही फैयल्का (Failka) द्वीप से 'फारस की खाड़ी' आकार–प्रकार की दो मुद्राओं पर सिंधु लिपि में लेख है। इनमें से एक मुद्रा कस्साइट स्तर से है। रस अल–कला की नगर योजना सिंधु नगरों की भांति ग्रिड योजना पर आधारित थी। बहरीन द्वीप में लिंग की आकृति की गोटियां मिलीं। एक कांसे के दपर्ण का हत्था मानव आकृति का है जो मेही के दपर्ण के इस तरह के हत्थे के समान है। बहरीन की एक कब्र से एक सेलखड़ी की मुद्रा पर सिंधु लिपि में लेख, बैल, एक–शृंगी पशु और मोर पक्षी की आकृति मिली। यहां पर उत्खनन कराने वाले के० एम० श्रीवास्तव इसे सिंधु सभ्यता के व्यापारी की कब्र मानते हैं। लाल का मत है कि मुद्रा का वृत्ताकार होना और मोर का सिंधु सभ्यता के अंकनों से काफी खराब होने से अनुमान लगा सकते हैं कि यह व्यापारी लम्बे समय से बहरीन में रह रहा था और मुद्रा यहीं के कलाकार ने बनायी जिसे मोर की आकृति की ठीक जानकारी नहीं थी।

मध्य–एशिया के तुर्कमेनिया गणराज्य में कैस्पियन सागर के निकट कई स्थानों

—आल्तिन डेपे, नामज्मगा डेपे, ताहिरबाई डेपे, और अनाउ की खुदाइयों से इस क्षेत्र की संस्कृतियों पर सिंधु सभ्यता के प्रभाव पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ा। उक्त स्थलों के उत्खननों से सिंधु सभ्यता के आकार—प्रकार वाले कई बर्तन तथा कुछ अन्य वस्तुएं तथा एक मुद्रा, मृण्मय बैल, मनके, बाट, नग्न पुरुष आकृतियां, खिलौना गाड़ी के पहिये तथा तांबे के पात्र आदि मिले हैं। मिट्टी की बनी खिलौना गाड़ियां, बैल की आकृतियां एकदम सिंधु सभ्यता से प्रभावित हैं। आल्तिन डेपे की एक कब्र से मिली एक रजत मुद्रा पर बाघ का अंकन है जिसके तीन सिर हें। इस तरह का अभिप्राय सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर भी मिलता है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि हड़प्पा संस्कृति के लोग छोटे—छोटे समूहों में हिंदुकश पार कर और फिर उत्तरी ईरान से होकर आल्तिन डेपे, अनाउ और नामज्गा में विकसित ताम्राश्म सभ्यताओं के संम्पर्क में आये। वे वहां पर धीरे—धीरे शांतिपूर्वक स्थानीय संस्कृति की धारा में मिल गये। ऐसा मत व्यक्त किया गया है ये संबंध उस काल में रहे होंगे जबकि सिंधु सभ्यता अपने चरम विकास पर थी। यह धारणा उपयुक्त नहीं जिसके अनुसार मध्य एशिया के स्थलों पर प्राप्त सिंधु सभ्यता के उपकरण वहां व्यापार के फलस्वरूप नहीं पहुंचे बल्कि संभ्रान्त व्यक्तियों द्वारा उन्हें भेंट स्वरूप भेजने से या लूट के माल के रूप में वहां पहुंचे। यह उल्लेखनीय है कि कुछ स्थलों यथा उम्म्—अन—नार में सिंधु सभ्यता के बर्तन भारी संख्या में मिले हैं और उनमें अधिकांश साधारण प्रकार के हैं, जिनके भेंट में देने अथवा लूट के माल की तरह ले जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा, लोथल, देसाालपुर और कालीबंगां में सभ्यता के उन्नत युग के द्योतक स्तरों के नवपाषाण संस्कृति की पत्थर की कुल्हाड़ियां उपलब्ध हुई हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार पत्थर के फलक बनाने की तकनीक को सिंधु सभ्यता वालों ने नवाश्म संस्कृति के धारकों से अपनाया था। लोथल से मिट्टी की एक आकृति—जिसकी नाक नुकीली है, आंखें धंसीं हैं वर्गाकार दाढ़ी है, और सिर गंजा है और पश्चिमी एशिया की कला के अनुसार है।

राव के अनुसार गुजरात के सिंधु सभ्यता के उत्तराधिकारी चमकीले लाल रंग के भाण्ड वाले लोगों के मालवा और मेवाड़ के साथ संपर्क थे। एरण में रंगपुर IIC और III प्रकार के नौतली कटोरे मिले हैं जिन पर सौराष्ट्र की परंपरा में चित्रकारी की गयी है। इनके साथ ही केल्सिडोनी के फलक और चपटी तांबें की कुल्हाड़ियां भी मिली हैं।

आहाड़ में लाल रंग के ह्रासोन्मुखी हड़प्पा संस्कृति के भाण्ड और चपटी कुल्हाड़ियां लगभग 1800 ई. पू. के, और चमकीले लाल भाण्ड लगभग 1500 ई. पू. के तिथि वाले सतहों में मिले हैं; और उत्तर में बणास घाटी में गिलूँद और कुछ अन्य स्थलों में चर्ट फलक और सिंधु प्रकार से समानता लिये भाण्ड काले—लाल—भाण्ड के साथ मिले हैं। उज्जैन के समीप कायथा में रंगपुर IIC प्रकार के भाण्ड मिले हैं।

उज्जैन जिले में ही मनोति में परवर्ती हड़प्पा सभ्यता के भाण्डों के नीचे सोथी प्रकार के भाण्डों से मिलते–जुलते बर्तन पाये गये हैं। एस० ए० साली ने परवर्ती सिंधु सभ्यता कालीन कुछ उपकरण प्रकार महाराष्ट्र के धूलिया जिले में सावल्दा, काओठा, धूलिया आदि स्थलों में पाये हैं जो इस बात के द्योतक हैं कि यहां के लोगों का परवर्ती सिंधु सभ्यता के लोगों से संबंध था।

दक्षिण की ओर प्रवरा नदी के तट पर स्थित नेवासा और भीमा नदी के तट पर स्थित चांदोली में सौराष्ट्र के सिंधु सभ्यता के बाद के चमकीले लाल भाण्ड के प्रयोग–कर्ताओं के साथ संपर्क के साक्ष्य मिले हैं। गोदावरी पर स्थित नासिक और जोर्वे में प्रथम सहस्राब्दी के प्रारंभ में चपटी ताम्र–कुल्हाड़ियां मिली हैं।

गोदावरी घाटी में नेवासा और बेलारी जिले में तेक्कलकोटा में सिंधु प्रकार की तकनीक से पत्थर, के फलक बनाने के साक्ष्य मिलते हैं। दक्षिण कृष्णा और पेन्नार की घाटी में सिंगनपल्ली, रामपुरम्, शिववरम्, पतपादु और पुसलपादु में नवपाषाण–युगीन लोगों द्वारा, अल्पमात्रा में ही सही, परवर्ती हड़प्पा तकनीक में बने और रंगे बर्तन मिले हैं। सिंगनपल्ली में सेलखड़ी और शंख के बने 'बिंब' मनके हड़प्पा प्रकार के हैं। ब्रह्मगिरि, मास्की, पिक्लिहाल तथा हल्लूर के प्रारंभिक चरण में भी अल्पसंख्या में सिंधु सभ्यता के अवशेष मिले हैं।

व्हीलर जोर्वे और नावडाटोली में प्राप्त चपटी कुल्हाड़ियों को हड़प्पा संस्कृति के संपर्क का द्योतक मानते हैं। नावाडाटोली की कुल्हाड़ियों पर ताम्र–संचय की कुल्हाड़ियों के समान ही वृत्ताकार गड्ढे मिलते हैं जिस कारण हमको वे ताम्र–संचय के किसी क्षेत्र से आयातित लगती हैं। लोथल की ताम्र मानवाकृति (चित्र 60. 13) हमें सिंधु सभ्यता में ताम्र–संचय संस्कृति से आयातित मालूम पड़ती है क्योंकि उस संस्कृति में इस तरह के बहुत अवशेष प्राप्त हैं। कायथा के प्रथमकाल (कायथा संस्कृति) में प्राप्त तांबें की कुल्हाड़ियों पर भी हमें इसी तरह के वृत्ताकार गड्ढे मिलते हैं और ये भी ताम्र–संचय संस्कृति की लगती हैं।

अध्याय 18
सिंधु सभ्यता का ह्रास एवं अंत

सामान्यतः प्राचीन संस्कृतियों के उद्भव और ह्रास, दोनों के कारणों का निर्धारण करना कठिन कार्य होता है। ऐतिहासिक काल की संस्कृतियों के बारे में सर्वमान्य तो अलग बात रही बहुमान्य निष्कर्ष पर पहुंचना भी कठिन होता है। प्रागैतिहासिक और पूर्व ऐतिहासिक काल के लिए तो यह समस्या और भी जटिल हो जाती है। साधारणतया किसी संस्कृति का ह्रास एक नहीं अपितु अनेक कारणों से होता है, और जहां तक सिंधु सभ्यता का प्रश्न है, यह सोचना कि इतने विशाल और विभिन्न प्रकार के भौगोलिक क्षेत्र में फैली और अनेक महत्त्वपूर्ण नगरों वाली इस दीर्घजीवी सभ्यता का ह्रास और अंत सभी क्षेत्रों में एक ही कारण से हुआ होगा, नितांत अनुपयुक्त होगा। यही नहीं, संभवतः एक स्थल पर भी इसके लिये अनेक कारण रहे होंगे। निश्चित साक्ष्यों के अभाव में इसके लिए विभिन्न प्रकार के अनुमान विद्वानों ने लगाये हैं। इन विभिन्न अनुमानों में कौन सही है और कौन गलत इसका निर्धारण करना सरल नहीं, और न यह ही बताना संभव है कि इनमें कौन कितनी मात्रा में उत्तरदायी था। पर यह भी स्पष्ट कर देना चाहिए कि मात्र संस्कृति के कुछ तत्त्वों की कमी या कुछ नये तत्वों की उपस्थिति, या दोनों से ही नयी संस्कृति का आगमन नहीं मान सकते हैं। यद्यपि उसे परिस्थिति के अनुरूप किसी संस्कृति के विकासोन्मुखी अथवा ह्रासोन्मुखी परिवर्तन के चरण का द्योतक भी मान सकते हैं।

नागरिकों और प्रशासन की शिथिलता

जैसा कि फेयरसर्विस ने लिखा है, नागरिक समाज एक जटिल समाज है जिसमें यथास्थिति बनाये रखने के लिए संतुलन आवश्यक है। किंतु स्वयं की जटिलता एवं परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण यह संतुलन बनाये रखना कठिन होता है और जब संतुलन बहुत बिगड़ जाता है तो ह्रास के लक्षण स्पष्ट होने लगते हैं। व्हीलर ने मोहेंजोदड़ो के अंतिम प्रकाल के स्तरों में ह्रास के लक्षणों को विस्तार से दर्शाया है। उस काल के भवनों की परियोजना और उनका आकार–प्रकार, दीवारों के निर्माण–कार्य, चबूतरों के निर्माण आदि सभी में ह्रास के चिह्न दिखाई देते हैं। अंतिम चरण में टीले पर निर्माण कार्यों के विस्तार के लिए जगह नहीं रह गयी थी और निम्न तल पर मकान बनाना बाढ़ के खतरे को मोल लेना था। जनसंख्या बढ़ने के कारण टीले पर और विस्तार की संभावना समाप्त होने पर लोगों ने पहले की बनी इमारतों को छोटे–छोटे कमरों में बांटना आरंभ कर दिया था और वह भी अधिकांशतः लापरवाही से। नये मकानों के निर्माण में पुराने मकानों की ईंटों का प्रयोग करना शुरू

हो गया था। वे लोग पूर्वजों के खंडहरों में मकान बनाने लगे थे। यहां (मोहेंजोदड़ो में) विशाल अन्नागार के समीप लगभग 9. 15 मीटर या उससे अधिक ऊंचाई पर निम्नकोटि की इमारतें बनायी गयी। 'डी के' टीले के 'जी' क्षेत्र के दक्षिणी भाग में श्रमजीवियों की बस्ती बस गयी थी जिनमें से अधिकांश कुम्हार थे और उनके छः भट्ठे वही पर बने थे। पहले नगर के समृद्ध काल में कुम्हारों ने नगर के बाहर ही भट्ठे बनाये थे। इस प्रकार के निर्माण से स्पष्ट है कि मोहेंजोदड़ो में अब नागरिक जीवन, जिसके लिए सिंधु सभ्यता प्रसिद्ध है के स्थान पर देहातीपन पनपने लगा था। विकसित सिंधु सभ्यता प्रकार के चित्रित भाण्ड बनते रहे किंतु अब उनकी संख्या कम हो गई ओर अधिकांशतः सादे चित्रण रहित बर्तन बनाये जाने लगे। विकसित काल की मुद्राएं सेलखड़ी की बनीं थीं और उन पर पशुओं की सुन्दर आकृतियां अंकित हैं। बाद की मुद्राओं के लिए सेलखड़ी का प्रयोग नहीं मिलता और लेख के स्थान पर थोड़े से ज्यामितीय चिह्न ही अंकित मिलते हैं। यह सभी लक्षण एक ओर वहां के निवासियों के रहन सहन के स्तर की गिरावट के द्योतक हैं, और दूसरी ओर इस बात के कि शासन–तंत्र में ढिलाई आ गयी थी। अतः मोहेंजोदड़ो में इस सभ्यता के शनैः–शनैः ह्रास की ओर अग्रसर होने के साक्ष्य उपलब्ध हैं। मोहेंजोदड़ो के अलावा हड़प्पा संस्कृति के कुछ अन्य स्थलों हड़प्पा, चन्हुदड़ो, लोथल, कालीबंगां इत्यादि के अन्तिम चरणों में भी ह्रास के चिह्न दिखाई देते हैं।

व्यापार में अवनति

सिंधु सभ्यता तथा मेसोपोटामिया से प्राप्त साक्ष्य इस बात के द्योतक हैं कि अंतिम चरण में सिंधु सभ्यता का विदेशों से व्यापार एकदम कम हो गया था। यह इस बात का द्योतक है कि सिंधु सभ्यता का समाज अब कुशल नेतृत्व से वंचित था। सिंधु सभ्यता की समृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण कारण विदेशी व्यापार था और इसमें कमी होने से इस सभ्यता के वासियों पर दुष्प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। विदेशी संपर्क के कम होने से विचारों और उपकरणों के पारस्परिक आदान–प्रदान का अभाव रहा और परिणामस्वरुप सभ्यता में कूपमंडूकता आ गयी होगी और दूसरी सभ्यता की उपलब्धियों, उसके आविष्कारों और खोजों को अपनी सभ्यता में प्रयुक्त करने के महान् लाभ से वंचित हो गये होंगे। ब्रजवासी लाल इस सभ्यता के ह्रास के लिये विदेशी व्यापार में निरंतर गिरावट को सबसे अधिक उत्तरदायी मानते हैं। मोहेंजोदड़ो, आमरी तथा चन्हुदड़ो के साक्ष्यों का परीक्षण करने से स्पष्ट हुआ कि इन तीन स्थानों पर अंतिम चरण में विकसित सिंधु सभ्यता ह्रासोन्मुखी थी। यह ह्रास बर्तनों के आकार–प्रकार और उन पर अंकित चित्रण में दिखाई देता है। अधिकांश विद्वान् झूकड़ को अलग संस्कृति न मानकर सिंधु सभ्यता की ही ह्रासोन्मुखी संस्कृति मानने लगे हैं।

सामाजिक एवं राजनैतिक कारण

जातीय चरित्र के पतन और नैतिक मूल्यों में अत्यधिक ह्रास की कल्पना इस

संबंध में कुछ विद्वानों ने की है। कुछ ने संस्कृति के धारकों द्वारा निरंतर बाह्य आक्रमणकारियों से जूझे रहने के कारण अंततः शक्तिहीन होने की बात कही है, तो कुछ के अनुसार हो सकता है राजपरिवार और राजदरबार के षड्यंत्रों ने भी इसको क्षीण करने में सहायता दी होगी। शासकों की निरंकुशता के विरुद्ध जनता द्वारा विद्रोह की संभावना तथा पूंजीपतियों और सूदखोरों के शोषण के विरुद्ध मजदूरों तथा साधारण वर्ग द्वारा विद्रोह किये जाने की संभावना का भी उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त जनसंख्या की अनपेक्षित वृद्धि से भी सामाजिक और आर्थिक स्तर में गिरावट आने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। कुछ ने मलेरिया जैसे रोग के बड़े पैमाने पर फैलने की संभावना व्यक्त की है और कुछ कंकालों की हड्डियों का अध्ययन कर मत व्यक्त किया है कि मलेरिया के कारण हड्डियों का ठीक--ठीक विकास नहीं हो पाया था। ऐतिहासिक काल में ऐसे निश्चित साक्ष्य ज्ञात हैं जब पूरी—पूरी बस्ती मलेरिया रोग के दुष्प्रभाव के कारण उजड़ गयी।

प्राकृतिक संसाधनों का अतिशय उपयोग

संस्कृति के तीव्र विकास हेतु जो कार्य लोगों ने किये वे भी कुछ हद तक वातावरण में परिवर्तन लाने ओर अंततः ह्रास के लिए उत्तरदायी बने। मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा जैसे नगरों की इमारतों के निर्माण एवं पुनर्निर्माण में करोड़ो ईंटे खपीं होंगी। इन ईंटों को पकाने में लाखों मन लकड़ी जलायी गयी होगी जिससे समीपवर्ती क्षेत्र के जंगल समाप्त हो गये होंगे और परिणामस्वरूप भूमि की कमी हुई होगी। चारागाहों का अत्यधिक उपयोग भी हानिकारक सिद्ध हुआ। मवेशियों विशेषतः बकरियों के शताब्दियों तक चरने से हरियाली नष्ट हो गयी। इन बातों से वातावरण पर प्रभाव पड़ा होगा और वर्षा की मात्रा में भी कमी आयी होगी। नगर के समीपवर्ती क्षेत्र की भूमि की उर्वरता का ह्रास हुआ होगा। शायद प्रकृति ने भी इस सभ्यता के ह्रास में योगदान दिया। कुछ विद्वानों की धारणा है कि मानसूनी हवाओं के बदलने से भी सिंध के क्षेत्र में वर्षा में कमी आयी।[1] इस तरह मोहेंजोदड़ो में सिंधु सभ्यता के दौर में ही धीरे—धीरे हरियाली कम होती जा रही थी। व्हीलर का यह मत, कि मोहेंजोदड़ो के वासी अपने वातावरण को अतिशय उपयोग से सूखाग्रस्त बना रहे थे और यह परिवर्तित वातावरण मोहेंजोदड़ो नगर पर दुष्प्रभाव डाल रहा था, काफी समीचीन लगता है।

जलवायु में प्रतिकूल पविर्तन

घोष का भी मत है कि कुछ स्थलों पर आर्द्रता का ह्रास और फलतः भूमि की शुष्कता का विस्तार सभ्यता के अंत के लिए महत्त्वपूर्ण कारण रहा। इस संदर्भ में वह

1. विस्तार के लिए देखिए परिशिष्ट 'सिंधु सभ्यता के काल में मोहेंजोदड़ो के क्षेत्र की जलवायु'।

बताते हैं कि सिंधु सभ्यता के जीवनकाल में सरस्वती नदी निश्चित रूप से जीवंत थी। इस काल में आवास नदी के तट पर पाये गये। उनके बाद की संस्कृति, चित्रित धूसर–भाण्ड संस्कृति, के लोगों के आवास उस स्थल पर मिले हैं जो नदी का तल था। यह इस बात का द्योतक है कि चित्रित धूसर–भाण्ड के लोगों के इस स्थल पर आवास बनाने के समय तक सरस्वती नदी सूख चुकी थी। नदी के सूखने से भी उस क्षेत्र में सूखापन बढ़ा होगा। घोष का कहना है कि सिंध में भी कुछ स्थल ऐसे हैं जहां हड़प्पा सभ्यता के अंत के बाद भी अन्य संस्कृतियों ने अपनी बस्ती बसायी, किंतु किरथर पर्वत श्रेणियों के समानान्तर जो हड़प्पा संस्कृति के स्थल हैं, उनमें इस तरह के सिंधु सभ्यता के बाद बस्ती बसाने के साक्ष्य नहीं मिलते। इससे यह सिंद्ध होता है कि जलवायु में प्रतिकूलता आ रही थी। इस संबंध में बीरबल साहनी पुरावनस्पति संस्थान, लखनऊ, के गुरुदीप सिंह द्वारा किये गये राजस्थान के झीलों के तट से प्राप्त पराग परीक्षणों से प्राचीन जलवायु के साक्ष्य प्रस्तुत करना समीचीन होगा। इसके अनुसार लगभग 3000–1800 ई. पू. में राजस्थान के क्षेत्र में पर्याप्त आर्द्रता तथा हरियाली थी, और 1800 ई. पू. के लगभग यहां पर शुष्क जलवायु शुरू हुई। उनका अनुमान हे कि यह जलवायु परिवर्तन कालीबंगां तथा उत्तरी पश्चिमी भारत के शुष्क अथवा लगभग शुष्क क्षेत्रों में हड़प्पा सभ्यता के विनाश के लिए मुख्यरूप से उत्तरदायी था। सिंधु सभ्यता के परिधीय क्षेत्र, जैसे गुजरात अथवा हिमालय की तलहटी के क्षेत्रों में इस जलवायु परिवर्तन का असर बहुत कम हुआ।

नदियों का मार्ग बदलना

नदियों ने भी अनेक बार मार्ग बदला होगा, जिससे कुछ बस्तियां उजड़ गयी होंगी। ऐतिहासिक काल में सिंधु के अनेक बार मार्ग बदलने के लिखित साक्ष्य उपलब्ध हैं। भूकम्प भी नदियों का मार्ग बदलने में सहायक रहे होंगे। माधोसरूप वत्स तो हड़प्पा नगर के विनाश के लिए रावी नदी के मार्ग परिवर्तन को उत्तरदायी मानते हैं। रावी जो हड़प्पा के बिल्कुल समीप बहती थी बाद में दूर हट कर बहने लगी, और आज यह उससे लगभग 10 किमी की दूरी पर हैं। जल के स्रोत का अधिक दूर होना हड़प्पावासियों की समृद्धि पर घातक प्रभाव डालने वाला सिद्ध हुआ होगा। नागरिकों का यातायात और व्यापार बहुत कुछ नदी के माध्यम से ही होता था और नदी के दूर हो जाने पर यह कठिन हो गया होगा।

कालीबंगां में सिंधु सभ्यता के अवशेषों के ऊपर किसी अन्य संस्कृति के अवशेष नहीं, अर्थात् सिंधु सभ्यता के बाद यह स्थल हमेशा के लिए निर्जन हो गया । यहां पर न तो विदेशी आक्रमण, न बाढ़ और न ही लोथल और रंगपुर के समान संस्कृति के परिवर्तन से उप–सिंधु सभ्यता के होने के साक्ष्य ही मिलते हैं। कुछ भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार पहले यमुना और सतलज नदियां सरस्वती (आधुनिक घग्घर) में मिलती थीं और सरस्वती नदी में इस तरह बहुत पानी रहता था, किंतु कुछ

भूमि में हुये परिवर्तन के कारण परिवर्तन हुआ और फलस्वरूप यमुना गंगा में, और सतलज सिंधु में मिल गयी। यह क्षेत्र जल से वंचित हो गया। यही उस क्षेत्र में संस्कृति के अंत का मुख्य कारण लगता है। डेल्स के अनुसार 1750 ई. पू. के आस–पास नदियों के इस तरह के मार्ग परिवर्तन के साक्ष्य प्राप्त होते हैं लगभग यही तिथि कार्बन–14 विधि से भी कालीबंगां में सिंधु सभ्यता के अंत के लिए ज्ञात है। निश्चय ही नदियों के रुख के परिवर्तन के कारण बस्तियों में पीने और सिंचाई के लिए जल का अभाव हो गया होगा। इस कारण इस क्षेत्र में अनाच्छादन हो गया होगा।[1] इस प्रक्रिया में कुछ समय लगा होगा और कालीबंगां के उत्खनन का साक्ष्य भी इसकी पुष्टि करता है। यहां पर अंतिम टीले तथा निचले टीले दोनों का क्षेत्र पहले से कम हो गया था और गढ़ी वाले टीले तथा निचले टीले दोनों में ही रक्षा–प्राचीर का उपयोग नहीं रह गया था। वास्तव में जैसा ब्रजवासी लाल कहते हैं कि कालीबंगां में सिंधु संस्कृति में ह्रास के द्योतक साक्ष्य नहीं। यहां पर इस सभ्यता का अंत अपनी तरुणाई में ही हो गया, जीर्णशीर्ण वृद्धावस्था तक वह पहुंच ही नहीं पायी।

भीषण बाढ़

नदियों में वार्षिक बाढ़ का आना हड़प्पा के लोगों के लिए एक सामान्य विभीषका बन चुका था। आधुनिक काल में सिंधु में भयानक बाढ़ आने के निश्चित साक्ष्य उपलब्ध हैं। एक ऐसी बाढ़ 1929 में आयी और नदी का जल टीले (जिससे कि प्राचीन काल की अपेक्षा अब नदी काफी दूर है) तक पहुंच गया। अभी हाल ही में फिर यहां पर इस तरह की भीषण बाढ़ आयी। मार्शल के निर्देशन में किये गये उत्खनन में मोहेंजोदड़ो की विभिन्न सतहों से बालू के रूप में बाढ़ के प्रकोप के प्रमाण मिले हैं। मोहेंजोदड़ो में विशेष रूप से स्पष्ट हे कि पुनर्निर्माण के दौर में इमारतों को ऊंचे धरातल पर बनाया जा रहा था। यद्यपि इन बाढ़ो से पूरे नगर का डूबना तो कठिन था, क्योंकि भवन निरंतर ऊंची सतह पर बनाये जा रहे थे, तथापि नगर के एक बड़े भाग का जलमग्न होना साधारण सी बात रही होगी। इससे वहां के लोगों के नैतिक बल में ह्रास हुआ होगा। उनके रहन–सहन के स्तर में गिरावट आना अवश्यम्भावी था। अधिकांश साधारण लोगों ने तो बाढ़ के बावजूद नगर नहीं छोड़ा

1. सूरज भान द्वारा किये सर्वेक्षणों से भी हड़प्पा से पूर्व की संस्कृति, हड़प्पा संस्कृति ओर हड़प्पा सं संबद्ध संस्कृतियों की बस्तियां उन स्थलों पर मिली हैं जिनके समीप से पहले जमुना बहती थी किंतु उस नदी के मार्ग बदलने के कारण वे स्थल धीरे–धीरे निर्जन हो गये।

लैम्ब्रिक ने तो सुझाया है कि कदाचित् मोहेंजोदड़ो से ऊपर के क्षेत्र में सिंधु नदी में अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण व्यपवर्तन से प्रभावित स्थानों के लोगों को मोहेंजोदड़ो आने को विवश किया हो और मोहेंजोदड़ो की जनसंख्या का संतुलन बिगड़ गया हो, और उनकी समृद्धि और शक्ति का अत्यधिक क्षय हो गया हो।

होगा। किंतु कुछ सम्पन्न लोग बाढ़ से उत्पन्न कठिनाइयों ओर असुविधाओं के कारण मोहेंजोदड़ो छोड़ कर अन्यत्र चले गये होगे। छोटी–मोटी बाढ़ के बाद तो नगर छोड़ गये लोग शीघ्र लौट आते रहे होंगे, किंतु भयंकर बाढ़ के पश्चात् तो क्षेत्र के लोगों को काफ़ी समय तक लौटना कठिन हो जाता रहा होगा। मकाइ के अनुसार चन्हुदड़ो में भी सिंधु सभ्यता के लोगों के उस स्थल को छोड़ने के लिए बहुंत कुछ बाढ़ ही उत्तरदायी थी। वहां पर रेत की तह से अंतिम चरण में भयंकर बाढ़ के साक्ष्य स्पष्ट हैं। चन्हुदड़ो के एक टीले के बारे में मकाइ का कहना है कि वहां पर सिंधु सभ्यता के लोग किसी तरह कुछ समय तक बने रहे और बाद में शनैः–शनैः नष्ट हो गये या उस स्थान को छोड़ कर अन्यत्र अधिक सुरक्षित स्थलों की ओर चले गये। वे तो यह भी सुझाते हैं कि शायद सिंधु नदी में बाढ़ इतने विशाल पैमाने पर इतनी अधिक बार और इतने लम्बे समय तक रही हो कि चन्हुदड़ो के लोग बाढ़ से रक्षा के लिए ऊंचे स्थलों की ओर गये और वहां शनैः–शनैः उनकी संस्कृति की विशिष्टता समाप्त हो गयी। स्तरीय साक्ष्य इस ह्रास के द्योतक लगते हैं न कि नयी संस्कृति के आगमन के।

राव को लोथल और भगत्राव (दक्षिण गुजरात) में कम से कम दो भीषण बाढ़ों के आने के प्रमाण मिले हैं। उनके अनुसार एक बाढ़ लगभग 2000 ई. पू. और दूसरी उसके लगभग एक शताब्दी बाद आयी थी। राव का अनुमान है कि हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो में भी भीषण बाढ़ इसी समय आयी होगी। इमारतों को बाढ़ से बचाने के लिए चारों ओर रक्षा दीवार का निर्माण किया गया था। भीषण बाढ़ से खेती नष्ट हो जाती रही होगी और नहरें बालू से पट जाती रही होंगी। राव का कहना है कि ऐसे अवसरों पर सिंधु घाटी से सिंधु सभ्यता के कुछ लोग घग्घर की घाटी और कुछ सतलज की ओर गये। रोपड़ ओर कुछ अन्य सतलज की समीपवर्ती बस्तियां शायद बाढ़पीड़ित लोगों ने बसायी थीं। मोहेंजोदड़ो, लोथल और अन्य नगरों का क्षेत्र पहले से कम हो गया और वहां पर हर क्षेत्र में ह्रास दिखने लगता है।

जल–तल का ऊपर उठना

कुछ स्थलों पर इस बात के प्रमाण मिले हैं कि भूमिगत जल–तल कुछ ऊंचा हो गया था। सिंधु नदी अपने साथ जो मिट्टी बहा कर लाती थी उसके जमाव के कारण नदी का तल ऊपर उठता गया और उसके साथ ही उसके ईर्द–गिर्द का मैदानी क्षेत्र का जल–तल भी। यह प्रक्रिया धीमी किंतु निरंतर चलती रही और कई पीढ़ियों के अंतर में नदी का तल काफी ऊंचा हो गया होगा, तथा नगरों को बाढ़ का खतरा और बढ़ गया होगा। जैसा कि व्हीलर ने लिखा हे, यदि मानवीय अनुशासन में भी कमी आ गयी हो और सिंचाई के लिए बनायी गयी नहरों तथा बांधों के प्रबंध में अनियमितता रही हो तो उससे एक ओर उपज में कमी आयी होगी, दूसरी ओर जलप्लावन के कारण सभ्यता के ह्रास में और तेजी आयी होगी।

समुद्रतटीय भूमि का ऊपर उठने से जलप्लावन

डेल्स को अपनी पुरातात्त्विक खोजों के संदर्भ में मकरान के आज के समुद्र तट से कई मील के भीतर की भूमि में प्राचीन समुद्र तट के चिह्न मिले हैं। हड़प्पा संस्कृति के तीन महत्त्वपूर्ण नगर सुत्कागेंडोर, सोत्ककोई (पस्नी नदी के तट पर) और बालाकोट (कराची के उत्तर–पश्चिम में लगभग 70 किमी की दूरी पर सोत्पपनी के समीप, जिसकी खोज राइक्स ने की है) की प्राचीन स्थिति के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है। आज तो सुत्कागेंडोर समुद्र तट से लगभग 56 किमी0, सुत्काकोह 13 किमी0 और बालाकोट लगभग 19 किमी0 की दूरी पर हैं, किंतु यहां पर किये सर्वेक्षण से उपलब्ध साक्ष्यों से ऐसा अनुमान लगाया गया है कि पहले समुद्र इनके निकट था। ये जलमार्ग द्वारा व्यापार के लिए महत्त्वपूर्ण पड़ाव रहे होंगे। डेल्स के अनुसार, संक्षेप में तीन प्राकृतिक शक्तियों ने इन नगरों को समुद्र तट से दूर करने में योगदान किया। समुद्र तट की भूमि का सतत रूप से ऊपर उठना, नदियों की लायी हुई मिट्टी के जमाव से उनके मुहानों का अवरुद्ध होना, और स्थान–स्थान पर हवाओं द्वारा रेत का जमा किया जाना। उनका अनुमान है कि समुद्र तल का ऊपर उठना लगभग 480 किमी के मकरान तट तक ही सीमित नहीं रहा होगा, बल्कि इस प्रक्रिया ने शनैः शनैः समीपवर्ती क्षेत्र, यहां तक कि सिंधु के निचले भाग को भी प्रभावित किया होगा।

मोहेंजोदड़ो में बारीक बलुई मिट्टी मिली है जो बाढ़ के बहते हुए पानी का परिणाम न होकर रुके हुए पानी का परिणाम लगती है। इनसे अनुमान लगाया गया है कि ये स्थल सामान्य वार्षिकी बाढ़ के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकार के जलप्लावन से भी प्रभावित हुए। प्रसिद्ध भारतीय भूगर्भ–शास्त्री एम0 आर0 साहनी ने काफी साल पहले यह धारणा व्यक्त की थी कि सिंधु सभ्यता के अंत का मुख्य कारण विशाल पैमाने पर, बाढ़ से भिन्न, जलप्लावन था। यह धारणा उन्होंने 1940 में किये सर्वेक्षण के आधार पर व्यक्त की थी, क्योंकि उन्हें सिंध प्रदेश के हैदराबाद नामक स्थान से लगभग 40 किमी दक्षिण में सिंधु नदी की सतह से साठ फुट की ऊंचाई पर कछारी भूमि मिली, जिसमें सामान्य जल में रहने वाले घोंघों के शंख मिले थे। उस समय यह मत विशेष चर्चा का विषय नहीं बना था। लेकिन अब हाल की खोजों से इस मत को काफी बल मिला है। अमेरिका के जल वैज्ञानिक आर0 एन0 राइक्स ने मोहेंजोदड़ो में भूगर्भ वेधन कर उससे प्राप्त सामग्री का अध्ययन किया। साथ ही उन्होंने अन्य स्थानों का भी परीक्षण कर यह निष्कर्ष निकाला कि अरब सागर के उत्तरी छोर पर, सिंधु सभ्यता के काल में विवर्तनिक हलचल के कारण कुछ स्तर ऊपर उठता गया और नदियों के मुहाने पर नदी के प्रवाह की दिशा के विपरीत उससे समकोण बनाते हुए विशाल मात्रा में रेत जमा हो गई। मोहेंजोदड़ो से लगभग 140 किमी दूर स्थित सेहवान मुख्य रूप से इन विप्लवों का शिकार हुआ और इसमें हुये विर्वतन का मोहेंजोदड़ो तक प्रभाव पड़ा। अब सिंधु नदी का पानी समुद्र में गिरने के बजाय रुकता

गया और इससे एक झील सी बन गयी। पानी तो फिर भी इस उठे क्षेत्र से रिस कर निकल जाता रहा होगा पर कीचड़ ओर दलदल बढ़ता गया होगा। ऐसा अनुमान किया गया है कि ऐसी स्थिति एक बार से अधिक आयी होगी। लोगों को भवनों का पुनर्निर्माण ओर जीर्णोद्धार करने की आवश्यकता पड़ी। इस जलप्लावन से यातायात में बड़ी बाधा पंहुची होगी। मोहेंजोदड़ो ओर हड़प्पा के नगर व्यापार के केन्द्र थे। दलदल के जमाव का उसके देशीय और अन्तर्देशीय व्यापार पर दुष्प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और इससे लोगों का आत्मबल भी गिर गया होगा। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के उत्तर में स्थित कुछ अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण सिंधु सभ्यता के स्थल या तो इससे कम प्रभावित हुए थे या बचे रह गये थे।

यह मत अपेक्षाकृत सनसनीपूर्ण होने के कारण और विषय के विशेषज्ञों द्वारा किये सर्वेक्षण पर आधारित होने के कारण अच्छा खासा चर्चा का विषय बना। लेकिन जितने प्रभावपूर्ण और नाटकीय ढंग से इसका प्रचार हुआ था उतने ही तर्कपूर्ण ढंग से इसका खंडन भी हुआ है। इस मत के खंडन के सिलसिले में लैम्ब्रिक का नाम मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने इस तरह की झील के निर्माण के सम्बन्ध में कुछ तकनीकी शंकाएं उठाई हैं। उनका कहना है कि सिंधु की निचली बाढ़ प्रभावित भूमि की बनावट ऐसी है कि उसका निर्माण सामान्य परिस्थितियों में ही हुआ लगता है। नदी हजारों साल पहले से जो मार्ग अपनाये हुए हैं उन्हें आसानी से पहचाना जा सकता है, यहां तक कि नदी की कछार भूमि में प्रत्येक वर्ष का अलग जमाव भी पहचाना जा सकता है, यद्यपि कभी–कभी नदी ने अपने ही बनाये कछार को काटा भी है। राइक्स का मत है कि उस काल में समुद्र आमरी के बहुत निकट था। लेकिन सर्वेक्षण से उसके दक्षिण में भी प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के अवशेष मिल चुके हैं, अतः उनका यह मत पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता। विवर्तनिक प्रक्रिया से बने बांध के चिह्नों का आज बिल्कुल भी न मिलना इसकी सत्यता में संदेह उत्पन्न करता है। फिर इस झील के पानी और उसके कीचड़ से बने दलदल के बावजूद लोग नगर में कैसे रह सकते थे, विशेषतः तब जबकि भोज्य सामग्री प्राप्त करना दुष्कर हो गया होता और यातायात ठप्प होने से अन्यत्र से संपर्क टूट गया होता। अगर वे जीवट होते तो सामूहिक प्रयास से बांध तोड़ कर इस समस्या से मुक्ति पा जाते, अन्यथा स्थल छोड़ अन्यत्र चला जाना ही एक मात्र चारा उनके पास था। निश्चय ही इस मत के सर्वमान्य ही नहीं बहुमान्य रूप में भी स्वीकृत होने में संदेह है। लैम्ब्रिक का कथन है कि मोहेंजोदड़ो में ऊपरी सतह पर जो गाद मिलती है वह कच्ची ईंटों, जिनका प्रयोग विभिन्न निर्माण कार्यों में पर्याप्त रूप से हुआ था, के घुलने के कारण हुई। हवा से भी मिट्टी उड़कर आयी होगी और जम गयी होगी। उनका मत है कि जब कभी नदी मार्ग बदल कर मोहेंजोदड़ो से दूर हो गई तो लोग नगर छोड़कर नदी के बदले मार्ग के निकट अल्पकाल के लिए अस्थायी आवास बनाकर रहने लगे और फिर उपयुक्त

परिस्थितियों के होने पर वापस लौट गये होंगे। लेकिन इस अल्पसमय में नगर की नालियां मिट्टी से भर कर बंद हो गयीं, सड़के दब गयीं, कई भवन उजड़ गये और पहाड़ी इलाके से कुछ लुटेरे आकर सामान लूट कर ले गये। नगर में पुनः लोटे लोगों ने नवनिर्माण पुरानी नीवों के ऊपर ही किया और इससे नगर की सतह ऊपर होती गयी। कुछ अन्तराल के बाद ऐसी परिस्थितियां पुनः आती गयीं। अगर यह मान भी लिया जाय कि मोहेंजोदड़ो और चन्हुदड़ो का पतन जलप्लावन के कारण हुआ तो यह बात इस सभ्यता के अन्य स्थलों के बारे में भी लागू नहीं हो सकती।

बाहरी आक्रमण का मत

अनेक महान् संस्कृतियों के अंत का कारण बाहरी आक्रमण भी रहा है। टॉइनबी का भी मत है कि जब सभ्यता में संपन्नता आती है, और जब आसानी से लोगों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है तो वे आरामतलब और विलासी हो जाते हैं। उनके पौरुष में कमी आ जाती है। उनमें नये सृजनात्मक कार्य करने का उत्साह क्षीण हो जाता है और वे पुरानी लीक पर ही चलते रहते हैं। वह वर्ग जो संस्कृति के विकास के समय जनता को कुशल नेतृत्व देते रहे थे, अब नेतृत्व के गुणों से रहित हो जाते हैं फलतः जनता की श्रद्धा उन पर कम हो जाती है, ओर जनता के अनुशासित सहयोग के बिना किसी भी शक्ति के लिए अधिक अवधि तक महान् समस्याओं का समाधान करना संभव नहीं होता। दूसरी ओर लूटेरों और अन्य शत्रुओं की आंखें इन सभ्यताओं की सम्पन्नता को हथियाने में लगी रहती हैं। और, जब वे इनकी शक्ति क्षीण देखते हैं तो आक्रमण कर देते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार शायद यही बात हड़प्पा सभ्यता के संबंध में भी कुछ हद तक सत्य हो, और ह्रासोन्मुखी इस सभ्यता को बाहरी आक्रमण से अत्यन्त हानि पहुंची हो। जो विद्वान् हड़प्पा सभ्यता के अंत के संदर्भ में आक्रमण की बात करते हैं, वे इस संदर्भ में बलूचिस्तान के तीन स्थलों –रानाघुंडई (तृतीय चरण की समाप्ति पर), नाल (झोब संस्कृति के आवास) और डाबरकोट (ऊपरी स्तर)– पर सिंधु सभ्यता के अंतिम काल में अग्निकांड के साक्ष्य की चर्चा करते हैं और इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ये उस समय कुछ आक्रमणकारियों के सक्रिय होने और लूटपाट, तहस–नहस करने के साक्ष्य लगते हैं। इस संदर्भ में इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि मोहेंजोदड़ो में जो आभूषण निधियां खुदाई में मिली हैं उनसे ऐसा लगता है कि आक्रमणकारियों से भयभीत होकर लोगों ने अपने निवास स्थान त्यागने से पूर्व आभूषणों को सुरक्षा की दृष्टि से भूमि में गाड़ दिया ताकि भविष्य में लौटकर उन्हें प्राप्त कर सकें। लेकिन दूसरे विद्वानों का यह कहना है कि उस समय अगणित आवासित स्थल थे उनमें से केवल चंद स्थलों पर छोटे–छोटे अग्निकाण्ड से सिंधु सभ्यता को आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट होने का साक्ष्य मानना ठीक नहीं। राइक्स के मतानुसार भयानक अग्निकांड भूकम्प के कारण भी हो सकता था। भूकम्प से गिरे ऊपर मंजिल की आग भयानक रूप से फैलकर भीषण

अग्निकांड में परिवर्तित हो सकती थी।

जो विद्वान् आक्रमणकारियों को इस सभ्यता के विनाश के लिए उत्तरदायी मानते हैं वे भी आक्रमणकारियों की पहिचान के बारे में एकमत नहीं हैं। कई विद्वानों की धारणा है कि सिंधु सभ्यता अनार्य सभ्यता थी। गार्डन चाइल्ड ने 1934 में इस सभ्यता के अंत के लिए आर्यो के उस पर हावी होने की संभावना व्यक्त की। व्हीलर ने भी 1946 में इसी तरह का मत व्यक्त किया। उनके अनुसार लगभग द्वितीय सहस्राब्दी ई. पू. के मध्य तक सिंधु संस्कृति विद्यमान थी, यद्यपि वह पतनोन्मुखी थी। लगभग इसी समय आर्य लोग आक्रान्ता के रूप में अपनी विजय वाहिनी के साथ भारत में आये। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि एशिया माइनर के बोगाजकोई नामक स्थान में लगभग चौदहवीं शताब्दी ईसा पूर्व के एक लेख में इन्द्र, मित्र, वरुण और नासत्य (द्वय) का उल्लेख है जो उस समय आर्यो के उस क्षेत्र में होने के द्योतक हैं। एक दूसरे लेख में एकवर्तन त्रिवर्तन, पञ्चवर्तन आदि शुद्ध संस्कृत के शब्द हैं। इन्द्र, मित्र आदि देवताओं के उपासक उस समय बोगाजकोई में विद्यमान थे। एक मत के अनुसार यहीं से आर्य भारत में आये। दूसरे मत के अनुसार वे भारत से उधर गये। बलूचिस्तान के मुगल–घुण्डई नामक स्थान में तिपाया बर्तन, घोड़े की घंटियां, छल्ले और चूड़ियां मिली हैं, जिनकी तुलनां मध्य ईरान में सियाल्क कीं लगभग 1000 ई. पू. की तिथिवाली वस्तुओं से की गयी है। फोर्ट मुनरो की तलवार की तिथि कुछ विद्वानों के द्वारा लगभग 1200 ई. पू. आंकी गयी है। कुर्रम की घाटी में प्राप्त छेददार कुल्हाड़ी का मूल ईरान ओर काकेशश में माना गया। व्हीलर के अनुसार ये सब पश्चिम की ओर से लाये गये थे और आर्य भी भारत में पश्चिम की ओर से ही आये। व्हीलर के अनुसार ऋग्वेद की रचना द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य में हुई। इसके विषय में कुछ अन्य विद्वान् मैक्समूलर के उस मत से प्रभावित हैं जिसके अनुसार ऋग्वेद की रचना की तिथि 1200 ई. पू. है। यह ध्यान देने योग्य है कि मैक्समूलर सूत्र काल को छठी शती ई. पू. में मानकर उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रंथों और ऋग्वेदों से इतर वेदों के लिए अनुमानित तिथि देकर इस निष्कर्ष पर पहुंचे। कुछ विद्वान् तो ऋग्वेद् को चतुर्थ सहस्राब्दी ई. पू. में रखते हैं। ऋग्वेद में दुर्ग रूप में सुरक्षित नगरों का उल्लेख है जिन्हें कुछ विद्वानों के अनुसार आर्य विजेताओं ने धराशायी किया था। आर्य इन्द्र देवता से इन शत्रुओं के दुर्गों को नष्ट करने की प्रार्थना करते हैं और इन्द्र को इनका विजेता (पुरंदर) कहा गया है। इन नगरों के लिए 'पुर' शब्द का इस्तेमाल किया गया है जिनका अर्थ दुर्ग भी होता है। ऋग्वेद में एक पुर को विस्तृत और दूसरे को चौड़ा कहा गया है। कहीं–कहीं दुर्गों को, प्रतीकात्मक रूप में, धातु का कहा गया है, और कहीं शारदी (शरद ऋतु के)। कुछ संदर्भों में पत्थर के (अश्ममयी) और कुछ में कच्ची ईंट (?) (आमा) के बने दुर्ग उल्लिखित हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार इन पुरों की पहिचान हड़प्पा एवं मोहेंजोदड़ो के दुर्गों से की जानी चाहिए। व्हीलर के अनुसार सिंधु संस्कृति

के स्थलों के अतिरिक्त दुर्ग व्यापक पैमाने पर किसी अन्य प्राचीन भारतीय संस्कृति के संदर्भ में नहीं मिलते; विकसित सिंधु सभ्यता के पूर्व इसके अत्यल्प उदाहरण हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि ये दुर्ग सिंधु सभ्यता के बाद के रहे होंगे, जिन्हें अभी पुरातत्त्ववेत्ता ढूंढ़ नहीं पाये तो हमें कल्पना करनी होगी कि सिंधु सभ्यता के अंत और आर्यों के आगमन (उन विद्वानों के अनुसार आर्य बाहर से आये थे) के बीच में अल्प काल में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण सभ्यता का उदय हुआ जिसमें काफी मजबूत दुर्ग बनाये गये और जिसके धारकों को आर्यों ने विजय किया। लेकिन इस संदर्भ में यह उल्लेख भी समीचीन होगा कि कुछ लोग सिंधु सभ्यता को ही आर्यों की संस्कृति मानते हैं। जो विद्वान कोटदीजी और कालीबंगां में सिंधु सभ्यता के पूर्व की संस्कृति को सिंधु सभ्यता से भिन्न मानते हैं वे उसके संदर्भ में किलेबन्दी का साक्ष्य मिलना उनके पक्ष में एक और तर्क प्रस्तुत करता है। सांकलिया का कथन है, अब केवल आर्यों के ही देवता को 'पुरन्दर' (पुरों का भेत्ता) संज्ञा देना ठीक नहीं क्योंकि स्वयं सिंधु सभ्यता के लोगों द्वारा (जिन्हें वह आर्यो से भिन्न मानते हैं) पूर्व संस्कृति के दुर्गों का भेदन किये जाने की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता।

व्हीलर मोहेंजोदड़ो में सिंधु सभ्यता के विनाश के लिए आर्य विजेताओं को उत्तरदायी होने के साक्ष्य के तौर पर मोहेंजोदड़ो के अंतिम स्तर से प्राप्त स्त्री, पुरुष एवं बालकों के कंकालों, का जिसमें कुछ पर पैने शस्त्र के घाव के निशान हैं और जो उनके अनुसार संभवतः सामूहिक रूप से मौत के घाट उतारे गये थे, का संदर्भ देते हैं। ऐसा लगता है कि जीवन–रक्षार्थ भागते समय, कोई जीने पर चढ़ते समय कोई सड़क पर ही और कोई मकान के भीतर ही मार डाले गये। मृतकों के शव बिना किसी उचित शवोत्सर्ग के पड़े रह गये, मानों उनके निकट संबंधी भी नहीं रहे हों जो कम से कम उनका अंतिम संस्कार तो करते। उनके मतानुसार ऐसी संभावना है कि लगभग द्वितीय सहस्राब्दी ई. पू. के मध्य से कुछ पूर्व भारत में आर्यों के आक्रमण ने हड़प्पा संस्कृति का विनाश किया। उन बर्बर आक्रमणकारियों का नगर जीवन से कोई वास्ता ही नहीं था, वे तो नये प्रदेश प्राप्त करने और लूट–पाट करने में ही रुचि रखते थे। मोहेंजोदड़ो में कुल अड़तालीस नर–कंकाल मिले हैं। एक अलग मिला है और बाकी समूहों में। मार्शल के निर्देशन में जो उत्खनन हुए थे, वे पूर्णतया प्रतों के आधार पर नहीं किये गये थे अतः इन नरकंकालों का ठीक–ठीक काल क्रम निर्धारण कठिन है। लेकिन व्हीलर ने कहा कि कम से कम तीन समूह (I)-(III) ऐसे हैं जो निश्चित रूप से समकालीन हैं और अंतिम चरण के हैं। (I) 'डी के' क्षेत्र में एक सार्वजनिक कुएं वाले कमरे में चार कंकाल मिले हैं। इस कुएं में जाने के लिए जो सीढ़ियां हैं उसमें दो शव पड़े मिले थे जिससे ऐसा लगता है कि भागने का भरसक प्रयास करते हुए मारे गये हों। दो कंकाल समीप ही थे। मकाइ के विवरण के अनुसार ये अंतिम प्रकाल के हैं और निश्चित रूप से हत्या के शिकार हुए थे। (II) 'एच आर' क्षेत्र में घर नं0

V में तेरह कंकाल मिले जो वयस्क पुरुष, स्त्री और बच्चों के हैं, जिनमें से कुछ के शरीर पर आभूषण भी पाये गये हैं। इनमें से कुछ पर तलवार जैसे पैने शस्त्र से घाव किये जाने के निशान हैं जो अनुमानतः उनकी मृत्यु के कारण बने। (III) डेल्स ने 'एच0 आर0' क्षेत्र के उत्खनन में 1964 में 5 नरकंकाल पाये जो अंतिम चरण के दीवारों के मध्य बिना उपयुक्त रूप से दफनाये पड़े थे; अनुमानतः ये शव उन लोगों के हैं जो किसी भयानक विपत्ति के शिकार हुए थे। (IV) 'वी. एस.' क्षेत्र में छह नरकंकाल (जिनमें से एक बच्चे का है) बिखरे पड़े मिले। इनके विषय में विस्तृत जानकारी का अभाव है। (V) 'एच आर' क्षेत्र में एक कंकाल मिला। (VI) 'डी के' क्षेत्र में नौ कंकाल, जिनमें पांच बच्चों के थे, अस्त–व्यस्त रूप में पड़े मिले। इस समूह के साथ दो हाथी दांत मिले। मकाइ का मत है कि इनमें से कुछ हाथी दांत का कार्य करते थे जो आक्रमण के समय हाथीदांत लेकर भागना चाहते थे, पर मार डाले गये। उनका यह भी कथन हे कि मृत्यु के बाद इन्हें जल्दी में ढक दिया गया। कंकालों में एकमात्र यही समूह है जिसमें शवों को ढकने का प्रयास किया गया था अन्य तो खुले ही छोड़ दिये गये थे। व्हीलर का अनुमान है कि इन कंकालों का नगर के बीच में यों ही पड़े रहना इस बात का द्योतक है कि इन हत्याओं के बाद नगर में बस्ती नहीं रही। गढ़ी वाले टीले में इस तरह के कंकालों का न मिलना इस बात का द्योतक है कि उसकी महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण आक्रांता उसमें कुछ समय तक रहे। वहां पर विजेताओं ने मारे गये लोगों के शवों को हटा दिया था। उपर्युक्त शवों का पूरा–पूरा कंकाल मिलना इस बात का द्योतक है कि पशु–पक्षियों ने इन्हें नोचा नहीं। व्हीलर का मत है कि संभवतः आक्रांताओं द्वारा नगर में यत्र–तत्र छिटपुट आग जलाते रहने के कारण ये जानवर शायद इन शवों तक नहीं पहुंच पाये। आर्य आक्रमण के प्रबल समर्थक व्हीलर ने मोहेंजोदड़ो के पतन के विषय में लिखा है– ह्रास दीर्घीकृत और क्रमिक रहा और अंत विध्वंसात्मक (decline was long drawn out and progressive, and the final fall catastrophic)।

कुछ विद्वानों का मत है कि शायद प्लेग जैसी बीमारी फैलने से लोग नगर छोड़ कर कुछ समय के लिए चले गये लेकिन कुछ असमर्थ लोग नगर में ही रह गये। वे कंकाल जिन पर शस्त्रों के प्रहार के निशान नहीं हैं; ऐसे ही असमर्थ बीमार लोगों के हो सकते हैं। डेल्स भी आक्रमणवाले मत में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार हजारों लोगों की बस्ती में थोड़े से लोगों का आकस्मिक आपत्ति से मृत्यु को प्राप्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। वे इस बात की संभावना मानते हैं कि ये बाढ़ की विभीषका के शिकार हो सकते थे। अन्यथा यदि वे आक्रमण के शिकार हुये होते तो खुदाई के दौरान क्षतिग्रस्त दुर्ग, विशाल संख्या में बाणाग्र, कवच, ध्वस्त रथों के अवशेष ओर दोनों ओर के योद्धाओं के पर्याप्त संख्या में शव मिले होते। कहीं भी इस बात का साक्ष्य नहीं दिखाई देता कि विशाल पैमाने पर आक्रमण हुआ था। वे तो इन

सभी नरकंकालों को एक ही काल का मानने में भी संदेह व्यक्त करते हैं। स्वयं मार्शल और हारग्रीब्ज के विवरण, जिनमें परस्पर कुछ भेद भी हैं, इनमें से कुछ कंकालों के पहले और कुछ के बाद के काल के होने की संभावना व्यक्त करते हैं। अस्त्रों के घाव तो बहुत थोड़े से ही कंकालों पर पाये गये हैं और कुछ तो ऐसे लगते हैं कि उन्हें, सरसरी तौर पर ही सही, दफनाया गया था। एक भी उदाहरण ऐसा नहीं जिसमें कंकाल के साथ कवच मिला हो। 'डी के' क्षेत्र के 'जी' भाग में दो कंकाल सीढ़ी के पास इस तरह पड़े मिले जिनसे लगता है कि किसी विपत्ति के कारण वे भाग कर जान बचाने का प्रयास कर रहे थे परंतु सीढ़ी के पास ही पीछा करने वालों द्वारा दबोच दिये गये थे। लेकिन इस छिट–पुट घटना को आर्यों के आक्रमण से जोड़ना डेल्स के अनुसार नितांत अनुपयुक्त है। आंतरिक विद्रोह को दबाने के फलस्वरुप या दो गिरोहों के बीच मुठभेड़ से भी इस तरह का नरसंहार संभव है। मार्शल ने इस नरसंहार के लिये सिंधु के पश्चिम में पर्वतीय लुटेरों को उत्तरदायी माना था जो समय–समय पर इस ह्रासोन्मुखी सभ्यता के लोगों पर आक्रमण कर उन्हें लूटते रहते थे। आर्यों का भारत पर आक्रमण उनके अनुसार दो शताब्दियों बाद हुआ।

हड़प्पा में सिंधु सभ्यता के अंत के बारे में व्हीलर ने कुछ मोहेंजोदड़ो की तरह की धारण व्यक्त की है। इस संबंध में यह भी सुझाव दिया गया है कि हड़प्पा की पहचान ऋग्वेद में उल्लिखित हरियूपिया से की जानी चाहिए, जहां पर संभवतः आर्यों ने अनार्यों पर विजय पायी थी। इस संदर्भ में व्हीलर ऋग्वेद के साक्ष्य का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार बृचीवन्तों, जिनका उल्लेख इंद्र के शत्रुओं के रूप में हुआ है (और इसलिए जिसे अनार्य मान सकते हैं), को अभ्यावर्तिन चयमान ने पराजित किया। व्हीलर ने आर्यों का तादात्म्य कब्रिस्तान 'एच' संस्कृति के धारकों से किया था। किंतु ब्रजवासी लाल ने अब तक तर्कों से स्पष्ट किया कि स्तर विज्ञान के साक्ष्य के आधार पर कब्रिस्तान 'एच' सिंधु संस्कृति के कब्रिस्तान 'आर–37' के बीच काल–व्यवधान की द्योतक एक सांस्कृतिक सामग्री से विहीन स्तर है (विस्तार के लिये देखिए परिशिष्ट 9) तो व्हीलर ने भी अपने पूर्व मत पर अधिक बल नहीं दिया। साथ ही अब अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि कब्रिस्तान 'एच' संस्कृति के लोग बाहर से आयी नयी संस्कृति नहीं बल्कि सिंधु सभ्यता का ही परिवर्तित रूप है। मुगल को सर्वेक्षण के दौरान चोलिस्तान के लगभग 50 सिंधु सभ्यता के स्थलों के अंतिम चरण में कब्रिस्तान एच प्रकार के भाण्ड मिले हैं और इस तरह के बर्तन उत्तरी पाकिस्तान के अनेक स्थलों में क्षेत्रीय भांडों के साथ मिले हैं। अपनी पुस्तक *'Early Indus Civilisation'* में मकाइ ने लिखा है कि मोहेंजोदड़ो का अंत 17वीं शती ईसवी पूर्व में हुआ, और यह ध्यान देने योग्य बात है कि उनकी यह धारणा विकसित सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण के लिए कार्बन–14 विधि से प्राप्त तिथियों के साक्ष्य के बहुत निकट है। उनका यह कहना है कि इसी समय बेबीलोनिया पर ह्यक्सोस (Hyksos) लोगों का आक्रमण हुआ और

ईरान में इसी समय प्रथम बार इण्डो–ईरानी (आर्य) लोगों ने पदार्पण किया। मकाइ भी बाहरी आक्रमण को काफी हद तक मोहेंजोदड़ो के पतन के लिए उत्तरदायी समझते हैं। उनके अनुसार मोहेंजोदड़ो में धातुओं के उपकरणों (बर्तन इत्यादि) के जो संचय मिले हैं वे इस बात के द्योतक हैं कि आक्रमण की आशंका से लोग इन्हें गाड़ कर अन्यत्र चले गये और फिर दुर्भाग्य से वहां पर लौट न सके।

ब्रजवासी लाल ने स्पष्ट किया है कि मोहेंजोदड़ो के नरकंकाल एक ही परत में नहीं मिले। उन्होंने यह भी बताया कि बहुत थोड़े ही कंकालों पर शस्त्रों के घाव हैं और इससे भी महत्त्वपूर्ण है कि कुछ पर जो घाव लगे थे वे भर गये हैं अतः ये घाव मृत्यु से बहुत पहले लगे थे। वे यह भी बताते हैं कि यदि पतन आक्रमण के कारण हुआ होता तो आक्रमणकारियों की संस्कृति के उपकरण भी मिलते। जो ऊपर की सतह पर झूकड़ संस्कृति के अवशेष मिले हैं वे, जैसे मुगल द्वारा उत्खनन से स्पष्ट हैं, किसी नई बाहरी संस्कृति के न होकर सिंधु सभ्यता का ही परिवर्तित रूप है। लाल ने भी विवेचन के पश्चात निष्कर्ष निकाला कि जिसे झूकड़ संस्कृति कहा गया था सिंधु सभ्यता के ही किंचित रूप में परिवर्तित अवशेष हैं, नयी संस्कृति के नहीं।

मोहेंजोदड़ो से 130 किमी0 की दूरी पर चन्हुदड़ो में भी हड़प्पा संस्कृति के अंत के लिए कुछ विद्वानों ने आक्रमणकारियों को उत्तरदायी बतलाया है। लेकिन इसके भी निश्चित साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं, और दूसरी ओर इस बात के साक्ष्य हैं कि अंतिम वरण में यह स्थल भयानक बाढ़ से ग्रसित हुआ था। ऊपरी स्थल के उपकरणों वाली संस्कृतियों को झूकड़ संस्कृति का नाम दिया गया और माना गया कि इस संस्कृति के लोग इस सभ्यता के विनाश के लिए उत्तरदायी थे। इन ऊपरी स्तरों पर उपलब्ध सामग्री सिंधु सभ्यता की तुलना में निम्नकोटि की है। अब नई हुई खोजों और उत्खननों से यह संस्कृति विकसित सिंधु सभ्यता का ही ह्रासोन्मुख चरण है। इसके बाद झांगर संस्कृति के लोगों ने कुछ अंतर के बाद चन्हुदड़ो में बस्ती बसायी।

विभिन्न स्थलों से ह्रास सम्बन्धी साक्ष्य

डेल्स मीडो और केन्योर द्वारा हड़प्पा में किये उत्खनन से सिंधु संस्कृति के पांच काल मिले। 1–2 प्राग् हड़प्पा संस्कृति के हैं। द्वितीय काल में सिंधु सभ्यता के कुछ तत्त्व प्रारंभ हो जाते हैं। तृतीय काल विकसित सिंधु सभ्यता का काल है। चतुर्थ काल में सिंधु सभ्यता के साथ कब्रिस्तान, एच प्रकार के भाण्ड मिले हैं, और पंचम काल में 'कब्रिस्तान एच' प्रकार के भाण्ड मिले। उनके अनुसार यह अंतिम चरण सिंधु सभ्यता की ही निरंतरता का द्योतक है, नयी संस्कृति का नहीं। पंजाब और हरियाणा में कालीबंगां प्रकार के और बाड़ा प्रकार के भाण्ड मिले फिर विकसित सिंधु सभ्यता के और फिर विकसित सभ्यता के पश्चात् के उपकरण मिलते हैं जिसमें अल्पमात्रा में कब्रिस्तान 'एच' प्रकार की सामग्री मिलती है। के0के0 भान के सर्वेक्षण के अनुसार गुजरात में विकसित सिंधु सभ्यता के 20 स्थल, परवर्ती सिंधु सभ्यता के

प्रारंभिक चरण के 152 तथा परवर्ती सभ्यता के अंतिम चरण के 79 स्थल ज्ञात हैं। विकसित सभ्यता के 20 स्थलों में से 14 कच्छ में हैं किंतु वहां पर परवर्ती सिंधु के प्रारंभिक चरण के केवल 7 और परवर्ती सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण के केवल दो स्थल हैं। इस क्षेत्र में संस्कृति के ह्रास का कारण इसका क्रमशः रेतीला और फलतः वस्ती के अनुपयुक्त होना है। रेतीलेपन के विस्तार के कारण समुद्री यात्रा कठिन हो गयी, समुद्री व्यापार समाप्त हो गया और हड़प्पा मोहेंजोदड़ो जैसे नगरों से संपर्क समाप्त हो गया।

नदियां और प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता इस सभ्यता के विकास में सहायक रहे। जब नदियों में अचानक बाढ़ आयी या किन्हीं अन्य कारणों से संसाधन में कमी आयी या समाप्त हो गये तो सभ्यता के पतन का मार्ग प्रशस्त हुआ। विदेशों से व्यापार इस सभ्यता के विकास और समृद्धि के लिये मुख्य रूप से उत्तरदायी था। इसमें ह्रास होने के कारण भी यह पतन की ओर अग्रसर हुआ। समुद्र के जल–तल में कमी आयी फलस्वरूप समुद्र तट पर बसे नगर उससे बहुत दूर हो गये और समुद्री व्यापार कठिन हो गया।

मोहेंजोदड़ो और चन्हुदड़ो में जिसे झूकड़ संस्कृति के रूप में पहचाना गया था उसे अब अधिकांश विद्वान् सिंधु सभ्यता का ही अवनत रूप मानने लगे हैं। सौराष्ट्र और नर्मदा के समीप की बस्तियों का साक्ष्य संस्कृति के ह्रास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं। लोथल, रंगपुर आदि से प्राप्त अवशेषों से निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि वहां ह्रासोन्मुखी संस्कृति शनैः शनैः कुछ परिवर्तित होकर पर्याप्त काल तक जीवित रही। यहां चमकदार लाल रंग के मृद्भाण्ड काफी संख्या में बनने लगे जिन पर चित्रण के कुछ अभिप्राय सिंधु सभ्यता के बर्तनों पर अंकित अभिप्रायों से भिन्न थे। कटोरों का स्टड पहले की अपेक्षा लंबा हो गया। साधार तश्तरियों का दण्ड छोटा हो गया। रोहड़ी से चर्ट मिलना बंद हो गया और उसके बदले गोमेद और कैल्सीडानी के फलक बनने लगे। सुरकोटड़ा में एक सिंधु सभ्यता के तीन चरणों में – पहले से दूसरे और दूसरे से तीसरे में – ह्रास और परिवर्तन दिखता है। किंतु हड़प्पीय तत्त्व निरंतर विद्यमान रहे। दूसरे चरण में लाल भाण्ड पर्याप्त संख्या में बने और तीसरे चरण में सफेद रंग में रंगे काले–लाल भाण्ड काफी संख्या में मिले। पक्की ईंटों के स्थान पर कच्ची ईंटों का प्रयोग हुआ। अब चकमक पत्थर (फ्लिंट) की जगह जैस्पर के फलक बनने लगे। इन स्थलों पर अंतिम चरण में बस्ती एक छोटे क्षेत्र तक सीमित रही और उसमें स्वच्छता का प्रबंध नगण्य था। लोथल के अंतिम चरण में गोदीबाड़ा और कोष्ठागार दोनों का ही उपयोग समाप्त हो गया था और यहां से लोग रंगपुर पलायन किये। धौलावीरा में तृतीय, चतुर्थ और पंचम चरण विकसित सिंधु सभ्यता के हैं और छठा तथा सातवां चरण ह्रास का। छठे चरण की मुद्रा पर लेख हैं पर पशु नहीं। विकसित सिंधु सभ्यता के बाद, छिद्रित भाण्ड, मृण्मय 'केक' तथा कुल्हड़ बनने बंद हो गये थे।

उत्तर प्रदेश में आलमगीरपुर, आंबखेड़ी और बड़गांव के अवशेष भी ह्रासोन्मुखी सिंधु सभ्यता के द्योतक हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि गेरुए रंग के मृद्भाण्ड, जो कई स्थानों में मिले हैं, वास्तव में ह्रासोन्मुखी सिंधु सभ्यता के ही मृद्भाण्ड हैं। अतरंजीखेड़ा में इनकी छोटी ग्रामीण बस्ती और तांबें के कुछ उपकरण भी मिले हैं। संभवतः यही लोग ताम्र–निधियों के निर्माता भी थे। देखिये परिशिष्ट "सिंधु सभ्यता के बाद की कुछ उत्तर भारतीय संस्कृतियां"।

परिशिष्ट 1

मेसोपोटामिया, मिस्र और सिंधु की ताम्रपाषाण संस्कृतियां—समानताएं और विशिष्टताएं

सिंधु सभ्यता के निर्माता सुनियोजित नगर—व्यवस्था और सार्वजनिक स्वास्थ्य के प्रति सजग थे। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो जैसे नगरों में भवन निर्माण पक्की ईंटों से किया गया जबकि अधिकांश अन्य स्थलों पर कच्ची ईंटों से। वे विभिन्न पशुओं को पालते, कृषि करते और स्थल और जल—मार्गों द्वारा व्यापार करते थे। वे सोना, चांदी , तांबा, टीन का उपयोग आभूषणों, अस्त्र—शस्त्रों और अन्य उपकरणों के लिए करते थे। उनके बर्तन चाक पर निर्मित थे और कुछ पर विभिन्न अभिप्राय चित्रित थे। वे कांचली मिट्टी, हाथी दांत, विभिन्न प्रकार के कीमती पत्थर, शंख और मिट्टी के आभूषण और अन्य उपकरण बनाते थे। वे मुद्राओं का प्रयोग करते थे, विशिष्ट प्रकार की लिपि में लेख लिखते थे और एक निश्चित तौल पर आधारित बांटों का प्रयोग करते थे। वे मिट्टी के खिलौने बनाते थे। सिंधु सभ्यता ताम्र—पाषाण संस्कृति थी, अर्थात् इसमें पाषाण का प्रयोग तो पाषाण युग से दाय भाग के रूप में मिला था, साथ ही तांबा, कांसा, सोना, चांदी तथा कुछ अन्य धातुओं का प्रयोग आरंभ हो गया था। किंतु इस संस्कृति के लोग लोहे के प्रयोग से अपरिचित थे। उपर्युक्त अधिकांश बातें मिस्र और मेसोपोटामिया की प्राचीन संस्कृतियों पर भी लागू होती हैं। प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण ताम्र—पाषाणयुगीन संस्कृतियों का विकास नदियों की घाटियों में हुआ। नदियों की घाटियों में संस्कृतियों के पनपने के कई कारण थे। नदियां अपने साथ लायी मिट्टी से भूमि को उपजाऊ बनाती हैं और सिंचाई के लिए पर्याप्त मात्रा में जल प्रदान करती हैं। उसके माध्यम से नौकाओं पर आवागमन और व्यापार हो सकता है। जिस तरह मिस्र में नील, मेसोपोटामिया में दजला—फरात नदियों का वहां की संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, उसी प्रकार सिंधु, सरस्वती और उनकी सहायक नदियों ने सिंधु सभ्यता के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

वातावरण और मानवीय अध्यवसाय की भिन्नता के फलस्वरुप विभिन्न संस्कृतियों के विकास में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन ताम्रपाषाण संस्कृतियों के विकास में विभिन्न जाति—प्रजातियों के लोग सहायक थे। उनकी लेखन शैली, उनके देवी देवता, उनकी सामाजिक स्थिति और नैतिक मान्यता में अंतर होना स्वाभाविक था। स्थानीय आवश्यकताओं और सुविधाओं के कारण इन संस्कृतियों का विकास एक—सा न होते हुए भी उनके विचारसूत्र में पर्याप्त समानता पायी जाती है। मिस्र, सुमेरी, क्रीट और सिंधु सभ्यताओं में विचारों की अभिव्यक्ति के लिए लेखन कला अपनायी गयी

ओर उनमें चित्रशैली का पर्याप्त प्रयोग हुआ, किंतु उनके लिपि–चिह्नों में पर्याप्त भिन्नता रही। सिंधु और मिस्र दोनों सभ्यताओं में लोग कताई–बुनाई करते थे। किंतु सिंधु संस्कृति वालों ने वस्त्रों के लिए कपास का प्रयोग किया, जबकि मिस्र में अलसी (फ्लैक्स) को वरीयता दी गयी। इसी तरह मृद्भाण्डों पर चित्रांकन सभी संस्कृतियों में हुआ किंतु चित्रांकन की विधा एवं विषय में पर्याप्त भिन्नता रही।

सिंधु सभ्यता की सुमेरी और मिस्री सभ्यताओं की भांति अपनी विशिष्टता है। शि0 रंगनाथ राव के इस कथन में कुछ सच्चाई दिखती है कि सिंधु सभ्यता के लोगों ने अपनी संस्कृति की विशिष्टता को विदेशी संस्कृति के प्रभाव से बचाया। सुनियोजित नगर व्यवस्था, विशाल सार्वजनिक स्नानागार, और अन्नागार, गोदीबाड़ा, विशिष्ट प्रकार की अभिलिखित मुद्राएं और मृद्भाण्ड तथा उन पर अलंकरण की विधा सिंधु सभ्यता को प्राचीन विश्व संस्कृति के इतिहास में एक अलग स्थान प्रदान करते हैं। सिंधु सभ्यता की मूर्तियां भी अपानी विशिष्टता लिए हैं जो अन्य सभ्यताओं की कृतियों से अलग पहचानी जाती हैं। मिस्र और मेसोपोटामिया में साधारण जनों के भवन तो साधारण कोटि के थे किंतु राजाओं की कब्रें और देवताओं के मंदिर अत्यंत वैभवशाली बनाये गये थे। सिंधु सभ्यता के नगरों के साधारण जनों के भवन मेसोपोटामिया और मिस्र के नागरिकों के भवन की तुलना में विशाल और आरामदेह हैं, लेकिन भव्य कब्रों और विशाल मंदिरों का, जो मिस्र और मेसोपोटामिया के स्थापत्य की विशिष्टता है, सिंधु सभ्यता में नितांत अभाव है। सिंधु तथा मेसोपोटामिया के धार्मिक विश्वासों में कुछ समानता अवश्य दिखाई देती है; किंतु समानता ऊपरी है। सिंधु सभ्यता की विशिष्टता है कि वह परवर्ती भारतीय संस्कृति के कितने ही मुख्य तत्त्व बीज के रूप में लिए हुए हैं। जैसा मार्शल का कहना है, संभवतः कुछ वस्तुओं का आविष्कार सिंधु घाटी में हुआ होगा और कुछ का इतर प्रदेशों में; फिर उन स्थानों से उनका अन्यत्र प्रसार हुआ होगा। यह भी संभव है कि कुछ सभ्यताओं के निर्माताओं के आदि पूर्वज एक ही थे जिनसे उन्होंने दाय के रूप में विचार प्राप्त किये किंतु अपनी सूझबूझ से विभिन्न परिस्थितियों में आवश्यकतानुसार परिवर्तित परिवर्द्धित कर उसे अमली जामा पहनाया।

परिशिष्ट 2

सिंधु सभ्यता से पूर्व की कुछ संस्कृतियां

सिंधु सभ्यता के उदय से पूर्व अफगानिस्तान, बलूचिसतान, हरियाणा, सिंध, पंजाब, गुजरात आदि क्षेत्रों में कुछ संस्कृतियां पनपीं। कुछ संस्कृतियों के वर्गीकरण का मुख्य आधार उनके भाण्डों का आकार–प्रकार तथा चित्रण शैली और अभिप्राय है। विद्वानों ने इन संस्कृतियों से संबंधित सामग्री का अध्ययन कर उनका वर्गीकरण, कालनिर्धारण और सांस्कृतिक महत्त्व दर्शाया है। पिगट ने बलूचिस्तान एवं सिंध की प्राचीन संस्कृतियों को भाण्डों के आधार पर दो वर्गों में बांटा – (1) उत्तरी क्षेत्र जिसमें लाल भाण्ड का प्रयोग है और (2) दक्षिणी क्षेत्र जिसमें पाण्डु रंग के भाण्ड प्राप्त होते हैं। किंतु यह देखा गया हे कि लाल भाण्ड बहुल क्षेत्र में कुछ स्थलों पर पाण्डु भाण्ड मिले हैं, और पाण्डु भाण्ड बहुल क्षेत्र के कुछ स्थलों में लाल भाण्ड मिले हैं

मेहरगढ़ (बलूचिस्तान) में सिंधु सभ्यता से पूर्व की संस्कृतियों का क्रमिक विकास सबसे प्राचीन काल से मिलता है। यहां पर प्रथम काल के प्रथम चरण में मृद्भाण्ड नहीं मिले। इस काल के द्वितीय चरण में खुरदुरे मृद्भाण्ड तीन प्रकार के, गेंहूं, दो प्रकार के जौ, और सिंधु सभ्यता की तरह के 4: 2: 1 अनुपात में बनीं कच्ची ईंटों के मकान बने। इस चरण में शवों को दफनाया गया, और लाजवर्द और फीरोजा के मनके बनाये गये। ये पत्थर इस क्षेत्र में उपलब्ध नहीं अतः अन्यत्र से आयातित किये गये होंगे। प्रथम काल की तिथि सातवीं–छठी सहस्त्राब्दी ई. पू. है। दूसरे काल के तीसरे चरण (पांचवीं सहस्राब्दी का द्वितीय अर्द्ध) में चाक से बने बर्तन और ताम्र उपकरण मिले। सिंचाई से उगायी गयी जौ की किस्म और कपास के बीज मिले। तृतीय काल में संस्कृति का पर्याप्त विकास हुआ। मनके बनाने के लिये बरमा मिला जो सिंधु सभ्यता के इस तरह के उपकरण के समान है। यहां पर अन्नागार मिले जो विकसित काल के हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो अन्नागारों की अपेक्षा बहुत छोटे थे। चतुर्थ काल (3500–3000ई. पू.) में मिट्टी और हड्डी की मुद्रायें बनीं जो सिंधु सभ्यता की मुद्राओं से भिन्न थीं। मृद्भाण्ड पर ग्रैफिटी मिली है जो कुछ विद्वानों के अनुसार, सिंधु लिपि की प्रेरणा स्रोत हो सकती है।

मेहरगढ़ में विकसित सिंधु सभ्यता के काल के अवशेष नहीं मिले। संस्कृति का यह चरण इसके समीपवर्ती स्थल नौशारो से मिला जहां पर प्रथम संस्कृति का प्रारंभ तृतीय सहस्राब्दी ई. पू. से हुआ और इसके ऊपरी स्तरों में सिंधु सभ्यता के कुछ तत्त्व दिखते हैं यथा कतिपय भाण्डों के आकार प्रकार, मत्स्य–शल्क तथा पीपल की पत्ती का भाण्डों पर चित्रण, कच्ची ईंटों के चबूतरे, सेलखड़ी तथा लाजवर्द के मनके और कांसे के दर्पण मिले। द्वितीय काल विकसित सिंधु सभ्यता का काल है। नौशारों के

इस काल की संस्कृति का विवरण हमने विभिन्न संदर्भों में अलग अलग अध्यायों में दिया है।

दक्षिणी अफगानिस्तान में स्थित मुण्डीगाक की सांस्कृतिक सामग्री को उत्खननकर्त्ता कसाल ने छः प्रकालों में बांटा है। प्रथम काल के प्रथम चरण में हाथ से बने गुलाबी भाण्ड प्रयुक्त हुए। द्वितीय चरण में पश्चिमी एशिया की संस्कृति से प्रभावित चाक–निर्मित मृद्भाण्ड प्रचलन में आये और तांबें का उपयोग शुरु हुआ। इस काल के अंतिम चरण में आमरी संस्कृति के संपर्क के साक्ष्य मिलते हैं। द्वितीय काल में संस्कृति का स्वतंत्र विकास अधिक और पश्चिमी एशिया का प्रभाव गौण हो गया। तांबें की सुइयां, रीढ़दार कटार, सेलखड़ी की अलंकृत मोहरें बनने लगीं। तृतीय काल के मृद्भाण्डों तथा अन्य उपकरणों में विविधता है जो विभिन्न संस्कृतियों के प्रभाव की द्योतक है। तांबें की हत्थेदार छेदवाली कुल्हाड़ी और बसूले पाये गये। द्विरंगी भाण्ड (जो आमरी संस्कृति की विशेषता है) और बहुरंगी भाण्ड (जो नाल संस्कृति की विशेषता है) प्रयोग में आये। मुण्डीगाक का यह काल नामज्गा II अ और अनाउ II का समकालीन था। क्वेटा प्रकार के भाण्ड भी मिले। सीस्तान के सहर–ए–सोख्ता I से संपर्क के साक्ष्य मिलते हैं। इस काल की तिथि लगभग 2600 ई. पू. है। चौथे प्रकाल में आवास में विस्तार हुआ। प्रासाद, मंदिर और रक्षा–प्राचीर का निर्माण नागरिक जीवन के विकास के द्योतक हैं। मृद्भाण्डों के कुछ अभिप्राय ईरानी संपर्क के और लोहित (स्कारलेट) भाण्ड पश्चिमी एशिया के प्रभाव के द्योतक हैं। कुल्ली शैली के अनुरूप पशुओं को स्वाभाविक से कहीं अधिक लम्बा दिखाया गया है। लेकिन दोनों में मूलभूत अंतर भी है। कुल्ली के भाण्डों पर पशुओं के साथ वनस्पति भी दिखालाई गई है, लेकिन मुण्डीगाक के पात्रों पर नहीं। मुण्डीगाक से सिंधु सभ्यता की कलाशैली से प्रभावित कुछ मातृदेवी की मूर्तियां, मृद्भाण्ड और पत्थर का पुरुष सिर प्राप्त हुआ है।

दक्षिण–मध्य अफगानिस्तान में स्थित मोरासी घुंडई में दुप्री द्वारा किये उत्खनन में एक विकसित गांव के अवशेष मिले हैं। कच्ची ईंटों की चहारदीवारी के भीतर कुछ निर्माण–कार्य, मृद्भाण्ड, तांबें की नली और अलाबास्टर का प्याला मिला। सीस्तान के सदृश पाण्डु पर काले चित्रणयुक्त धूसर भांड, तकुए, तांबें के टुकड़े, पत्थर की खानेदार मुद्रा, कंधेदार कुदाली और झोव संस्कृति की तरह की मातृदेवी की मूर्तियां मिली। बलूचिस्तान में ईरानी तत्त्वों के प्रसारण में इस स्थल की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

सीस्तान प्राचीन काल में पूर्व और पश्चिम को जोड़ने वाली कड़ी रहा है। यहां हेल्मंद नदी के डेल्टा में तोसी द्वारा सहर–ए–सोख्ता में किये गये उत्खनन से ज्ञात चार प्रकालों वाली सांस्कृतिक सामग्री में प्रारंभ से लेकर अंत तक निरंतरता रही। इन प्रकालों की रेडियो–कार्बन तिथियां क्रमशः 3500–3200; 2660–2400; 2400–2380 तथा 1800–1530 ई. पू. ज्ञात हुई हैं। प्रथम प्रकाल में निर्मित इमारतों के बारे में अल्प

सूचना मिली। द्वितीय प्रकाल में कई कमरों वाले भवन बने। कई कीमती पत्थरों के मनके मिले हैं। बलुए पत्थर और अलाबास्टर के बर्तनों पर मेसोपोटामिया का प्रभाव लगता है। उत्खननों से मृण्मय स्त्री (मातृदेवी), पुरुष और पशु–आकृतियां मिली हैं। बैल की लगभग 200 मृण्मूर्तियों का मिलना उसके धार्मिक महत्त्व का द्योतक लगता है। मृद्भाण्ड और कुछ अन्य उपकरण पश्चिमी एशियायी, ईरानी संस्कृति एवं सिंधु संस्कृति के संपर्क का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

ईरानी मकरान के बामपुर स्थल पर, जिसे पहले स्टाइन ने खोदा था, डिकार्डी के उत्खननों में प्रथम से चतुर्थ काल तक मुख्यतः दूधिया रंग के लेप वाले लाल भाण्ड मिले। तृतीय काल के डिजाइन मुण्डीगाक के चतुर्थ काल से मिलते–जुलते हैं और इस तरह दक्षिणी अफगानिस्तान और बलूच–ईरानी सीमा में सिंधु सभ्यता से थोड़े पहले के चरण में पारस्परिक संबंधों के द्योतक हैं। बामपुर में चतुर्थ काल के पश्चात् दूधिया लेप के स्थान पर लाल लेप वाले नये भाण्ड पाये गये। अलंकरण में कुछ कुल्ली प्रकार के अभिप्राय भी हें, किंतु विशिष्ट कुल्ली प्रकार के गोल आंख का अभाव है।

क्वेटा के आस–पास के टीलों पर 'क्वेटा' भाण्ड मिले हें जो गुलाबीपन लिए सफेद रंग से लेकर हरीतिमा लिए हैं। इनके दूधिया या पाण्डु सतह पर नीलारुण–बभ्रु रंग से अधिकांशतः ज्यामितीय अभिप्राय अंकित मिलते हैं। पशुओं की आकृति वाले चित्रण अत्यल्प हें। इस प्रकार के बर्तनों की तुलना चौथी या तीसरी सहस्राब्दी ई. पू. की ईरानी संस्कृतियों से की गई है।

डिकार्डी के सर्वेक्षण के फलस्वरुप क्वेटा के दक्षिण की ओर सिंधु के मैदान तक कई टीलों में टोगाऊ प्रकार के मृद्भाण्ड मिले हैं। ये चाक से बने हैं। इन पर लाल लेप और पशु–चित्रण है। पशु कभी पूरे दिखाये गये हें और कभी केवल उनका सींग मात्र। कुछ पर चिड़ियां और मानवाकृतियां भी अंकित हैं। कुछ स्थलों पर टोगाऊ प्रकार के भाण्ड नाल और कुल्ली भाण्डों वाली सतहों से नीचे की सतहों में मिले।

क्वेटा घाटी में स्थित दम्ब सदात के उत्खनन में सबसे प्राचीन (प्रथम काल) अवशेषों के साथ केची बेग मृद्भाण्ड मिलने से उसे किले गुलमोहम्मद का समकालीन माना है। इस काल में ईंटों से निर्मित वास्तु के अवशेष मिले। द्वितीय काल में सांस्कृतिक निरंतरता रही और घाटी में विशाल पैमाने पर निर्माण कार्य हुए। तृतीय काल के अवशेष मुंडीगाक III से तुलनीय हैं। इस काल के उपकरणों में खानेदार मोहरें, पशु–मूर्तियां, पाषाण उपकरण, मिट्टी और पत्थर की गोली, कीमती पत्थरों के मनके और तांबा विशेष उल्लेखनीय हैं। भाण्ड–प्रकार रानाघुंडई, सूरजंगल, डाबरकोट इत्यादि से समानता रखते हैं। यहां पर झोब संस्कृति की तरह की मातृदेवी की मृण्मूर्तियां भी मिलीं। भाण्डों पर अंकित कुछ चिह्नों का सिंधु लिपि से साम्य होना महत्त्वपूर्ण है। यहां के निर्माण कार्यों में एक अपेक्षाकृत विशाल चबूतरा उल्लेखनीय है।

क्वेटा से जैकोबाबाद जाने वाले मार्ग पर बलूचिस्तानी मैदान में स्थित पीराक

दंब का पता राइक्स ने 1957 में लगाया। कसाल द्वारा 1968 में किये सीमित उत्खनन से बिना व्यवधान के तीन कालों के साक्ष्य मिले। निचले स्तरों से एक रंगी अलंकरण वाले पांडु भांड, मध्य प्रकाल में द्विरंगी मृद्भांड और तीसरे प्रकाल में काले धूसर और कुछ अन्य प्रकार के भांड के साथ लोहा भी मिला। यह स्थल ताम्रयुग से लौहयुग में प्रवेश के साक्ष्य के लिए महत्त्वपूर्ण है।

बलूचिस्तान के झालावान और लासबेला की सीमा पर बोरली नदी के दोनों ओर संस्कृति के आवास मिले हैं जिन्हें एडिथ साहिर समूह नाम दिया गया है। इस संस्कृति को दो प्रकालों में बांटा गया है। प्रथम चरण में संस्कृति कुल्ली संस्कृति से प्रभावित रही। मुख्य टीले पर 'जिगुरेट' की तरह का निर्माण हुआ था। टीलों पर प्राप्त शिलाखंड मूलतः इमारतों के निर्माण में प्रयुक्त हुए थे। एक शिलाखंड निर्मित कई प्रवेश द्वार वाली विशाल (64.5 मी0 X 13.5 मी0) इमारत और एक वृत्ताकार इमारत महत्त्वपूर्ण लगती है। एक क्षेत्र में 40 से भी अधिक इमारतों का समूह देखा गया है। यहां पर सिस्ट शवाधान के अवशेष भी मिले। द्वितीय चरण में नाल के समान कुछ मृद्भाण्ड और सिंधु सभ्यता के सदृश मृत्पिंड ('केक'), मृण्मय चित्रित कूबड़वाला बैल, मृण्मय चूड़ियां, खिलौना–गाड़ी इत्यादि पाये गये हैं।

मध्य बलूचिस्तान के सुरब क्षेत्र में अंजीरा और स्याह दंब की सामग्री का पांच भागों में वर्गीकरण किया गया है। प्रथम प्रकाल में ईरान की नवाश्मयुगीन सियाल्क की तरह के पाषाण–फलक तथा लाल लेप वाले मृद्भाण्ड मिले। इस काल में अंजीरा में अर्धयायावरों की बस्ती बसी जो किले गुलमोहम्मद II (3500–310 ई. पू.) के सदृश है। द्वितीय काल में शिलाखंडों की नींव वाली कच्ची ईंटों की इमारतें बनी। किले गुलमोहम्मद I-III की भांति के कुछ बर्तन, यथा लाल लेप वाले चमकीले भांड, टोकरी के सांचे पर निर्मित भांड और चमकीले धूसर भांड बने। तृतीय काल के प्रथम चरण में टोकरी के सांचे से बनाए मृद्भाण्ड और टोगाऊ तथा आमरी–केचीबेग प्रकार के बहुरंगी मृद्भाण्ड पाये गये। द्वितीय चरण में पहले के कुछ भांडों का चलन बंद हो गया। एक विशाल मंच का निर्माण हुआ जिसका निश्चित प्रयोजन अज्ञात है। तृतीय चरण में 'जरी' मृद्भाण्ड और नाल संस्कृति के भांड से मिलते–जुलते भांड मिले। आमरी–केचीबेग भांडों के कारण तृतीय काल को किले गुलमोहम्मद के चतुर्थ काल के अंत और दंब सदात I का समकालीन माना गया है। चतुर्थ काल की सामग्री दंब सादात II के सदृश रही। अंजीरा में अपेक्षाकृत अच्छी तरह तराशे पत्थरों से कई इमारतें बनीं। कुछ पर नाल प्रकार के और कुछ पर कुल्ली प्रकार के भांडों का प्रभाव दिखता है और 'अंजीरा' प्रकार के मृद्भाण्ड का सर्वप्रथम ज्ञान हुआ। पेरियानो घुंडई की तरह के आर्द्र और सीमित लेप वाले और रानाघुंडई के तृतीय काल के तृतीय चरण में पाये गये भाण्डों सदृश डिजाइन वाले भांड मिले।

गोमल घाटी से होकर अफगानिस्तान और भारत का प्राचीन काल से संपर्क रहा था। इस घाटी में अहमद हसन दानी द्वारा खोजी गयी कई सिंधु तथा प्राग्

सिंधु सभ्यता कालीन बस्तियों में गुमला (जहां उत्खनन भी हो चुका है) विशेष उल्लेखनीय हैं। गुमला में सांस्कृतिक सामग्री के पांच प्रकाल हैं। प्रथम और द्वितीय में आवासीय निरंतरता रही और इस काल में कृषि, तांबें, कांसे और मृद्भाण्डों का ज्ञान था। रहने के लिए उन्होंने झोपड़ियां बनायी। चर्ट के फलक, और सफेद चित्रित मृद्भाण्डों की परंपरा में चित्रित किनारीदार प्यालों का निर्माण हुआ। गुमला के तीसरे प्रकाल की सामग्री कोटदीजी तथा कालीबंगां के सदृश है। सींगदार देव की आकृति और मातृदेवी की मूर्तियां मिलीं। चौथे प्रकाल में सिंधु सभ्यता का प्रसार हुआ। जिसमें मृत्पिंड (केक), खिलौना गाड़ियों के ढांचें और पहिये, चूड़ियां, बाट, रेखांकित कार्नीलियन का मनका, चकमक ओर चर्ट–फलक उपलब्ध हुए। 'सिंधु प्रकार की मुद्राएं नहीं मिलीं। मकानों की योजना शतरंज के पट की तरह की थी। सिंधु सभ्यता का प्रसार तीसरे प्रकाल की बस्ती के जलाये जाने के बाद हुआ था और स्वयं उनकी बस्ती भी अग्निकांड से नष्ट हुई। कुछ हथगोले मिले जो युद्ध में अस्त्र की तरह प्रयुक्त होते रहे होंगे।

क्वेटा से 3.21 किमी दूरी पर स्थित किले गुलमोहम्मद में फेयरसर्विस ने 1950 में खुदाई कराई। उन्होंने यहां की पुरातात्त्विक सामग्री को दो प्रकालों में वर्गीकृत किया है। प्रथम काल के स्तरों की दो रेडियो कार्बन तिथियां (5568 $\pm$ 30 अर्द्ध जीवन के आधार पर) 3688 ई. पू. तथा 3712 ई. पू. ज्ञात हुई हें। इस प्रकाल की आवासित भूमि पर भेंड़, बकरी और बैल की हड्डियां इन पशुओं के पालतू होने की द्योतक हैं। प्रथम प्रकाल के अंतिम चरण मे कच्ची ईंटों के साक्ष्य मिले हैं। वे कई तरह के पत्थर के फलक बनाते थे। धातु का प्रयोग संभवतः उन्हें ज्ञात न था। कुछ घिसी हुई खंडित शिलाएं मिली हें जिन पर अन्न पीसा गया होगा। हड्डी के कुछ सूजे मिले हें। किले गुलमोहम्मद के दूसरे प्रकाल के अवशेषों में पर्याप्त सांस्कृतिक विकास के साक्ष्य मिलते हैं। इस काल में लाल भाण्ड बनने लगे थे। भाण्डों पर टोकरी की छाप का मिलना उनके टोकरी की सहायता से बनाये जाने का प्रमाण है। मकानों की दीवालें कच्ची ईंटों की थीं। इस काल में धातु प्रयोग के साक्ष्य नहीं हैं। तीसरे प्रकाल की सामग्री के साथ प्रथम बार तांबें के दर्शन होते हैं। हाथ से बने बर्तनों के साथ चाकनिर्मित बर्तन भी बने। भाण्डों पर काले या लाल रंग के चित्रण भी मिलते हैं। पत्थर के फलक तथा हड्डियों के सूजे का प्रयोग पूर्ववत रहा। इस प्रकाल के लोग भी अर्द्ध–घुमक्कड़ ही थे। वहां भोजन बनाने के चूल्हे मिले थे। पशुओं में भेड़, बकरी, गधा, और बैल पालते थे। कुछ हड्डियों की पहिचान कतिपय विद्वान् घोड़े और अन्य गधे की हड्डियों से करते हैं। किले गुलमोहम्मद की इस प्रकाल की सामग्री बलूचिस्तान के रानाघुंडई तथा सूरजंगल से मिलती–जुलती है और उसकी समकालीन लगती है।

उत्तरी बलूचिस्तान में रानाघुंडई टीले (जो पिगट के वर्गीकरण के अनुसार झोब संस्कृति का स्थल है) के सर्वेक्षण से रॉस को पांच प्रकालों के साक्ष्य मिले हैं। इमारतों के अवशेष का न होना इस बात का द्योतक है कि प्रथम काल मे यायावर लोग वहां

रहे। इस काल के संदर्भ में अलंकृत भाण्ड, चकमक पत्थर के फलक, हड्डी के सूजे और बैल, भेंड़, गधे तथा घोड़े की हड्डियां मिलीं। द्वितीय काल में यहां पर नये लोग आये जिनके बर्तन सुन्दर और चाक से बने थे और उन पर कलात्मक शैली में बैल और हिरन (जिनके पैर काफी लम्बे दिखाये गये हैं) पाण्डु या लाल रंग से अंकित हैं। इस संस्कृति की हिसार के प्रथम काल (लगभग 3500 ई. पू.) से कुछ समानता है। द्वितीय काल के बाद यहां पर कुछ समय तक यहां पर बस्ती नहीं रही। भवनों के तीन निर्माण चरण तृतीय काल के दीर्घावधि तक चलते रहने के प्रमाण हैं। तृतीय काल में मृद्भाण्ड सुन्दर बने और द्वितीय काल के भाण्डों से पर्याप्त भिन्न थे। कुछ बर्तनों पर लाल सतह पर काले और लाल दुरंगे अभिप्राय अंकित हुए। बहुरेखीय वर्गों के अभिप्राय का प्रयोग आमरी के पात्रों के अधिक निकट हैं। तृतीय काल के प्रथम चरण की तुलना सूरजंगल से प्राप्त सामग्री से की गई है। तृतीय काल के द्वितीय चरण में सुराही की तरह के बर्तन मिले हें। रानाघुंडई तृतीय काल के तृतीय चरण के बर्तनों की तुलना पेरियानों घुंडई के बर्तनों से की जाती है। लाल लेप पर काले रंग के चित्रण की विधा रही। कुछ पशुओं और मछली का भी चित्रण मिलता हे। झोब संस्कृति के कई स्थलों से नारी (मातृदेवी ?) की रौद्र रूप में मूर्तियां मिली हैं।

झोब संस्कृति का सम्पर्क एक ओर पुरैतिहासिक ईरान और मेसोपोटामिया की संस्कृतियों और दूसरी ओर परवर्ती चरणों में सिंधु सभ्यता के साथ भी रहा। डाबरकोट की बराबर भुजाओं वाले सलीबनुमा अभिप्राय युक्त हरिताभ पत्थर की मुद्रा, एक अन्य स्थल (संभवतः पेरियानो घुंडई) से प्राप्त इसी अभिप्राय वाली मुद्रा, मुगल घुंडई से कार्नीलियन का रंखांकित मनका, पेरियानों घुंडई से लहरदार अलंकरण वाला मिट्टी का कंगन –वे सब सिंधु सभ्यता के संपर्क के द्योतक लगते हैं।

पाण्डु भाण्डों की परम्परा में आमरी तथा नाल के बर्तनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बर्तनों के कुछ ऐसे आकार–प्रकार अथवा चित्रण हैं जो आमरी में हैं पर नाल में नहीं, अथवा नाल में हैं पर आमरी में नहीं। लेकिन कई ऐसे तत्त्व हैं जो दोनों में समान हैं। दोनों ही का भाण्ड निर्माण के लिये पेस्ट अच्छे प्रकार का है और पाण्डु रंग का है। भाण्डों पर दूधिया लेप है। दोनों चाक निर्मित हैं। दोनों पर ही पैनल डिजाइन है। लेकिन नाल मृद्भाण्डों पर पशुओं की आकृतियां, मछली, हिरन और वृषभ का अंकन मिलता हे। आमरी मृद्भाण्डों पर पशुओं के अंकन न के बारबर हैं। ज्यामितीय अलंकरण में दोनों में कुछ समानता और कुछ भेद है। चित्रण के लिए आमरी में लाल और काले रंग का प्रयोग हुआ है लेकिन नाल में इन दोनों के अलावा पीला, नीला और हरा रंग भी प्रयुक्त हुआ है। पीले और नीले रंग का भाण्ड चित्रण के लिए प्रयोग पूरे प्रागैतिहासिक पश्चिमी एशिया में नहीं मिलता।

नाल और मुण्डीगाक के भाण्डों में कुछ समानता है जो दक्षिणी अफगानिस्तान के बलूचिस्तान के क्षेत्र पर प्रभाव का द्योतक हैं। नाल में एक सिंधु सभ्यता प्रकार का छेदवाला बाट तथा दो ताम्र–निधियां उल्लेखनीय हैं। इनके उपकरणों में आर्सेनिक का

अत्यल्प मात्रा में होना सिंधु सभ्यता के ताम्र उपकरणों के लिये प्रयुक्त ताम्र के स्रोत से भिन्न स्रोत का द्योतक हैं। नाल में मिले कब्रिस्तान में पूर्ण तथा आंशिक दोनों प्रकार के शवोत्सर्ग के प्रचलन के साक्ष्य मिले। तीन कब्रों के किनारे कच्ची ईंटे लगी थीं। शवों के साथ विभिन्न उपकरण और पशुओं की हड्डियां मिलीं। एक सेलखड़ी की मुद्रा पर पावों में सर्प दाबे हुए गरुड़ का चित्रण है जो सूसा से प्राप्त लगभग 2400 ई. पू. की और टेलब्राक की मुद्राओं पर अंकित ऐसे अभिप्राय के सदृश है।

1929 में नन्नीगोपाल मजुमदार ने सिंधु में सर्वेक्षणात्मक उत्खनन से प्राप्त सामग्री के आधार पर ही आमरी संस्कृति के कुछ चरण सिंधु सभ्यता से पहले के और कुछ चरण सिंधु सभ्यता के समकालीन बताये थे। बाद में एम0 कसाल द्वारा 1959–61 में कराये उत्खनन से इसकी पुष्टि हुई। यहां हुई खुदाई में पांच प्रकालों के अवशेष मिले हैं, जिनमें से, प्रथम चार ही पुरैतिहासिक हैं। प्रथम काल के प्रथम चरण में अधिकांश बर्तन हाथ सें निर्मित हैं। चाक निर्मित बर्तनों के किनारे पतले हैं। पेस्ट पीला या गुलाबी है। अलंकरण ज्यामितीय है। कुछ द्विरंगी (काले और लाल) चित्रणयुक्त हैं। इस काल में तांबें के टुकड़े, पत्थर के फलक, पत्थर की गोलियां, मिट्टी के मनके आदि मिले हैं। स्थायी निवास के चिह्न नहीं पाये गये। द्वितीय चरण में कच्ची ईंटों के घर बने। पहले काल की अपेक्षा चाकनिर्मित बर्तनों की संख्या बढ़ी। चित्रण में पुराने अभिप्रायों के साथ नए अभिप्रायों को स्थान मिला। 'हीरक', चेक, लटकन, सिग्मा और टोगाउ भाण्डों के समान हिरन के सींग आदि डिजाइन मिलते हैं। तृतीय चरण आमरी संस्कृति के चरम विकास का द्योतक है जिसमें द्विरंगी और त्रिरंगी चित्रण मिलते हैं जो पूर्व चरण के चित्रण से ही विकसित हैं। चतुर्थ चरण में सिंधु सभ्यता के तत्त्व दिखते हैं, यथा पशुओं, विशेषतया बैल, का चित्रण, मत्स्य–शल्क अभिप्राय का बहुलता से प्रयोग और अल्प संख्या में सिंधु सभ्यता के बर्तनों के प्रकार। दूसरे काल में आमरी प्रकार के भांड बनते रहे किंतु सिंधु सभ्यता की विशेषता वाले बर्तनों की संख्या में वृद्धि हुई। तृतीय काल के प्रथम तीन चरण विकसित सिंधु सभ्यता के हैं तथा चौथे और अंतिम चरण में झूकड़ प्रकार के उपकरण मिले। चतुर्थ काल झांगर संस्कृति का है। आमरी में संस्कृति का प्रारंभ तृतीय सहस्राब्दी के प्रारंभिक चरण के लगभग हुआ। कुछ विद्वानों के अनुसार आमरी संस्कृति के प्रारंभ में ईरानी तत्त्वों, जो बलूचिस्तान के माध्यम से पंहुचे, का मिश्रण है। शनैःशनैः इसमें सिंधु सभ्यता के तत्त्वों का प्रवेश हुआ।

'कुल्ली संस्कृति' नाम कोलवा जिले के इसी नाम के स्थल के आधार पर दिया गया है। स्टाइन ने कुल्ली के सर्वेक्षणात्मक उत्खनन किये थे। कुल्ली संस्कृति का प्रारंभ सिंधु सभ्यता के प्रारंभ से पहले हो गया था, किंतु यह उसके कुछ समय तक समकालीन भी रही। कुल्ली संस्कृति में प्राप्त बर्तनों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया गया है :– (1) कुल्ली मृद्भाण्ड, (2) हड़प्पा प्रकार के भाण्डों के साथ पाये गये कुल्ली प्रकार के भाण्ड और (3) हड़प्पा तथा कुल्ली संस्कृति के पारस्परिक संपर्क के फलस्वरुप विकसित भाण्ड।

कुल्ली संस्कृति में गोल बर्तन, बोतल की आकृति के बर्तन, छोटे सीधे किनारे वाले बर्तन, तश्तरियां, साधार तश्तरियां और छिद्रित बेलनाकार बर्तन मिले हैं। अंतिम दो आकार सिंधु सभ्यता में भी मिलते हैं। बर्तन सादे और चित्रित दोनों प्रकार के मिले हैं। चित्रण काले रंग से है। पशुओं का चित्रण अधिकांशतः वृक्षों या वनस्पति के साथ किया गया है। पशुओं में अधिकांशतः कूबड़ वाला बैल, बिल्ली जैसी आकृति और हिरन या बकरी का चित्रण है। पशुओं को स्वाभाविक से अधिक लंबा और उन पर लंबवत छाया किया दिखाया गया है। बैल को अधिकांशतः एक ध्वज से बंधा दिखाया गया है, जो भाव की दृष्टि से सिंधु सभ्यता मुद्राओं पर एक–शृंगी पशु के आगे दिखाए ऐसे अभिप्राय से मिलता–जुलता है। अन्य अभिप्रायों में पक्षी, कंघीनुमा अभिप्राय, ओमेगा जैसा अभिप्राय, फुल्ल, तिकोन, लटकन आदि हैं। चित्रण के लिए काले रंग के साथ लाल रंग का भी प्रयोग हुआ है।

कुल्ली संस्कृति की नारी मृण्मूर्तियां विभिन्न आभूषणों से सज्जित हैं और उन्हें धड़ के नीचे चपटा बनाया गया है। ये गृह–पूजा और देवताओं को चढ़ावे के लिए अभिप्रेत लगती हैं। पशु मृण्मूर्तियों में बैल की आकृति सर्वाधिक हैं और उन पर आड़ी तिरछी रेखाओं का चित्रण है।

शवों को जलाना और गाड़ना दोनों प्रथाएं कुल्ली संस्कृति में प्रचलित थीं। कुल्ली संस्कृति में मेही नामक स्थल में पात्र शवोत्सर्ग के भी उदाहरण मिले। मेही की कब्रों में मृद्भाण्ड, मृण्मूर्तियां, दो तांबें के दपर्ण इत्यादि वस्तुएं मिलीं। एक सिर रहित नारी की आकृति वाले दपर्ण का हत्था मिला है। दर्पण में निहारते हुए नारी के सिर का अक्ष मानों उसे सिर युक्त बना देता। पिगट ने इस सुन्दर मौलिक कल्पना के लिए कलाकार की भूरि–भूरि प्रशंसा की है। कुल्ली संस्कृति के स्थल टोजी और मजेरा दम्ब में रक्षा प्राचीर से आवास घिरे होने के साक्ष्य मिले हैं। इस संस्कृति के स्थलों पर भवन निर्माण के लिए पत्थर का प्रयोग हुआ है। मेही में कच्ची ईंटों के प्रयोग के साक्ष्य मिले हैं। कुल्ली में पत्थर की दीवारों पर सफेद पलस्तर लगाया गया था और वे अन्दर की ओर थोड़ी तिर्यक भी थी। कुछ उदाहरणों में कमरे की रूपरेखा और सीढ़ियों की उपस्थिति मकानों के दुमंजिले होने के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। पत्थर के सिल–बट्टे मिले हैं। पत्थर के फलक (शाही तम्प, मेही से), चर्ट का घनाकार बांट, मिट्टी की चूड़ियां, एक सोने का पत्र (कुल्ली से) इत्यादि कुछ वस्तुएं सिंधु सभ्यता से प्रेरित लगती हैं। मेही से प्राप्त पत्थर के बर्तन बड़े आकर्षक हैं। इनमें चार खाने हैं और उनके बाहरी तरफ बारीकी से अलंकरण हैं।

सिंधु–कुल्ली समन्वय के द्योतक चित्रणों के संदर्भ में ओर्नेख घाटी में स्थित निंदोवारी नामक कुल्ली संस्कृति का स्थल महत्त्वपूर्ण है। यहां पर कसाल ने उत्खनन कराया। इस स्थल पर दो टीले हैं। उत्तरी टीला सीढ़ीदार है और दीवार से विभाजित है। उसके शिखर पर बुर्जनुमा अवशेष हैं जो मंदिर का द्योतक हो सकता है। दक्षिणी टीला छोटा है। बड़े टीले पर सिंधु और कुल्ली प्रकार के मृद्भाण्ड तथा मातृदेवी और

वृषभ की मृण्मूर्तियां पायी गयी हैं। कुछ हड़प्पा अभिप्राय यथा प्रतिच्छेदी वृत्त कुल्ली भांड पर चित्रित हैं। कुछ सिंधु सभ्यता के अभिप्राय कुल्ली शैली में अंकित हैं। यह परस्पर समानता ग्रामीण कुल्ली संस्कृति वालों के नगरी सिंधु सभ्यता से प्रेरित होने, अथवा सिंधु सभ्यता के लोगों के कुल्ली शैली से प्रभावित होने की द्योतक हैं। इतना निश्चित है कि निन्दोवारी में बस्ती कुछ काल तक सिंधु सभ्यता की समकालीन थी।

कोटदीजी में खान द्वारा की गयी खुदाइयों से वहां गढ़ी और आवास स्थल प्राप्त हुए। कुल 16 स्तरों में सोलहवें स्तर से चौथे स्तर तक कोटदीजी संस्कृति के अवशेष मिले। उस अग्निकांड के साक्ष्य वाली परत संक्राति काल की, और अंतिम तीन परतें विकसित सिंधु सभ्यता काल की हैं। कोटदीजी संस्कृति में चर्ट (चकमक) के फलक और बाणाग्र मिले। पत्राकार बाणाग्र कोटदीजी के अतिरिक्त केवल तीन अन्य स्थलों – पेरियाानों घुंडई, क्रनै, और पण्डिवाही में मिले हैं। सिल बट्‌टे, पत्थर की पालिश की गई गेंदे, पत्थर की गोफन गोलियां और मिट्टी तथा शंख की चूड़ियां मिली हैं। कीमती पत्थरों के मनके नहीं मिले। मिट्टी का एक वृषभ अत्यन्त प्रभावशाली और कलापूर्ण है। कोटदीजी संस्कृति के संदर्भ में नियोजित भवन, सुदृढ़ सुरक्षा दीवार तथा नालियों का प्रबंध होना उसे नगर संस्कृति की संज्ञा देने के पक्ष में हैं; लेकिन इस संस्कृ‌ति के लोग अभी लेखन–कला से परिचित नहीं थे। तांबें के प्रयोग के अत्यल्प साक्ष्य हैं। इस संस्कृति के अधिकांश भाण्ड चाक पर बने पतले और हलके हैं। ये गुलाबी से लाल रंग लिए हैं और अधिकांशतः रिम और कंधों पर सीधी रेखाओं या लहरियों से अलंकृत हैं। इस तरह के अभिप्राय कुछ सीमा तक हड़प्पा में विकसित हड़प्पा संस्कृति से पूर्व के संदर्भ में और आमरी के I ब-II ब चरण में मिले हैं। इसी संस्कृति के संदर्भ में सिंधु सभ्यता की तरह के मिट्टी के पिण्ड ('केक') मिले हैं। मत्स्य–शल्क का अभिप्राय भी मिलता है। सुरक्षा दीवार तथा घरों की दीवारों की नींव में पत्थर का प्रयोग किया तथापि निर्माण के लिए मुख्यतः कच्ची ईंटों का ही प्रयोग हुआ। 5730 वर्ष के अर्धजीवन को आधार मानकर चतुर्थ परत के लिए 2100±138 ई. पू. और 14वें परत के लिए 2605±145 रेडियो कार्बन तिथि ज्ञात हैं।

कालीबंगां के दो टीलों में से गढ़ी वाले टीले में विकसित सिंधु सभ्यता के काल में निर्मित गढ़ी के नीचे पूर्वकाल की रक्षात्मक दीवार के अवशेष मिले हैं। रक्षा प्राचीर मूलतः 1. 90 मीटर चौड़ी थी लेकिन बाद में इसे लगभग दुगुना चौड़ा बना दिया गया। रक्षित क्षेत्र उत्तर–पश्चिम में 250 मीटर है। सिंधु सभ्यता से पूर्व की सभ्यता के संदर्भ में मिले भाण्ड कोटदीजी, आमरी और बलूचिस्तान के कई स्थलों में प्राप्त विकसित हड़प्पा संस्कृति से पहले के बर्तनों की तरह के हैं। ये उतनी अच्छी तरह नहीं पकाये गये हैं जितनी सिंधु सभ्यता के भाण्ड पकाये गये हैं और उनकी अपेक्षा छोटे और पतले हैं। इनका रंग गुलाबी से लाल तक है और इन पर काले रंग से ज्यामितीय अभिप्राय चित्रित हैं। कुछ पर सफेद रंग से छाया की गई है। चित्रण में रिम पर काली मोटी धारी विशेष उल्लेखनीय है। खानेदार तिकोन, मत्स्य शल्क, पीपल की पत्ती, वृत्त को काटते वृत्त आदि अभिप्राय हैं किंतु पशुओं (हिरन को छोड़कर) के अंकन का अभाव

है। एक प्रकार का भाण्ड ऐसा है जिसे चाक पर बनाया गया। कुछ नांदों के भीतरी भाग का उथले उत्कीर्ण अभिप्रायों से और बाहरी भाग को रस्सी की छाप के अभिप्राय से अलंकृत किया गया था। सिंधु सभ्यता के कुछ विशिष्ट पात्र –पान पात्र, बेलनाकार छिद्रित बर्तन और साधार तश्तरी–इस संस्कृति में नहीं मिले। उपलब्ध प्रकार में एक साधार कटोरा उल्लेखनीय है। सांकलिया ने इसकी तुलना ईरान के सियाल्क तथा हिसार और भारत में नावडाटोली से प्राप्त इस तरह के बर्तनों से की है। इस संस्कृति के लोगों का सक्कर और रोहरी की फ्लिंट खदानों से सम्पर्क नहीं था। और इन्होंने अपने पाषाण उपकरण गोमेद, कैल्सीडोनी और कार्नीलियन से बनाये थे। इनमें से कुछ पर उनके प्रयोग में लाये जाने के निशान मिले हैं। ताम्र उपकरण अत्यल्प मात्रा में मिले हैं। ताम्र उपकरणों में कुल्हाड़ी और पशु विशेष महत्त्वपूर्ण हें। सेलखड़ी, शंख, कार्नीलियन, पकी मिट्टी और तांबें के मनके मिले हैं; लेकिन कांचली मिट्टी के मनके और कार्नीलियन के रंखांकित मनके, जो सिंधु सभ्यता की विशिष्टता है, इस संस्कृति में नहीं पाये गये। पकी मिट्‌टी के खिलौने गाड़ी के पहिये इस संस्कृति में मिलते हैं। इस काल की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि जुते हुए खेत का मिलना है। कृषि कर्म के साथ ही ये लोग पशुपालन और शिकार से भी अपनी आजीविका चलाते थे। इस काल के स्तर कुछ अस्तव्यस्त मिले और उनमें कुछ दरारें भी मिलीं। अनुमानतः कालीबंगां की प्रथम संस्कृति का अंत भूकम्प के कारण हुआ। अब यह कालीबंगां I प्रकार की संस्कृति उत्तर–पश्चिम में कोटदीजी से उत्तर–पूर्व में बणावली 750 किमी. और कोटदीजी से उत्तर–पश्चिम में रहमान ढेरी 550 किमी और रहमान ढेरी से बणावली 550 किमी है। इस तरह इसका विस्तार क्षेत्र काफी बड़ा है।

हड़प्पा में माधोसरूप द्वारा खुदाई के पश्चात् व्हीलर ने 1946 में पुनः यहां उत्खनन कराया। इस उत्खनन में उन्हें कालीबंगां के प्रथम चरण प्रकार के भाण्ड मिले। फिर डेल्स, केन्योर, और मीडो ने इस स्थल का उत्खनन किया जिससे यहां पर संस्कृति के पांच काल होने की जानकारी मिली। पहले काल की संस्कृति कालीबंगां I संस्कृति के अनुरूप है द्वितीय काल संक्रांति का काल है। तृतीय काल में विकसित सिंधु सभ्यता के अवशेष मिले। चतुर्थ काल संक्रांति का काल है और पांचवे काल में कब्रिस्तान एच प्रकार के भाण्ड मिले।

पहले काल में कोटदीजी I प्रकार के भाण्ड, मिट्टी के आवास, चूल्हे और मृण्मूर्तियां मिलीं। भाण्ड प्रकारों में गोलाई लिये भाण्ड, बाढ़दार रिम वाले भाण्ड, उत्तल पार्श्व वाले कटोरे मिले। चित्रण में रिम पर चौड़ी और नीचे पतली धारी, लहरीय रेखा तथा जुड़े लटकन उल्लेखनीय है। चित्रण काले रंग से है और कुछ पर सफेद रंग से भी। घर कच्ची ईंटों के थे। ईंटे विकसित सिंधु कालीन ईंटों के समान 4: 2: 1 के अनुपात में थी। एक गली मिली जो तृतीय काल तक बनी रही। द्वितीय काल में कच्ची ईंटों की दो मीटर चौड़ी दीवाल, जो 15 मी. तक अनुरेखित की जा सकी, संभवतः रक्षा दीवार का ही अंग थी। अन्यत्र भी कुछ स्थलों में विकसित सिंधु सभ्यता से पूर्व के काल में सुरक्षा दीवार के साक्ष्य मिलते हैं। भाण्ड पहले के जैसे बनते रहे। मिट्टी के

'केक' भी बनाये जाने लगे जो विकसित सिंधु काल में बहुलता से मिलते हैं। कुछ भाण्डों पर ग्रैफिटी मिली जो सिंधु सभ्यता के लिपि के कुछ चिह्नों से मिलती है। तृतीय काल में विकसित सिंधु सभ्यता के दर्शन होते हैं। इस काल में पूर्व काल की सुरक्षा दीवार और गली की रूपरेखा का अनुगमन किया गया, जो इस संस्कृति की निरंतरता का द्योतक है। भवन–निर्माण के लिये पकी ईंटों का प्रयोग किया गया।

परिशिष्ट 3

सिंधु सभ्यता के काल में मोहेंजोदड़ो क्षेत्र की जलवायु

आज तो मोहेंजोदड़ो और उसका समीपवर्ती क्षेत्र काफी हद तक रेगिस्तान बन गया है। यहां तापमान ग्रीष्म ऋतु में 120 अंश फारेनहाइट तक और शीतकाल में हिमांक तक पहुंच जाता है। आजकल मोहेंजोदड़ो के आसपास साल भर में औसतन केवल 75 मिलीमीटर वर्षा होती है। जहां पर नदी को पूरे क्षेत्र में नियंत्रित किया गया है और नहरें निकाली गई हैं वहां फसल काफी होती है। अन्यत्र जहां ये सुविधाएं नहीं हैं घास और साधारण प्रकार की ईंधन की लकड़ी सामान्यतः उगती है। अनुमानतः सिंधु सभ्यता के काल में शायद ऐसा नहीं रहा होगा। नगर, विशेषतया सुनियोजित विशाल नगर, के निर्माण के लिए लोग उपयुक्त जलवायु, वातावरण और सुविधाओं वाला स्थल ही चुनते हैं। नगर की स्थिति एवं विकास के लिए अनिवार्य है कि समीपवर्ती क्षेत्र से उसे पर्याप्त मात्रा में अन्न तथा भोज्य सामग्री उपलब्ध होती रहे। ऐसा सोचना स्वाभाविक है कि यदि मोहेंजोदड़ो का क्षेत्र रेगिस्तानी होता तो सिंधु सभ्यता के निर्माता उसे महान् नगर–निर्माण के लिए नहीं चुनते। कई विद्वानों ने पहले यह धारणा व्यक्त की थी कि पहले सिंधु सभ्यता की जलवायु आज से बहुत भिन्न थी और आज की अपेक्षा सभ्यता के विकास के कहीं अनुकूल थी।[1] मोहेंजोदड़ो के भवन निर्माण के लिए पकाई गई ईंटों का ही मुख्य रूप से उपयोग हुआ है, कच्ची ईंटें ज्यादातर भराई के लिए ही प्रयुक्त हुई थीं। पकाई गई ईंटें महंगी होती है। कच्ची ईंटें सस्ती तो होती ही है, गरमी के मौसम में ये मकान को पकाई गई ईटों की अपेक्षा अधिक शीतल रखती हैं। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है किं मोहेंजोदड़ो में भवन–निर्माण के लिए पक्की ईंटों के प्रयोग करने का एक कारण उस समय उस क्षेत्र में वर्षा का पर्याप्त होना रहा होगा। इन ईंटों को पकाने के लिए काफी मात्रा में ईंधन का इस्तेमाल किया गया होगा और इसका अर्थ है उस काल में वृक्ष–वनस्पति का पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होना। काफी मात्रा में वनस्पति उगने के लिए पर्याप्त वर्षा

1. इस सिलसिले में बीरबल साहनी पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान, लखनऊ, के गुरदीप सिंह द्वारा राजस्थान की कुछ झीलों के तल से प्राप्त पराग के अध्ययन से निकाले गये निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार 3000 ई. पू. से 1800 ई. पू. तक राजस्थान अधिक आर्द्र और शस्य–श्यामल रहा था। किंतु लगभग 1800 ई. पू. से वहां की जलवायु में शुष्कता के प्रमाण मिलते हैं। पुरातात्त्विक और रेडियो कार्बन तिथि के साक्ष्य भी इस बात की ओर इंगित करते हैं कि लगभग 1800 ई. पू. में कालीबंगां की बस्ती ह्रासोन्मुखी थी। इसका एक कारण इस क्षेत्र में शुष्कता में वृद्धि होना लगता है।

का होना अपेक्षित है। मुद्राओं पर गैंडा, बाघ, हाथी आदि वन्य पशुओं के अंकन हैं और बाघ को छोड़कर इन पशुओं की अस्थियां भी उत्खनन के दौरान मिली हैं। बाघ पालतू पशुओं और मनुष्यों को हानि पंहुचा सकता था और उससे भयभीत होना स्वाभाविक था। गैंडा नम और दलदली जगह में रहना पसंद करता है, और बाघ तथा हाथी जंगल में। यदि पशु वहां थे, जैसा कि कलाकारों द्वारा उनके यथार्थ एवं सजीव चित्रण से तथा वहां प्राप्त हुए उनके अस्थि अवशेषों से संभव लगता है, तो यह मान लेना पड़ेगा कि उस समय वहां की जलवायु और वातावरण उनके अनुरूप रहे होंगे, और ऐसा वातावरण पर्याप्त वर्षा वाले क्षेत्र में ही संभव था। मोहेंजोदड़ो में ऊंट की हड्डियों का अति न्यून संख्या में मिलना इस क्षेत्र के रेगिस्तानी होने के विपरीत साक्ष्य प्रस्तुत करता है। सिंधु सभ्यता के स्थलों की खुदाई में बबूल और इमली की लकड़ी के साक्ष्य मिले हैं जो झाड़दार बन की उपज हैं। ऐतिहासिक काल में भी यहां पर अधिक वर्षा होने का अनुमान विद्वानों ने लगाया है। जिस विशाल पैमाने पर सुनियोजित ढंग से मोहेंजोदड़ो (और सिंधु सभ्यता के कुछ अन्य स्थलों में) नालियों का निर्माण हुआ है उससे सिंधु सभ्यता के लोगों की सफाई के प्रति जागरूकता प्रकट होती है।लेकिन कुछ विद्वानों ने ऐसी भी धारणा व्यक्त की है कि नगर नियोजिकों ने नालियों का इतने बड़े पैमाने पर निर्माण वर्षा जल का सुचारु रूप से निकास करने के उद्देश्य से भी किया होगा। वे नालियों के साक्ष्य को भी प्राचीन सिंध में आज से कहीं अधिक वर्षा होने के समर्थन में प्रमाण मानते हैं। सिंध और पंजाब ईरान के राजा दारा (6ठीं शती ई. पू.) की बीस क्षत्रपियों (प्रांतों) में से सबसे अधिक जनसंख्या वाली और सबसे अधिक समृद्ध क्षत्रपियां थीं। सिकन्दर के आक्रमण के समय (चतुर्थ शती ई. पू. का अंतिम चरण) में भी सिंध काफी उपजाऊ था, उनकी जनसंख्या काफी थी और उसमें दलदली जंगल थे। मुस्लिम इतिहासकारों के उल्लेख भी इस मत की पुष्टि करते हैं।

कुछ विद्वानों ने यह भी मत व्यक्त किया कि सिंध प्रदेश सिंधु सभ्यता के काल में मानसूनी हवाओं के क्षेत्र में आता था। कालांतर में मानसूनी हवाओं के रुख में परिवर्तन हो गया जिससे दक्षिणी–पश्चिमी मानसूनी हवाओं ने पूर्व की ओर अपना रुख बदल दिया और सिंधु प्रदेश उसके क्षेत्र से बाहर हो गया।[1] स्टाइन को बलूचिस्तान में प्राचीन काल के मानव निर्मित बांधों के अवशेष मिले हैं। उनके मतानुसार वे एक ओर तो इस बात के सूचक हैं कि पर्याप्त वर्षा होती थी जिससे उनमें पानी एकत्र हो जाता था, ओर दूसरी ओर इस बात के कि साल की सभी ऋतुओं में वर्षा एक समान नहीं होती थी और कभी–कभी सूखा भी पड़ता रहा होगा, अन्यथा बांध निर्माण की आवश्यकता ही क्यों होती। फिर इन बांधों को बनाने के लिए पर्याप्त संख्या में मजदूरों

1. पिगट के मतानुसार यह मत उस मत से भी अधिक समीचीन लगता है जिसके अनुसार उत्तरी तूफानी कटिबंध उत्तर–हिमनद काल के तुरंत बाद दक्षिण की ओर मुड़ गया। सामान्य जलवायु की स्थिति आने पर भी इसकी स्थिति में परिवर्तन नहीं हुआ।

की आवश्यकता पड़ी होगी, जिससे इस क्षेत्र में काफी जनसंख्या होने का साक्ष्य मिलता है। लेकिन कुछ विद्वान्, जैसे राइक्स, ऑरेल स्टाइन के उपर्युक्त मत से सहमत नहीं हैं। वे इन बांधों का उपयोग पानी एकत्र करने की अपेक्षा खेतों में नमी बनाये रखने के लिए किया गया मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार इन बांधों की बनावट ऐसी है कि अधिक से अधिक एक–दो दिन तक ही इसमें इकट्ठा हुआ जल टिक पाता। उनका यह भी कहना है कि इनके निर्माण के लिए अधिक लोगों की आवश्यकता नहीं थी, थोड़े से लोग भी इस कार्य करने में समर्थ थे। वे तो इस बात पर भी संदेह करते हैं कि बांध प्रागैतिहासिक काल के हैं, और इसकी संभावना अधिक मानते हैं कि ये आज से कुछ ही शती पूर्व बनाये गये थे।

हाल ही में जल–वैज्ञानिकों ने इस समस्या का अध्ययन किया है। सिंधु तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्रों के संदर्भ में इस बारे में आर0 एल0 राइक्स ने अति महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाशित किये हैं जो जलवायु परिवर्तन संबंधी धारणा के विपरीत पड़ते हैं।[1] उन्होंने वातावरण में परिवर्तन के लिए अन्य कारणों को उत्तरदायी बताया है जिनमें मानव द्वारा विशाल पैमाने पर पेड़ों को काटना, मवेशियों, विशेष रूप से भेड़–बकरियों, को चराने के लिए चरागाहों का अत्यधिक उपयोग किया जाना भी है। इससे हरियाली नष्ट हो गयी होगी और भूमि में आर्द्रता घट जाने से वर्षा की मात्रा पर प्रभाव पड़ा होगा। विशाल पैमाने पर वनस्पति नष्ट करने से रेगिस्तान का बढ़ता जाना स्वाभाविक था इससे जलवायु पर किंचित प्रभाव पड़ा होगा।

स्वयं व्हीलर भी, जो पहले सिंधु क्षेत्र में जलवायु परिवर्तन के मत के समर्थक थे और जिनके तर्कों से इस मत को समर्थन ही नहीं काफी बल भी मिला था तथा इसे प्रचलित करने में जिनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, राइक्स के मत से प्रभावित हुए लगते हैं। अब वह मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में भवन निर्माण के लिए पक्की ईंटों के प्रयोग का कारण उस समय काफी मात्रा में वर्षा होना नहीं मानते, बल्कि उसे उच्चवर्गीय लोगों के अपने लाभ के लिए बनाया जाना मानते हैं। सिंधु सभ्यता के अन्य कई प्रमुख स्थलों (यथा सौराष्ट्र के स्थलों) में पकाई गई ईंट का प्रयोग मोहेंजोदड़ो की अपेक्षा बहुत कम हुआ है। शायद उसका कारण यह रहा हो कि वहां ईंधन के साधन सीमित थे।

कई विद्वान् (यथा राइक्स, डायसन, और फेयरसर्विस) का मत है कि जल–विज्ञान, प्राणिशास्त्र, वनस्पति विज्ञान, पुरातत्त्व एवं स्थापत्य कला के साक्ष्य इस बात का निश्चित समर्थन नहीं करते कि बलूचिस्तान या सिंध में रेगिस्तान क्रमशः बढ़ता गया था। मोहेंजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त हड्डियां और मुद्राओं पर अंकित चित्रों से जिन जानवरों का सिंधु क्षेत्र में होना ज्ञात होता है उनमें से अधिकांश हाल ही तक उस क्षेत्र

1. व्हीलर ने अपने ग्रंथ *इंडस सिविलिशजेन* के तृतीय संस्करण में इसका संक्षेप में उल्लेख किया है।

परिशिष्ट 4

दिल्मुन, मगन और मेलुह्ह

मेसोपोटामिया के विभिन्न क्षेत्रों से कीलाक्षर लिपि में लिखी कुछ ऐसी मृत्पट्टिकाएं मिली हैं जिनमें वहां के व्यापारियों द्वारा विभिन्न देशों से वस्तुएं आयात करने के संदर्भ में तीन नाम –दिल्मुन[1], मगन[2] और मेलुह्ह का उल्लेख है। यह उल्लेखनीय है कि इन नामों का उल्लेख या तो इस क्रम में किया गया है या फिर मेलुह्ह, मगन और दिल्मुन के रूप में। याने दिल्मुन तथा मेलुह्ह – का उल्लेख या तो आदि में है या अंत में, किंतु मगन का उल्लेख सदैव मध्य में है। इससे अनुमान लगा सकते हैं कि मगन की भौगोलिक स्थिति दिल्मुन तथा मेलुह्ह के बीच में थी। इन नामों के उल्लेख वाले लेखों की तिथि लगभग 2450 ई. पू. से 1900 ई. पू. है।

लगभग 2450 ई. पू. के एक लेख में दिल्मुन से लकड़ी से लदे जहाज आने का उल्लेख मिलता है। सारगन काल (लगभग 2350 ई. पू.) के लेखों में दिल्मुन, मगन और मेलुह्ह से जहाजों का उसकी नयी राजधानी अगेड (बेबीलोन) में आने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि ये क्षेत्र समुद्र से जुड़े हुये थे। सारगन के लेखों में मगन द्वारा इस क्षेत्र को विजित करने का उल्लेख है। दिल्मुन के व्यापारी उर में बसे हुए थे। दिल्मुन का क्षेत्र वहां था जहां सूर्योदय होता है, और वह लोकोत्तर स्वर्ग के समान है। बाद के कुछ लेखों में भी जहाज द्वारा इन स्थलों से सोना, चांदी, तांबा, लाजवर्द से बने मनके, हाथीदांत की कंघी, आभूषण, अंजन, काठ और मोती लाये जाने के उल्लेख हैं। उर के तीसरे राजवंश के लेखों में मेलुह्ह के लिये कोई सीधा संदर्भ नहीं है और लगता है मगन व्यापार संपर्क की सीमारेखा हो गया था। कुछ समय बाद लार्सा के काल में दिल्मुन इस व्यापार की सीमा का द्योतक हो गया। इससे लगता है कि मेसोपोटामिया से मेलुह्ह दूर था और फिर मगन उससे कम दूर और दिल्मुन सबसे पास था। रिमसिन के काल तक विदेशी व्यापार का अंत हो गया। दिल्मुन, मगन और मेलुह्ह की पहचान विद्वानों ने अपने–अपने ढंग से की है पर यह प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि ये क्षेत्र मिस्र और भारत के बीच होने चाहिए और इनमें से एक सिंधु सभ्यता के किसी क्षेत्र का द्योतक होना चाहिए। कुछ विद्वानों यथा कार्नवाल, बिब्बी, मैलोवन, आल्चिन तथा श्रीमती आल्चिन ने दिल्मुन की पहचान बहरीन द्वीप से की है। बहरीन में रस–अल–कला और फैयल्का में पुरातत्त्वविदों द्वारा किये गये उत्खननों में अन्य वस्तुओं के साथ विशाल संख्या में सेलखड़ी की मुद्राएं मिली हैं। चूंकि बहरीन उन वस्तुओं का स्रोत नहीं लगता जो मेसोपोटामिया के प्राचीन लेखों में

1. इसे 'तिल्मुन' भी पढ़ा गया है।
2. इसे 'मकन' भी पढ़ा गया है।

सिंधु नदी को सिंचाई के लिए नियंत्रित करने से पूर्व, बिना वर्षा के भी बाढ़ प्रभावित क्षेत्र में जलस्तर की भूमि को साफ करके खेती की जा सकती थी, और यदि आज भी नदी को अनियंत्रित कर दिया जाय तो इस तरह की ताम्र–पाषाण युगीन परिस्थितियां पुनः लौट आ सकती हैं। राइक्स की यह धारणा उन विद्वानों की धारणा से भी मेल खाती है जिसके अनुसार लगभग नौ हजार वर्षों से, जब से मनुष्य ने वातावरण पर प्रभुत्व स्थापित करना शुरु किया, जलवायु में नाममात्र का ही परिवर्तन हुआ है।

में पाये जाते रहे हैं। हाथी अवश्य ऐसा है जिसके इस क्षेत्र में बाद के काल में पाये जाने का साक्ष्य नहीं मिलता। लेकिन यह भी संभव है कि सिंधु सभ्यता के काल में भी इस क्षेत्र के वनों में हाथी नहीं होता था। उसे दूसरे क्षेत्र, शायद सिंधु सभ्यता के ही किसी अन्य क्षेत्र, से वहां लाया गया होगा। फेयरसर्विस का कहना है कि पिछले चार हजार वर्षों में सिंध प्रदेश की जलवायु में कोई मूलभूत अंतर नहीं आया है। उनके अनुसार सिंधु प्रदेश में आज भी वहां उगने वाली कंडी, बबूल जैसी लकड़ियों से हड़प्पा संस्कृति की ईंटों से भी अधिक मजबूत ईंटें पकाई जा सकती हैं। चूंकि ये झाड़ बहुत जल्दी उग आते हैं इसलिए ईंधन के लिए जंगल काटने वाली बात बहुत नहीं जमती। लेम्ब्रिक, जो सिंध में बहुत साल तक प्रशासक का कार्य करते रहे, का कहना है कि आजकल नदी के आसपास जो पेड़ हैं वे सारे प्रदेश के उपयोग हेतु ईंट पकाने के लिए ईंधन मुहैया करने के लिए पर्याप्त हैं और प्राचीन काल में इससे कम पेंड़ नहीं रहे होंगे। सांकलिया ने ध्यान दिलाया है कि सिंधु सभ्यता के भवनों में खिड़कियों के निश्चित साक्ष्य नहीं मिलते और आज भी सिंध और बीकानेर क्षेत्र के लोग साधारणतया बिना खिड़कियों के मकान बनाते हैं। उनके अनुसार सिंध के प्राचीन एवं बीकानेर में अर्वाचीन काल के भवनों में खिडकियों का न होना इस बात की ओर इंगित करता है कि प्राचीन सिंध की जलवायु आजकल के बीकानेर की तरह रही होगी। जहां तक पक्की ईंटों के प्रयोग का प्रश्न है कुछ विद्वानों ने यह भी बताया है कि आधुनिक सिंध में जितनी वर्षा होती है उससे पांच गुना अधिक वर्षा वाले क्षेत्र (50 सेमी) में भी कच्ची ईंट प्रयुक्त होने के साक्ष्य मिलते हैं। अतः यह कहना ठीक नहीं कि लोग पक्की ईंटों का प्रयोग पर्याप्त वर्षा होने के कारण करते रहे होंगे। यह भी मत व्यक्त किया गया है कि निरंतर बाढ़ के कारण ही नहीं अपितु संभवतः समुद्र तट के समीप की भूमि के ऊपर उठने के फलस्वरुप भी नदियों का पानी समुद्र में गिरने के बजाय वापस लौटने के कारण झील बन जाने से भी मोहेंजोदड़ो के लोगों के लिए यह आवश्यक हो गया होगा कि वे इस तरह के जल–प्लावन के प्रतिरोध में पक्की ईंटों की चिनाई वाले मकान बनायें।

राइक्स ने मोहेंजोदड़ो की नालियों के आकार–प्रकार का गहराई से विवेचन कर यह मत व्यक्त किया है कि इस नगर की नालियां वर्षा का जल के निकास के लिए पर्याप्त नहीं थीं, वे घरों के गंदे पानी के निकास के लिए ही उपयुक्त लगती हैं। अतः यह सोचना समीचीन नहीं कि उन्हें वर्षा–जल के निकास हेतु बनाया गया था और इस आधार पर सिंधु में उस समय पर्याप्त वर्षा होने की धारणा बनाना भी ठीक नहीं। फेयरसर्विस का कहना है कि नालियों का अधिकतर ढका हुआ बनाया जाना भी इसके विरुद्ध पड़ता है कि नालियां वर्षा के पानी के निकास के लिए थीं। राइक्स ने यह भी बताया है कि सिंधु के बाढ़ प्रभावित क्षेत्र में छोटे–छोटे जंगल और बड़ी–बड़ी घास उग सकती थी जैसे आज भी सिंध में कहीं–कहीं दिखाई देती है। उत्तरी सिंध में बाघ अब भी दिख जाते हैं और लगभग तीन शताब्दी पहले तक सिंधु के तीर गैंडे पाये जाने के साक्ष्य हैं। राइक्स का यह भी कहना है कि आधुनिक काल में

दिल्मुन के संदर्भ में उल्लिखित हैं अतः यह धारणा व्यक्त की गई है कि बहरीन के लोग भारत और मेसोपोटामिया के बीच व्यापार में बिचौलिया की भूमिका निभाते थे। कार्नवाल ने दिल्मुन की पहचान बहरीन से किये जाने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये हैं –

(1) मेसोपोटामिया का निकटतम देश जिससे व्यापारिक संबंध थे फारस की खाड़ी के आसपास का क्षेत्र ही होना चाहिए इसलिए बहरीन और फैयल्का के द्वीप जहां मेसोपोटामिया की संस्कृति की समकालीन संस्कृति फली फूली, दिल्मुन होना चाहिए। सुमेरी लेखों में दिल्मुन के राजा को समुद्र के मध्य रहने वाला कहा गया है और अस्सीरिया की भाषा में 'समुद्र के बीच' आ अर्थ द्वीप होता है; (2) दिल्मुन को 30 बेरु (लगभग 60 घंटे) की दूरी पर बताया गया है और लगभग 5 मील प्रति घंटे की रफ्तार से नाव चलाने पर बहरीन पहुंचने में इतना ही समय लगता है; (3) क्लासिकल लेखकों ने बहरीन को Tylos कहा है जो 'दिल्मुन' का ही परिवर्तित रूप लगता है; (4) बेबीलोन लेखों में नबु नामक देवता का दिल्मुन में पूजित होने का उल्लेख है और बहरीन के लेखों में 'इज्जक' देवता, जो नबु का ही दूसरा नाम है, के पूजित होने का उल्लेख है; (5) अस्सीरिया के लेखों से दिल्मुन के राज्य के अंतर्गत अरब सागर के तटवर्ती क्षेत्र का उल्लेख है, और इस क्षेत्र में बहरीन की संस्कृतियों से मिलती–जुलती संस्कृतियां पायी गयी हैं; (6) बहरीन की खुदाइयों में प्राप्त सामग्री सुमेरी लेखों में दिल्मुन के संदर्भ में वर्णित सामग्री से मेल खाती है और (7) सुमेरी लेखों में दिया दिल्मुन का भौगोलिक विवरण बहरीन की भौगोलिक स्थिति से मेल खाता है (उदाहरणार्थ लेखों में वर्णित झरने बहरीन के झरनों के समान हैं)।

इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि मेसोपोटामिया के एक लेख में दिल्मुन के संदर्भ में उल्लिखित तौल के विश्लेषण से पाया गया कि यह तौल लगभग 1370 ग्राम थी और बहरीन से प्राप्त सबसे बड़ा बाट इसी तौल का है। कस्साइट काल के दिल्मुन में लिखे और नुप्पुर में पाये गये लेख में नुप्पुर के दो देवताओं –ईजाक और मोस्किलैक का उल्लेख है, और फैयल्का की खुदाई में प्राप्त लेखों में दोनों देवताओं और दिल्मुन क्षेत्र का उल्लेख है। परवर्ती अस्सीरिया के लेखों में दिल्मुन को निचले समुद्र में बसा देश कहा गया है। अक्कादी परंपरा में फारस की खाड़ी को निचला समुद्र और भूमध्य सागर को ऊपरी समुद्र कहा गया है। अतः दिल्मुन की पहिचान बहरीन द्वीप के क्षेत्र से करना उपयुक्त है।

दिल्मुन की पहचान बहरीन से किये जाने के पक्ष में उपर्युक्त तर्क काफी प्रभावशाली हैं और अधिकांश विद्वान् इसी पहचान को स्वीकार करते हैं। तथापि यहां क्रैमर के भिन्न मत का उल्लेख करना भी उपयुक्त होगा। वह दिल्मुन को सिंधु प्रदेश का द्योतक मानते हैं। मृत्तिकापट्ट लेख में इसे सूर्योदय का देश, साफ सुथरे नगरवाला, जो लोकोत्तर स्वर्ग, और जहां हाथी पाये जाते हैं, कहा गया है। क्रैमर का कहना है कि स्वच्छता रखने के लिये सिंधु सभ्यता में जितना प्रयास किया गया है उतना किसी

भी प्राचीन सभ्यता में नहीं मिलता। सुमेरी लेखों में दिल्मुन के जहाजों का उल्लेख है, और सिंधु सभ्यता जो समृद्ध सभ्यता थी और जिसका विदेशों से व्यापारिक संबंध था, वहीं से ये जहाज आते रहे होंगे। राव इस संबंध में लोथल से प्राप्त गोदी–बाड़ा का उल्लेख करते हैं। उनका यह भी कहना है कि जहां तक हाथियों के उल्लेख का प्रश्न है यह सौराष्ट्र के क्षेत्र के संदर्भ में ठीक बैठता है जहां ऐतिहासिक काल तक हाथी पाये जाते थे। राव का यह भी कहना है कि सौराष्ट्र में कूड़ नामक एक सिंधु सभ्यता का स्थल है जिसे स्थानीय लोग दिल्मुन नाम से जानते हैं। सूर्योदय का देश भी सिंधु सभ्यता के साथ ठीक बैठता है।[1] किंतु इस संदर्भ में कार्नवाल ने निर्दिष्ट किया है कि सुमेरी लेखों में फारस की खाड़ी को सूर्योदय का सागर कहा गया है, और इस आधार पर बहरीन के लिए जो सुमेर से पूर्व दिशा में स्थित है सूर्योदय का देश कहा जा सकता है।

लीमान्स ने 'मगन', जिसका सुमेरी लेखों में तांबें के स्रोत के रूप में विशेष उल्लेख मिलता है, की पहचान बलूचिस्तान के मकरान तट से की है। मगन और मकरान नामों का ध्वनि साम्य भी इस मत को कुछ बल देता है। कुछ विद्वानों के अनुसार मगन की पहिचान ओमन तथा दक्षिणी अरब के किसी क्षेत्र से की जानी चाहिए। नरमसिन के एक लेख में उसके द्वारा मगन के मनि (उम) पर विजय पाने का उल्लेख है। कुछ भांड–लेख मगन से लाये लूट के माल का उल्लेख करते हैं। मेसोपोटामिया के लेखों में तांबें के आयात की बात है। फारस की खाड़ी में ओमन तांबें के लिये प्रसिद्ध है; वह भी मगन (मकरान) के अन्तर्गत आता रहा होगा।

अधिकांश विद्वान् मेलुह्ह की पहचान समुद्रतटीय सिंधु सभ्यता के क्षेत्र से करते हैं।[2] मेसोपोटामिया के संदर्भ में मेलुह्ह का मगन से दूर होना और इसका मकरान (जिससे मगन की पहिचान सुझाई गई है) के पूर्व में मेसोपोटामिया की समकालीन संस्कृति का होना इस बात के पक्ष में है कि इसकी पहचान सिंधु सभ्यता के क्षेत्र से की जानी चाहिए। मेसोपोटामिया और सिंधु सभ्यता के मध्य व्यापारिक सम्बन्धों के निश्चित साक्ष्य उपलब्ध हैं और इसलिए सुमेरी लेखों में इस क्षेत्र के नाम का उल्लेख स्वाभाविक ही है। मेलुह्ह की सिंधु सभ्यता के क्षेत्र से पहचान किये जाने के पक्ष में कुछ विद्वान् संस्कृत भाषा के म्लेच्छ शब्द का उल्लेख करते हैं जिसका अर्थ 'बर्बर' है। म्लेच्छ शब्द अनार्यों के लिए प्रयुक्त हुआ है और वे सिंधु सभ्यता को अनार्य सभ्यता मानते हैं। दूसरे विद्वानों का मत है कि यह निश्चित नहीं है कि सिंधु सभ्यता के लोग अनार्य द्रविड़ थे और यदि मान भी लें तो यह कहना कठिन है कि आर्यों ने द्रविड़ों के लिए म्लेच्छ शब्द का प्रयोग किया। मेसोपोटामिया से प्राप्त एक बेलनाकार मुद्रा पर

1. लेकिन राव इस संबंध में पूर्णतया निश्चित नहीं हैं। और वे दिल्मुन की बहरीन से पहचान की संभावना को भी स्वीकार करते हैं।

2. मैलोवन मेलुह्ह और मगन दोनों को मेसोपोटामिया और भारत के मार्ग में समुद्र तट पर स्थित मानते हैं।

अंकित मेलुह्ह की भाषा के लेख का रुपांतर करने के लिए शासन की ओर से अनुवादक की व्यवस्था थी। कुछ लोग सिंधु की एक जाति मे–लह्–हा से मेलुह्ह का समीकरण करते हैं। किंतु सिंधु की जाति का यह नाम मल्लाह (नाविक) से पड़ा है इसका मेलुह्ह से कुछ लेना देना नहीं है। मेलुह्ह से प्राप्त वस्तुओं में लकड़ी, (जिसका आबनूस् से तात्पर्य रहा होगा), लाल पत्थर (जिससे कार्नीलियन अभिप्रेत रहा होगा) और हाथी दांत विशेष उल्लेखनीय हैं। कार्नीलियन के मनके सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्थलों से पर्याप्त संख्या में मिले हैं। चन्हुदड़ो और लोथल में कार्नीलियन के मनके बनाने के कारखाने होने के साक्ष्य हैं। हाथीदांत की वस्तुएं भी सिंधु सभ्यता के स्थलों से प्राप्त हुई हैं। मोहेंजोदड़ो, लोथल और सुरकोटड़ा में पूरे के पूरे हाथीदांत खुदाई में मिले हैं जो कलाकृतियों के निर्माण हेतु रखे रहे होंगे। मेलुह्ह से आयातित वस्तुओं में तांबे का उल्लेख है। लगश के निर्माण कार्य में मेलुह्ह वासियों का योगदान था और कुछ मेलुह्ह मूल के लोग उस नगर में बसे थे। सारगान काल में मेलुह्ह से आये व्यक्ति को किसी के दांत तोड़ने के लिए दंड स्वरूप 10 शकील देने पड़े। चंद विद्वानों के अनुसार मेलुह्ह के अन्तर्गत राजस्थान का क्षेत्र भी रहा हो जहां तांबा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध था। एक लेख में मेलुह्ह को 'काले विदेशी लोगों की भूमि' कहा है। ऐसा या तो घृणा प्रकट करने के लिये कहा गया या फिर यह वह क्षेत्र था जहां हब्शी लोग रहते थे। लेकिन, जैसे लाल ने इंगित किया है, 1300 ई. पू. के असीरिया के लेख में मेलुह्ह इथोपिया का द्योतक है। पर यह हो सकता है कि पहले यह सिंधु सभ्यता के क्षेत्र का द्योतक था। प्राचीन मेसोपोटामिया के लेखों में मेलुह्ह से आयातित जिन वस्तुओं का उल्लेख है वे मेलुह्ह की सिंधु सभ्यता से पहचान के पक्ष में है; कोई भी महत्त्वपूर्ण तर्क इसके विपक्ष में नहीं।[1]

1. यों कुछ विद्वानों ने इसकी पहचान सीस्तान से सुझायी है पर इसमें अधिक बल नहीं है।

परिशिष्ट 5

गोदी–बाड़ा

लोथल के अतिरिक्त सिंधु सभ्यता के कतिपय स्थल समुद्र तट के निकट हैं, यथा गुजरात में भगत्राव और मेहगम और सिंध में बालाकोट, और बलूचिस्तान में सोत्ककोह और सुत्कागेंडोर। लेकिन केवल लोथल ही एक ऐसा स्थल है जहां गोदी–बाड़ा (चित्र 15) पाया गया है जिसमें मालवाही जहाजों का अवागमन होता था। गोदी–बाड़ा पकी ईंटों से निर्मित है।[1] इसके भीतर का क्षेत्र समलम्बक है। इसकी पश्चिमी दीवाल 215 मी. और पूर्वी दीवाल 212 मी. है उत्तरी 37 मी. और दक्षिणी 32 मी. है। इसकी गहराई 3.3 मीटर है। लेकिन लोथल के उत्खनन के निदेशक शि0 रंगनाथ राव के अनुसार अनुमानतः मूलरूप में गहराई 4.15 मीटर रही होगी। राव के विवरण के अनुसार इसकी उत्तरी दीवार में 12 मीटर चौड़ा प्रवेश द्वार था जिससे जहाज आते–जाते थे। यह प्रवेश द्वार एक नहर के द्वारा भोगावा नदी से जुड़ा था, जिससे गोदी में पानी आता था। राव के अनुसार गोदी को समुद्र अथवा भोगावा नदी के तट पर जान बूझ कर नहीं बनाया गया था क्योंकि वहां पर स्थित होने से बाढ़ से उस को हानि पहुंचने की संभावना थी। गोदीबाड़े की दक्षिणी दीवार में जल निकास के लिए एक मीटर चौड़ी नाली थी। इस नाली की दीवारों की ईंटों पर खांचे मिले हैं जो इस बात के द्योतक हैं कि यहां पर लकड़ी का दरवाजा लगा था जिसे आवश्यकतानुसार उठाया या गिराया जा सकता था। उच्च ज्वार के समय इसे खोल कर अतिरिक्त पानी को बाहर निकलने दिया जाता था, और निम्न ज्वार में दरवाजे को बंद कर गोदी में अपेक्षित मात्रा में पानी बने रहने दिया जाता था।

राव का मत है कि डिजाइन, आकार और निर्माण की दृष्टि से लोथल की गोदी प्राचीन फिनीशिया और रोम की गोदियों से कहीं अधिक विकसित थी और निश्चय ही यह अपने ढंग का विश्व में सबसे प्राचीन उदाहरण है। उन्होंने बी0 एस0 लेले द्वारा किये गये अध्ययन के आधार पर अन्य गोदियों से लोथल की गोदी की तुलना की है और निष्कर्ष निकाला है कि प्राचीन ही नहीं कुछ आधुनिक गोदियों की तुलना में भी इसका आकार कम नहीं था। उन्होंने डाइरेक्टर आफ पोर्ट्स, अहमदाबाद, के मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार पुरैतिहासिक काल में समुद्र का एक अंग लोथल के निकट तक फैला था और इसलिए सिंधु सभ्यता के काल में यहां पर गोदी के पर्याप्त निर्माण की सुविधा थी जिसको उन्होंने कार्यरूप में परिणित किया।

1. यदि किसी अन्य के मत का उल्लेख नहीं किया गया है तो इस विषय में पूरी सामग्री राव के विवरण पर आधारित है।

राव के अनुसार लोथल में गोदी के मिलने से सिंधु सभ्यता के विदेशों से व्यापार में उसके महत्त्वपूर्ण योगदान को स्वीकार करना पड़ेगा। उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर उनका कहना है कि लोथल में लगभग 2000 ई. पू. में एक बाढ़ आयी जिससे नगर और गोदी दोनों को क्षति पहुंची, और भोगावा नदी अब दो किलोमीटर दूर बहने लगी। लोथलवासियों ने दो मीटर गहरी एक नहर खोद कर गोदी को नदी से जोड़ दिया। लेकिन अब गोदी बड़े जहाजों के आने के उपयुक्त नहीं रह गयी थी और केवल छोटी–छोटी नावें ही उसमें आती रहीं। उनके अनुसार लगभग 1900 ई. पू. में एक और भीषण बाढ़ आयी जिसने गोदी को रेत से पूरी तरह पाट दिया और इसके बाद वह उपयोग के योग्य नहीं रही।

अधिकांश विद्वान् श्री राव के इस मत से सहमत लगते हैं कि यह ढांचा गोदी ही है, लेकिन कुछ विद्वानों ने इसे तालाब माना है। सबसे पहले यू. पी. शाह ने इसे गोदी के रूप में पहचान के मत को चुनौती दी। उसके पश्चात् लौरेंस लैश्निक ने काफी जोर–शोर से राव के मत का खंडन किया[1], और इसे तालाब माना। लेकिन राव ने अपने मत की पुष्टि मे निम्नलिखित तर्क दिये – (1) यदि वह तालाब होता तो लोगों ने इसके लिए पक्की ईंटों, जो काफी खर्चीली होती है, का प्रयोग नहीं किया होता और कच्ची ईंटों से ही निर्माण किया होता, (2) यदि वह तालाब होता तो इसमें पानी जमा होने के लिए इर्द–गिर्द काफी चौड़ी खुली जगह होनी चाहिए थी, (3) इसकी दीवारें सीधी हैं; यदि यह तालाब होता तो इसमें प्रवेश के लिए या तो सीढ़ियां होती या फिर ढाल होती, (4) लोथल के उत्खनन में इसी ढांचे के पास एक विशाल चबूतरा मिला है जिसका तालाब के संदर्भ में तो कोई विशेष महत्त्व नहीं लगता लेकिन गोदी के संदर्भ में जहाज में लादने के लिए लाया हुआ माल और जहाज से उतारा हुआ माल रखने के लिए उसका प्रयोग स्वाभाविक लगता है, (5) इसके तल की मिट्टी में खारापन पाया गया और उसमें घोंघें भी मिले हैं, जो इस बात के द्योतक लगते हैं कि इसमें समुद्र का पानी आता था। इसमें खारे पानी के होने का साक्ष्य इसके जल का सिंचाई अथवा पीने के लिए प्रयोग होने के पक्ष में नहीं है, अतः यह भी इसके तालाब होने के विरुद्ध ही जाता है, (6) भीतरी दीवार में कुछ छेद मिले हैं जिसमें लकड़ी के खम्भे लगे रह होंगे। इन खम्भों से जहाजों को लंगर डालते समय बांधा जाता रहा होगा। (7) इसके भीतर कुछ छेद वाले पत्थर मिले जिनका उपयोग जहाजों के लंगर डालने के संदर्भ में उन्हें बांधने के लिए किया गया होगा। (8) बस्ती के पास ही नदी होने से इसके लिए जल की आपूर्ति कठिन नहीं थी। (9) इसमें नगर की नाली का पानी भी गिरता था। यह साक्ष्य इसके तालाब होने के विपक्ष में हैं। (10) गोदी–बाड़ा की स्थिति भी महत्त्वपूर्ण है यह ऐसी जगह पर है कि गढ़ी से इसका

1. लैश्निक के कुछ तर्कों में तो कुछ बल है लेकिन उनमें एक मुख्य कमजोरी यह है कि वे लोथल को एक नगर मानने के लिए तो क्या एक बड़ा गांव मानने को भी तैयार नहीं हैं। उनका कहना है कि भला छोटे गांव में गोदी की क्या आवश्यकता हो सकती थी।

निरीक्षण किया जा सकता था, और इस पर नियंत्रण रखा जा सकता था।

यद्यपि ये उपर्युक्त तर्क काफी प्रभावशाली हैं तथापि यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि अभी भी कुछ विद्वान् उनके इस मत से सहमत नहीं है। लेश्निक का कहना है कि सिंधु सभ्यता के लोग गोदी क्यों बनाते जब जहाज को लाने ले जानें के अन्य साधारण तरीके उन्हें मालूम थे। राव के अनुसार जहाज को गोदी में प्रवेश कराने के लिए 90^0 का कोण बनाना होता था, लेकिन यह इसके लिए उपयुक्त तरीका नहीं लगता क्योंकि इसमें मोड़ने में कठिनाई होती। गोदी में पानी लाने के लिए जिस नहर का राव ने उल्लेख किया है उसकी स्थिति पर भी संदेह किया गया है। गोदी–बाड़े के अंदर छिद्रयुक्त पत्थर जिन्हें राव ने जहाज को लंगर डालने की रस्सी बांधने के लिए बताया लेश्निक उन्हें ढेंकली के डंडे पर वजन देने के लिये प्रयुक्त किया जाना मानते हैं। लेश्निक का कहना है कि लोथल की खुदाई में केवल दो ही कुएं मिले हैं जो वहां के जल की आवश्यकता पूरी करने के लिए पर्याप्त नहीं थे। अतः तालाब की आवश्यकता पड़ी होगी जिसका पानी स्नान तथा कपड़े धोने आदि के साथ ही सिंचाई के लिए भी होता रहा होगा। सामान्यतः वर्षा जल ही इसमें एकत्रित होता रहा होगा यद्यपि नदी से भी इसे जोड़ दिया गया होगा। दीवारों की ऊंचाई 15 फुट है जो ढेंकली के लिए उपयुक्त है। पोस्सेहल का कहना है कि लेश्निक का मत मानने में राव के मत मानने से कम कठिनाई नहीं हैं। उनके अनुसार लोथल में इतनी कम वर्षा नहीं होती थी कि इतना बड़ा तालाब बनाने की आवश्यकता पड़ती। फिर भूमि के भीतर थोडी ही गहराई पर पानी उपलब्ध है तो सिंचाई और दूसरे प्रयोगों के लिए तालाब बनाने की आवश्यकता नहीं लगती। पत्थर पर जो छेद हैं (ये दो–तीन इंच व्यास के हैं), वे रस्सी के लिए उपयुक्त हैं, पर डंडे डालने के लिए बहुत संकरे हैं। सीढ़ी न होने के कारण यह स्नान और कपड़े धोने के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता था। पीने का पानी तो बगल के कुएं से लेते रहे होंगे न कि तालाब से जिसका पानी अपेक्षाकृत गंदा रहा होगा।

राव कहते हैं कि इस गोदी की जैसी कुछ आज भी व्यवस्था गोधरा में मिलती है। उनका कहना है कि क्षेत्रीय परंपरा के अनुसार सौ साल पहले तक लोथल में नावें आती जाती थीं। जिस क्षेत्र में गोदी–बाड़ा मिला उसमें कुछ ऐसे पत्थर मिले जिन्हें लोग वानुवति माता, जो मछुआरों की देवी है के रूप में पूजते थे, और आज भी यह कुछ बन्दरगाहों में पूजी जाती हैं। गुजरात बन्दरगाह के डाइरेक्टर एच. जी. ओझा के अनुसार उठते ज्वार के साथ समुद्री जल से लोथल पंहुचा जा सकता था। उनके मत में इस स्मारक की गोदीबाड़ा के रूप में पहचान समीचीन है।

परिशिष्ट 6

सिंधु संस्कृति और परवर्ती भारतीय संस्कृति में समानताएं

प्रायः सभ्यता अपनी पूर्ववर्ती संस्कृति का परिवर्तित और विकसित रूप होती है। अधिकांशतः प्राचीन संस्कृतियां परवर्ती संस्कृतियों को कुछ देकर ही विलीन होती हैं। बाद की संस्कृति को पूर्व संस्कृति से विरासत दो तरह से मिलती है– भौतिक सामग्री के रूप में और धार्मिक विश्वास, सामाजिक वर्गीकरण आदि के रूप में। लेकिन इस संदर्भ में उपलब्ध साक्ष्यों से अर्थ निकालने में व्यक्ति–निष्ठता होना, और फलतः विद्वानों में मतभेद होना स्वाभाविक है। अनेक विद्वान् सिंधु सभ्यता में ऐतिहासिक काल के कुछ तत्त्वों का मूल देखते हैं। चूंकि सिंधु सभ्यता के अंत और ऐतिहासिक काल के प्रारंभ के बीच लंबा काल–व्यवधान रहा है, अतः इस संबंध में मतमतान्तर होना स्वाभाविक है और निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। नीचे हमने अनेक समान संभावित तत्त्वों का उल्लेख किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार, ये ऐतिहासिक काल की संस्कृति को सिंधु सभ्यता की देन माने जा सकते हैं। इनमें से अधिकांश का पिछले पृष्ठों में विभिन्न संदर्भों में कुछ विस्तार से वर्णन हो चुका है, अतः यहां उनका संक्षिप्त उल्लेख मात्र पर्याप्त होगा :–

(1) सिंधु सभ्यता के संदर्भ में अनेक देवी देवताओं का मुद्राओं पर अकन या मूर्तियां मिली हैं। ऐतिहासिक काल में बहुदेववाद प्रचलित रहा।

(2) सिंधु सभ्यता के अंतर्गत मातृदेवी का देवोपासना में प्रमुख स्थान है जिसका अत्यंत विकसित रूप एंतिहासिक काल में हम शाक्त धर्म में पाते हैं। वैदिक देवशास्त्र में देवियां हैं, पर देवों की अपेक्षा उनका स्थान गौण है।

(3) शिव–पशुपति जैसे देवता की धारणा सिंधु सभ्यता की देन है। इस आकृति के तीन सिर बाद के त्रिमूर्ति के पूर्व रूप हो सकते हैं।

(4) सिंधु सभ्यता में लिंग–पूजा के साक्ष्य मिलते हैं। कालांतर में तो लिंग ही शिव का विशेष प्रतीक हो गया और इसे शिव की मानव प्रतिमाओं से भी अधिक स्थान मिला। योनि पूजा के साक्ष्य भी सिंधु सभ्यता में प्राप्त होते हैं। ऐतिहासिक काल में विशेषतः शाक्त सम्प्रदाय के अंतर्गत इस तरह की पूजा के साक्ष्य मिलते हैं।

(5) सिंधु सभ्यता में योग का प्रचलन था। 'शिव पशुपति' को योगासन में दिखाया गया है। साथ ही कुछ मिट्टी की आकृतियों को भी योगमुद्रा में दिखाया गया है। 'पुरोहित' की मूर्ति को नासिकाग्र पर दृष्टि केन्द्रित किये दिखाया गया है और गीता में इस तरह ध्यान का उल्लेख है। ऋग्वेद में योग संबंधी सामग्री का अभाव है। ऐतिहासिक काल के अनेक संप्रदायों में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(6) जल का धार्मिक महत्त्व भी सिंधु सभ्यता में दिखाई देता है। अधिकांश घरों में स्नानागार का प्रबन्ध था और मोहेंजोदड़ो का विशाल स्नानगार तो इस संदर्भ में विशेष महत्त्वपूर्ण है। ऐतिहासिक काल में धार्मिक अनुष्ठानों के संदर्भ में स्नान का अत्यधिक महत्त्व है।

(7) कुछ विद्वान् हड़प्पा मुद्राओं पर पौराणिक आख्यानों के अनुरूप अंकन होने की संभावना मानते हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य द्वारा भैंसे की सींग और उसकी नाक पर पांव रख उस पर भाला भोंकने के दृश्य को मकाइ ने शिव द्वारा दुंदभी का वध, और जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने देवी द्वारा महिषासुर–मर्दन के जैसे किसी आख्यान का अंकन माना है। मनुष्यों द्वारा वृक्ष को उखाड़ने के अंकन को बनर्जी ने महाभारत में उल्लिखित कृष्ण द्वारा यमलार्जुन वृक्षों को उखाड़ने जैसे किसी आख्यान का अंकन माना है।

(8) सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर ऐसे अंकन, जिनमें विभिन पशुओं के अवयवों के संश्लेषण से आकृति बनी हैं, की तुलना ऐतिहासिक काल के किन्नर, गधर्व, कुंभाण्ड आदि के अंकनों से की जा सकती है।

(9) सिंधु सभ्यता की कुछ मुद्राओं पर ध्वज बना है। परवर्ती काल में देवताओं के लिए ध्वज के निर्माण की परंपरा बहुत लोकप्रिय हुई।

(10) कई प्रतीक, यथा स्वस्तिक, चक्र आदि जो सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर मिले हैं ऐतिहासिक काल में भी पर्याप्त धार्मिक महत्त्व के रहे और विभिन्न कलाकृतियों पर उनका अंकन मिलता है।

(11) सिंधु सभ्यता में कुछ आकृतियों को नग्न दिखाया गया है। इनमें से कुछ देवता हो सकते हैं। ऐतिहासिक काल में भी कुछ देवी–देवताओं को, विशेषतः जैन तीर्थंकरों को नग्न दिखाया गया है।

(12) विद्वानों का अनुमान है कि सिंधु सभ्यता में पशुओं का पर्याप्त धार्मिक महत्त्व था, और ऐतिहासिक काल में भी धर्म में पशुओं को स्वतंत्र रूप से अथवा देवताओं के वाहन के रूप में आदरपूर्ण स्थान दिया गया।

(13) सिंधु सभ्यता की मुद्रा पर अंकित अभिप्राय के साक्ष्य से लगता है कि इस सभ्यता के धार्मिक अनुष्ठानों में नरबलि और पशुबलि भी सम्मिलित थे, यथा कालीबंगां में एक गर्त में पशु हड्डियां मिली और एक मिट्टी के 'केक' पर भी पशुबलि का अंकन मिला। ऐतिहासिक काल में भी हमें नरबलि और पशुबलि की प्रथा का प्रचलन मिलता है।

(14) जिस तरह से सिंधु सभ्यता की मुद्राओं और बर्तनों पर वृक्षों का अंकन है वह उनके धार्मिक महत्त्व का द्योतक है। इस संदर्भ में पीपल की पत्तियां विशेष उल्लेखनीय है। ऐतिहासिक काल में भी पीपल आदि कई वृक्षों की पूजा होती रही है और उन्हें धार्मिक महत्त्व का माना गया है। सांची, भरहुत और अमरावती की कला में

वृक्षों का धार्मिक महत्त्व स्पष्ट है।

(15) सिंधु सभ्यता की कुछ मूर्तियां इस तरह मुद्रा में दिखाई गयी हैं जो जैन तीर्थकरों की कायोत्सर्ग मूर्तियों से मिलती हैं।

(16) एक मुद्रा में योगी के हाथ में ताबीज बंधा है। कुछ अन्य अवशेषों को भी ताबीज पहचाना गया है। परवर्ती भारतीय जीवन में ताबीजों का प्रयोग पर्याप्त रूप से हुआ।

(17) मूर्तियों में प्रजनन अंगों को स्वाभाविक से कहीं अधिक बढ़ा–चढ़ा कर दिखाना, सिंधु सभ्यता काल और ऐतिहासिक काल की मूर्तियों में दिखाई देता है। इसका धार्मिक महत्त्व लगता है।

(18) 'योगी' की मूर्ति जिस तरह से बायां कंधा ढके दायें के नीचे से होकर शाल धारण किये दिखाई गई है, वही विधि हम परवर्ती काल में विशेषतया बुद्धमूर्तियों में संघाटि धारण करने में पाते हैं।

(19) शंख से आभूषण या अनुष्ठान सामग्री का निर्माण सिंधु सभ्यता में था और आज भी है, वह विष्णु के हाथ में दिखाया जाता है। वह सुख दुःख का संदेश भेजने, युद्ध का प्रारंभ करने, तथा किसी स्थल को पवित्र करने में प्रयुक्त होता रहा है।

(20) कुछ लोग मोहेंजोदड़ो से प्राप्त कांस्य मूर्ति को मन्दिर से सम्बद्ध नारी की मूर्ति मानते हैं और उसे आज की देवदासी का पूर्व रूप मानते हैं।

(21) कालीबंगां और लोथल में अंग्निवेदिकाएं मिलीं। बाद की संस्कृति में भी इस तरह की वेदिकाओं का चलन रहा है।

(22) कला के क्षेत्र में भी सिंधु सभ्यता का प्रभाव लगता है। सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर वृषभ का अत्यन्त सजीव और प्रभावोत्पादक आलेखन है। कुछ विद्वानों ने अशोक कालीन रामपुरवा के स्तम्भ–शीर्ष के वृषभ में इसी कला–परंपरा का निर्वाह हुआ माना है। मोहेंजोदड़ो की कांस्य नर्तकी में भारतीय नारी सौंदर्य के आदर्शों का कुछ रूप मिलता है।

(23) मनुष्य–पशु युद्ध का चित्रण सिंधु सभ्यता की मुद्राओं और ऐतिहासिक काल की बसाढ़ से प्राप्त एक मुद्रा और अहिच्छत्रा के मृण्मय फलक पर मिलता है।

(24) मोहेंजोदड़ो के गढ़ीवाले टीले में स्तंभ–युक्त भवन के अवशेष मौर्य–कालीन पाटलिपुत्र के स्तंभों पर आधारित भवनों की याद दिलाते हैं।

(25) आज भी परंपरागत पद्धति पर बने घरों में सिंधु सभ्यता की भांति बीच में आंगन और उसके चारों ओर कमरे मिलते हैं। साथ ही गरमी में आंगन में ही भोजन पकाने की व्यवस्था मिलती है।

(26) सिंधु सभ्यता के समय के तंदूरों से मिलते–जुलते तंदूर आज भी प्रचलित हैं।

(27) आलमगीरपुर में प्राप्त चकलों के समान चकले आज भी रोटी बेलने के लिए प्रयोग में आते हैं। यद्यपि सिंधु काल के चकले मिट्टी के बने हैं और आज के पत्थर के।

(28) कुछ विद्वान् कौशाम्बी के उत्खनन में उद्घाटित रक्षा प्राचीर की निर्माण शैली को सिंधु सभ्यता की रक्षा प्राचीर निर्माण शैली से प्रभावित मानते हैं किंतु यह अत्यंत संदेहास्पद है।

(29) कुछ विद्वान् सिंधु सभ्यता की ताम्रपट्टिकाओं को आहत सिक्कों का पूर्वरूप मानते हैं।

(30) सिंधु सभ्यता की चंद नारी मृण्मूर्तियों में मांग पर सिन्दूर लगाने का साक्ष्य मिला है। आज भी मांग में सिंदूर लगाना स्त्री के विवाहिता और सधवा होने का परिचायक है।

(31) कुछ मृण्मूर्तियों के हाथ को नमस्कार की मुद्रा में दिखाया गया है आज नमस्कार की यही मुद्रा है।

(32) सिंधु सभ्यता की बैलगाड़ियां आज की बैलगाड़ियों से विशेष भिन्न नहीं थी। उनका नाप भी सिंधु सभ्यता की बैलगाड़ियों के समान है।

(33) हड़प्पा से एक इक्का आज पूर्वी उत्तर प्रदेश के इक्कों से मिलता है।

(34) अधिकांश विद्वानों का मत है कि भारत में सिंधु सभ्यता के लोगों ने ही सबसे पहले हाथी पालना शुरु किया। प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में हाथी का सेना में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

(35) बच्चों की कीड़ीकाड़ा खेलने के चकती जैसे सिंधु सभ्यता में मिले वैसे आज भी चलन में है।

(36) मोहेंजोदड़ो की शिव–पशुपति की मुद्रा पर ग्रैवेयक दिखाया गया है। ऐतिहासिक काल में यक्ष की मूर्तियों के गले में उसी तरह का ग्रैवेयक बना मिलता है।

(37) मोहेंजोदड़ो की कांस्य नर्तकी जिस तरह के बाजूबंद और पायल पहने है उस तरह की आज भी राजस्थान और गुजरात की नारियां पहनती हैं।

(38) मनके के हार, कर्णाभरण, चूड़ियां, अंगूठी, कर्धनी आदि आभूषण जो सिंधु सभ्यता में प्रचलित थे बाद की सभ्यताओं में भी लोकप्रिय रहे।

(39) सिंधु सभ्यता के संदर्भ में लगभग वर्गाकार कंघियां जिनके दोनों ओर दांत मिले हैं। आज भी ऐसी कंघियां बनती हैं ये अब लकड़ी की बनती हैं सिंधु सभ्यता में ये हाथी दांत की थीं।

(40) सिंधु सभ्यता के कुछ बर्तन प्रकार थाली, कुल्हड़, कटोरे, कमण्डल की तरह का बर्तन, बच्चों को खिलाने के लिये थे। इसी तरह के बाद की संस्कृतियों में भी मिलते हैं।

(41) कनिंघम और कुछ अन्य विद्वान् सिंधु सभ्यता की लिपि को ब्राह्मी लिपि का मूल मानते हैं।

(42) सिंधु सभ्यता में पुरोहितों, व्यापारियों, कृषकों और मजदूरों के वर्ग दिखाई देते हैं जो ऐतिहासिक काल के क्रमशः ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र वर्ण के परिचायक हो सकते हैं। लम्बे समय तक कुम्हारों के भट्ठे का एक ही जगह पर होना, वंशानुगत पेशे का द्योतक है। ऐतिहासिक काल में कुम्हारों का व्यवसाय वंशानुगत रहा है।

(43) कालीबंगां में विकसित सिंधु सभ्यता से पूर्व की संस्कृति में जुता खेत मिला, जिसमें आड़े–तिरछे सीते हैं जो एक साथ दो फसल बोने के साक्ष्य हैं और निश्चिय ही सिंधु सभ्यता में भी प्रचलित रहे होंगे। इस तरह की कृषि की विधि आज भी राजस्थान, हरयाणा और पूर्वी उत्तर–प्रदेश आदि क्षेत्रों में प्रचलित है। मोहेंजोदड़ो से मिट्टी के हल के माडल खण्डित अवस्था में मिले किंतु बणावली से एक साबुत माडल मिला है जिससे स्पष्ट है कि उस काल का हल आज से भिन्न नहीं था।

(44) सिंधु सभ्यता में गढ़ी और निचला नगर की योजना है जो संभवतः दो विभिन्न वर्गों के रहने के स्थल थे। परवर्ती ऐतिहासिक काल में विभिन्न वर्गों के लिये किसी आवास स्थल में अलग–अलग क्षेत्र निर्धारित किये गये हैं।

ब्रजवासी लाल ने इस बात का विश्लेषण किया कि सिंधु सभ्यता के कौन से तत्त्व बाद में भी विद्यमान रहे और आज तक चले आ रहे हैं और कौन इस सभ्यता के साथ ही समाप्त हो गये। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि संस्कृति के जो नगरीय तत्त्व थे वे जैसे ही नगर सभ्यता का अंत हुआ समाप्त हो गये, यथा मुद्राएं, बाट–बटखरे। लेकिन जो तत्व ग्रामीण परंपरा के द्योतक है, यथा बैलगाड़ी, दोनों दिशाओं में सीते बनाकर खेत की जुताई, हल की आकृति, धार्मिक विश्वास एवं अनुष्ठान इत्यादि, बाद में भी चलते रहे। सिंधु सभ्यता का ह्रास हुआ और उसके नगर समाप्त हो गये, लेकिन लोग रहे। पहले ग्रामीण संस्कृति से नगर विकसित हुए थे, फिर नगर पुनः ग्राम बन गये।

परिशिष्ट 7

तिथि निर्धारण की रेडियो–कार्बन विधि

तिथि निर्धारण की रेडियो कार्बन (अथवा कार्बन–14) विधि लिब्बी ने 1949 में खोज निकाली थी और लगभग अर्द्धशती से अनेक संस्कृतियों की तिथि निर्धारण में इसकी सहायता ली गयी है। सिंधु सभ्यता के कुछ स्थलों के लिए कार्बन–14 तिथियां उपलब्ध हैं। इस विधि में कार्बन पदार्थों की तिथि निर्धारित करने का आधार है उस पदार्थ में उपलब्ध कार्बन–14 तत्त्व के अर्द्धजीवन का आंकलन करना। जीवधारियों अर्थात् मनुष्य, पशु–पक्षी और वनस्पति में दो तरह का कार्बन पाया जाता है –कार्बन–12 और कार्बन–14। जीवितावस्था में कार्बन–12 और कार्बन–14 का अनुपात सभी जीवधारियों और वनस्पति में समान होता है। जीवधारी के मरने अथवा वनस्पति के कटने और सूखने के बाद भी कार्बन 12 उतना ही रहता है जितना जीवितावस्था में था, लेकिन कार्बन–14 धीरे–धीरे कम होने लगता है। उसमें यह क्षय एक निश्चित गति से होता है। पहले विद्वानों का यह मत था कि जैविक (कार्बनिक) पदार्थों में कार्बन–14 की मात्रा 5568 ± 30[1] सालों में अपनी मूल मात्रा से आधी हो जाती है। अब अधिकांश विद्वान् कार्बन–14 का अर्द्धजीवन 5730 ± 40 के नये मत को वर्ष मानते हैं।

इस संबंध में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि कार्बन–14 तिथि हेतु जो प्रतिदर्श (Sample) भेजा जाय उसमें यह उल्लेख करना आवश्यक है कि वह जले अनाज के दाने का है या लकड़ी का; और फिर लकड़ी के प्रतिदर्श में भी यह उल्लेख होना आवश्यक है कि यह भवन के खम्भे का है या साधारण लकड़ी का। यह इसलिए आवश्यक है कि कार्बन–14 विधि से लकड़ी के सूखने की तिथि का ज्ञान होगा न कि उसके भवन में प्रयोग किये जाने का और पुराने मकान की अच्छी लकड़ी का प्रयोग पुनः नये मकान में हो सकता है और ऐसी दशा में किसी मकान की तिथि लकड़ी के

1. धन ऋण (±) का चिह्न इस बात का द्योतक है कि इस चिह्न से पहले दी गई संख्या एकदम निश्चित नहीं है और इस बात की गुंजाइश है कि इस चिह्न के बाद दी हुई संख्या को इसमें एक बार बढ़ाने से और इसमें से घटाने से जो दो सख्याएं मिले वास्तविक तिथि उन दोनों के बीच कहीं भी हो सकती है। उदाहरण के लिए 5730 ± 40 का अर्थ है कि तिथि परीक्षण के समय से (5730+40 =) 5770 तथा (5730–40=) 5690 वर्षों के बीच कहीं भी हो सकती है। यों तो इन दो संख्याओं के बीच की संख्या निकालने से उसमें गलती होने की सीमा कम हो जाती है, लेकिन कुछ विद्वानों ने चेतावनी दी है कि जब तक किसी स्थल के चरण विशेष के बारे में अनेक संगत कार्बन–14 तिथियां ज्ञात न हों तब तक बीच की संख्या को सही तिथि के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता और इसलिए ± का चिह्न लगाना ही वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त हैं।

लिए प्राप्त कार्बन–14 तिथि से बाद की हो सकती है। साधारणतया किसी भवन में प्राप्त जले अन्न के दानों की तिथि और उस भवन की तिथि एक ही होगी।

किसी संस्कृति के तिथि निर्धारण के संदर्भ में कार्बन–14 विधि के प्रयोग संबंधी कुछ बातों का उल्लेख आवश्यक है। अच्छा तो यह है कि उस संस्कृति विशेष के न केवल किसी स्थल विशेष के विभिन्न चरणों से अपितु एक ही परत के लिए भी अनेक कार्बन–14 तिथियां ज्ञात हों। ऐसा करने से ही सही तिथि ज्ञात होने की अधिक संभावना हैं। निश्चय ही किसी स्थल विशेष से प्राप्त केवल एक या दो कार्बन–14 तिथियां उस स्थल की निश्चित तिथि निर्धारित करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। अक्सर यह धारणा हो सकती है कि 'प्रारंभिक' प्रतिदर्श (सैम्पल) लगभग संस्कृति के प्रारंभ के द्योतक हैं और 'बाद' के सभ्यता के अंत के। लेकिन यह आवश्यक नहीं हैं। बल्कि अधिकांशतः ऐसी संभावना कम ही रहती है। इससे बस इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पहले वाली तिथि के समय संस्कृति विद्यमान थी और बाद वाले के बाद तक यह बनी रही। फिर किसी स्थल पर सभ्यता के प्रारंभ और अंत और उसके विभिन्न चरणों के संदर्भ में कार्बन–14 विधि से ज्ञात की गयी तिथियां उस स्थल विशेष के लिए ही मान्य हो सकती है। उन तिथियों को उसी संस्कृति के अन्य स्थानों के लिए भी आंख मूंदकर स्वीकार नहीं किया जा सकता, विशेष रूप से तब जबकि यह स्थल दूर–दूर स्थित हों और उनके भौगोलिक वातावरण में भी भिन्नता हो। सिंधु सभ्यता के संदर्भ में, जिसका विस्तार एक अत्यंत विस्तृत भू–भाग पर रहा था, जिसके स्थल विभिन्न भौगोलिक और जलवायु की परिस्थितियों में हैं और साधारण ग्राम्य संस्कृति से लेकर विकसित नगर सभ्यता के द्योतक हैं, यह सोचना स्वाभाविक है कि सामान्यतः बस्तियों का उदय और अंत अलग–अलग स्थानों पर अलग–अलग कारणों से अलग–अलग समय में हुआ होगा।

एक बात स्पष्ट है कि विद्वान् कार्बन–14 विधि के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी उसे अब उतनी निश्चित रूप से सही तिथि बताने वाली विधि नहीं मानते जितनी कि शुरु–शुरु में मानते थे, जब इस विधि की पहली खोज हुई थी। विदेशों में कुछ वृक्ष–वलय विधि (डेण्ड्रोक्रोनोलॉजी) और अनुवर्ण मृत्तिका (Clay varve) परीक्षण से प्राप्त तिथियों और कार्बन–14 विधि से प्राप्त तिथियों में पर्याप्त अंतर पाया गया। भारत में उपर्युक्त दोनों ही विधियों का प्रयोग अभी संभव नहीं हो सका है, अतः यहां पर कार्बन–14 तिथियों की तुलना के लिए उनका साक्ष्य उपलब्ध नहीं। किंतु इनके संबंध में विदेशों से प्राप्त कार्बन–14 तिथि के बारे में प्राप्त तथ्य हमें सचेत करने के लिए पर्याप्त हैं।

कुछ समय पूर्व तक ऐसी धारणा थी कि जीवधारियों में कार्बन–14 ग्रहण करने की दर विश्व के सभी क्षेत्रों में सदैव एक ही रही है, लेकिन अब विद्वानों ने इस पर संदेह व्यक्त किया हे। कुछ कारणों यथा औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन हेतु ईंधन के रूप में अत्यधिक कोयला प्रयोग होने से अथवा परमाणु विस्फोट के कारण इसमें अंतर

आ सकता है। यह देखा गया है कि मिस्र और मेसोपोटामिया के इतिहास के तृतीय और द्वितीय सहस्राब्दी ई. पू. के मध्य की बहुत सी ऐसी तिथियां हैं जो लिखित ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर लगभग निश्चित हैं किंतु कार्बन–14 विधि से उस काल के स्तरों के लिए जो तिथियां ज्ञात हैं वे इन लिखित साक्ष्यों से ज्ञात तिथियों के बहुत बाद की हैं। यदि यह भी मान लें कि ऐतिहासिक साक्ष्यों से निर्धारित तिथियों के पूर्णतया निश्चित तिथियां स्वीकार करना कठिन है, तो भी कुछ कार्बन–14 तिथियां ऐसी हैं जिन्हें ने केवल संदिग्ध अपितु असंभव की संज्ञा देनी होगी। उदाहरण के लिए कार्बन विधि के अनुसार तृतीय राजवंश के राजा जोसेर (Djoser) की जो तिथि मिलती है वह उसके उत्तराधिकारी हुमी (Humi) की लगभग निश्चयपूर्वक ज्ञात तिथि से 8 शताब्दी बाद की है।[1] व्हीलर का कहना है कि हो सकता है कि इस तरह की विसंगति किन्हीं कारणों से सिंधु सभ्यता की कार्बन तिथियों पर भी लागू होती हो।

1. वैसे यह भी हो सकता कि तिथि का यह भेद प्रतिदर्शों के दूषित होने के कारण हो। लेकिन एक नहीं अनेक प्रतिदर्शों का साक्ष्य इस धारणा का समर्थन नहीं करता।

परिशिष्ट 8
सिंधु सभ्यता और वैदिक संस्कृति

सिंधु सभ्यता की खोज होने के समय से यह प्रश्न बराबर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करता रहा है कि इस सभ्यता के जनक कौन थे। इस समस्या के हल के लिए साहित्यिक, पुरातात्त्विक, नृतात्त्विक, अभिलेखीय, पादप विज्ञान, खगोलशास्त्रीय, भौगोलिक इत्यादि साक्ष्यों का सहारा लिया गया है। विलियम जोन्स ने बताया कि संस्कृत के कई शब्द ग्रीक लैटिन आदि कई योरोपीय भाषाओं से मिलते हैं (यथा संस्कृत पितृ– लैटिन पेटर–जर्मन फाटर, अंग्रेजी फादर,) और यह मत व्यक्त किया गया कि इन भाषाओं के बोलने वाले कभी एक समूह में रहते थे इसके बारे में मध्य, और एशिया, यूरोप के विभिन्न क्षेत्र, भारत आदि का आर्यों का मूल स्थान होने की बात कही हैं। यह मत व्यक्त किया गया कि सिंधु सभ्यता के लोग द्रविड़ थे जिन्हें आर्यों ने विजय करते हुए सुदूर दक्षिण में पलायन करने को मंजूर किया। इस संदर्भ में वे कुछ द्रविड़ शब्दों यथा नीर (जल) और मीन (मछली) का संस्कृत भाषा में समावेश इसी प्रक्रिया से आया मानते हैं। लेकिन यह उनके आक्रमण के फलस्वरुप हुआ इसका कोई प्रमाण नहीं। वैदिक संस्कृति के धारकों के अन्य लोगों से व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध भी हो सकते थे। यह मत भी व्यक्त किया गया कि आक्रमण के फलस्वरुप पलायन करते हुये कुछ द्रविड़ बलूचिस्तान के एक क्षेत्र में बच गये जहां अब भी द्रविड़ भाषा से कुछ-समानता लिये ब्राहुई भाषा बोली जाती है। लेकिन एक मत के अनुसार राजनैतिक उथल–पुथल के कारण बहुत बाद में, कुषाण काल के लगभग, कुछ दक्षिण भारत के लोग बलूचिस्तान में आकर बसे और ब्राहुई बोलने वाले उन्हीं की संतान हैं। यह विचारणीय है कि सुदूर दक्षिण तक यदि आर्यों ने द्रविड़ों को खदेड़ा था तो गोदावरी से दक्षिण में सिंधु सभ्यता की बस्तियां क्यों नहीं मिलीं। कई विद्वानों ने वैदिक और सिंधु सभ्यता की कुछ आधारभूत विभिन्नताओं की ओर ध्यान आकर्षित कर उन्हें अलग परिस्थितियों की उपज माना है। मार्शल और कुछ अन्य विद्वानों ने सिंधु सभ्यता औा ऋग्वैदिक सभ्यता के मध्य अंतर को इस प्रकार दिखाया है ।:– (1) ऋग्वैदिक संस्कृति ग्रामीण लगती है जबकि सिंधु सभ्यता के लोग सुनियोजित नागरिक जीवन से भलीभांति परिचित थे। (2) आर्य धातुओं में सोने तथा चांदी से परिचित थे और यजुर्वेद में लोहे के प्रयोग के भी संदर्भ मिलते हैं। सिंधु सभ्यता के लोग सोने, चांदी का प्रयोग करते थे, किंतु उन्होंने चांदी का उपयोग सोने से अधिक किया; तांबें और कांसे के विभिन्न आयुधों तथा उपकरणों का निर्माण वे जानते थे, किंतु वे लोहे से परिचित नहीं थे। (3) ऋग्वैदिक आर्यों के जीवन में अश्व का बड़ा महत्त्व था। किंतु इस विषय में निश्चित साक्ष्य नहीं है कि सिंधु सभ्यता के लोग अश्व से परिचित थे (4) वेदों में व्याघ्र का उल्लेख नहीं मिलता और हाथी का अत्यल्प मात्रा में उल्लेख मिलता

है। किंतु सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर व्याघ्र और हाथी दोनों ही का अंकन है। (5) आर्य विभिन्न अस्त्र–शस्त्रों का निर्माण करते थे। वे रक्षा उपायों में कवच बनाना जानते थे, जबकि सिंधु सभ्यता के किसी भी स्थल की खुदाई से निश्चित रूप से रक्षा संबंधी कोई भी वस्तु अभी तक नहीं मिली। (6) आर्य गाय को विशेष आदर देते थे। सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर गाय के अंकन नहीं मिलते तथा पत्थर मिट्टी तथा अन्य सामग्री से बनी कलाकृतियों में उसकी आकृति के अभाव से लगता है कि गाय की विशेष महत्ता नहीं थीं, उसकी अपेक्षा बैल का अधिक महत्त्व था। (7) आर्य संभवतः मूर्तिपूजक नहीं थे। दूसरी ओर सिंधु सभ्यता के लोगों में मूर्तिपूजा का चलन लगता है। सिंधु सभ्यता के स्थलों से नारी मुर्तियां प्रभूत संख्या में उपलब्ध होने से लगता है कि सिंधु सभ्यता के देवताओं में मातृदेवी को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। आर्यों में पुरुष देवता अधिक महत्त्वपूर्ण रहे हैं, देवियों का महत्त्व अपेक्षाकृत कम है। (9) मार्शल ने मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में अग्निकुंडों के अवशेषों का न मिलना इस बात का प्रमाण माना कि यहां पर यज्ञादि का प्रचलन नहीं रहा होगा। जबकि आर्यों के धार्मिक जीवन में यज्ञों का अत्यंत महत्त्व रहा है।[1] (10) सिंधु सभ्यता की मुद्राओं और अन्य उपकरणों से स्पष्ट है कि लोग लिखना जानते थे किंतु आर्यों के विषय में कई विद्वानों की धारणा है कि वे लिखना नहीं जानते थे और अध्ययन–अध्यापन मौखिक रूप से करते थे। (11) ऋग्वेद में असुरों के दुर्गों का उल्लेख है और हम यह जानते हैं कि सिंधु सभ्यता के प्रायः सभी प्रमुख नगरों में दुर्ग थे। (12) अनार्यों को चपटी नाक वाला भी कहा गया है। हड़प्पा संस्कृति की कुछ मूर्तियों में भी चपटी नासिका दिखलायी गयी है। आर्यों की नाक अपेक्षाकृत प्रखर होती थी।

कुछ विद्वानों ने हड़प्पा सभ्यता और वैदिक संस्कृति को एक ही माना है। उनके अनुसार दोनों में जो विभेद है उसका कारण समय का अंतर है। उनके अनुसार ऐसी स्थिति में वैदिक संस्कृति या तो हड़प्पा सभ्यता की जन्मदात्री थी अथवा उससे ही विकसित थी। मार्शल ने इस मत को स्वीकार करने में कठिनाइयां बताई हैं। उनके अनुसार यदि यह मान लिया जाय कि वैदिक संस्कृति हड़प्पा सभ्यता से पहले की है तो ऐसी कल्पना करना युक्ति संगत ही होगा कि वैदिक ग्रामीण संस्कृति से शनैः शनैः हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो जैसे नगर का विकास हुआ। ऐसी स्थिति में विकास के लिए काल का अंतर रखना होगा। यह भी देखना है संस्कृति संबंधी जिस तरह की सामग्री का ऋग्वेद में उल्लेख है वह आगे हड़प्पा सभ्यता के काल में भी मिलती है कि नहीं ? उदाहरण के लिए यदि वैदिक संस्कृति सिंधु सभ्यता की पूर्वगामिनी है तो रक्षात्मक वस्तुओं (कवच आदि) का सिंधु सभ्यता में अभाव क्यों है ? सिंधु सभ्यता में लोहें का प्रयोग क्यों नहीं मिलता, और अश्व, जो वैदिक साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण पशु है, उसके सिंधु सभ्यता के हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो जैसे नगरों से निश्चित और प्रभूत मात्रा में साक्ष्य क्यों नहीं मिलते ? गाय के स्थान पर वृषभ का धार्मिक महत्त्व कैसे हो गया ? सिंधु सभ्यता के कुछ स्थलों में नव पाषाण कालीन उपकरणों का

मिलना तो इस बात की ओर इंगित करता है कि सिंधु सभ्यता वैदिक संस्कृति की पूर्वगामिनी थी।

दूसरी ओर, मार्शल ने तर्क दिया है, यदि सिंधु सभ्यता को ही आर्य वैदिक संस्कृति मानें और कालक्रम की दृष्टि से उसे वैदिक संस्कृति से पहले का रूप मानें तो इस बात का समुचित उत्तर नहीं मिल पाता कि जिन आर्यों ने हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो और अन्य स्थलों पर ईंटों के भवनों का निर्माण किया था वही आगे चलकर वैदिक युग में, जैसा (मार्शल के मत में) वैदिक साक्ष्यों से आभासित होता है, लकड़ी और बांस के मकान बना कर क्यों रहने लगे ? कैसे उन्होने लिंग और मूर्तिपूजा को त्याग दिया या उसे एकदम गौण स्थान दिया और आगे चलकर ऐतिहासिक काल में पुनः उसे बड़े पैमाने पर, अंगीकार कर लिया ? सिंध प्रदेश को जहां पर सिंधु सभ्यता के कुछ सबसे महत्त्वपूर्ण स्थल मिले हैं, वेदों में विशेष महत्त्व क्यों नहीं दिया गया है। मार्शल के मतानुसार इस बात की अधिक संभावना लगती है कि वैदिक संस्कृति हड़प्पा संस्कृति की उत्तरगामिनी ही नहीं थी, अपितु उसका विकास ही इतर परिस्थितियों में हुआ था।

यदि सिंधु सभ्यता और वैदिक संस्कृति भिन्न है और वैदिक संस्कृति बाद की है तो क्या सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण में वैदिक संस्कृतिवालों से उनका संपर्क हुआ, अथवा वैदिक संस्कृति सिंधु सभ्यता के समाप्त होने के बाद की है। मार्शल, जिन्होंने सिंधु सभ्यता की तिथि 3250 से 2750 ई. पू. मानी थी, ने इस सभ्यता को न केवल अनार्य ही माना है, अपितु आर्यों के आगमन से बहुत पूर्व समाप्त हुई बताया है। गार्डन चाइल्ड और व्हीलर ने जिन्होंने इस सभ्यता का प्रारंभ लगभग 2500 ई. पू. और अंत 1500 ई. पू. आंका है, आर्यों को इस सभ्यता के अंत के लिए उत्तरदायी ठहराया है।

किंतु इस सिलसिले में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि वैदिक भाषा और प्रतीकों का निश्चित अर्थ ज्ञात न होने से कुछ संदर्भों में ठीक–ठीक इतिहास का निर्माण आसान नहीं। किसी वस्तु विशेष का उल्लेख साहित्य में न होना इस बात का प्रमाण नहीं कि वह वस्तु थी ही नहीं। फिर हाल ही की कुछ खुदाइयों से ऐसे नये साक्ष्य भी मिले हैं जो मार्शल के समय तक ज्ञात नहीं थे। उदाहरणार्थ लोथल से घोड़े की मृण्मूर्तियां मिली हैं। सुरकोटड़ा तथा कुछ अन्य स्थलों में सिंधु सभ्यता के संदर्भ में घोड़े की हड्डियां मिली हैं। यों मोहेंजोदड़ों से प्राप्त एक मृण्मूर्ति को भी कुछ लोगों ने घोड़े की आकृति पहचाना था। मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन में तो अग्निकुंड के निश्चित साक्ष्य नहीं मिले थे, किंतु कालीबंगां, लोथल और कुछ अन्य स्थलों से अग्निकुंडों के निश्चित प्रमाण मिल चुके हैं, जिनका ऊपर धार्मिक विश्वास और अनुष्ठान में कुछ विस्तार से उल्लेख किया गया है। ब्रजवासी लाल तथा कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि वैदिक लोग नगरों से अपरिचित नहीं थे। ऋग्वेद में उल्लिखित पुर सुरक्षा दीवार से घिरे नगर का परिचायक है। उनके अनुसार ऋग्वेद से समुद्री यात्रा और समुद्री व्यापार पर भी प्रकाश पड़ता है। इसमें 100 चप्पे वाली नौकाओं का उल्लेख है। राजन, राष्ट्र, सम्राट्, सभा, समिति, विदथ जैसी संस्थाओं

तथा अध्यक्ष, दूत, सेनानी जैसे पदाधिकारियों का उल्लेख, विस्तृत व्यापार, के संदर्भ में एक सुगठित राजतंत्र, जिसमें प्रजा का महत्त्वपूर्ण भाग था, और आर्थिक विकास के द्योतक हैं। कुछ विद्वान् सिंधु सभ्यता को आर्यों की ही सभ्यता मानते हैं।

कतिपय विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद के बहुत कुछ सूक्तों को मुद्राओं के अंकन द्वारा समझाया गया है। हड़प्पा के जिस स्थान में व्हीलर ने मंदिर होने की संभावना बतायी है वहीं के आयताकार राख युक्त अलग–अलग खंडों में बंटी हुई इमारत की पहचान कुछ ने वैदिक यज्ञवेदी से की है। कालीबंगां, लोथल और कुछ अन्य स्थलों की खुदाइयों में तो अग्निवेदियों के निश्चित प्रमाण प्राप्त हुए हैं। कुछ विद्वान इन्हें यज्ञभूमि मानते हैं। ऋग्वेद के अनुसार सोम यज्ञ की परिसमाप्ति पर पापों से विमुक्ति के लिए विशिष्ट स्नान करना पड़ता था। हो सकता है मोहेंजोदड़ो का विशाल स्नानागार ऐसे ही कार्यों के लिए प्रयुक्त रहा होगा। मोहेंजोदड़ो के कुछ स्थलों से जो भाण्डों के ढेर के ढेर मिले हैं वे बुद्ध प्रकाश के अनुसार, यज्ञीय पात्र (कपाल) हो सकते हैं जिन पर यज्ञ के समय पिण्ड अर्पित किये जाते थे। ऋग्वैदिक एवं हड़प्पा संस्कृतियों के शवोत्सर्ग की परंपरओं में भी कुछ समानता थी। वैदिक साहित्य में उल्लिखित दास, दस्यु सिंधु सभ्यता के ही कुछ लोगों के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं। इसी साहित्य में उल्लिखित पणि की इसी सभ्यता के व्यापारियों से पहिचान की गयी है, जिन्हें ऋग्वेद में लालची, धनी, और भेड़िये के समान क्रूर कहा गया है। बुद्ध प्रकाश के अनुसार नागरिकों के शोषण और अत्याचार के विरुद्ध ग्रामवासियों ने विद्रोह किया और नगरों को बर्बाद कर दिया। इस संदर्भ में वह यह भी उल्लेख करते हैं कि दिवोदास को 'ऋणच्युत' अर्थात् लोगों से मुक्ति प्रदाता बतलाया गया है।

शि0 रंगनाथ राव का मत है कि हड़प्पा सभ्यता के अंतर्गत विभिन्न जातियां थीं। इनमें एक जाति भारोपीय थी जिसका उस संस्कृति के निर्माण में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। उनके अनुसार आर्य कई समूहों में आये थे और इनमें कुछ ऋग्वेदिक आर्यों से भी पहले आ चुके थे। जिस समय ऋग्वेदीय आर्य भारत में आये उस समय तक पहले से आये हुए आर्य यहां के लोगों के साथ घुल–मिल गये थे और वे उनके रहन–सहन और भाषा आदि से प्रभावित हुए थे। ऋग्वेदीय आर्यों ने उनका उल्लेख असुर, मृध्रवाच् और वैदिक परंपरा को न मानने वालों के रूप में किया है। यह कुछ ऐसे ही हैं जैसे चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में भयानक अकाल के कारण भद्रबाहु जब दक्षिण से लौटे तो उन्होंने उत्तर भारत में जैन मुनियों को वस्त्र पहने देख उन्हें पतित माना। राव वैदिक साहित्य में वर्णित सुरों और असुरों को मूलतः एक ही मूल का मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में वर्णित दशराज्ञ–युद्ध भी पहले आये हुए आर्यों (पुरुओं) और बाद में आये आर्यों (भरतों) के बीच हुआ था।

राव लोथल का संदर्भ देते हुए कहते हैं कि यहां पर सिंधु सभ्यता के लोगों द्वारा पशु–बलि दियं जाने और अग्निपूजा किये जाने तथा घोड़े और चावल का ज्ञान होने के स्पष्ट साक्ष्य मिले हैं। उनका यह भी मत है कि लोथल के लोग रथों से भी

परिचित थे। वे कहते हैं कि ऋग्वेदीय आर्य भले ही ग्रामवासी रहे हों लेकिन उनसे पहले के आर्य नगरों की जनसंख्या का एक भाग थे। सिंधु सभ्यता के हर नगर के आसपास ग्राम थे और स्वयं इस सभ्यता के लोग भी अंतिम चरण में बहुत कुछ ग्रामीण हो गये थे। उनका कहना है कि लगभग 1900 ई. पू. में आर्यों को अपने अभियान में सिंधु सभ्यता के लोगों का सामना करना पड़ा था, जिनकी संस्कृति उस समय ह्रासोन्मुखी थी। सिंधु सभ्यता की कई जातियों में से एक ऋग्वेदीय आर्यों से पहले के आये हुए आंर्यों की भी थी। मातृदेवी और शिव अनार्य देवता हो सकते हैं, किंतु पशुबलि और अग्निपूजा आर्यों में प्रचुर मात्रा में प्रचलित थी। जहां तक सिंधु सभ्यता के लोगों के लेखनकला से भलीभांति परिचित होने और आर्यों के इससे अनभिज्ञ होने के तर्क का प्रश्न है, राव के अनुसार यह हो सकता है कि आर्य लेखनकला से परिचित थे लेकिन उनके लेख शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं पर लिखे होने के कारण उपलब्ध नहीं हैं। राव के अनुसार इस मत में ज्यादा बल नहीं कि आर्य 1500 ई. पू. में ही आये। यह अधिक तर्क संगत लगता है कि वे उससे काफी पहले यहां आ चुके थे।

आल्चिन और श्रीमती आल्चिन का कहना है कि कार्बन–14 और अन्य नवीनतम विधियों के प्रचलन के बाद अब सिंधु सभ्यता की जो तिथियां ज्ञात हैं उनसे उसके आर्यों के संपर्क में आने की बात में कोई विरोध तो नहीं ही मिलता, बल्कि उनके अनुसार यह मान लिया जाय कि सिंधु सभ्यता एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में लगभग 2150 ई. पू. में प्रारंभ हुई तो आर्य लोग इस सभ्यता के प्रारंभ के प्रेरणा स्रोत के लिए भी उत्तरदायी हो सकते हैं। वे यह भी लिखते हैं कि हाल ही में यूनान और एशिया माइनर में हुए शोध कार्य से ज्ञात होता है कि इस तिथि के आसपास भारोपीय लोगों की गतिविधियां शुरू हो गयी थीं।

ब्रजवासी लाल ने स्मरण दिलाया है कि ऋग्वेद में उल्लिखित और सिंधु सभ्यता के विस्तार का भौगोलिक क्षेत्र लगभग समान है। ऋग्वेद में सरस्वती का अनेक बार, यमुना का तीन बार, और गंगा का एक बार उल्लेख हुआ है। इनसे पश्चिम में शुतुद्री (सतलज) सिंधु, विपाशा (व्यास), परुष्णी (रावी), असिक्नी (चेनाब), वितस्ता (झेलम), और इससे भी पश्चिम में कुभा (काबुल), क्रमु (कुर्रम), गोमती (गोमल) वर्णित हैं। इस तरह इन नदियों के उल्लेख से अफगानिस्तान, पाकिस्तान, पंजाब, हरियाणा, उत्तर पूर्वी राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश का क्षेत्र ऋग्वेद कालीन लोगों द्वारा ज्ञात रहा है। सिंधु सभ्यता का शोर्तुघई (अफगानिस्तान) और आलमगीरपुर (उत्तर प्रदेश) के बीच के क्षेत्र में अनेक सिंधु सभ्यता के स्थल नगर और ग्राम हैं। वे आर्यों के विदेशी आक्रमणकारी होने के मत के विरुद्ध इस मत को उद्धृत करते हैं जिसके अनुसार जनसंख्या में लगभग 4500 ई. पू. से 800 ई. पू. तक जीव–विज्ञान सम्बन्धी निरंतरता है और बाहर से लोगों के आने के साक्ष्य नहीं मिलते। इस तरह उनका कहना है कि न तो सिंधु संस्कृति और ऋग्वेदिक संस्कृति के भौगोलिक क्षेत्र में अंतर है, न लोगों में अंतर है, और न काल व्यवधान ही है।

परिशिष्ट 9

सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण और बाद की कुछ उत्तर भारतीय संस्कृतियां

सिंधु सभ्यता के विश्रृंखलन के बाद उत्तर भारत में, इस सभ्यता के क्षेत्र में विभिन्न संस्कृतियों के अवशेष पाये गये हैं। सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण में हड़प्पा में कब्रिस्तान 'एच' भाण्ड एवं शवाधान संस्कृति, चन्हुदड़ो में झूकड़ प्रकार के उपकरण, लोथल और रंगपुर में चमकदार लाल रंग के मृद्भांडों की संस्कृति के अवशेष मिले हैं। 'गेरुए भांड' संस्कृति का काफी विस्तार मिला है और उसे ताम्र–निधानों से भी संबद्ध किया गया है। रोपड़ और आलमगीरपुर में सिंधु सभ्यता के बाद कुछ अंतराल से चित्रित धूसर–भाण्ड संस्कृति मिली है। इन संस्कृतियों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

हड़प्पा में सिंधु सभ्यता के कब्रिस्तान से भिन्न, और कब्रिस्तान मिला है जिसे 'एच कब्रिस्तान' नाम दिया गया है। यहां की सामग्री कब्रों में प्राप्त वस्तुओं और शवों तक ही सीमित है। पहले इस तरह के मृद्भाण्ड केवल बहावलपुर में ही प्राप्त हुए थे किंतु अब छिटपुट रूप से ये पंजाब में रोपड़, बाड़ा, संघोल इत्यादि कई स्थानों में पाये गये हैं। उत्तर प्रदेश में सहारनपुर जिले के आंबखोड़ी और बड़गांव में कुछ उस तरह के बर्तनों के प्रकार उपलब्ध हैं। पाकिस्तान में चोलिस्तान के अनेक स्थलों में इस तरह के भाण्ड मिले हैं।

इस कब्रिस्तान के दो स्तर थे। 'स्तर दो' पहले का तथा 'स्तर एक' बाद का है। शायद इन स्तरों के बीच समय का व्यवधान नहीं था। निचले स्तर (दो) में शवों को 2. 38 मीटर नीचे पाया गया है। शवों को पूरा लिटा कर दफनाया गया था। सामान्य तौर पर शव को पूर्व से पश्चिम या उत्तर–पूर्व से दक्षिण–पश्चिम दिशा में लिटाया गया। प्रायः सभी उदाहरणों में मृतकों के साथ भोज्य सामग्री रखी गयी थी। एक कब्र में जीवित बकरी रखी गयी थी। दो कब्रों को छोड़कर सभी में मिट्टी के बर्तन मिले। एक नारी कंकाल के हाथ में सोने की एक चूड़ी थी। एक शव के तीन दांत तार से बंधे मिले, और उसके साथ कुछ मृद्भाण्ड भी मिले। इस संस्कृति के विशिष्ट बर्तनों (चित्र 81) में प्याले, आधार विहीन तश्तरी, 'फ्लास्क' तथा चपटे ढक्कन हैं। गुहा के अनुसार दूसरे स्तर के कंकाल दीर्घशिरस्कों के हैं; यह बात सिंधु सभ्यता के कई नर–कंकालों पर भी लागू होती है।

कब्रिस्तान 'एच' के ऊपरी स्तर के शव 0. 61 मीटर से 0. 91 मीटर की गहराई में थे। इनमें आंशिक शवोत्सर्ग किया गया। इस प्रकार की लगभग 140 समाधियां



चित्र 81 कब्रिस्तान 'एच' प्रकार के भाण्ड

मिली हैं, जिनमें एक दर्जन शव बच्चों के हैं। अस्थियों को मटके में रखने के बाद एक ढक्कन से उसे ढक दिया जाता था। ये मृद्भाण्ड अच्छी तरह पकाये गये हैं और लाल रंग के हैं। इन पर चमकीले रंग का लेप है।

इन मृद्भाण्डों पर तरह--तरह के चित्रण हैं। मुख्यतया इन पर पौधे, वृत्त, बिन्दु, सीधी तथा त्रिभुजाकार रेखायें चित्रित हैं। पशु--पक्षी आकृतियों में बकरी, मोर और मछली विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ मृद्भाण्डों पर ऐसे दृश्य चित्रित हैं जिनका संबंध धार्मिक कथानक से हो सकता है। एक में तो मोरों की पंक्ति, नक्षत्र या सूर्य तथा वृत्त के अन्दर मानवाकृति है। एक अन्य बर्तन पर मोर तथा बड़े सींगवाली बकरी चित्रित है।

एक मृद्भाण्ड पर एक कथानक का क्रमिक चित्रण है। सर्वप्रथम इसमें दो मोर चित्रित हैं जिनके बाद एक मनुष्य दो गायों को पकड़े खड़ा है। उसके समीप ही एक कुत्ता है। तत्पश्चात् एक विशिष्ट आकृति का सांड है जिसके सींगों पर सात त्रिशूल की सी आकृतियां बनी है जो ध्वज हो सकते हैं। एक अन्य व्यक्ति दो गायों (या बैलों) तथा एक ध्वज के साथ चित्रित हैं। इस संपूर्ण चित्रण की पृष्ठभूमि छोटे--छोटे चिह्नों, पत्तियों और टेढ़ी--मेढ़ी रेखाओं से भरी है। इस चित्रण का अर्थ क्या है यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। ऋग्वेद के 10वें मंडल में शवविसर्जन संबंधी कुछ सूत्रों की ओर वत्स ने ध्यान दिलाया है। उनके अनुसार इन सूत्रों के संदर्भ में कुत्ते यम के दूत हो सकते हैं, त्रिशूल आदि के साथ दिखाये गये पशु स्वर्ग के द्योतक, और बकरी मृतक के लिए दिशा खोजने वाली। लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि उक्त मंडल में

शव–दाह का उल्लेख है न कि आंशिक मृद्भाण्ड–शव–विसर्जन का, और इसलिए यह समानता केवल ऊपरी है।

'एच कब्रिस्तान' की मृद्भाण्डों पर अंकित पशुओं की आकृतियों तथा दृश्यांकन की थोड़ी सी समानता कुल्ली संस्कृति के पशु अंकनों में भी उपलब्ध है। वैसे इन भाण्डों की कुछ विशेषताएं सुमेरी मृद्भाण्डों में भी प्राप्त हैं। इस संस्कृति के बर्तनों का रंगपुर के चमकदार लाल रंग वाले बर्तनों से भी किंचित साम्य है।

गार्डन चाइल्ड का अनुगमन करते हुए व्हीलर ने इस संस्कृति के लोगों की पहिचान आर्यों से करने का सुझाव दिया। उनके अनुसार इस संस्कृति के धारकों का सिंधु सभ्यता के विनाश में योगदान रहा। किंतु ब्रजवासी लाल ने निर्दिष्ट किया कि व्हीलर द्वारा 1946 में हड़प्पा में कराये गये उत्खननों से एच–समाधि संस्कृति तथा सिंधु सभ्यता का परस्पर संपर्क नहीं प्रमाणित होता है। एच–कब्रिस्तान संस्कृति और सैंधव आर–37 कब्रिस्तान को आच्छादित करने वाली तहें अलग–अलग हैं। सिंधु सभ्यता और कब्रिस्तान 'एच' के स्तरों के मध्य लगभग 4 फीट मोटाई की तह का अंतर रहा। अतः लाल ने प्रश्न किया कि इस संस्कृति के लोगों को विजेता कैसे स्वीकार किया जा सकता है जबकि उस समय जिन्हें (सिंधु सभ्यता के लोगों को) विजित माना गया है उनका उस स्थल पर अस्तित्व ही नहीं रह गया था। लाल ने दूसरा तर्क यह दिया कि इस संस्कृति के अवशेष सरस्वती एवं गंगा–यमुना दोआब में नहीं मिले हैं, जबकि वह क्षेत्र आर्यों की प्रमुख निवास भूमि रही। केवल बहावलपुर क्षेत्र से इस तरह के भांड मिले जबकि आर्यों का विस्तार कहीं अधिक विस्तृत भूभाग पर था। जब लाल ने यह तर्क दिया था तब तो स्थिति ऐसी ही थी, लेकिन अब यह तर्क उतना प्रभावशाली नहीं रहा क्योंकि, जैसा ऊपर कहा गया है, इस तरह के भाण्डों से मिलते–जुलते भाण्ड कई स्थलों से प्राप्त हो चुके हैं। लाल का तीसरा तर्क है कि कतिपय विद्वानों का मत है कि इंडो–आर्य संस्कृति के जन्मदाता उत्तरी स्टैप्स के निवासी थे। उनका सिर बड़ा होता था। किंतु इन समाधियों में जो अस्थिपंजर उपलब्ध हैं उनमें उत्तरी स्टेपी लोगों की विशेषताएं नहीं हैं।

आल्चिन युगल के अनुसार सिंधु सभ्यता के प्रारंभिक मृद्भाण्डों तथा एच कब्रिस्तान के मृद्भाण्डों में उतना अंतर नहीं है जितना कि माना जाता है। यह सच है कि भाण्डों के कुछ प्रकार और डिजाइन सिंधु सभ्यता की परंपरा से भिन्न हैं, किंतु दूसरी ओर मृद्भाण्डों पर लाल लेप और काले रंग से अभिप्रायों की चित्रण विधा सिंधु सभ्यता की मृद्भाण्ड परंपरा के ही अनुरूप हैं। आल्चिन द्वय का कहना है कि चूंकि कब्रिस्तान–एच के मृद्भाण्ड टेपें गियान (स्तर III, II) और जमशिदी II के काफी समान हैं अतः कब्रिस्तान–एच की तिथि 1750 और 1400 ई. पू. के बीच होनी चाहिए। 'स्तर एक' और 'स्तर दो' की शव विसर्जन की पद्धति में पर्याप्त अंतर है। व्हीलर, सांकलिया आदि विद्वान मानते हैं कि दोनों के मृद्भाण्डों में इतनी समानता है कि इन्हें एक ही संस्कृति का मानना चाहिए और मृद्भाण्डों की भिन्नता उपयोग पर

आधारित है सांस्कृतिक नहीं। 'स्तर–1' के भाण्ड शवों को रखने के लिए थे जबकि 'स्तर–2' के भाण्ड शवों के साथ रखी सामग्री के रूप में है। सांकलिया ने 'एच कब्रिस्तान' और सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्डों का तुलनात्मक अध्ययन कर निष्कर्ष निकाला है कि जो कुछ साक्ष्य अद्यतन उपलब्ध हैं उनसे यह नहीं लगता कि 'एच कब्रिस्तान' की संस्कृति वाले लोग सिंधु सभ्यता के लोगों से विशेष भिन्न थे। अब अधिकांश विद्वान् 'कब्रिस्तान एच' की पुरासामग्री को सिंधु सभ्यता के ही अंतिम चरण का मानते हैं।

चन्हुदड़ो में सिंधु संस्कृति कालीन भग्नावशेषों के ऊपरी स्तरों में उस तरह के अवशेष मिले जैसे 1928 में सिंध के लरकाना से 6 मील दूर झूकड़ नामक स्थान पर सर्वप्रथम मिले थे। इस काल में चन्हुदड़ो में लोग वहीं की पुरानी ईंटों को लेकर और पुराने खंडहरों का जीर्णोद्धार कर रहने लगे। पहले विद्वानों की धारणा थी कि वे हड़प्पा संस्कृति से भिन्न संस्कृति के थे। यह भिन्नता मुख्यतः उनके द्वारा बनाये गये मुद्भाण्डों पर आधारित थी। ज्यामितीय आलेखन यद्यपि हड़प्पा विधा के अनुरूप ही काले रंग से लाल बर्तनों पर किया गया है किंतु भाण्ड हाथ से निर्मित है और विकसित सिंधु सभ्यता के भाण्डों की अपेक्षा घटिया किस्म के हैं। इनका निचला भाग अधिकांशतः अच्छी तरह से तराशा गया है। इस तरह के भाण्डों के अलंकरण बलूचिस्तान में प्राग् हड़प्पा संस्कृति, हड़प्पा –संस्कृति और मेसोपोटामिया की संस्कृतियों से भी कुछ समानता लिये हैं। उदाहरण के लिये दौड़ती हुई लंबे सींगवाली बकरी का चित्रण बलूचिस्तान के पेरियानो घुंडई के भाण्डों पर और मटकों तथा तश्तरियों पर कमल पुष्प जैसा अलंकरण दक्षिणी बलूचिस्तान के जारी–दंब के एक मृद्भाण्ड खंड पर प्राप्त है। बड़े–बड़े मटके, साधारण तश्तरियां, प्याले सदृश भाण्ड मिले हैं जिनके घुंडीदार हत्थे और पालिशदार लेप सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्डों के अनुरूप हैं। तथापि उनकी बनावट, अलंकरण और आकार में कुछ भिन्नता है। पीपल–पत्र अलंकरण, जो हड़प्पा संस्कृति में लोकप्रिय था, का अभाव है। इस प्रकार के बर्तनों पर चित्रित कुछ अभिप्राय आमरी संस्कृति के अभिप्रायों से समानता रखते हैं। इनमें लाल रंग की मोटी रेखाओं से बनाये तुल्य चतुर्भुज, सनाल पुष्प, लटकन जैसे अभिप्राय सम्मिलित हैं। मेसोपोटामिया के टेल हलफ और झूकड़ प्रकार के बर्तनों में आकार–प्रकार में कोई समानता नहीं है, लेकिन कुछ अभिप्रायों में समानता है; जैसे मोटी लाल रंग की रेखाओं का क्षैतिजीय विभाजन, चेक, टेढ़ी–मेढ़ी रेखाएं, तुल्य चतुर्भुज, समतल लंबवत छाया।

झूकड़ प्रकार के अवशेषों से कुछ पत्थर की मुद्राएं भी प्राप्त हुई हैं जिनमें से दो छेद युक्त हैं। इन्हें मकाइ ने सिंधु संस्कृति के प्रभाव का द्योतक माना है। इन पर अभिप्राय के तौर पर मोर, मानव, हिरण, लम्बे सींगवाली बकरी, संयुक्त पशु और दो बैलों की आकृतियां हैं। ये सिंधु संस्कृति की मुद्राओं पर अंकित अभिप्रायों के अनुरूप नहीं हैं। इनकी बनावट शाही तम्प, एलम और कैप्पेडोशिया की मुद्राओं के समान हैं। इसके अतिरिक्त चन्हुदड़ो से प्राप्त हत्थे के लिए छिद्रवाली कुल्हाड़ी के समान

कुल्हाड़ियों के उदाहरण पश्चिमी एशियायी देशों में ही प्राप्त हैं। मैके पिगट आदि ने झूकड़ प्रकार के उपकरणों को एक नई संस्कृति की संज्ञा दी थी। इसे कुछ विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया और पाकिस्तान के पुराविद् मुगल ने सर्वेक्षणों और उत्खननों से प्राप्त सामग्री के आधार पर सिद्ध किया कि यह सिंधु संस्कृति का ही परिवर्तित रूप है और विकसित सिंधु सभ्यता और इसमें निरंतरता रही है।

चन्हुदड़ो में झूकड़ चरण के बाद झांगर संस्कृति वालों ने अपना निवास स्थान बनाया। इस संस्कृति के सर्वप्रथम अवशेष चन्हुदड़ो से उत्तर–पूर्व लगभग 69 किमी दूर झांगर नामक स्थान से पाये गये थे। इस संस्कृति के अवशेषों के साथ चित्रित मृद्भाण्ड नहीं पाया गया है। उनके कुछ मृद्भाण्डों पर चाकलेट क्रीम या हल्के लाल रंग का लेप मिलता है। कुछ जुड़वा भाण्ड भी मिले हैं जिनके सादृश्य हमें बलूचिस्तान के लाल रंग के मृद्भाण्डों पर प्राप्त हैं। काजल (?) के लिये प्रयुक्त बर्तनों को छोड़कर प्रायः सभी बर्तन धीरे–धीरे चलते हुए चाक पर बनाये गये थे। इन पर रेखांकन मिलता हे। झांगर संस्कृति के अन्य उपादानों के विषय में जानकारी नहीं है। शायद ये लोग झोपड़ियों में रहते थे। मकाइ ने झांगर संस्कृति के भील जैसे आदिवासी लोगों की संस्कृति होने की संभावना बतायी है।

काठियावाड़ और कच्छ क्षेत्र में सिंधु संस्कृति के आकस्मिक अन्त का कोई प्रमाण नहीं है। अपितु वहां के निवासियों ने सिंधु संस्कृति के ही तत्त्वों को नया रूप और रंग देकर एक नयी परंपरा का प्रारंभ किया। अब वे चमकीले लाल भाण्डों का निर्माण करने लगे थे। पहले चरण में इनका अल्प मात्रा में निर्माण हुआ, बाद के चरण में वह विशाल पैमाने पर बनने लगे। प्याले, तश्तरियां और मटके की आकृतियां कुछ बदली बनायी गयीं, और चित्रण में सीढ़ी, त्रिअरीय डिजाइन, प्रतिच्छेदी वृत्त, लटकन, छाया किये हीरक, अपुष्पपर्ण, तिरछी और लहरीय रेखाओं के साथ कुछ पौधों को वरीयता दी गयी। साधार प्याले और तश्तरियां राजस्थान के आहाड़ II में प्राप्त इस तरह के भाण्डों के समान हैं। उल्लेख्य है कि इस तरह के प्याले और तश्तरियां रोपड़ तथा हड़प्पा (आर–37) की समाधियों से भी उपलब्ध हैं। प्यालों और तश्तरियों को तिर्यक, लहरिया, सीढ़ीनुमा, अभिप्रायों से अलंकृत किया गया। 'काले और लाल' मृद्भाण्ड, जो इससे पहले चरण में बहुत थोड़ी संख्या में मिले थे, इस चरण में काफी संख्या में पाए गए।

चमकीले लाल मृद्भाण्ड के साथ मनके, मृण्मूर्तियां और लघुपाषाण उपकरण भी मिले हैं। कांचली मिट्टी और सेलखड़ी के मनकों का स्थान मिट्टी के मनकों ने ले लिया था जो इस संस्कृति के लोगों की बिगड़ी आर्थिक दशा का द्योतक लगता है। मृण्मूर्तियों में लोथल से एक घोड़े (चरण I) की आकृति का मिलना विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। घर कच्ची मिट्टी के बने थे। नालियों को योजनाबद्ध रूप से बनाना और फर्श का ईंटों द्वारा निर्माण अब अतीत की बातें रह गई थीं।

लोथल और रंगपुर के अतिरिक्त सोमनाथ के निकट हिरण्या नदी के तट पर

प्रभास तथा राजकोट के समीप भादर नदी के तट पर रोजदी की खुदाइयों से भी हड़प्पा संस्कृति के बाद की सामग्री उपलब्ध हुई है। प्रभास II के मृद्भाण्डों में क्रमिक ह्रास दिखलायी देता है। वहां से उपलब्ध प्यालों पर फलकों में चित्रण है जो मालवा संस्कृति के साथ सम्पर्क होने का परिचायक है। रोजदी में निम्नतम स्तरों में तो हड़प्पा संस्कृति की विशेषताएं रहीं। किंतु आगे चलकर अंतिम स्तर में चमकीले लाल भाण्ड के साथ चित्रित 'काले और लाल भाण्ड' का प्रसार हुआ।

बाड़ा (पंजाब) में प्राप्त अवशेष उत्तर हड़प्पा कालीन हैं। यहां पुनः उत्खनन करने और अन्य स्थानों से प्राप्त सामग्री का समाकलित अध्ययन करने से शर्मा इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि बाड़ा संस्कृति में कुछ तत्त्व प्राग् हड़प्पा संस्कृति की परंपरा में हैं, जिसके सादृश्य बलूचिस्तानी संस्कृतियों में प्राप्त हैं। ग्रामीण संस्कृति के रूप में हड़प्पा संस्कृति के नागरिक जीवन के साथ चलती रही और कालांतर में सिंधु सभ्यता के विशृंखलित होने के बाद इस संस्कृति के तत्त्व कुछ अधिक उभरे। अब तो बाड़ा की तरह के मृद्भाण्ड सतलज घाटी से लेकर दिल्ली के आस–पास तक कई स्थानों पर पाये गये हैं। इस संस्कृति में सिंधु सभ्यता के कुछ तत्त्व भी आत्मसात हो गये, जैसे बर्तनों के कुछ आकार–प्रकार और चित्रित अभिप्राय।

बड़गांव और आंबखेड़ी, जिनका परीक्षात्मक उत्खनन करनो का श्रेय मधुसूदन नरहरि देशण्डे को है, से गेरुए मृद्भाण्ड मिले। साथ ही कुछ मृद्भाण्डों में हड़प्पा संस्कृति के अंतिम प्रकाल की तथा कुछ 'कब्रिस्तान एच' और झूकड़ प्रकार के मृद्भाण्डों की विशेषतायें भी देखी गयी हैं। बड़गांव के निम्नतम स्तर में अलंकरण की विविधता से युक्त मृद्भाण्ड खंड मिले हैं जिन्हें साधारण तौर पर ग्रीवा से मोटी रेखाओं द्वारा चित्रित किया गया था। यहां के ऊपरी स्तरों से बर्तनों में आंबखेड़ी से साधार प्याले, मुड़े हुए किनारेवाले भाण्ड और फैले किनारे वाले पात्र पाये गये हें। मृण्मय कूबड़ा बैल और कुछ मृत्पिंड (केक) की प्राप्ति सिंधु सभ्यता की निकटता के द्योतक हैं। उत्खननों में ताम्र निर्मित कोई वस्तु नहीं पायी गयी है। कुछ चार्ट फलक अवश्य मिले हैं। आंबखेड़ी के निवासी पकाई ईंटे बनाना जानते थे। उन्होंने इनसे चूल्हे तो बनाये किंतु मकान नहीं।

उत्खनन के निदेशक देशपाण्डे का विचार है कि बड़गांव की वस्तुएं हड़प्पा संस्कृति के अंतिम प्रकाल की तथा आंबखेड़ी की ह्रासोन्मुख सिंधु संस्कृति की परिचायक लगती है। उत्खननों से कुछ अनगढ़ लाल भाण्ड पाये गये हैं जिन पर उभारदार लहरिया अलंकरण है। इससे मिलता–जुलता अलंकरण परवर्ती कालीन कुछ चित्रित धूसर–भाण्ड पर भी देखा गया है।

सिंधु सभ्यता के बाद की संस्कृतियों में गेरुए मृद्भाण्ड संस्कृति का कम महत्त्व नहीं है। ये भाण्ड बहुत जीण–शीर्ण दशा में मिले हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यह दीर्घकाल तक जलमग्न अवस्था में रहने के फलस्वरूप हुआ था। यह लगभग 1,35,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में पाये जा चुके हैं। यह हरियाणा, पंजाब, राजस्थान

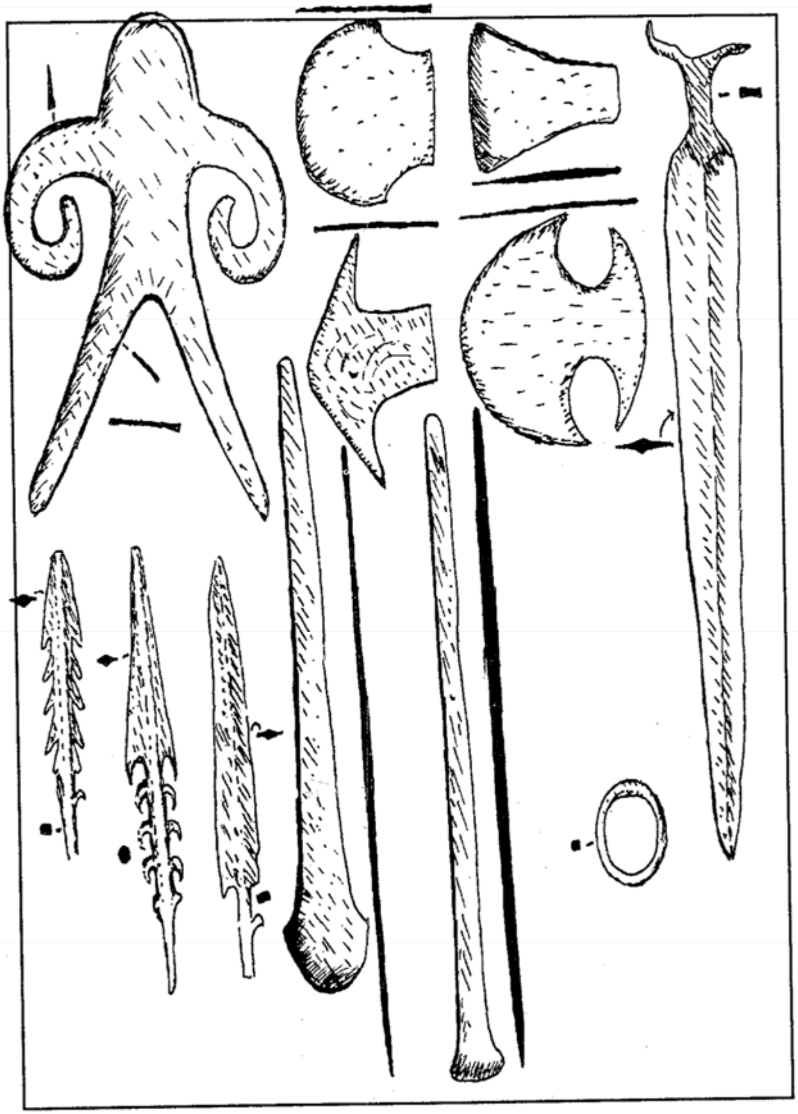
और उत्तर प्रदेश में मिले हैं। उत्तर प्रदेश में ऐसे मृद्भाण्ड बहादराबाद, आंबखेड़ी, बड़गांव, हस्तिनापुर, अहिच्छत्रा तथा अतरंजीखेड़ा के उत्खननों से प्राप्त हुए हैं। कुछ स्थलों पर वे लौह युग के प्रारंभिक काल की चित्रित धूसर–भाण्ड के प्रयोग करने वाली संस्कृति के नीचे कुछ अंतर के साथ पाये गये हैं। बहादराबाद में गंगा नहर की खुदाई के दौरान एक ताम्रोपकरण निधान की प्राप्ति हुई थी। यह जानने के लिए कि इनके साथ और कौन–कौन सी भौतिक सामग्री संबंधित है वहां पर एक परीक्षात्मक उत्खनन किया गया। इस उत्खनन में गेरुए रंग के मृद्भाण्ड उपलब्ध हुए। राजपुर पार्शू (कानपुर जिले में), जहां पर पहले एक ताम्र निधि पायी जा चुकी थी के उत्खननों में ऐसे ही प्रमाण मिले हैं। अब सैफई की खुदाई से ताम्रोपकरण निधान के कुछ उपकरण और गेरुए रंग के मृद्भाण्डों के एक साथ मिलने से दोनों का एक ही संस्कृति के होने की संभावना बढ़ी है। हस्तिनापुर और कुछ अन्य स्थलों में ये भाण्ड चित्रित धूसर–भाण्ड से नीचे (पहले) के स्तरों में मिले हैं।

निधानों में प्राप्त ताम्र उपकरण (चित्र 82) निम्निलिखित है – चपटी कुल्हाड़ियां, लम्बी कुल्हाड़ियां, 'कंधे' वाली कुल्हाड़ियां, फैली मूंठवाली तलवार, हारपून, छल्ले और मानवाकृति। इनमें से लम्बी कुल्हाड़ियां और चपटी कुल्हाड़ियां सिंधु सभ्यता में भी मिलती हैं। उपर्युक्त उपकरणों के प्राप्ति स्थानों का क्षेत्र काफी व्यापक है। अब तक के साक्ष्यों के अनुसार यह पंजाब, राजस्थान, गंगा यमुना की घाटी, बिहार, उड़ीसा और हैदराबाद के क्षेत्र में विभिन्न स्थलों में उपलब्ध हो चुके हैं।

हाइने गेल्डेर्न का विचार था कि यह उन आर्यों के आगमन के सूचक हैं जो काकेशस और पश्चिमी ईरान से लगभग 1200–1000 ई. पू. में भारत आये। उनके मत का आधार पंजाब और पश्चिमी एशिया के ताम्रोपकरणों में समानता मानना था। प्रारंभ में स्टुअर्ट पिगट ने इसी मत को स्वीकार किया था, किंतु आगे चलकर उन्होंने अपनी धारणा बदल दी और यह सुझाव दिया कि ये हड़प्पा संस्कृति के उन विस्थापित लोगों के उपकरण हैं जिन्होंने पश्चिम की ओर से हुए आक्रमणों से बचने के लिए पूर्व की ओर गंगा घाटी में आश्रय लिया। राव भी इन्हें ह्रासोन्मुख सिंधु सभ्यता के लोगों की कृतियां मानते हैं। मिर्जापुर की एक प्रागैतिहासिक गुफा में गैंडे के शिकार के दृश्य में कांटेदार हारपून के चित्रण के आधार पर ब्रजवासी लाल ने यह मत व्यक्त किया है कि इन ताम्र उपकरणों के निर्माता मुण्डा आदिवासी थे जिनका विस्तार किसी समय उत्तरी भारत के विस्तृत क्षेत्र में था। स्वराज्य प्रकाश गुप्त भी इन्हें मुण्डा जाति की कृति मानते हैं। उनका सुझाव है कि ताम्रोपकरण निधान के उपकरणों का निर्माण बिहार में हुआ जहां पर ताम्र की खदाने भी थीं। सर्वप्रथम साधारण किस्म के औजार, कुल्हाड़ियां आदि बनायी गयीं तत्पश्चात् गंगा घाटी में विकसित औजारों का निर्माण हुआ। 'मानवाकृति' उपकरण को इसी वर्ग में रखा जा सकता है।

इस संदर्भ में खुर्दी (राजस्थान के नागौर जिले में) के ताम्रोपकरण निधान का उल्लेख करना असंगत न होगा जिसमें कुछ आकर्षक नालीदार प्याले प्राप्त हुए। इस

तरह के मृण्मय तथा धातु निर्मित प्याले ईरान के गियान–प्रथम और सियाल्क (नेक्रोपोलिस 'बी') में विशेष लोकप्रिय थे। ताम्रोपकरण निधान के लोगों का सम्पर्क मध्य भारतीय ताम्राश्म संस्कृति के साथ भी हुआ था। कुछ चपटी कुल्हाड़ियां नावडाटोली के उत्खनन में मिली थीं। सांकलिया का विचार है कि इनका सम्बन्ध



चित्र 82 ताम्र–निधान उपकरण

पुलिंद जाति से रहा होगा क्योंकि यह क्षेत्र प्राचीन काल से इस जाति का कार्य स्थल रहा है। किंतु इन कुल्हाड़ियों पर वृत्ताकार छिछले गर्त मिले हैं जो ताम्र निधानों की कई कुल्हाड़ियों पर भी मिले हैं। इसे ताम्र–निधि संस्कृति एवं मध्य भारत की ताम्र–पाषाण संस्कृति के मध्य सम्पर्क का द्योतक मानना युक्तिसंगत लगता है। मीताथल (हरियाणा) में भी हड़प्पा संस्कृति के अंतिम चरण के संदर्भ में ताम्र–संचय के उपकरण मिले हैं, और चंदोली से मध्य भारतीय ताम्राश्म संस्कृति के संदर्भ में। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कुछ विद्वान् गेरुए मृद्‌भाण्ड को ह्रासोन्मुखी सिंधु सभ्यता के लोगों की कृति मानते हैं। किंतु अभी तक ऐसा कोई स्थल ज्ञात नहीं है जहां पर सिंधु और गेरुए मृद्‌भाण्ड संस्कृतियों के बीच की निश्चित कड़ी मिली हो। हस्तिनापुर में लाल ने गेरुए भाण्ड की तिथि 1200 ई. पू. आंकी थी। ताम्रोपकरण समूह की मानवाकृति से बहुत मिलता–जुलता उपकरण लोथल में उपलब्ध हुआ (चित्र 60. 13) जिसकी तिथि लगभग 1900 ई. पू. आंकी गयी है। अतरंजीखेड़ा, लालकिला, झिंझन तथा नसीरपुर से कुछ मृद्‌भाण्ड खंडों का तापसंदीपनी विधि से तिथिकरण किया गया है। अधिकांश ज्ञात तिथियां 2000 ई. पू. के पहले की हैं, तीन तिथियां 2000 ई. पू. से 1500 के बीच की तथा दो 1500 ई. पू. के बाद की हैं।

रोपड़ और आलमगीरपुर में सिंधु सभ्यता के बाद जो नवागंतुक थे वे लौह के प्रयोग से परिचित थे और एक विशिष्ट प्रकार के भाण्ड–'चित्रित धूसर–भाण्ड' का प्रयोग करते थे। इनकी सर्वप्रथम उपलब्धि अहिच्छत्रा में सन् 1941–44 के उत्खननों में हुई थी। ब्रजवासी लाल को हस्तिनापुर की खुदाइयों में इस प्रकार के भाण्ड गेरुए रंग के पात्रों के बाद कुछ अंतर से, और उत्तरी काले ओपदार भाण्ड के स्तरों के नीचे मिले थे। अब तक इनकी प्राप्ति पंजाब, हरयाणा, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश के अनेक स्थलों में हो चुकी है। इनके कई प्राप्ति स्थल ऐसे हैं जिनका महाभारत में उल्लेख है यथा हस्तिनापुर, अहिच्छत्रा, इन्द्रप्रस्थ आदि। लाल ने हस्तिनापुर के उत्खननों से प्राप्त चित्रित धूसर भाण्ड की तिथि 1100–800 ई. पू. निर्धारित की थी। कुछ स्थानों के उत्खननों से कार्बन–14 तिथियां ज्ञात हुई हैं। अतरंजीखेड़ा (जिला एटा) में इस संस्कृति के प्रारंभिक स्तर की तिथि 1025 ± 110 ई. पू. और अंतिम स्तर की 535 ई. पू. पायी गयी है। नोह (भरतपुर) की कार्बन–14 तिथि 821 से 604 ई. पू. के बीच और अहिच्छत्रा की 475 ई. पू. ज्ञात हुई है। विभिन्न कार्बन–14 तिथियों का परीक्षण कर अब कुछ पुरातत्ववेत्ता इस संस्कृति का प्रारंभ लगभग 800 ई. पू. मानने के पक्ष में हैं और कुछ लगभग 1000 ई. पू.। चित्रित धूसर–भाण्ड का निर्माण अच्छी किस्म और अच्छी तरह घुटी हुई मिट्टी द्वारा किया गया था। ये ऐसे बंद भट्ठों में पकाये गये थे जिनमें ताप को शनैः शनैः कम करने की व्यवस्था थी। बर्तनों में प्रमुखतया छिछली और गहरी तश्तरियां और कटोरे मिले हें इन पर काले रंग से स्वस्तिक, वृत्त, बिंदु, लहरदार रेखाओं आदि का ज्यामितीय अलंकरण मिलता है। इस संस्कृति के संदर्भ में लोहें के बाणाग्र, छेददार चूल, और भाले के फल मिले हैं। नोह से कुल्हाड़ियां भी मिली हैं। पत्थर के उपकरण नहीं मिले। तांबें की वस्तुओं में बाणाग्र,

पिन और अंजनशलाकाएं उल्लेखनीय हैं। शीशे के मनके और चूड़ियां भी मिलीं। कुछ वस्तुओं की पहचान खेल की गोटी से की गयी है। विस्तृत खुदाई के अभाव में आवास व्यवस्था की विशेष जानकारी नहीं, किंतु इतना स्पष्ट है कि भवन मिट्टी और लकड़ी के बने थे। अन्नों में चावल से वे परिचित थे। भोजन में मांस का प्रयोग भी प्रचलित था। खिलौने गाड़ियों से आवागमन के लिए पहियों वाली गाड़ी का प्रयोग होने का अनुमान लगा सकते हैं।

हस्तिनापुर उत्खनन के निदेशक लाल ने चित्रित धूसर–भाण्ड का आर्य संस्कृति का परिचायक होने की संभावना व्यक्त की थी। इस भाण्ड से कुछ मिलते जुलते भाण्ड सिसली, शाही तम्प (बलूचिस्तान) और गंधार प्रदेश के 'गंधार–कब्रिस्तान' संस्कृति– के संदर्भ में मिले हैं।

हाल ही में पंजाब तथा हरियाणा में किये गये पुरातात्त्विक उत्खननों से सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण तथा चित्रित धूसर भाण्ड की समकालीनता पर प्रकाश पड़ा है। उन स्थलों में जिनमें इस तरह का साक्ष्य मिला है भगवानपुरा (जिला कुरुक्षेत्र, हरियाणा में 1975–76 में किये उत्खनन) नगर (जिला जालंधर, पंजाब में 1976–77 में किये उत्खनन) तथा दधेड़ी (जिला लुधियाना, पंजाब में किये गये उत्खनन) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। भगवानपुरा में प्रथम काल का प्रथम चरण तो सिंधु संस्कृति का है जिसमें बाड़ा प्रकार, कब्रिस्तान 'एच' प्रकार, एवं निश्चित रूप से हड़प्पा संस्कृति प्रकार के भाण्ड मिले। साधार तश्तरियों के रिम झुके हैं। ताम्र उपकरण एवं मिट्टी के खिलौने मिले हैं। किंतु इसके दूसरे चरण में सिंधु सभ्यता के उपकरणों के साथ ही चित्रित धूसर–भाण्ड प्राप्त हुये हें। नगर के उत्खनन में प्रथम प्रकाल के संदर्भ में प्रारंभ से ही सिंधु सभ्यता के उपकरण और चित्रित धूसर–भाण्ड साथ–साथ मिले। दधेड़ी में भी भगवानपुरा के समान ही प्रथम काल के प्रथम चरण में तो परवर्ती सिंधु सभ्यता के उपकरण मिले किंतु इसी के दूसरे चरण में सिंधु सभ्यता के अवशेषों के साथ 'चित्रित धूसर–भाण्ड' प्राप्त हुए। यह उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वान् 'चित्रित धूसर–भाण्डों' को आर्यों से जोड़ते हैं। सिंधु सभ्यता और परवर्ती चित्रित धूसर–भाण्ड संस्कृति के मध्य जो काल व्यवधान माना जाता था वह अब मिटता हुआ लगता है। इन संस्कृतियों के पारस्परिक सम्पर्क के साक्ष्य से अब हम सिंधु सभ्यता के कुछ तत्त्वों को परवर्ती भारतीय संस्कृति में पाया जाना अधिक आसानी से समझ सकते हैं।

मुख्य संदर्भ ग्रन्थ और निबंध सूची

Agrawal, D.P., *The copper Bronze Age in India,* New Delhi : Munshiram Manoharlal, 1971.

Agrawal, D.P. and A. Ghosh (eds.), *Radio-Carbon and Indian Archaeology,* Bombay : Tata Institute of Fundamental Research, 1973

Agrawal D.P. and D.K. Chakrabarti, (eds.), *Essays in Indian Protohistory,* Delhi; B.R. Publishing House, 1973.

अग्रवाल, धर्मपाल तथा पन्नालाल अग्रवाल, भारतीय पुरैतिहासिक पुरातत्व, लखनऊ, हिंदी ग्रंथ अकादमी, 1975.

Allchin F.R., `Dilmun and the Gulf of Cambay', *Antiquity,* Vol. 43, pp. 315-37.

Allchin, Bridget and F.R. Allchin, *The Birth of Indian Civilization,* Harmondsworth, Midlessex : Penguin, 1968

-- The Rise *of Civilization in India and Pakistan,* Cambridge University Press, *1982.*

Allchin, F.R. and Joshi, J.P., `Malvan-Further Light on the Southern Extension of Indus Civilization', *Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland,* Vol. 1, pt 2, pp. 20-28.

Aravamuthan, T.G., *Some Aspects of the Harappan Culture,* Bombay Karnatak Publishing House, 1972.

Asthana, Sashi Prabha, *History and Archaeology of India's Contacts with Other Countries from Earliest Times to 300 B.C.,* New Delhi. 1976.

Bisht, R.S. `Further Excavation at Banawali' in B.M. Pande and B.D. Chattopadhyay (eds), *Archaeology and History, Essays in Memory of Shri A Ghosh,* Delhi, 1987.

-- Dholavira and Banawali : Two Different Paradigms of the Harappan Urbis Forma, *Puratattva*, No. 29, pp. 14 ff.

Bose N. K. *et. al.*, Human Skeletal Remains from Harappa, *Memoris of the Anthropological Survey of India,* No. 9, 1962.

Buchanan, B.A., `Dated Seal Impression Connecting Babylonia and Ancient India', *Archaeology,* Vol. 20, pp. 104-17.

Budha Prakash, *Rigveda and the Indus Valley Civilization,* Hoshiarpur; Vishveshvaranand Institute, 1966.

Burrow, T; `Dravidian and the Decipherment of the Indus Script', *Antiquity, Vol. 43; 374-278, 1969.*

Chakrabarti, D.K. `Harappan Chronology', *Journal of Ancient Indian History,* Vol. 1, nos 1-2 pp. 78-88; 1967-68.

-- `Gujrat Harappan Connections with the West Africa', *Journal of the Economic and Social History of the Orient,* Leiden, Vol. 18. pt. 3, 337-42, 1975.

-- *India : An Archaeological History,* Oxford University Press, 1999.

Chanda, Ram Prasad, *The Indus Valley in the Vedic Period, Memoirs of the Archaeological Survey of India,* no. 31, New Delhi,1926.

-- *Survival of the Prehistoric Civilization of the Indus Valley, Memoirs of the Archaeological Survey of India,* no. 41, New Delhi,1929.

Childe, V.G., *New Light on the Most Ancient East,* Revised ed. New York, 1958.

Dales, G.F., `The Role of Natural Forces in the Indus Valley and Baluchistan', *Anthropological Papers,* University of Utah, Vol. 62, pp 230-40, 1962.

-- `Harappa Outposts on the Makran Coast, *Antiquity',* Vol. 36, pp. 86-92, 1962.

-- `A Search for Ancient Seaports', *Expedition,* Vol. 4, no. 2, pp. 2-10, 1962.

-- `The Mythical Massacre of Mohenjodaro', *Expedition,* Vol. 6, no. 3, pp. 36-43, 1964.

-- `A suggested Chronology for Afghanistan, Baluchistan, and the Indus Valley',*Chronologies in World Archaeology,* R.W. Enrich, ed, Chicago Press, pp. 257-84, 1965.

-- `New Investigations at Mohenjodaro', *Archaeology,* Vol. 18, pp. 145-50, 1965.

-- `Civilizations and Floods in the Indus Valley', *Expedition,* Vol 7, no. 2, pp. 10-19, 1965.

-- `The Decline of the Harappans', *Scientific American,* Vol. 214, no. 5, pp. 93-100, 1966.

-- `Excavation at Balakot, Pakistan, 1973', *Journal of Field*

Archaeology, Vol. 1, no. 1/2, pp. 3-22, 1974.

Dales G. F. and R. L. Raikes, `The Mihenjodaro Floods : A Rejoinder'. *Amercian Anthropologist,* Vol. 70, pp. 957-61, 1968.

Dandekar R. N. `Some Aspects of the Indo-Moditerranean Contact', *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute,* Vol. 5, pts, 1-2. pp. 57-74, 1969.

Dani A. H., `Origins of the Bronze Age Cultures in the Indus Basin-Geographic Perspective', *Expedition,* Vol. 17, pt. 2, pp. 12-13, 1975

-- `Prehistoric Pakistan' in D. Sen and A.K. Ghosh, eds., *Studies in Prehistory,* Calcutta, Firma K.L. Mukhopadhyay pp. 17-76, 1966.

-- `Excavations in the Gomal Valley', *Ancient Pakistan,* Vol. 5, pp. 1-177, 1970-71.

-- *Indus Civilization, New Perspectives,* Quaid-i-Azam University, Islamabad, 1981.

Datt, J. M., `Demographic Notes on Human Skeletal Remain from Harappa', *Anthropological Survey of India, Memoir*, no. 9, pp. 6-12, 1962.

Deshmukh, P.R., *Indus Civilization in the Rigveda,* Yeotmal, 1958.

Dhavalikar, M.K. *Cultural Inperialism : Indus Civilization in Western India,* New Delhi, 1995.

Dikshit K.N., *Prehistoric Civilization of the Indus Valley,* 2nd ed, University of Madras, 1967.

Fairservis, W. A. Jr. `*The Roots of Ancient India,* 2nd ed.' Chicago, 1975.

-- *The Harappan Civilization and Its Writing,* New Delhi, 1992

Gadd, C.J., `Seals of Ancient Indian style found at *Ur.' Proceeding of the British Academy,* London, Vol. 18 pp. 1-22.

Gaur, R.C., `The Ochre Coloured Pottery. A Reassessment of the Evidence'. *South Asian Archaeology,* 1973, J.E., van Lohuizen de Leeuw and J.U.M. Ubaghs, eds., Leiden E.J. Brill pp. 53-62, 1974.

Ghosh, A., `The Rajputana Desert, Its Archaeological Aspect', *Bulletin of National Institute of Sciences of India,* Vol. 1, pp. 37-42.

-- `The Indus Civilization, Its Origins, Authors, Extent, and Chronology', V.N. Misra and M. S. Mate, eds., *Indian Prehistory, 1964,* Deccan College, pp. 133-36, 1965.

Gordon, D.H. *The Prehistoric Background of Indian Culture,* Bombay, Bhulabhai Memorial Institute, 1958.

Gupta S.P., Two Urbanisations in India, A Side Study in Their Social Structure', *Puratattva* no. 7, pp. 53-60, 1974.

-- `Origin of the form of Harappan Culture, A New Proposition', *Puratattva,* 1978, 141-46.

-- *Disposal of Dead and Physical Type in Ancient India,* Delhi, 1972.

Heine-Geldern, Robert von, `The Coming of the Aryans and the End of the Harrappa Civilization', *Man,* Vol. 56, pp. 136-40, 1956.

Heras, H., *Studies in Proto-Indo-Mediterranean Culture,* Bombay, The India Historical Research Institute 1953.

Hunter, G.R. `Mohenjodaro-Indus Epigraphy', *Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland,* 1932, pp. 456-503.

-- *The Script of Harappa and Mohenjodaro, and Its Connection with other Scripts.* London, Kegan Paul, 1934.

Jayaswal, K.P.` Punchmarked Coins, A Survival of the Indus Civilization', *Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland,* 1935, pp. 720 off.

Joshi, J.P., Comprative Stratigraphy of the Proto Historic Cultures of The Indo-Pakistan Subcontinent, *Journal* of the *Ethno-graphic and Folk-Culture Society,* 1963.

-- Movement of Harappans in *circa* Third and Second Millennium B.C., *Man and Environment,* Vol. 5, pp. 64-68, 1981.

-- *Excavations at Surkotsda, 1971-72 and Explorations in Kutch,* New Delhi, 1970.

-- *Excavations at Bhagwanpura,* 1975-76, New Delhi, 1993.

-- Joshi J. P. and Bisht, R. S. (eds) *India and the Indus Civilization,* New Delhi, 1994.

-- Kenyor, J.M. *Ancient Cities of the Indus Civilization,* Karachi, 1998.

काला, सतीशचन्द्र, सिंधु सभ्यता, इलाहाबाद, 1955.

Khan, F.A. `Excavation at Kot Diji', *Pakistan Archaeology,* Vol. 2, pp. 13-85, 1965.

-- `New Light on the Ancient Indus Valley', *Hemisphere,* Vol. 4, no. 6, pp. 8-5, 1970.

Knorozov, Yu. V., et. al, *Soviet Studies on the Harappan Scripts.* (tr. by H.C. Pande), H. Field and R.M. Laird eds, Coconut Grove : Field Research Projects, 1969.

Koskeniemi, S. A., Parpola and S. Parpola, `A Method to Classify Characters of Unknown Ancient Scripts', *Linguistics,* Vol. 61 pp. 64-91, 1970.

-- *`Materials for the Study of the Indus Script I'; A Concordance to the Indus Inscriptions,* Helsinki, Suomalainen Tiedeakatemia, 1973.

Karmer, S.N. `The Indus Civilization and Dilmun : the Sumerian Paradise Land'. *Expedition,* Vol 6, no. 3, pp. 44-52, 1961.

Lal, B.B., `Protohistoric Investigation : The Indus and the Ghaggar Valley and Baluchistan'. *Ancient India,* no. 9, pp. 80-90, 1953.

-- `From the Megalithic to the Harappan : Tracing Back the Graffiti on the Pottery', *Ancient India,* no. 16, pp. 4-24, 1960.

-- `The Direction of Writing in the Harappan Script'. *Antiquity* Vol. 40, pp. 52-55, 1966.

-- `A Further Note on the Direction of Writing in the Harappan Script', *Puratattva,* Vol. 1, pp. 15-16, 1967-68.

-- `A Deluge ? Which Deluge ? Yet another Fact of the Copper Hoard Culture', *American Anthropologist,* Vol. 70, pp. 857-63, 1968.

-- `Some Aspects of the Archaeological Evidence Relating to the Indus Script' *Puratattva,* no. 7, pp. 20-24, 1974.

-- *The Earlist Civilization of South Asia,* New Delhi, 1997.

Lal, B.B., and B.K. Thapar, `Excavations at Kalibangan : New Light on the Indus Civilization', *Cultural Forum,* Vol. 9, no. 4, pp. 78-88, 1967.

Lamberg-Karlovasky, C.C., Trade Mechanism in Indus Mesopotamian Interrelations, *Journal of the American Oriental Society,* New York, Vol. 92, np. 1, pp. 222-29, 1972.

Lambric. H. T., `The Indus Flood-plain and the Indus Civilization', *Geographical Journal,* Vol. 133, pp. 483-84, 196.

-- The Mohenjodaro floods, *Antiquity*, Vol. 41, pp. 228, 1967.

-- `Stratigraphy at Mohenjodaro', *Journal of the Oriental Institute, Baroda,* Vol. 20, no. 4, pp. 363-69, 1971.

Leshnik, L., `The Harappan "Port" at Lothal : Another View', *American Anthropologist,* Vol. 70, no. 5, pp. 911-22, 1968.

Mackay, E.J.H., *Further Excavations at Mohenjadaro,* 2 Vols., New Delhi, Govt. of India, 1938.

-- *Chanhu-dara Excavations,* 1935-36, American Oriental Series, Boston Museum of Fine Arts, Vol. 20, 1943.

-- *Early Indus Civilization,* 2nd enlarged and revised ed. by Dorothy Mackay, London, 1948.

Mahadevan, I., *The Indus Script : Tests, Concordance and Table, Mem. of Arch. Survey of India, no. 77,* Delhi, 1977.

Majumdar, N.G., *Explorations in Sind, Memoirs of the Archaeological Survey of India, no. 48,* 1934.

-- Prehistoric and Protohistoric Civilization. In *Revealing India's Past,* Sir John Cumming, ed, London, The India Society, pp. 91-116, 1939.

Malik, S.C., *Indian Civilization : The Formative Period,* Simla. Indian Institute of Advanced Studies, 1966.

Mallowan. M.E.L., The Mechanism of Ancient Indian Trade in Western Asia, *Iran,* Vol. 3, pp. 1-8.

Manchanda, Omi, A *Study of the Harappan Pottery,* Oriental Publishers, New Delhi, 1972.

Marshall, John, *Mohenjo-daro and the Indus Civilization,* 3 Vols., London : A. Probsthain, 1931.

Misra, V.N. and M.S. Mate, eds., *Indian Prehistory,* 1964, Poona : Decan College, 1965.

Mode, H. *The Harappan Culture and the West,* Calcutta, Sree Saraswaty Press, Ltd., 1961.

Mughal, M.R., The Present State of Research on the Indus Valley Civilization. *International Seminar on Mohenjodaro,* pp. 1-28, 1973.

-- New Evidence of the Harappan Culture from Jalilpur, Pakistan, *Archaeology,* Vol. 27, no. 2, pp. 106-113.

-- The Early Harappan Culture Phase : A Reply, *Puratattva,* no. 9, pp. 84-88, 1977-78.

Nanavati, J.M., `Problems of the Chronology of Harappan Sites in Gujarat', *Journal of the Oriental Institute, Baroda,* Vol. 2, pp. 421-27.

Nigam, J.S., Post- Harappan Chalcolithic Cultures of India, *Journal of the Bihar Research Society,* Vol. 54, pp. 16-32, 1968.

Oppenheim, A.L., `Sea-faring Merchants of Ur'. *Journal of the American Oriental Society,* Vol. 74, pp. 6-17.

Pande, B. M. Decipherment of the Harappan Script. *Conflux,* Vol. 3, no. 5, pp. 17-21, 1971.

-- *Deciphering The Indus Script,* Cambridge, 1994.

Parpola, Asko, S. Parpola and P. Alto, *Decipherment of the Proto Dravidian Inscriptions of the Indus Civilization : A First Announcement,* Copenhagen : Scandinavian Institute of Asian Studies, 1969.

-- *Progress in the Decipherment of the Proto-Dravidian Indus Script,* Copenhagen : Scandinavian Institute of Asian Studies, 1969.

-- *Further Progress in the Indus Script Decipherment,* Copenhagen : Scandinavian Institute of Asian Studies, 1970.

Parpola, Asko and Joshi, J. P., *`Corpus of Indus Seals and Inscriptions : Collections in India, Mem. Arch. Surv. of India, no. 86,* New Delhi, 1987.

Piggott, Stuart, `Notes on Certain Pins and Maceheads from Harappa', *Ancient India,* no. 4, pp. 26-40, 1948.

-- *Prehistoric India,* Baltimore : Penguin, 1950.

-- ed, *The Dawn of Civilization,* London and New York, 1961.

Possehl, G. L., `The Mohenjodaro Floods : a Reply', *American Anthropologist,* Vol. 69, no. 1, pp. 32-40, 1967.

-- `Lothal : A Gateway Settlement of the Indus Civilization', In *Ecological Background of South Asian Prehistory,* K. A. R. Kennedy and G. L. Possehl eds. Ithaca, Corneli University, South Asia Programm Occasional Papers and Theses no. 4, pp. 118-31. 1976.

-- *Indus Civilization in Saurashtra,* New Delhi, 1980.

Possehl, G. L. ed. *Ancient Cities of the Indus,* New Delhi, 1979.

Prannath, *Studies In Egyptain and Ancient Middle East Epigraphy* pt. la. Inscriptions of Harappa and Mohenjodaro. Contributions to the History and Antiquities of Egypt and the Ancient Middle East, no. I, Benaras, 1939.

Pusalker, A. D., `The Religion of the Indus Valley people', *Modern Review,* Vol. 60, pp. 697-703, 1936.

-- `The Indus Valley Civilization'. In the *History* and *Culture of the Indian People,* Vol. 1, R. C., Majumdar, ed., Bombay. Bhartiya Vidya Bhawan, pp. 169-98, 1951.

-- `Pre-Harappan, Harappan and Post-Harappan Cultures and the Aryan Problem', *Quarterly Review of Historical Studies,* Vol. 7, no. 4, pp. 233-44, 1967-68.

Raikes, R. L. `The End of the Ancient Cities of the Indus', *American Anthropologist,* Vol. 66, pp. 284-99, 1964.

-- `The Mohenjodaro Floods', *Antiquity,* Vol. 39, pp. 196-203, 1965.

-- `The Mohenjodaro Floods- Further Notes', *Antiquity,* Vol. 41, pp. 64-66, 1967.

-- *Water, Weather and Prehistory,* New York, Humanities Press, 1967.

-- `The Mohenjodaro Floods-Reposte', *Antiquity,* Vol. 42, pp. 286-310, 1967.

-- `Kalibangan, Death from Natural Course', *Antiquity,* Vol. 42, pp. 286-91, 1998.

Raikes, R. L. and Robert Dyson, `The Prehistoric Climate of Baluchistan and the Indus Valley', *American Anthropologist,* Vol. 3, pp. 265-81, 1961.

Rao, S. R., `Excavations at Rangpur and Other Explorations' in Gujarat, *Ancient India,* nos. 18-19, pp. 5-207, 1963.

-- *Lothal and the Indus Civilization,* Asia Publishing House, Bombay, 1973.

-- *Decipherment of the Indus Script,* Asia Publishing House Bombay, 1982.

Ratnagar, S., *Encounters : The Westerly Trade of the Harappan Civilization,* Delhi, 1981.

-- *Enquiries into the Political Organization of the Harappa Society,* Pune, 1991.

Ray, S. K., *Indus Script Method of My Study,* Indian Institute of Egyptology, New Delhi, 1966.

Raychaudhuri, H. C., `Prototype (?) of Siva in Western Asia', *Acharya Pushpanjali,* volume in honour of Dr. D. R. Bhandarkar, Calcutta, pp. 301-3, 1940.

Sankalia, H. D., *Indian Archaeology To-day,* Asia Publishing House, Bombay, 1962.

-- `The Cemetery H. Culture', *Puratattva,* no. 6, pp. 12-19, 1972-73.

-- *The Prehistory and Protohistory of India and Pakistan,* 2nd ed., Deccan College Post-graduate and Research Institute, Poona, 1974.

Sastri. K. N., *New Light on the Indus Civilization,* Vol. 1, 1959, Vol. 2, 1964, Atma Ram & Sons, Delhi.

-- सिंधु सभ्यता का आदि केन्द्र–हड़प्पा, दिल्ली, 1959।

Sharma, A. K., `Kalibangan Human Skeletal Remains an Osteo-Archaeological Approach', *Journal of the Oriental Institute,* Baroda, Vol. 19, pp. 19-44, 1969.

Sharma, Y. D., `Past Patterns of Living as Revealed by Excavations at Rupar', *Lalit Kala,* Vol. 1-2, pp. 121-29, 1956.

`Shinde, V., `Padri and The Indus Civilization', *South Asian Studies*, Vol. 8, pp. 55-66.

Singh, Gurdip, Indus Valley Culture, *Archaeology and Physical Anthropology in Oceonia,* Vol. 6, no. 2, pp. 177-89, 1971.

Singh, U. V., ed., *Archaeological Congress and Seminar,* 1972, Kurukshetra University, Kurukshetra, 1976.

Sinha, B. P., `Rise and Fall of the Indus Valley Civilization in the Light of the West Asiatic Archaeological Discoveries', *Journal of the Bihar Research Society,* Vol. 46, pp. 266-75, 1975.

Stein, M. A., `Survey of Ancient Sites Along the "Lost" Saraswati River', *Geographical Journal,* Vol. 99, pp. 173-82, 1942.

Starr, R. F. S., *Indus Valley Painted Pottery, A Comparative Study of the Designs on the Painted Wares of the Harappan Culture,* Princeton University Press, 1941.

Subbarao, B., *The Personality of India,* 2nd. ed., University of Baroda, Archaeological Series no. 3, 1958.

Suraj Bhan, `The "Late", Phase of Harappan Civilization', *Vishveshvaranand Indological Journal,* Hoshiarpur, Vol. 2, no. 2, pp. 344-52, 1964.

-- `Excavations at Mitathal (Hisar) 1968', *Journal of Haryana Studies,* Kurukshetra, Vol. 2, no. 2, pp. 344-52, 1964.

Thapar B. K., `Synthesis of the Multiple Data as Obtained from Kalibangan' In *Radio-carbon and Indian Archaeology,* D. P. Agrawal and A. Ghosh, eds. Bombay Tata Fundamental Research Institute, 1973.

-- `New Traits of the Indus Civilization at Kalibangan : An Appraisal', In *South Asian Archaeology,* Norman Hammond, ed. Park Ridge : Noyes Press, pp. 85-104, 1973.

-- Kalibangan : `A Harappan Metropolis Beyond the Indus Valley', *Expedition,* Vol. 17, no. 2, pp. 19-32, 1975.

Thapar, Romila., A Possible Identification of Meluhha. Dilmun, and Makan, *Journal of Economic and Social History of the Orient,* Vol. 18, pt. 1, pp. 1-42.

Thaplyal, K. K., `Identification of the Scene on a Famous Seal from Mohenjodaro', *Proceeding of the Indian History Congress,* XXIInd Session, Aligarh, pt. 1, Calcutta, 1960-61.

-- `The Probable Nature of the Harappan Script' in *Radio-carbon and Indian Archaeology,* eds. D. P. Agarwal and A. Ghosh, Bombay : Tata Institute of Fundamental Research, 1973.

-- `A Comparative Study of the Seals of Harappan and Historical Periods', *Madhu, Recent Research in Indian Archaeology and Art History,* Agam Kala Prakashan, New Delhi, 1981.

Vats, M. S., *Excavations at Harappa,* 2 vols., Delhi, Govt. of India, 1940.

Waddell, L. A., *The Indo-Sumerain Seals Deciphered,* London Luzac & Co. 1925.

Wheeler, R. E. M., *Early India and Pakistan : To Asoka,* London, 1959

-- *Civilization of the Indus Valley and Beyond,* London, Mc Graw-Hill, 1966.

-- *The Indus Civilization,* 2nd ed., Supplement to the Cambridge History of India, Cambridge : Cambridge University Press, 1968.

Zide, A. R. K., `A Brief Survey of Work to Date on the Indus Script', *Journal of Tamil Studies,* Vol. 2, no. 1, pp. 1-12, 1970.

ISBN : 978-93-82175-59-9 संस्करण : अष्टम् मूल्य रुपये 200=00